जिज्ञासु-रचना-मञ्जरी

[द्वितीय भाग]

(लेख-संग्रह)

पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जन्म-शताब्दी
के अवसर पर

सम्पादक—
पं० युधिष्ठिर मीमांसक

ओ३म्

जिज्ञासु-रचना-मञ्जरी

[द्वितीय भाग]

(उपलब्ध समस्त लेखों का संग्रह)

श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जन्म-शताब्दी-वर्ष-समापन
के अवसर पर

सम्पादक—
पं० युधिष्ठिर मीमांसक

प्रकाशक—

श्रीमती विमलादेवी बागड़िया
"श्रीमती सावित्रीदेवी बागड़िया धर्मार्थ ट्रस्ट"
१७० जी० ब्लाक, न्यू अलीपुर,
कलकत्ता

प्रथम संस्करण—१०००
मूल्य—१००-००
भाद्रपद, संवत् २०५०
सितम्बर १९९३

मुद्रक—

रामकिशन सरोहा
सरोहा प्रिंटिंग प्रेस, बहालगढ़
(सोनीपत-हरयाणा) १३१०२१

प्राप्ति-स्थान—

रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़—१३१०२१
(सोनीपत-हरयाणा)

वैदिक वाङ्मय और संस्कृति के प्रचार के लिये

'श्रीमती सावित्रीदेवी बागड़िया ट्रस्ट' कलकत्ता के संस्थापक

अनेक व्यापार-प्रतिष्ठानों के प्रतिष्ठापक

मन-वचन-कर्म से वैदिक धर्म के अनुयायी
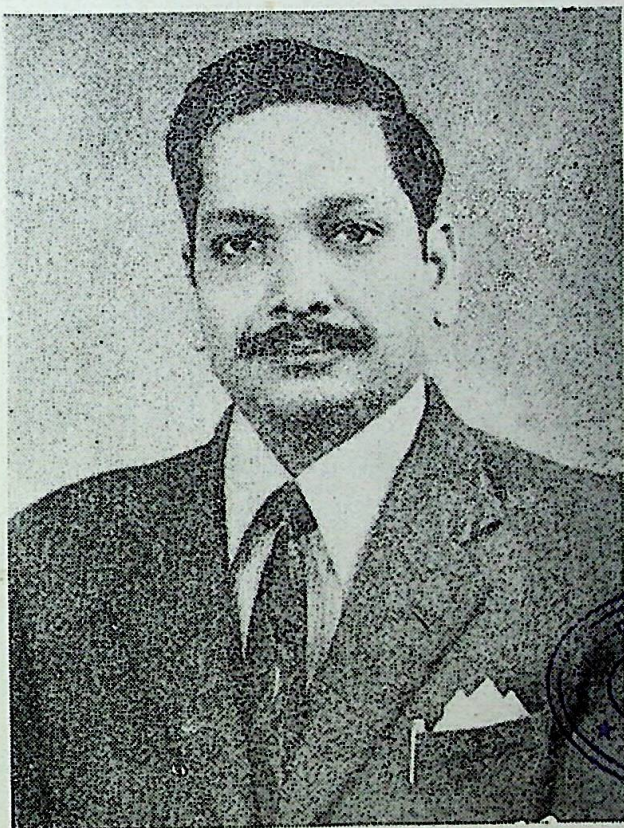
श्री स्व० श्रेष्ठिवर्य मोहनलाल जी बागड़िया की

पवित्र स्मृति में

सप्रेम समर्पित

जन्म—आश्विन शु० ६, सं० १९६०   निधन—वैशाख कृ० सं० २०४२
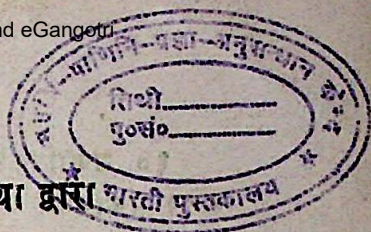
'श्रीमती सावित्रीदेवी बागड़िया ट्रस्ट' संस्था द्वारा

सत्रह वर्ष के अल्प समय में प्रकाशित

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

१. **गोपथ-ब्राह्मण**—(मूलमात्र)--शुद्धतम संस्करण। सम्पादक—डा. विजयपाल विद्यावारिधि। मुद्रणकाल—सन् १९८२।

२. **ऋषि दयानन्द के शास्त्रार्थ और प्रवचन**—इस ग्रन्थ में स्वामी दयानन्द सरस्वती के कुछ शास्त्रार्थ और प्रवचन संगृहीत हैं। मुद्रणकाल सन् १९८२।

३. **निरुक्तश्लोकवार्त्तिकम्** –नीलकण्ठगार्ग्यविरचित। इसका एकमात्र कोश अत्यन्त जीर्ण अवस्था में तालपत्र पर लिखित है। सम्पापक—डा० विजयपाल। मुद्रणकाल—सन् १९८२।

४. **ध्यानयोगप्रकाश**—(हिन्दी)—योगिराज स्वामी लक्ष्मणानन्दकृत पातञ्जल योगशास्त्र के अनुसार योगविषयक सुगम पुस्तक। मुद्रणकाल सन् १९८३।

५. ANTHOLOGY OF VEDIC HYMNS—लेखक—स्वामी भूमानन्द सरस्वती। वेदविषयक अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ। मुद्रण-काल—सन् १९८४।

६. **कात्यायनीय-ऋक्सर्वानुक्रमणी**—षड्गुरुशिष्यविरचित सम्पूर्ण वृत्ति सहित। सम्पादक—डा० विजयपाल। मुद्रणकाल—सन् १९८५।

७. **वैदिक-जीवन**—(हिन्दी)—लेखक—विश्वनाथ विद्यालङ्कार। अथर्ववेद के अनुसार लिखा गया वैदिक-जीवन-निदर्शक सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ। मुद्रणकाल—सन् १९८५।

८. **सूर्य-सिद्धान्त**—पं० उदयनारायणसिंह विरचित हिन्दी-व्याख्या तथा विस्तृत भूमिका सहित। मुद्रणकाल—सन् १९८६।

९. **वैदिक-गृहस्थाश्रम** (हिन्दी)—लेखक—विश्वनाथ विद्यालङ्कार। अथर्ववेद के अनुसार लिखा गया वैदिक गृहस्थाश्रम सम्बन्धी श्रेष्ठतम ग्रन्थ। मुद्रणकाल—सन् १९८६।

१०. **उणादिकोश**—स्वामी दयानन्द सरस्वती विरचित वृत्ति एवं अनेक प्रकार के परिशिष्टों से युक्त। सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक। मुद्रणकाल—सन् १९८७।

११. **श्रौत-यज्ञ-मीमांसा**—लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक। इस ग्रन्थ में श्रौतयज्ञों का विस्तार से परिचय तथा उनका इतिहास और प्रयोजन इत्यादि विषयों पर विस्तार से विचार किया है। इसका हिन्दी भाषा में अनुवाद भी साथ ही संलग्न है। मुद्रणकाल—सन् १९८७।

१२. **पिङ्गलछन्दःसूत्रम्**—यादवप्रकाश द्वारा विरचित पिङ्गलछन्दोविचिति भाष्य से युक्त वैदिक और लौकिक छन्दों के ज्ञान के लिये सर्वश्रेष्ठ पुस्तक। इसमें दिये उदाहरण अश्लीलता के दोष से रहित हैं। सम्पादक—डा० विजयपाल। मुद्रणकाल—सन् १९८८।

१३. **पुरुषार्थप्रकाश**—स्वामी विश्वेश्वरानन्द तथा ब्रह्मचारी नित्यानन्द द्वारा विरचित गृहस्थोपयोगी सर्वोत्तम ग्रन्थ। मुद्रणकाल—सन् १९८८।

१४. **गणरत्नावली**—भट्टयज्ञेश्वर प्रणीत पाणिनि मुनि के गणपाठ की दुर्लभ महत्त्वपूर्ण व्याख्या। अन्त में शब्दसूची भी है। सम्पादक—चन्द्रदत्त शर्मा। मुद्रणकाल—सन् १९८९।

१५. **वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा (प्रथम भाग)**—लेखक—पं० युधिष्ठिर मीमांसक। मुद्रणकाण—सन् १९९१।

१६. **वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा (द्वितीय भाग)**—लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक। वेदाङ्गादिविषयक विभिन्न लेखों का संग्रह। मुद्रणकाल—सन् १९९२।

१७. **जिज्ञासु-रचना-मञ्जरी (प्रथम भाग)**—श्री पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु विरचित लघु ग्रन्थों का संग्रह। मुद्रणकाल—सन् १९९३।

१८. **जिज्ञासु-रचना-मञ्जरी (द्वितीय भाग)**—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु द्वारा लिखित सभी लेखों तथा निबन्धों का संग्रह। मुद्रणकाल—सन् १९९३।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
वेद-सम्मेलनों में अध्यक्षीय भाषण	३-१०८
वेद-सम्मेलन, लाहौर	३-३२
प्रास्ताविकम्	३
वेद प्रभु की पवित्र वाणी	५
वेद और उसकी शाखायें	६
वेद और ब्राह्मणग्रन्थ	७
वेद और विदेशी राज्य का प्रभाव	८
वेद के भाष्यकार	१२
प्रथम वेदभाष्यकार यास्क	१२
यास्क और वेद	१३
यास्क के पीछे के वेदभाष्यकार	१५
ऋषि दयानन्दकृत वेदभाष्य की विशेषतायें	१६
दयानन्दभाष्य यूनिवर्सिटियों में रखा जाना चाहिये	२१
वेदभाष्यकारों के आवश्यक गुण	२२
आर्यसमाज में वेदभाष्यों की भरमार	२३
वेदपरिषदों की आवश्यकता	२६
ऋषि दयानन्द वा आर्यसमाज के विरोधी	२८
आर्यसमाज का कर्तव्य	३०
वेदसम्मेलन कैसे होने चाहिये	३१
आर्य-विद्वत्-सम्मेलन, कलकत्ता	३३-४५
आर्यसमाज की सार्वभौमिकता	३३
धर्मप्रधान भारत	३४
स्वतन्त्र भारत में आर्यसमाज की आवश्यकता	३५
कार्यशैली में कुछ परिवर्तन आवश्यक है	३५

विषय	पृष्ठ
आर्यसमाज में आन्तरिक संशोधन व परिवर्तन की आवश्यकता	३७
शास्त्रार्थ वा ज्ञानगोष्ठी	३९
आर्यसमाज के उपदेशक	३९
उत्कृष्ट साहित्य	४२
आर्यसमाज की संस्थायें	४३
आर्यविद्वानों का संगठन	४५
वेद-सम्मेलन, खुरजा	**४६-७६**
निवेदन	४६
वेदसम्बन्धी मिथ्या धारणायें	४९
वेदसम्बन्धी उक्त भूल के दुष्परिणाम	५०
ऋषि दयानन्द और वेद	५१
आर्यसमाज और वेद	५३
ऋषि दयानन्द की सबसे बड़ी देन	५६
भारतीयों की वेद के प्रति अनास्था क्यों ?	५७
इस अनास्था के अन्य कारण	५८
वर्तमान में वेद का पठन-पाठन	६३
काशी की विशेष घटना	६३
आर्यसमाज की संस्थाओं में आजकल वेद का पठन-पाठन	६५
वेदसम्बन्धी कार्य की महती आवश्यकता	६७
वेदसम्मेलन के स्थायी सङ्गठन की आवश्यकता	६८
क्या आर्यसमाज में विद्वान् नहीं ?	६९
वेदसम्मेलन की स्थायी योजना	७१
लेखों सम्बन्धी व्यवस्था	७३
ओरियण्टल कान्फ्रेंस और वेदसम्मेलन में भेद	७४
वेदसम्मेलन की आर्थिक व्यवस्था	७६
विशेष	७६
वेद-सम्मेलन, मेरठ	**७७-१०८**
वेद प्रभु की पवित्र वाणी	७७

विषय	पृष्ठ
वेद के प्रति अनास्था के कारण	७६
ऋषि दयानन्द की सबसे बड़ी देन	८४
वेदाध्ययन की परम्परा	८५
वेद और उसकी शाखायें	८८
महर्षि दयानन्द स्वीकृत शाखा के स्वरूप पर उठायी गयी शङ्का का समाधान	९३
वेद और ब्राह्मण	९५
वेद और आरण्यक तथा उपनिषद्	९६
वेदार्थ की परम्परा	९६
यास्क और वेद, तथा उसका अर्थ	९७
यास्क के पीछे के वेदभाष्यकार	१००
ऋषि दयानन्द कृत वेदभाष्य की विशेषतायें	१०१
वेदभाष्यों की बाढ़	१०३
वेदपरिषदों की आवश्यकता	१०५
वेद-सम्मेलन कैसे होने चाहिये	१०६

वेदवाणी में निबन्ध १११-४६०

सायणाचार्य का वेदार्थ १११-११८

सायण की भूल के दुष्परिणाम	११४
सायण और विदेशीय विद्वान्	११६

महर्षि दयानन्द के भाष्य की विशेषतायें ११९-१२३

दयानन्द-भाष्य की विशेषतायें	१२०

वेदों का प्रादुर्भाव १२४-१२७

ऋषिदयानन्द-कृत वेदभाष्य के सम्बन्ध में मेरी धारणा १२८-१५६

मैं अब तक चुप क्यों रहा ?	१२८
मेरी मान्यता	१२९
लिपिकर्ता संशोधकादि की अशुद्धियों की विवेचना	१३०

विषय	पृष्ठ
वैदिक यन्त्रालय में ऋषि के ग्रन्थ छपने का नमूना	१३६
अशुद्ध संस्कृत का अभिप्राय रफ कापी	१४०
इसी अर्थ में 'अशुद्ध संस्कृत' शब्द का परोपकारिणी सभा द्वारा प्रयोग	१४२
आक्षेपों के उत्तर	१४४
पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या	१४४
रामानन्द ब्रह्मचारी का परोपकारिणी सभा से सम्बन्ध	१४६
परिवर्तन और संशोधन में भेद	१५३
रामानन्द ब्रह्मचारी के पत्र का हौवा	१५५
समाचारपत्रादि में मेरे सम्बन्ध में घोषणायें	१५६
ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित यजुर्वेद-भाष्य-विवरण और परोपकारिणी सभा	**१५७-१७२**
परोपकारिणी सभा के प्रस्ताव की निस्सारता	१५७
पृथिवी गोल है चूंकि बुढ़िया का चर्खा गोल है	१५६
खोदा पहाड़ और निकली चुहिया	१६४
विद्वानों की परिषद् और उसका वास्तविक स्वरूप	१६५
परोपकारिणी सभा ने हमारे ७५ प्रतिशत संशोधन माने	१६८
परोपकारिणी सभा ट्रस्ट के प्रकाशन को क्यों नहीं चाहती, प्रश्न आर्थिक है	१६६
भारत की अपूर्व सम्पत्ति वेद	**१७३-१८०**
वेद और उसकी शाखायें	१७३
वेद और ब्राह्मणग्रन्थ	१७५
वेद और विदेशी राज्य का प्रभाव	१७६
वेदार्थ का महान् पुनरुद्धारक ऋषि दयानन्द	**१८१-२१२**
वेदार्थ का संक्षिप्त इतिहास	१८१
यास्क के वेद तथा वेदार्थ का स्वरूप	१८३
सायणाचार्य वेदार्थ तक नहीं पहुंचे	१८५

विषय	पृष्ठ
वेदार्थ-विवेचन	१८६
सायण तथा दयानन्दकृत भाष्य में भेद	१८७
पं० महेशचन्द्र तथा अन्य विद्वानों की महाभ्रान्ति	१८७
ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र का सायणभाष्य	१८८
आचार्य दयानन्द का अर्थ	१८९
अन्य भाष्यकारों का इस मन्त्र का अर्थ	१९१
इस मन्त्र के अंग्रेजी अनुवाद	१९६
पूर्वोक्त मन्त्र का अर्थ-विवेचन	१९७
स्कन्दस्वामी ने तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ क्यों नहीं किया	१९८
दयानन्द के रोम-रोम में ईश्वर और वेद समाया था	१९९
सायण तथा दयानन्द सरस्वती के वेदार्थ का विवेचन महात्मा अरविन्द की दृष्टि से	१९९
योरुपीय वैदिक विद्वानों की दृष्टि में सायणभाष्य	२०३
'अग्निमीडे' का विविध विनियोग	२०५
विनियोग पर एक दृष्टि	२०९
विनियोग सम्बन्धी कुछ अन्य प्रमाण	२१०
ऋषि दयानन्द कृत भाष्य की विशेषतायें	२११
वेदमन्त्रों का विनियोग	**२१३-२४१**
विनियोग शब्द का अर्थ	२१४
विनियोग कब से चला	२१४
विनियोग का वास्तविक स्वरूप	२१६
विनियोग और प्राचीन तथा मध्यकालीन ग्रन्थ	२१७
पूर्वोक्त विनियोग प्रकरण का विवेचन	२२०
यास्क-पाणिनि-पतञ्जलि और यज्ञ	२२४
बहुदेवतावाद से विनियोग का स्वरूप बदला, मीमांसाकार जैमिनि का मत	२२५
मीमांसा और बहुदेवतावाद	२२७
सब मन्त्रों के विनियोग का एक नवीन मार्ग निकाला गया	२२९
ब्राह्मणों वा श्रौतसूत्रकारों का परस्पर विरोध	२३०
'दधिक्राव्णो अकारिषम्' का विनियोग	२३३

विषय	पृष्ठ
गृह्यसूत्र और विनियोग	२३६
वेदभाष्यकार और विनियोग	२३७
काल्पनिक विनियोग की पराकाष्ठा	२३८
विनियोग विषय में हमारी धारणा	२४०
सायण का वेदार्थ	**२४२-२५३**
सायणाचार्य वेदार्थ तक नहीं पहुंचा	२४६
सायण की भूल के दुष्परिणाम	२५१
वेदार्थ-प्रक्रिया के मूलभूत सिद्धान्त	**२५४-२८८**
ईश्वर-विश्वास	२५४
सृष्टि उत्पत्ति और प्रलय का सिद्धान्त वा क्रम	२५६
काण्टा बदलने का मुख्य केन्द्रबिन्दु विकासवाद का सिद्धान्त	२५७
एक भारी शङ्का का समाधान	२६१
विकासवाद पर एक सामान्य दृष्टि	२६३
वेदार्थ किन सिद्धान्तों पर आश्रित है	२६६
लौकिक और वैदिक शब्दों में भेद	२६८
त्रिविध प्रक्रिया	२६८
इतिहासवाद	२७०
यौगिकवाद	२७३
धातुओं का अनेकार्थत्व	२७७
व्यत्यय का सिद्धान्त	२७८
पदपाठ	२७९
देवतावाद	२८१
सायणाचार्य की भूल में ही भ्रान्ति	२८३
आचार्य दयानन्दकृत वेदभाष्य की विशेषतायें	२८४
हमारा कर्तव्य	२८७
रिसर्च (खोज) विषय में पाश्चात्यों की गहरी भूलें, वैबर और कैलेण्ड की प्रामाणिकता का परीक्षण	**२८९-३२१**
भारतीय अब पाश्चात्त्यों की मस्तिष्कदासता को छोड़ें	२८९
विदेशी विद्वानों की छाप वा मिथ्या प्रसिद्धि	२९१

विषय	पृष्ठ
वैबर और कैलेण्ड का संक्षिप्त परिचय	२९२
यजुर्वेद में 'वेष्पः' पर विचार	२९३
मुद्रित ग्रन्थों में 'वेष्यः' पाठ	२९४
मुद्रितों में 'वेष्पः' पाठ	२९५
'वेष्यः' पाठ में पूर्वपक्ष की युक्ति	२९८
उत्तर	२९८
हस्तलेखों के प्रमाण	२९९
हस्तलेखों में 'वेष्पः' पाठ का पूरा परिचय	३००
माध्यन्दिनीय शुक्लयजुःसंहिता के हस्तलेख	३००
पकार यकार का अभेद विवेचन	३०८
वैबर और कैलेण्ड के हस्तलेखों का परीक्षण	३१०
पूर्वोक्त हस्तलेखों के परीक्षण में हमारा मत	३१२
हस्तलेखों की कालपरीक्षा	३१२
वैबर और कैलेण्ड के परीक्षण का सार	३१३
वैबर के अन्य अनुगामियों का विवेचन	३१४
पं० सत्यव्रत सामश्रमी की भ्रान्ति	३१४
सामश्रमी के हस्तलेखों का परीक्षण	३१५
सामश्रमी की अदूरदर्शिता	३१५
महीधरभाष्य के सम्पादकों की भ्रान्ति	३१६
पं० सातवलेकर जी का अज्ञान	३१७
आधुनिकों की गति	३१९
व्याकरण-कोश आदि में 'वेष्पः' शब्द ही है 'वेष्यः' नहीं	३१९
उपसंहार	३२१
धन्यवाद	३२१

निरुक्तविषय में पाश्चात्य मत की मौलिक भूल वा अनधिकार चेष्टा ३२२-२६३

पाश्चात्यों के मानस पुत्र भारतीय स्कालर	३२२
निरुक्त पर किये गये अब तक के प्रयत्न	३२४
डा० वै० का० राजवाड़े (पूना) का घोर पूर्वपक्ष	३२६

विषय	पृष्ठ
सामान्य विवेचन	३२८
रिसर्चस्कालरों द्वारा राजवाड़े के आक्षेपों के उत्तर	३२९
डा० भण्डारकर	३२९
डा० स्कोल्ड	३२९
डा० लक्ष्मणस्वरूप	३३०
डा० स्वरूप के उद्धरण	३३२
डा० सिद्धेश्वर वर्मा का उत्तरपक्ष	३३३
डा० सिद्धेश्वर वर्मा का पूर्वपक्ष	३३७
अन्तिम हमारा सिद्धान्तपक्ष	३४०
भाषा की उत्पत्ति	३४१
यास्क के निर्वचनों का मूल आधार	३४४
उपर्युक्त विषय में डा० सिद्धेश्वर वर्मा के आक्षेप	३५७
एक विशेष विचार	३५८
एक दूसरी दृष्टि	३५८
यास्क और देवतावाद	**३६४-३७१**
यास्क से पूर्व का देवतावाद	३६४
यास्क के देवतावाद का स्वरूप	३६४
कल्पित यजुःसर्वानुक्रमणी	३६५
यास्क का मुख्य देवता 'आत्मा'	३६६
देवताकाण्ड पर विचार	३६७
निरुक्त और ऋक्सर्वानुक्रमणी में देवताओं का भेद	३६७
ऋक्सर्वानुक्रमणी तथा बृहद्देवता में देवताओं में भेद	३६८
दैवतकाण्ड के कुछ विशेष शब्द	३६९
'त्वष्टा' शब्द पर विचार	३७०
निर्वचनशास्त्र का महत्त्व	३७१
वेद का स्वरूप, एक आवश्यक और गम्भीर विचारणीय विषय	**३७२-३९०**
सनातनधर्मी विद्वान् गम्भीरता से और प्रेमपूर्वक विचार करें	३७२

विषय	पृष्ठ
सर्ववेद-शाखा-सम्मेलन कानपुर	३७३
वेद और उसकी शाखायें	३७९
ऋषि दयानन्द स्वीकृत शाखा के स्वरूप पर उठाई गई शङ्का का समाधान	३८३
मीमांसाकार महर्षि जैमिनि शाखा को ऋषिप्रोक्त मानते हैं	३८६
वेद का अनुसन्धान	**३९१-३९९**
वेदार्थ की मूल भित्ति	**४००-४०३**
लौकिक और वैदिक शब्दों का भेद	४००
लौकिक-वैदिक शब्दों के अर्थभेद	४००
बड़े-बड़े विद्वान् भ्रान्ति में	४०१
पतञ्जलि और लौकिक-वैदिक भेद	४०३
भारत के समस्त रोगों की अचूक औषध, ऋषिप्रणाली	**४०४-४५५**
स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत की स्थिति	४०५
घोरतम पतन	४०६
उपाय वा रोग की चिकित्सा	४०८
क्या भारत में सच्ची आत्मायें नहीं ?	४०९
ब्राह्मण की वाणी को राजा (राज्य-सञ्चालक) कभी न रोके	४०९
स्थायी उपाय—प्राचीन (ऋषि) प्रणाली से शिक्षा	४१०
शिक्षाक्रम में परिवर्तन की आवश्यकता	४११
भारतीय संस्कृति के मूलाधार ऋषि-मुनियों का शास्त्र ही भारत के समस्त रोगों की औषध है	४१२
जनसंख्या का बढ़ जाना कारण नहीं	४१४
आर्षज्ञान (ऋषिप्रणीत शास्त्र) ही भारत के समस्त रोगों की अचूक औषध	४१५
शास्त्र भारत की अपूर्व सम्पत्ति	४१६
शास्त्र की आवश्यकता	४१८
बिना सिखाये किसी को कुछ नहीं आ सकता	४१९
सब ऋषि आचार्य वा नेता (नायक) नहीं हो सकते	४२०
मन की महिमा	४२२

विषय	पृष्ठ
मन पर बागडोर छोड़ी नहीं जा सकती	४२४
अताड़ित मन अशासित हाथी	४२५
केवल प्रतिभा से भी काम नहीं चल सकता	४२६
वर्तमान प्रचलित शिक्षा से मन की शुद्धि असम्भव	४२७
उपाय क्या है ?	४२६
मलित मन मलिनता को बढ़ाता है	४३१
ऋषियों का आश्रय	४३२
ऋषि वा आचार्य का लक्षण	४३२
ऋषियों का स्थायी दर्शन, साहित्यरूपी सञ्जीवनी शक्ति का प्रादुर्भाव	४३४
ग्रन्थ-प्रणयन का इतिहास	४३५
ऋषि लोग अब भी वर्तमान हैं	४३६
राजा जयकृष्णदास का महान् उपकार	४३७
शास्त्ररूपी कम्पास	४३८
नान्य: पन्था विद्यते	४३८
शास्त्रशुद्धि	४३९
शास्त्रप्रधान आर्य (हिन्दू) जाति	४४०
भारत में शास्त्रनिरपेक्ष मत नहीं चल सकते	४४१
भारत में ब्रह्मसमाज क्यों नहीं पनपा ?	४४२
भारत में आर्यसमाज के सिद्धान्तों की व्यापकता	४४२
शास्त्रों का परम भक्त स्वामी दयानन्द सरस्वती	४४३
धर्मनिरपेक्ष राज्य चल नहीं सकता	४४४
वास्तविक धर्म सदा रहेगा	४४४
शास्त्र या धर्म का रूप धरना	४४५
शास्त्रों में मिश्रण	४४६
अशास्त्रमिश्रित शास्त्र रोग दूर नहीं कर सकता, शास्त्र-शुद्धि की अनिवार्यता	४४७
कितना दूषित साहित्य बन रहा है	४४९
मनुष्यकृत शास्त्र ही अनर्थ का मूल है	४५०
कर्मशुद्धि के विना कोई उन्नति सम्भव नहीं	४५१

विषय	पृष्ठ
शास्त्रशुद्धि से कर्मशुद्धि सम्भव है	४५२
इस युग में शास्त्रशुद्धि के प्रवर्तक दण्डी विरजानन्द और दयानन्द	४५२
विरजानन्द का सच्चा स्मारक	४५५
संस्कृत का प्रसार तथा व्यापक ज्ञान कैसे हो ?	**४५६-४५६**
१२ वर्ष में साङ्गोपाङ्ग वेद का अध्ययन	४५७
वेदवेदाङ्गाचार्य का पाठ्यक्रम	४५७
प्रौढ़ों के लिये विना रटे व्याकरण का आवश्यक ज्ञान ६ मास में	४५६
वेदवाणी में अग्रलेख	**४६३-६०८**
वेद और ईश्वर का सम्बन्ध	**४६३-४६५**
संस्कारविधि पर किये गये आक्षेपों के सम्बन्ध में मेरा वक्तव्य	**४६६-४७५**
'अयन्त इध्म आत्मा' पर विचार	४६६
मेरा सम्पादकत्व	**४७६-४७७**
विद्वानों तथा जनता से पूर्ण सहयोग की प्रार्थना	४७६
महर्षि दयानन्दकृत वेदभाष्य की स्थिति	**४७८-४८२**
ऋग्वेदभाष्य	४७६
यजुर्वेदभाष्य	४८०
वेद और उसकी शाखायें	**४८३-४८८**
महर्षि दयानन्द स्वीकृत शाखा के स्वरूप पर उठाई गई शङ्का का समाधान	४८५
विशेष वक्तव्य	४८८
वेदों के छन्द	**४८६-४६०**
छन्दोनिर्णय के दो प्रधान प्रकार	४६०

विषय	पृष्ठ
गायत्र्यादि छन्दों के अवान्तर भेद	४९०
मेरा निवेदन	४९१-४९२
संस्कारविधि के विवाहप्रकरणस्थ मन्त्र पर विचार	४९३-४९८
वेद में इतिहास	४९९-५०२
वेद का प्रादुर्भाव	५०३-५०७
ऋषियों ने सीधा सरल वेदार्थ या वेदभाष्य क्यों नहीं किया ?	५०८-५११
वैदिक छन्दोवाद	५१२-५१५
छन्दों की आवश्यकता	५१२
छन्दों का लक्षण	५१२
छन्दों के भेद	५१२
छन्दोनिर्णय के दो प्रधान प्रकार	५१३
गायत्र्यादि छन्दों के अवान्तर भेद	५१४
अतिजगत्यादि छन्दों की पादव्यवस्था में मतभेद	५१४
ऋङ्मन्त्रों के छन्दों के दो प्रधान भेद	५१४
क्या स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में छन्दों की सात हजार अशुद्धियां हैं ?	५१५
अथ पूर्वपक्ष	५१५
माननीय टण्डन जी की विजय	५१६-५१९
कहीं पीछे प्रधानमन्त्री को ही पश्चात्ताप न करना पड़े	५१७
बुराई में से भलाई	५१८
ब्राह्मण की वाणी के राजा (राज्यसंचालक) कभी न रोके	५१८
हा श्री० पं० महेशप्रसाद जी !!!	५२०-५२१
आर्यसम्मेलन मेरठ	५२२-५४८
दृढ़ संगठन	५२४

विषय	पृष्ठ
नेताओं की नहीं, नेता की आवश्यकता	५२५
वोट शुद्धि	५२६
त्यागी कार्यकर्ता	५२७
अन्य संस्था और आर्यसमाज	५२८
आर्यसमाज राजनीति में भाग ले या नहीं ?	५३०
आर्यसंस्कृति वा भारतीय संस्कृति की रक्षा	५३०
हिन्दू कोडबिल और आर्यसमाज	५३१
भ्रष्टाचार और आर्यसमाज	५३१
पञ्चम कालम और आर्यसमाज	५३२
विशाल भारत की योजना	५३२
सिख और आर्यसमाज	५३३
सिनेमा-रेडियो आदि का प्रयोग	५३३
अन्य सम्मेलन—शिक्षासम्मेलन	५३४
फिर क्या हो ?	५३६
यदि ऐसा न हो !	५३८
गुरुकुल कांगड़ी और वृन्दावन एक हो जावें	५३९
महाविद्यालय ज्वालापुर	५४०
अब रही कालेज और स्कूलों की बात	५४०
भविष्य का महान् गम्भीर विचारणीय विषय	५४२
काशी में एक महाविद्यालय की आवश्यकता	५४२
संस्कृतविद्या का विस्तार	५४३
शिक्षाविषय में एक नीति	५४४
जनता का सहयोग	५४४
संस्कृति सिद्धान्त सम्मेलन	५४५
महिलासम्मेलन	५४५
शुद्धि-सम्मेलन	५४६
गो-सम्मेलन	५४८
आर्यमहासम्मेलन का सिंहावलोकन	**५४९-५७५**
आशा से अधिक सफल	५४९

विषय	पृष्ठ
सम्मेलन में किये गये निश्चय वा स्वीकृत प्रस्तावों पर एक :ष्ट	५५२
कलकत्ता में राजनीतिविषयक प्रस्ताव	५५४
मेरठ के प्रस्ताव कीं त	५५५
सार्वदेशिक सभा से नम्र निवेदन	५५६
कलकत्ता आर्य महासम्मेलन के प्रस्ताव	५५७
आर्यसमाज किधर जावे	५५७
आर्यसमाजी कांग्रेस में रह सकता है या नहीं ?	५५८
कांग्रेस राज्य में गीता भी नहीं पढ़ाई जा सकती	५६१
गीता के पीछे वेद-शास्त्रों की बारी	५६२
वर्तमान कांग्रेस सरकार भी आर्यसमाज को पनपने न देगी	५६२
वर्तमान सरकार आर्यसमाज की बात क्यों नहीं सुनती	५६४
आर्यसमाज और मुसलमान	५६५
वर्तमान निर्वाचन और आर्यसमाज	५६६
आर्यसमाज में बहुनायकत्व	५६८
आर्य महासम्मेलन के अन्य प्रस्ताव	५६८
पूर्व निर्धारित नीति पर ही सम्मेलनों की सफलता	५६९
महासम्मेलन गम्भीर विचारकों की दृष्टि में	५७०
आर्य महासम्मेलनों का भावी स्वरूप	५७१
आर्य सार्वदेशिक सभा तथा आर्य महासम्मेलन का सम्बन्ध	५७२
आर्य महासम्मेलन तथा अङ्ग्रेजी राज्य द्वारा स्थापित कांग्रेस में विचित्र समता	५७२
आर्य महासम्मेलन का स्थायी रूप	५७४
अज्ञानी भारत	**५७६-५८०**
सुख-शान्ति का पाठ ऋषि दयानन्द से पढ़	५७६
वेदवाणी का सप्तम वर्ष	**५८१-५८९**
ऋषियों की मानव को देन	५८३
वेदवाणी और वेद तथा वैदिक संस्कृति का सम्बन्ध	५८४
वैदिक संस्कृति की मुख्य देन यम-नियम	५८४

विषय	पृष्ठ
यम	५८५
नियम	५८५
वेदवाणी की सहायता कैसे कर सकते हैं	५८८
पाश्चात्य-मत-परीक्षणाङ्क का उपक्रम	**५९०-५९६**
भारतीय स्कालरों से सहयोग नहीं मिला	५९२
पाश्चात्यों के प्रति कृतज्ञता	५९३
पाश्चात्यमत परीक्षणाङ्क की आवश्यकता	५९४
अपने पाठकों से निवेदन	५९६
काश्मीर-समस्या की आड़ में अमेरिका और ब्रिटेन का भारत के विरुद्ध षड्यन्त्र	**५९७-५९९**
भारत के शत्रु इङ्गलैण्ड और अमेरिका नंगे हो गये	**६००-६०१**
न्याय की नीति ही सच्ची नीति	**६०२-६०६**
आर्यसमाज का हिन्दी-सत्याग्रह	६०३
भ्रष्टाचार कैसे दूर हो, एक नया सुझाव	६०५
वेद का सामयिक आदेश	**६०७-६०८**
अन्यत्र प्रकाशित—लेख-निबन्ध	**६११-६२०**
वेदार्थ-पुनरुद्धारक ऋषि दयानन्द	**६११-६२०**
वेदार्थ अन्धकार में	६११
सायण से प्राचीन लगभग सौ वेदभाष्यकार	६१४
यास्क के मत में प्रत्येक मन्त्र का तीन प्रकार का अर्थ	६१५
वेदार्थोद्धारक ऋषि दयानन्द	६१६
वेदार्थ का अपूर्व अश्वारोही दयानन्द	६१७

वेद-सम्मेलनों में अध्यक्षीय भाषण

पदवाक्यप्रमाणज्ञ

स्व० श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु
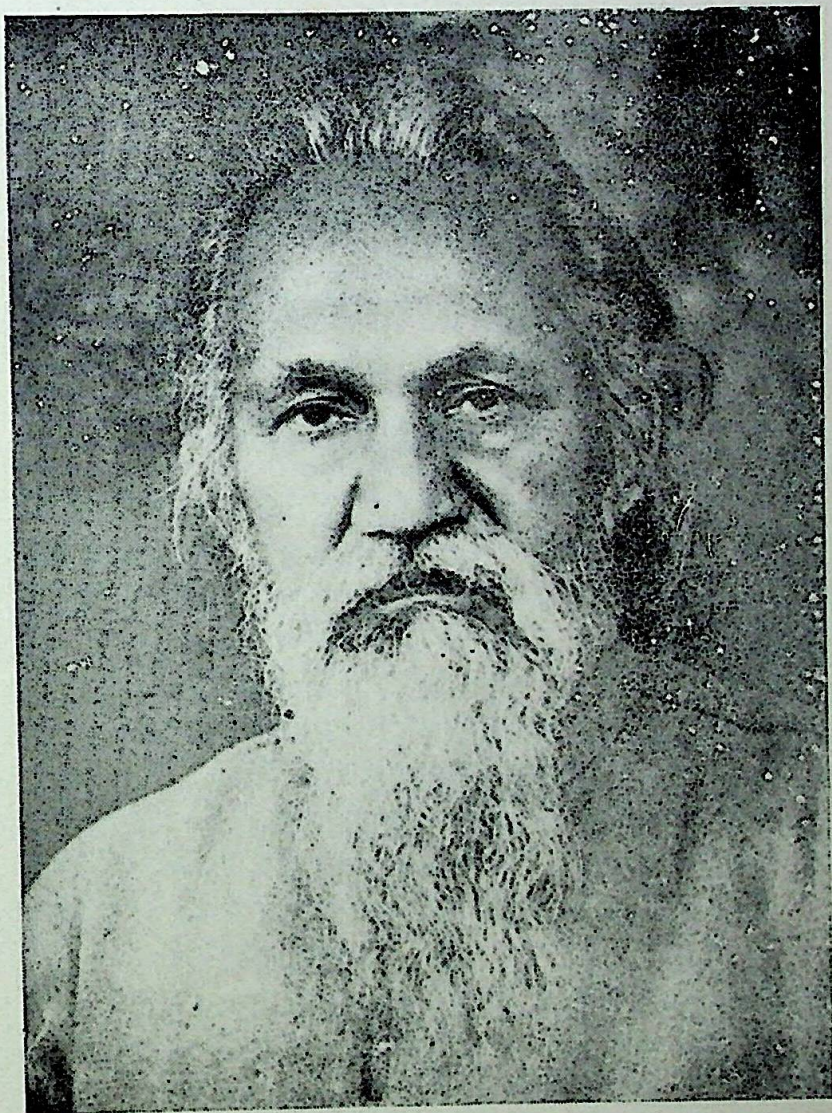
जन्म—१४ अक्तूबर १८९२ मृत्यु—२२ दिसम्बर १९६४

वेद-सम्मेलन, लाहौर
[आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा]
में
सभापतिभाषण

॥ ओ३म् ॥

असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति ।

प्रास्ताविकम्

माताओ आर्यबन्धुओ तथा विद्वन्महानुभावो !

मैं लाहौर से बाहर था। आवश्यक कार्यवश लाहौर आने पर नगर में लगे विज्ञापनों में वेदसम्मेलन के सभापति के लिये अपना नाम देख कर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ और कुछ हंसी भी आई। विना मेरी स्वीकृति के अपना नाम देख कर मैं और भी असमंजस में पड़ गया। धर्मनिष्ठ श्री लाला खुशहालचन्द जी का पत्र मुझे पीछे पहुंचा कि मैंने आप को अपना समझ कर सभा की ओर से मनोनीत किये जाने पर आपका नाम सभापति पद के लिये दे दिया है। उन की ईश्वर-भक्ति और ऋषि दयानन्द के प्रति असीम भक्ति के कारण मुझे उनके लिये बहुत प्रेम और आदर का भाव है। जिससे उन्होंने मेरा नाम मुझसे पूछे विना ही दे दिया और मैं अस्वीकार न कर सका।

हंसी मुझे इसलिये आयी और आ रही है कि कहां मैं—और कहां वेदसम्मेलन, मैं तो वेदों का एक साधारण सा विद्यार्थी हूं, जब कोई मुझे विद्वान् कहता है तो मुझे मन ही मन हंसी आने लगती है और मैं सोचने लगता हूं कि यदि मैं विद्वान् हूं तो विद्यार्थी कौन होगा ?

मैं अपना वक्तव्य आरम्भ करने से पूर्व यह निवेदन करना आवश्यक समझता हूं कि यदि कोई पूछे कि वेद बड़ा है कि दयानन्द, तो मैं कहूंगा

वेद। यदि कोई पूछे कि सत्य बड़ा है या दयानन्द या आर्यसमाज, तो मैं कहूंगा सत्य।

बहुत से महानुभाव मुझे भूल से ऐसा समझते हैं कि यह दयानन्द की हर एक बात वा सिद्धान्त को, चाहे वह ठीक हो या गलत, पुष्ट करने का ठेकेदार अपने को समझता है। ऐसे महानुभावों की मेरे सम्बन्ध में यह धारणा असत्य है। दयानन्द की बात आज असत्य सिद्ध हो जावे, मैं आज छोड़ने को तैयार हूं, यह मेरी स्थिति है। परन्तु आज तक कोई उनका असत्य मिला नहीं। हां, इतना अवश्य है, चाहे यह मेरी बुद्धि का दोष कहा जावे या कुछ और, जितना अक्षर दो अक्षर ज्ञान बढ़ता जा रहा है, उतनी ही अधिक निष्ठा-श्रद्धा-भक्ति ऋषि दयानन्द में होती जा रही है। मेरा तो यहां तक मत है कि यदि वेद में कुछ नहीं होता, तो दयानन्द वेद को भी उठाकर फैंक देता कि जा! तेरे से मैंने क्या लेना है। निःस्पृह दयानन्द उसकी कुछ भी परवाह न करता। हां, इतना अवश्य है ईसाई-मुसलमान-सनातनधर्मी भी यदि दयानन्द को गाली दें तो दें, मैं उन्हें उनके अज्ञान के कारण क्षन्तव्य समझता हूं और मुझे दुःख नहीं होता। पर आर्य कहलाने वा कहे जानेवाले विद्वान् न समझकर दयानन्द को गलत बतलाते हैं तो मुझे दुःख अवश्य होता है।

यदि प्रशंसनीय आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा ने अपना कर्तव्य समझकर मुझे वेदसम्मेलन का सभापति चुना है तो मैं भी कर्तव्य समझ कर उसके लिये उद्यत हो गया हूं। न मैं धन्यवाद किसी से चाहूं न दूं। इसकी आशा किसी को मुझ से नहीं करनी चाहिये। यदि किसी की इच्छा हो तो ले ले। अब मैं अपना वक्तव्य आरम्भ करता हूं।

वैदिकधर्म का सेवक—
ब्रह्मदत्त जिज्ञासुः

॥ ओ३म् ॥

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥१॥
यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् ।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभि सं नवन्ते ॥२॥
ऋ० १०।७१।१,३॥

वेद प्रभु की पवित्र वाणी है, जो आदिसृष्टि में जीवों के कल्याणार्थ परमपिता परमात्मा ने ऋषियों द्वारा प्रदान की। समस्त विद्याओं का उद्भवस्थान, सार्वकालिक और सार्वभौमिक नियमों का प्रदर्शक, मानव समाज सम्बन्धी सब क्रियाकलापों का विज्ञापक, सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान का आगार होने से वेद प्रत्येक देश-जाति-समाज और व्यक्ति के लिये सदैव उपादेय है।

समस्त ऋषि मुनि भी वेद को **"सर्वज्ञानमयो हि सः" "प्रमाणं परमं श्रुतिः"** अखिल ज्ञान का स्रोत तथा परप्रमाण मानते और बताते चले आये। **'निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'** विना कुछ विचार किये परमकर्त्तव्य समझते हुये इस वेद को छओं अङ्गों सहित पढ़ने का आदेश करते चले आये। इसी से यह वेद इस समय तक हमारे पूर्वजों के पुण्यप्रताप से कुल-परम्पराओं द्वारा सुरक्षित रहता आया, अन्यथा भूमण्डल भर में खोजने पर भी इस का चिह्न तक भी न मिलता, जैसा कि अनेक जातियां अपने साहित्य सहित इस भूमण्डल से सदा के लिये मिट गईं।

परमकारुणिक परमदेव परमात्मा की अपार कृपा से इस भारतभूमि पर भगवान् दयानन्द का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने हमें वेद के इस शुद्ध स्वरूप का पुनः दर्शन कराया। नहीं तो अवस्था यह थी कि वेद एक राशि (ढेर) में पड़ा था, जिस में संस्कृत में लिखी प्रत्येक पुस्तक चाहे वह कल की भी लिखी हो, सब एक समान स्थिति में पड़ी थीं। जैसे विना लेबुल के औषध की सहस्रों शीशियां एक ढेर में पड़ी हों, उन के तारतम्य का किसी को कुछ भी ज्ञान न हो। वेद और आर्षग्रन्थरूपी अमृत को उस ढेर में से पृथक् कर ऋषि दयानन्द ने संसार का महान् उपकार किया। वेद के स्वतः प्रमाण और ऋषिग्रन्थों के परतः प्रमाण होने का नाद बजाया। अपनी ही कल्पना से नहीं, अपितु ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त समस्त ऋषियों के आधार पर।

वेद और उसकी शाखायें

ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज का यह सिद्धान्त है कि चार वेद ईश्वरकृत हैं, तथा शेष उनकी ११२७ शाखायें वेद के व्याख्यानरूप ग्रन्थ हैं। अगाधबुद्धि महामुनि पाणिनि तथा भगवान् पतञ्जलि दोनों ने अष्टाध्यायी और महाभाष्य में **"तेन प्रोक्तम्"** सूत्र तथा उस के भाष्य में **"काठकम्। कालापकम्"** ये उदाहरण देते हुए मैत्रायणी और काठक (संहिता कही जाने वाली) दोनों को ऋषिप्रोक्त अर्थात् ऋषियों की बनाई माना है। निरुक्त के टीकाकार दुर्ग और स्कन्द ने भी तैत्तिरीयसंहिता के उद्धरण देते हुए उन्हें स्पष्ट "ब्राह्मण" शब्द से व्यवहृत किया है। (देखो दुर्ग पृ० १४७, स्कन्द टी० पृ० ६६ भा० २)।

इन प्रोक्त ग्रन्थों अर्थात् काठक, मैत्रायणी आदि की आनुपूर्वी को महाभाष्यकार ने अनित्य माना है जैसा कि—

"या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादकञ्चेति"॥ (महाभाष्य अ० ४।३।१०४)।

यहां पैप्पलाद की वर्णानुपूर्वी को भगवान् पतञ्जलि अनित्य मानते हैं। यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है।

वही भगवान् पतञ्जलि वेद की आनुपूर्वी-शब्द-वर्ण-मात्रा-स्वर को नित्य मानते हैं, तद्यथा—

'स्वरो नियत आम्नाये अस्यवामशब्दस्य। वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता अस्यवामशब्दस्य।' महाभा० अ० ५।२।५॥

इसी प्रकार महामुनि यास्क भी वेद की आनुपूर्वी को नित्य मानते हैं जैसे—

'पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे।' निरु० १।२॥

'नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति' (निरु० १।१५)।

यही बात जैमिनि अपने मीमांसाशास्त्र के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद में बतलाते हैं।

इन सब प्रमाणों से सिद्ध है कि शाखाग्रन्थों को पाणिनि, पतञ्जलि, यास्क और जैमिनि ये ऋषिलोग अनित्य वा मनुष्यकृत मानते हैं और वेद को ईश्वरकृत। ऋग्-यजुः-साम का स्वरूप गोपथब्राह्मण के काल तक ऐसा ही था जैसा कि हमें इस समय उपलब्ध होता है। (देखो गोपथब्राह्मण, पृष्ठ १२)।

हां, अथर्ववेद के विषय में **'शन्नो देवी०'** से आरम्भ होता है, यह गोपथब्राह्मण तथा महाभाष्य के प्रारम्भ में माना है, ऐसा कोई-कोई सज्जन कहते हैं। हम उन महानुभावों की सेवा में नम्रतापूर्वक निवेदन करेंगे कि पतञ्जलि ने **'तेन प्रोक्तम्'** में 'पैप्पलादकम्' उदाहरण देकर पैप्पलाद को भी शाखा मानकर उसकी वर्णानुपूर्वी को अनित्य माना है अर्थात् पैप्पलाद को ऋषिकृत माना है। **'शन्नो देवी०'** पैप्पलाद का प्रथम मन्त्र है, ऐसा गुणविष्णु ने छान्दोग्यमन्त्रभाष्य में लिखा है। गोपथब्राह्मण के इस स्थल पर यह भी कहा जा सकता है कि सम्भव है यह ब्राह्मण ही हो पैप्पलाद का, या तत्सम्बन्धी किसी अन्य अवान्तर शाखा का, यह बात विचारकोटि में है, अभी हम निश्चित नहीं कह सकते। पर पैप्पलाद ऋषिकृत है, यह तो निश्चित ही है।

'ये त्रिषप्ताः' आदि अथर्ववेद के प्रारम्भ की प्रतीकें हमें श्रौत-गृह्य तथा अनेक स्थलों में मिलती हैं।

मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि ऋग्-यजुः-साम और अथर्व ये चार मूल वेद स्वतःप्रमाण हैं और शाखाग्रन्थ परतःप्रमाण। इन शाखाग्रन्थों की कोटि (दर्जा) वह नहीं, जो वेद का है। यह है भेद वेद और शाखा-ग्रन्थों का, जिन को संहिता के नाम से कहा जा रहा है।

हरिस्वामी (सन् ६३८) शतपथब्राह्मण के आरम्भ में लिखता है --

'वेदस्यापौरुषेयत्वात् स्वतःप्रामाण्ये सिद्धे तद्धेतुत्वात् तच्छाखानामपि प्रामाण्यं प्रतिपादितं बादरायणादिभिः।'

इसका यह अभिप्राय है कि हरिस्वामी मूलवेद को शाखाओं से भिन्न मानता है।

इन मूलवेदों तथा इन ऋषिप्रणीत शाखाग्रन्थों को एक ही दर्जा देकर एक ही साथ खल्त मल्त (मिश्रित) छापना कहां तक युक्त है, इस पर हम आगे चलकर अपना विचार उपस्थित करेंगे।

वेद और ब्राह्मणग्रन्थ

ब्राह्मणग्रन्थ मूलवेद के मन्त्रों की प्रतीक (अर्थात् उद्धरण) लेकर उसका विनियोग (application) मात्र बताते हैं कि इस मन्त्र को बोल कर अमुक क्रिया करना। इससे स्पष्ट है कि ये ब्राह्मणग्रन्थ वेदों के व्याख्यानरूप ग्रन्थ हैं। मैं पूछता हूं भला शतपथब्राह्मण का प्रारम्भ यजुर्वेद के पहिले मन्त्र **'इषे त्वोर्जे'** से न करके **'अग्ने व्रतपते'** से ही क्यों है?

और किसी-किसी मन्त्र का इसमें विनियोग ही नहीं तथा कई मन्त्रों का विनियोग शतपथ में है तो कात्यायनश्रौतसूत्र में नहीं, कात्यायन में है तो शतपथ में नहीं। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणग्रन्थ तो वेद के व्याख्यानरूप ग्रन्थ हैं। उनको वेद कहना वा लिखना किसी प्रकार भी उचित नहीं।

'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः' इत्यादि निरु० १।२० से स्पष्ट है कि साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों के द्वारा वेदाङ्गों का प्रवचन हुआ। यास्क ने **'पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे'** पुरुष का ज्ञान अनित्य होने से वेद नित्य है, ऐसा माना है। यास्क ने ही अपने निरुक्त (२।११) में औपमन्यव आचार्य का मत दर्शाते हुए **'ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान्ददर्शेत्यौपमन्यवः'** तथा **'कर्त्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः'** (निरु० ३।११) इन दोनों स्थलों में कर्त्ता और द्रष्टा पदों को एकार्थक दर्शाते हुए ऋषियों को मन्त्रों का द्रष्टा माना है। ऐसे ही अन्य ऋषि-मुनियों ने अपने-अपने वेदाङ्गों और उपाङ्गों में ऋषियों को वेद का द्रष्टा माना है, विस्तर-भिया हम यहां प्रमाण उपस्थित नहीं करते। विचारशील महानुभाव स्वयं देख सकते हैं। समस्त ऋषि-मुनि वेद को ईश्वरकृत मानते हैं, यही हमारा कहना है। इसीलिए अर्थात् आप्तप्रमाण होने से आर्यसमाज वेद को स्वतःप्रमाण मानता है, शाखा और ब्राह्मणग्रन्थों को ऋषिप्रोक्त होने से परतःप्रमाण।

वेद और विदेशी राज्य का प्रभाव

दुर्भाग्यवश हमारे देश में वेद के विषय में एक दूसरा ही प्रवाह चल पड़ा है, अर्थात् वेद को गड़रियों के गीत वा मनुष्यकृत कहा जाने लगा है। यह विदेशी राज्य की देन है। अर्थात् हम भारतीयों के हृदयों में अपनी ज्ञानसम्पत्ति वेद और ऋषिमुनि-प्रणीत शास्त्रों के प्रति अश्रद्धा, नहीं-नहीं आशातीत अत्यन्त घृणा का भाव उत्पन्न करा दिया गया है। पिछले डेढ़ शताब्दी के ब्रिटिश शासन ने हमारी प्राचीन शिक्षा, दीक्षा, संस्कृति, सभ्यता के विकास के साधन उपस्थित करंना तो कहां रहा, ह्रास और वह भी चरमसीमा तक ह्रास की परिस्थिति उत्पन्न कर दी है, शासित (आधीन) राष्ट्र वा जातियों की यही गति होती है। शिक्षा के सञ्चालन सूत्र को अपने हाथ में रखने में ही शासकवर्ग का हित निहित होता है। जिसके द्वारा शासकवर्ग नई पीढ़ी को अपनी इच्छा और आवश्यकता के अनुरूप बनाने में सफल हो जाता है। जिससे उस

राष्ट्र पर नैतिक विजय प्राप्त हो जाती है, जो तलवार की विजय से कहीं अधिक प्रभावशाली हुआ करती है। परिणामस्वरूप शासकजाति के कवि, लेखक और शिक्षक पराजित जाति के हृदय मस्तिष्क और देह में संक्रामक कीटाणुओं की भांति घुसकर उसकी अपनी संस्कृति, आत्माभिमान और उसकी आत्मा का हनन कर उसे निर्जीव, निस्तेज और पंगु बना देते हैं। शासितजाति के लोग उनके गुणगान करते हुए नहीं थकते। शासकजाति को विना पैसे बने-बनाए गुलाम (दास) मिल जाते हैं। इससे अधिक शासकजाति की सफलता भला क्या हो सकती है? शासितजाति के अन्दर जितने ही ये विचार प्रबल होते जाते हैं, जाति की परतन्त्रता के बन्धन उतने ही दृढ़ होते जाते हैं। आज भारत की सर्वथा यही अवस्था है। विजातीय भावना के इस विष को भारत के अभागे पुत्र और पुत्रियां पी रहे हैं। यहां तक ही नहीं, उस विष को अमृत समझकर बड़े उत्साह और परस्पर स्पर्धा से पी रहे हैं और अपनी प्राचीन संस्कृति को हीन समझ रहे हैं।

ऐसी अवस्था में विचारशील महानुभाव स्वयं समझ सकते हैं कि वेद शास्त्र, प्राचीनसभ्यता, और संस्कृति के लिये भारतीयों के हृदय में अश्रद्धा-घृणा-उत्पन्न कर देना कोई बड़ी वात नहीं है, अहो दुःखम्!!!

वेद को गड़रियों के गीत और ऋषिप्रणीत ग्रन्थों को निरर्थक बताने वाले विदेशी-विद्वानों से शिक्षा दीक्षा प्राप्त किये हुए भारतीय विद्वानों का एक टोले का टोला अब वेद को मनुष्यकृत ही नहीं मानता, अपितु निरर्थक तथा इतिहास का ग्रन्थ बतलाता दिखाई दे रहा है। ऋषिकृत ग्रन्थों को तो यह कुछ भी नहीं समझता।

यह भी विदित रहे कि उन विदेशीय विद्वानों ने वेदों तथा अन्य शास्त्रों के विषय में जो अत्यन्त उत्कृष्ट अनुकरणीय प्रयत्न किया है, उस के लिये हम उनके अत्यन्त आभारी हैं और हर एक को होना चाहिये। ब्लूमफील्ड की वैदिक उद्धरणों की सूची (Vedic concordance), मोनियर विलियम का बृहत् संस्कृत अङ्गरेजी कोश, मोक्षमूलर राथ ह्विटने लिण्डनौ आदि महानुभावों का मूल वेदों के शुद्ध मुद्रण में घोर प्रयत्न, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न विषयों में भिन्न-भिन्न विद्वानों के भारतीय साहित्य के लिये परिश्रम को हम अतीव प्रशंसा और आदर की दृष्टि से देखते हैं, और उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। भारतीयों की अपेक्षा

हमारे साहित्य में उन्होंने बहुत प्रयत्न किया है। यह सब होते हुए भी हम यह कहे विना नहीं रह सकते कि उनकी भावना अच्छी नहीं थी; जिससे प्रेरित होकर वे हमारे साहित्य की खोज में लगे। अपने इस विचार की पुष्टि में विचारशील महानुभावों के सामने एक ही उदाहरण उपस्थित करना पर्याप्त होगा। मोनियरविलियम कोश की भूमिका में लिखा है—

"That the special object of his munificent bequest was to promote the translation of the scriptures into Sanskrit, so as 'to enable his countrymen to proceed in the conversion of the natives of India to the Christian Religion."

इसका भाव यह है कि यह डिक्शनरी या संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद का कार्य जो मि० बौडन के ट्रस्ट द्वारा हो रहा है, वह सब भारतीयों को ईसाई बनाने में अपने देश (इङ्गलैण्ड) वासियों को सहायता पहुंचाने के लिये है।

इतने से ही विचारशील महानुभाव समझ सकते हैं कि विदेशियों ने किस ध्येय को सामने रख कर हमारे वैदिक वा अन्य संस्कृत साहित्य में इतना घोर परिश्रम किया। सब योरुपीय तथा अन्य देशीय विद्वान् प्राय: इसी धारणा और भावना को लेकर हमारे सारे साहित्य की खोज में लगे, हमारे कल्याण के लिये नहीं, यह दु:ख से कहना पड़ता है।

ऐसी अवस्था में जैसा कि मैं पूर्व कह चुका, विदेशी राज्य अर्थात् वर्तमान शासकवर्ग भारत की इस नई पीढ़ी को अपनी इच्छा और आवश्यकता के अनुरूप बनाने में सफल हो चुका है।

भला हमारे पतन का भी कोई ठिकाना है कि संस्कृत की शिक्षा दीक्षा की मोहर हमारे देशवासियों को भी इङ्गलैण्डादि से प्राप्त करनी पड़ती है। वहां का पढ़ा ही किसी संस्कृत ओरियण्टलसंस्था का प्रिंसिपल हो सकता है। चाहे वह संस्कृत के एक ग्रन्थ को भी न पढ़ा सकता हो, पर दो-दो अढ़ाई-अढ़ाई हजार रुपया मासिक पा सकता है। भला ऐसी अवस्था में हमारे ये भारतीय स्कालर अपने उन योरुपीय गुरुओं का गुणगान और वेद के विषय में उन गुरुओं की ही हां में हां मिलाने में कैसे पीछे रह सकते हैं। 'जिसका खाना, उसका गाना' **'बद्धोऽस्मि अर्थेन कौरवैः'** 'गुरु जिन्हां दे टप्पणे, चेले जाण छड़प्प' यह स्वाभाविक है।

स्वामी के नमक के प्रभाव से भीष्म जैसे न वच सके, इनकी तो बात ही क्या !!!

ये सब आर्यसमाज के विपक्षी (अर्थात् पूर्वपक्षी) हैं। हां! जिनके हृदय में भारतीय साहित्य-संस्कृति और सभ्यता के प्रति अपने पूर्वजों की सम्पत्ति होने से ही प्रेम है, वे अत्यन्त प्रशंसा के योग्य हैं कि जो विदेशी शिक्षा दीक्षा पाकर भी उनमें अपने देश का प्रेम विद्यमान है और वे अपनी पूर्णसामर्थ्य से विदेशी राज्य और विदेशी भावनाओं के प्रति घृणा का भाव रखते हुये अपनी भारतीय संस्कृति और साहित्य की रक्षा में हृदय से तत्पर हैं, और उनके द्वारा बहुत कुछ हो सकता है, क्योंकि इस समय उनके हाथ में अधिकार है। ऐसे मिलेंगे दो चार ही पर मानते वे भी अधिक से अधिक इतना ही हैं कि संसार की लाइब्रेरी में वेद सबसे पुरानी पुस्तक है। मानो इसका परमात्मा से कोई सम्बन्ध नहीं! ऋषियों की वनाई होने पर भी हमारे पूर्वजों की देन है। इसलिये हमें इसमें यत्न करना चाहिये ऐसा वे मानते हैं।

ऐसे विचार वालों की संख्या भारत में अत्यधिक हो रही है और अङ्गरेजी ढङ्ग से संस्कृत पढ़नेवाले तो सब इसी विचार के पाये जाते हैं। अनार्षविधि से पढ़नेवाले शास्त्री आदिकों को निरुक्तादि का ठीक ज्ञान न होने से वेद में उलटी अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है।

मैं न कालेज पार्टी का, न गुरुकुल पार्टी का हूं, यदि हूं तो दोनों का। दुर्भाग्यवश डी० ए० वी० कालेज और सनातनधर्म कालेज ने वेदनिन्दक बहुत पैदा किये हैं, उधर गुरुकुल ने भी दो चार को छोड़ कर प्राय: कर के वेद से विमुख स्नातक ही पैदा किये हैं। शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन न करा कर उन्हें अभिमान पैदा करा दिया जाता है कि जाओ कमाओ खाओ तुम पूरे विद्वान् हो गये, तुम से सब नीचे हैं। अन्यथा चाहिये तो यह था कि इन शास्त्री और स्नातकों के हृदय में समावर्त्तन के समय यह भाव उत्पन्न किया जाता कि अब तो तुम्हारी विद्या आरम्भ होगी, समाप्त नहीं हो गई। बी० ए० पढ़ कर ही मनुष्य शिक्षित नहीं बन जाता, अपितु शिक्षा ग्रहण करने योग्य होता है जैसा कि मि० नोलटन (Mr. Knowlton) ट्रेनिङ्ग कालेज के प्रिंसिपल कहा करते थे कि 'शिक्षित (Educated) पुरुष वह है जिस में विद्याग्रहण की तृष्णा पैदा हो जावे, बी० ए० पास करने से ही विद्या की समाप्ति नहीं हो जाती।'

मेरे इस सारे कथन का अभिप्राय इतना ही है कि भारत से बाहर तो जो है सो है, स्वयं भारत में आर्यसमाज के सामने कितना बड़ा विपक्ष (पूर्वपक्ष अर्थात् आक्षेप करनेवालों का समूह) बढ़ता चला जा रहा है। कभी इस बात को आर्यविद्वानों तथा आर्यसमाज के नेताओं ने शान्ति, गम्भीरता से सोचा भी है? उच्चकोटि के सच्चे त्यागी ब्राह्मण की निरन्तर २० वर्ष तपस्या का फल भी यदि उच्चकोटि के गुरुकुल के स्थान में हाई स्कूल की एक संख्या का बढ़ाना ही हो तो इस से अधिक खेद की बात क्या हो सकती है। पता नहीं इस से देश की कौनसी कमी पूरी हो जायगी जो अब तक नहीं हो सकी। पूर्वपक्षियों की यदि कमी पूरी हो तो भले ही हो जावे।

ये सब अन्तर्वेदना की बातें हैं। करने चले हैं हम वेदसम्मेलन। पूर्व-पक्ष ही पूर्वपक्ष प्रायः सर्वत्र दिखाई देता है। ये हैं विचारणीय विषय आर्यसमाज के सामने, जिसका उपाय सोचना ही पड़ेगा। आज नहीं तो कल। नहीं तो मृत्यु तो है ही।

यह मैंने मूलवेद और ऋषिप्रणीत ग्रन्थों की वर्तमान स्थिति के विषय में कुछ निवेदन किया। अब में वेद के भाष्यों की ओर आप महा-नुभावों का ध्यान आकर्षित करता हूं—

वेद के भाष्यकार

प्रथम वेदभाष्यकार यास्क

आरम्भ में वेद का अर्थ वेदमन्त्रों से ही समझ लिया जाता था। मन्त्रादि द्रष्टा ऋषि न जाने कितने रहे होंगे। बुद्धियों के शनैः-शनैः मन्द हो जाने पर (जिसे हम ह्रासवाद भी कह सकते हैं) वेद का अर्थ बताने की योजनाओं का आरम्भ हुआ, जैसा कि यास्क ने कहा है –

'उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च' (निरु० १।२०)।

वेद-वेदाङ्गों के अभ्यास की योजना कुछ और ढङ्ग पर होने लगी। वेद को उसके अङ्गोपाङ्गों द्वारा पढ़ाया जाने लगा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जितने भी पदकार हुए, वे वेद के अर्थों को भली प्रकार जान कर ही मन्त्रों के पदविभाग करने में समर्थ हुए। पदकार महावैयाकरण रहे होंगे, इस में सन्देह नहीं। उसके पश्चात् विनियोग बतानेवाले **'विनि-**

योजकं हि ब्राह्मणम्' ब्राह्मणग्रन्थों के रचयिता भी किस मन्त्र का अभिप्राय किस यज्ञ वा इष्टि में ठीक उपयुक्त हो सकता है, इस बात का निर्णय बताने में विना मन्त्रों के अर्थों को जाने कैसे यथावत् विनियोग नियत कर सकते थे। इस प्रकार यदि हम पदकार-ब्राह्मणकार तथा आरण्यककारों को वेद के अर्थ-साक्षात्कर्त्ता कहें तो अनुपयुक्त न होगा। यह होते हुए भी हम उन्हें वेदभाष्यकार नहीं कह सकते। वास्तव में प्रथम वेदभाष्यकार हम यास्क को कह सकते हैं, जिन्होंने वेद का अर्थ समझने की शैली हमें बतलाई, जो उनसे पूर्ववर्ती शाकपूणि आदि अनेक नैरुक्ताचार्यों द्वारा आविष्कृत होकर यास्क के समय में परिमार्जित वा पूर्ण हुई। निरुक्त में हमें वेद का अर्थ अपने स्वाभाविकरूप में बहुत उत्तम रीति मे मिलता है।

निरुक्तकार के मत में वेद का स्वरूप निम्न प्रकार है—

यास्क और वेद

वेद के विषय में यास्क और दयानन्द का एक मत

(१) यास्क के मत में वेद अपौरुषेय है जैसे—

'पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे।' निरु० १।२॥

तथा—

'नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति।' निरु० १।१५॥

(२) ऋषि मन्त्रद्रष्टा थे, न कि कर्त्ता **'ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः।'** निरु० २।११॥

(३) प्रत्येक मन्त्र का अर्थ तीन प्रकार का अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधियज्ञिक—इन तीनों प्रक्रियाओं में होता है। जिस में उपलब्ध होनेवाले वर्तमान वेदभाष्यकारों में सब से प्रथम वेदभाष्यकार आचार्य स्कन्द स्वामी ने लिखा है कि यास्क के मत में हर एक मन्त्र का तीन प्रकार का अर्थ होता है। तद्यथा--

'सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः ? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय अर्थं वाचः पुष्पफलमाह (निरु० १।२०) इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्।'

निरु० स्कन्दटीका भा० ३ पृ० ३६, ३७॥

(४) यास्क अनित्य अर्थात् व्यक्तिविशेषों का इतिहास नहीं मानता। **'उपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति'** (निरु० २।१६), तथा **ऋषेर्दृष्टार्थस्य**

प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता' (निरु० १०।१०, ४६) मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषियों की आख्यान के रूप में कहने की प्रीति होती है, न कि कोई इतिहास वेद में हैं।

यही मत हमें निरुक्त स्कन्दटीका भा० २ पृ० ७८ में तथा दुर्ग टीका में प्रायः मिलता है।

(५) यास्क अर्थ के पीछे विभक्ति वा स्वर को मानता है **'अर्थ-नित्यः परीक्षेत'** **'यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्'** (निरु० २।१)। निरु० ५। २३ में **'कथमनुदात्तप्रकृतिर्नाम स्याद् दृष्टव्ययं तु भवति'** स्पष्ट स्वर का व्यत्यय माना है।

(६) पदपाठ के पीछे अर्थ को नहीं वान्धता, जैसे डी० ए० वी० कालेज लाइब्रेरी में वैठा एक समूह का समूह यही प्रचार कर रहा है। **'मासकृत् और मा सकृत्'** (निरु० ५।२१) आदि हमारी धारणा में प्रमाण हैं।

(७) यास्क मन्त्र के अर्थों में व्यत्यय को स्पष्ट मानता है जैसे **'यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्'** (निरु० २।१) अर्थात् अर्थ के अनुकूल विभक्ति का परिवर्त्तन सदा करना चाहिये। तथा निरु० ६।१ में **'आशुशुक्षणिः'** पद को प्रथमान्त होते हुए यास्क ने **'पञ्चम्यर्थे वा प्रथमा'** यह कह कर मनसा वाचा ही नहीं, अपितु कर्मणा (Practically) भी व्यत्यय को स्वीकार किया है। इस व्यत्यय पर हमारे कई एक मित्र ऋषि दयानन्द पर आक्षेप करने वाले अनार्ष ग्रन्थों के पृष्ठपोषक इतना घबराते हैं कि जिसका कोई ठिकाना नहीं। कोई वाऊला छन्दसि बन जाता है, तो कोई **'बहुलं छन्दसि'** विषय के उदाहरणों का परिगणन करने का अभिमान दर्शाने लगते हैं, जिसमें वे कभी सफल नहीं हो सकते, चाहे सारी आयु लगे रहें, तो भी अन्त नहीं पा सकते।

वेदार्थ की प्रक्रिया का यथार्थबोध न होने से ये सब अज्ञान घुसे हैं। आर्षज्ञान तथा गुरुपरम्परा से पढ़े विना यथार्थज्ञान हो भी कैसे सकता है?

ये नये विद्वान् कहलाने वाले कहते हैं कि यहां स्वर ऐसा है, इसलिये अर्थ ऐसा ही होगा। भला ये क्या जानें ऋषियों के अभिप्राय को। जिस वात को पाणिनि, पतञ्जलि, यास्क जैसे वेदपारदर्शी आप्त ऋषिमुनि कहें, वह बात कैसे अमाननीय हो सकती है। जब इन लोगों के सामने

स्पष्ट प्रमाण आ जाते हैं, जिनका कि इन के पास कोई उत्तर नहीं होता तो फिर यह कहने लगते हैं कि यास्क भी तो हमारे ही जैसा था, उसके चार आंखें तो थीं नहीं, न चार हाथ थे। पर वे लोग यह भूल जाते हैं कि ऋषि निर्मलमस्तिष्क होते हैं। कहां साक्षात्कृतधर्मा ऋषि लोग, कहां साधारण बुद्धि के ये लोग, जिन्हें महाभाष्य के सूत्र का अभिप्राय समझाने से भी समझ में नहीं आवे। अभिमान की यह चरम सीमा है। कहां ऋषि कहां मनुष्य !!!

(८) यास्क मन्त्र में आये पद को ही देवता नहीं मानते, अपितु मन्त्र में आये पद के अर्थ को भी देवता मानते हैं। देखो निरु० ८।१७ में 'वनस्पति' के अर्थ यूप और अग्नि को देवता माना है। ऋक्सर्वानुक्रमणी में भी 'वनस्पति' के अर्थ 'यूप' को देवता माना है। यास्क केवल लिङ्ग अर्थात् चिह्न से देवता नहीं मानता। देखो निरु० १।१७॥

(९) यास्क यौगिकवाद का परमपोषक है। यास्क के समस्त निर्वचन इसी के प्रमाण हैं। **'अयमपीतरः शिरः एतस्मादेव'** इत्यादि वचनों का क्या अभिप्राय है ?

(१०) विनियोग को भी निरुक्तकार अर्थानुसारी मानता है। जिस मन्त्र का जो अर्थ होगा, तदनुसार ही वह मन्त्र विनियुक्त (applied) होगा, वैसे ही नहीं। देखो निरु० १।१६।

इन उपर्युक्त प्रमाणों द्वारा हमने वेदार्थ के मौलिक सिद्धान्तों के विषय में यास्क का मत निर्देशमात्र दिया है। यह है यास्क का वेद। ठीक यही दयानन्द का वेद है। और ठीक इसके विपरीत आजकल के अङ्गरेजी ढङ्ग के वेद के विद्वान् कहे जानेवालों का। यास्क के इतने प्रमाण देने का हमारा अभिप्राय यह है कि प्रथमवेदभाष्यकार यास्क ने वेद के अर्थ को जैसा समझा, वैसा बीच के काल के भाष्यकार नहीं समझ सके।

यह भी विदित रहे कि सायण से लगभग ९०० वा १००० वर्ष या यों समझिये कि आज से लगभग १५०० वर्ष पूर्वतक वेदार्थ की प्रक्रिया लगभग यही थी, जो हमने प्रमाणों सहित ऊपर दर्शाई।

यास्क के पीछे के वेदभाष्यकार

यह भी विदित रहे कि अब तक स्कन्द-उद्गीथ-वेङ्कट-आत्मानन्द-आनन्दतीर्थ-जयतीर्थ-भरतस्वामी उवट-गुणविष्णु आदि वेदभाष्यकार

सायण से पूर्व हुये, जिनके भाष्य उपलब्ध हो रहे हैं। और नारायण-हस्तामलक-लक्ष्मण-धानुष्कयज्वा-देवस्वामी-हरिस्वामी आदि अनेक भाष्यकारों का हमें पता लग रहा है। सायण से पीछे हमें मुद्गल भव-देव-आनन्दबोध-अनन्ताचार्य-देवयाज्ञिक मुरारिमिश्र-देवपाल आदि भिन्न-भिन्न देदभाष्यकारों के विषय में पता लग रहा है और आनन्दबोधादि-कृत भाष्य मिलते भी हैं। इन भाष्यों के विषय में हम कुछ लिखते, पर अल्प समय होने से छोड़ते हैं।

मोक्षमूलर-विल्सन-ग्रिफिथ-ह्विटने आदि योरूपीय स्कालरों ने जो वेदों के अनुवाद किये और भी जिन-जिन महानुभावों ने वेदविषय में कुछ लिखा; उन सब का विवरण हम यहां इस समय नहीं दे रहे। सायण संवत् १३७२ से १४७४ तक हुआ।

सायणभाष्य की आलोचना भी हम इस समय समयाभाव से नहीं करेंगे, केवल इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि सायणाचार्य का समस्त वेद का भाष्य याज्ञिक प्रक्रिया परक ही है, यद्यपि सायण ने यज्ञप्रक्रिया को भी ठीक-ठीक नहीं समझा है, जिसके उदाहरण हम पुन: कभी दर्शा सकेंगे। अभ्युपगमवाद से मान भी लिया जावे कि सायण ने यज्ञप्रक्रिया को ठीक समझा है और तदनुसार ही भाष्य किया है, तो भी सायण का सारे का सारा भाष्य वेद के एक तिहाई अर्थ को दर्शाता है। सायण के किये हुये सारे अर्थ से दुगना अर्थ और शेष है, जो सायण को सूझा भी नहीं, उसकी समझ में नहीं आया, न उसने दर्शाया।

उसकी पूर्त्ति ऋषिदयानन्द का भाष्य करता है, क्योंकि वह याज्ञिक अर्थ को मानता और दर्शाता हुआ आध्यात्मिक और आधिदैविक अर्थों को बराबर देता है।

अब आप महानुभाव स्वयं सोच सकते हैं कि सायण के पीछे चलने वाले अङ्गरेजी वा अन्य भाषा सम्बन्धी अनुवादों की तो कोई स्थिति ही नहीं रह जाती। वे सब के सब हमारी दर्शाई यास्क की वेदार्थप्रक्रिया के सर्वथा विपरीत होने से हेय अर्थात् त्यागने के योग्य हैं।

ऋषि दयानन्दकृत वेदभाष्य की विशेषतायें

अब हम अति संक्षेप से ऋषि दयानन्दकृत वेदभाष्य की कुछ विशेष-तायें दर्शाना चाहते हैं—पहिले तो हमें उपर्युक्त यास्काभिमत वेद-

सम्बन्धी सब की सब धारणाएं ऋषि के भाष्य में वैसी की वैसी मिलती हैं, अर्थात् वेद का अपौरुषेयत्व-ऋषि मन्त्र द्रष्टा, प्रत्येक मन्त्र का तीन प्रकार का अर्थ, वेद में इतिहास नहीं, स्वर और पदकारों के पीछे ही अर्थ नहीं, अपितु अर्थ के पीछे स्वर और पदपाठ, व्यत्यय, मन्त्रगतपद ही देवता हों यह सर्वांश में नहीं, यौगिकवाद, और विनियोग इन सब में यास्क और दयानन्द एक मत हैं।

ऋषि दयानन्द की दृष्टि से हम इस विषय को कुछ और स्पष्ट करना चाहते हैं—

(१) 'अग्नि' शब्द का अर्थ आचार्य दयानन्द ने ईश्वर, विद्वान्, विद्युत् और भौतिक अग्नि आदि किया। कलकत्ता यूनिवर्सिटी के उस समय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष श्री पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न ने स्वामी जी पर यह आक्षेप किया कि और जो हो सो हो, 'अग्नि' का अर्थ सिवाय आग के कुछ नहीं हो सकता। इस का उत्तर भ्रान्तिनिवारण में श्री स्वामी जी महाराज ने बहुत ही अच्छी तरह से दिया है, प्रत्येक आर्यबन्धु को वह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिये। यदि 'अग्नि' वायु आदि शब्दों का अर्थ परमात्मा न हो तो आर्यसमाज वा स्वामीजीकृत सारा वेदभाष्य मिट्टी में मिल जाता है। हम यास्क के मत से हर एकमन्त्र का अर्थ तीन प्रकार का होता है, यह पहले दर्शा चुके हैं। वादी से हम पूछेंगे कि कहो आध्यात्मिक प्रक्रिया में 'अग्नि' का अर्थ क्या करोगे और कैसे? सो उस को चुप ही होना पड़ेगा। दुर्जनसन्तोषन्याय से भी हम उस से पूछते हैं कि **'अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।'** ऋग्वेद के इस मन्त्र में सब भाष्यकारों, सायण तक ने 'अग्नि' शब्द को विशेष्य माना है, और पुरोहित आदि शब्दों को विशेषण, अर्थात् पुरोहित का अर्थ हित करने वाला अग्नि। सो यदि अग्नि का अर्थ आग ही हो सकता है, और कुछ नहीं, तो पुरोहित का अर्थ भी पुरोहित ही हो सकता है, विशेषण (adjective) हित करने-वाला नहीं। इस से वेद के प्रथम मन्त्र से ही यौगिक प्रक्रिया की सिद्धि स्पष्ट हो रही है।

(२) सब मन्त्रों का अर्थ तीन प्रकार का होता है, यह सहस्रों वर्षों के पश्चात् विस्तार और प्रौढ़ता से ऋषि दयानन्द ने दर्शाया। इस में यास्क का प्रमाण हम आचार्य स्कन्दस्वामी के शब्दों में भली प्रकार दर्शा

चुके हैं। 'सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः' अर्थात् सब मन्त्रों का अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में करना चाहिये। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न अर्थ क्यों किया है सो कहता है 'दर्शनभेदः परस्परविरोध्यध्यात्मविन्नैरुक्तयाज्ञिकानाम्। अनेकजन्मान्तरायाभ्यासवासनापरिपाकवशात् प्रतिभानव्यवस्था द्रष्टव्या।' निरु० स्कन्दटीका भा० ३ पृ० ३६।

इस से स्पष्ट है कि स्कन्द मानता है कि हर एक मन्त्र का अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में होना चाहिये और उस में प्रमाण यास्क का देता है।

(३) यास्क और दयानन्द वेद में अनित्य इतिहास नहीं मानते, यह हम पूर्व दर्शा चुके हैं। स्वयं वेद इस विषय में क्या कहता है सो सुनिये—

योरोपियन स्कालर और उन के बहुत से भारतीय शिष्य यह कहते हैं कि 'इन्द्र' 'अङ्गिरः' और 'कण्व' आदि शब्द ऋषियों के नाम वेदों में स्पष्ट पाये जाते हैं, अर्थात् ये व्यक्तिविशेषों के नाम (Proper nouns) हैं। भला हम पूछते हैं थोड़ी सी अङ्गरेजी जाननेवाला बालक भी जान सकता है कि व्यक्तिविशेष (Proper nouns) के आगे आतिशायिक प्रत्यय 'तर' और 'तम' जिन को अङ्गरेजी में er est अर्थात् Comparative Superlative degrees कहते हैं, कभी नहीं आ सकते। Rajaram, Rajaramer, Rajaramest और Brahmadatt, Brahmadatter, Brahmadattest कभी नहीं हो सकता ? ये डिग्रियां विशेषणवाची शब्दों (Adjectives) के साथ ही लगती हैं। उधर स्वयं वेद भी इस विषय में क्या कहता है सो देखें—ऋ० ७।७९।३—

अभूदुषा इन्द्रतमा मघोन्यजीजनत् सुविताय श्रवांसि।
विदिवो देवी दुहिता दधात्यङ्गिरस्तमा सुकृते वसूनि॥

इस एक ही मन्त्र में इन्द्र-अङ्गिरः-और कण्व तीनों से आगे तमप् (Superlative degree) लगी है। इस से स्पष्ट है कि वेद इन शब्दों को विशेषणवाची (adjectives) मानता है, व्यक्तिविशेष (nouns) नहीं मानता।

(इस विषय में तथा ऋषि-भाष्य की इन विशेषताओं को जो विशेष रूप से देखना चाहें, वे श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित 'वेद और निरुक्त' नामक पुस्तक तथा 'ऋषिदयानन्दकृत यजुर्वेदभाष्य-विवरण' की भूमिका में देख सकते हैं।)

(४) सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च ।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन ॥
अ० ३।१।८५ भाष्ये ।

महाभाष्यकार के इस प्रमाण से तथा निरु० ५।२३ के आधार से आचार्य दयानन्द ने अपने भाष्य में अर्थानुसारी व्यत्यय प्रायः माना है। इस के लिये हम पुनः किसी समय विस्तृत विचार उपस्थित कर सकेंगे।

(५) देवतावाद के विषय में हम यहां इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि ऋषिदयानन्दाभिमत देवतावाद ही यथार्थ देवतावाद है। जो लोग उस पर आक्षेप उठाते हैं, वह उन की अपनी अज्ञता है। सर्वानुक्रमणियां ही देवतावाद में अन्तिम प्रमाण नहीं। उन से भिन्न बहुत से स्थलों में ऋषि ने भिन्न भिन्न देवता दर्शाये हैं। यजुःसर्वानुक्रमणी तो है ही उवट के पीछे की। कात्यायन के नाम से घड़ी हुई प्रतीत होती है। यदि पहिले थी भी तो उवट ने मानी नहीं। चाहे खरबूजा चाकू पर गिरे या चाकू खरबूजे पर, दोनों प्रकार से इस यजुःसर्वानुक्रमणी की कोई सत्ता नहीं रह जाती। वास्तव में यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में शाखा देवता हो ही कैसे सकता है? यह मन्त्र या मन्त्र भाग शाखा में विनियुक्त है। यदि यहां 'शाखा' देवता है तो आगे 'व्रीहि' के 'अवहनन' में व्रीहि देवता क्यों नहीं? पुरोडाश देवता क्यों नहीं? इत्यादि अनेक देवताओं की प्राप्ति होती है, जिस का कुछ भी परिहार नहीं हो सकता।

शतपथब्राह्मण का तो यह नियम है **'यस्यै हविर्दीयते सा देवता'** जिस के लिये हविः दी जाती है, वह देवता होता है। भला शाखा को हविः दी जाती है? कोई याज्ञिकप्रक्रिया के ज्ञान से शून्य भले ही कह दे, विज्ञ तो कभी कह नहीं सकता।

ऐसी अवस्था में कात्यायन के नाम से कही जानेवाली इस यजुः-सर्वानुक्रमणी ने इस मन्त्र के शाखादि देवता माने हैं, सो कहां तक ठीक है, विद्वान् स्वयं विचारें।

निरुक्त के टीकाकार दुर्ग और स्कन्द दोनों ने 'इषे त्वोर्जे' का शाखा देवता नहीं माना। इस मन्त्र को अनादिष्टदेवताक मन्त्र माना है (देखो ऋषि दयानन्द कृत यजुर्वेदभाष्य-विवरण पृ० ५)। उधर उवट ने यजुःसर्वानुक्रमणी का नाम तक न ले कर गुरु-तर्क और शतपथानुसार देवता निश्चय करने को कहा। यदि सर्वानुक्रमणी होती तो उसका नाम तो लेता। इसी से हम कहते हैं कि यह उवट से पीछे बनी है।

और देखिये ! यजुर्वेद के प्रथम-द्वितीय अध्याय दर्शपौर्णमास में विनि-युक्त हैं। पौर्णमास में अग्नि और अग्नीषोम तथा दर्श में इन्द्र या महेन्द्र और इन्द्राग्नी देवता माने गये हैं। भला बताइये (यजुःसर्वानुक्रमणी के) शाखादि देवताओं की स्थिति ही क्या रह गई। इसीलिये दुर्ग ने लिखा—

'यद्दे वतः स यज्ञः, यद्दे वतं प्रधानं हविः, तद्यथा प्रकृतावैन्द्रं सान्नाय्यं माहेन्द्रं वा, तत्संस्कारपरा इषे त्वादयः (य० १।१) तेऽनाविष्कृतलिङ्गा ऐन्द्रा एव भवन्ति, माहेन्द्रा वा' पृ० ५५०।

इसी विषय में स्कन्द कहता है—

'यद्दे वत इति 'ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्' इति श्रूयते। 'माहेन्द्रं वा' इति तच्छेषभूताः शाखाछेदनादिषु सान्नाय्यसंस्कारत्वेन विनियुक्ता इषे त्वादयस्तद्दे वत्याः'। निरु० टी० भा० ३ पृ० २३॥

यहां स्पष्ट ही दुर्ग और स्कन्द ने **'इषेत्वादि'** मन्त्र का इन्द्र या महेन्द्र देवता माना है। शाखा को देवता नहीं माना, अपितु शाखाछेदनादि में यह मन्त्र विनियुक्त है, ऐसा माना है। देवता और विनियोग एक वस्तु नहीं होती। देवता मन्त्र के प्रतिपाद्य **'या तेनोच्यते सा देवता'** (Subject matter of mantra) विषय को कहते हैं और विनियोग उस मन्त्र की applicationमात्र को कहते हैं अर्थात् अमुक मन्त्र को बोलकर कौन सी क्रिया करनी।

मीमांसा और श्रौत की प्रक्रिया को न समझकर यों ही ऋषिदयानन्द के देवतावाद को अशुद्ध बताते जाना, और सामने आह्वान करने पर चुप लगा जाना कहां की बुद्धिमत्ता और विद्वत्ता है। तुम मानो जो मानते हो, देवताओं को फरिश्ते मानो या जो कुछ, दयानन्द को न समझ कर गलत बताने पर तो छोड़े नहीं जा सकते।

(६) इसी प्रकार ऋषिदयान्दकृत ऋग्वेदभाष्य में छन्दों की ८००० अशुद्धियां बतानेवाले पं० सातवलेकर जी तथा उनके विचारवालों को हम यही कह सकते हैं कि अभी उन्हें गुरुओं के चरणों में बैठकर पढ़ना चाहिये। यदि वह छन्दोवाद का क-ख भी जानते हों तो हमें उपालम्भ दिया जा सकता है। सामने बैठकर जिस पैमाने से वह छन्दों को नापते हैं, वह उनका पैमाना ही गलत है। सामने बैठकर बात करें तो पता भी लगे। ८००० तो कहां ८ भी अशुद्धि नहीं। गिनती वा प्रैसादि की बात

दूसरी है। यहां हम इस विषय को विस्तृतरूप में रखते, पर करें तो क्या करें, यह त्रिघण्टा वेदसम्मेलन है।

बहुत से सरलहृदय आर्यसमाजी भाई अज्ञानवश यह कहते हैं कि यह पण्डितों का आपस का झगड़ा है। उन्हें क्या पता कि ऋषिदयानन्द कृत वेदभाष्य, दूसरे शब्दों में आर्यसमाज के वेदार्थ को ही अप्रामाणिक और कपोलकल्पित सिद्ध करने का घोर प्रयत्न हो रहा है और वे सो रहे हैं।

(७) ऋषि दयानन्द अभिमत स्वरप्रक्रिया तथा वेदार्थशैली की और बहुत सी बातें हम आर्य बन्धुओं के आगे रखते, पर कुछ मिनटों के इस अत्यल्प समय में हो ही क्या सकता है।

यह वेदसम्मेलन तो एक यों ही तमाशा है, जो आर्यसमाज में कुछ दिनों से प्रायः चल पड़ा है। लोगों की रुचि को अपनी ओर खींचने के लिये जैसे आजकल सिनेमा थियेटर में रामराज्यादि लोगों के कथनानुसार धार्मिक कही जानेवाली फिल्मों (मेरे विचार में तो किसी फिलम में शुद्ध धार्मिकता कभी नहीं हो सकती) को दिखाकर धार्मिक प्रवृत्तिवाले लोगों को भी एक प्रकार से व्यामोह में डालकर खूब आमदनी के ढङ्ग सोचे जाते हैं। उसी प्रकार आर्यसमाज ने भी वेद के नाम पर वेदसम्मेलनों का नया आविष्कार करके लोगों को आकर्षित करने का यह ढङ्ग सोचा है। वास्तव में वेदसम्मेलन कैसे होने चाहियें, यह हम अन्त में बताने का यत्न करेंगे, यह बताने के लिये ही आज मैंने इस वेदसम्मेलन का सभापतिपद भी स्वीकार किया है।

इस प्रकार हमने अति संक्षेप से ऋषि दयानन्द के भाष्य को यास्कानुसारी तथा अन्य ऋषि-मुनिसम्मत दर्शाने का यत्न किया है।

दयानन्दभाष्य यूनिवर्सिटियों में रखा जाना चाहिये

अब प्रश्न यह है कि ऐसे अपूर्व वेदभाष्य की आर्यसमाज में स्थिति क्या है? कालेज वा स्कूल तो गुलाम पैदा करने की मशीनें हैं, दयानन्द का नाम विना वेद पढ़ाये उन के साथ लगाना सर्वथा अयुक्त है। उन से आशा ही क्या हो सकती है कि वेदभाष्य पढ़ावेंगे। महाविद्यालय और गुरुकुलों ने भी, जिन्होंने दयानन्द और वेद का झूठा नाम ले लेकर जनता के गाढ़े पसीने की कमाई का धन लाखों रुपये प्राप्त किये, वहां ऋषि

दयानन्द कृत वेदभाष्य कहीं नहीं पढ़ाया जाता। यह कितने दुःख की बात है !!!

आर्यजनता को चाहिये, यदि वह सच्चा वेदप्रचार चाहती है तो जब तक वहां ऋषिदयानन्द कृत वेदभाष्य न पढ़ाया जावे, या पढ़ाने की प्रतिज्ञा न करें, वहां एक पैसा दान न दें, चाहे वे कालेज स्कूल हों या महाविद्यालय या गुरुकुल।

अब आर्य महानुभाव शान्ति और गम्भीरता से विचार करें कि ऋषिदयानन्द के परलोकगमन के पश्चात् इन पिछले ६० वर्षों में आर्य-समाज वेद के विषय में आगे बढ़ा है या पीछे। इतना तक तो हो नहीं सका कि सब में नहीं तो पञ्जाब यूनिवर्सिटी में, जहां आर्यों का बहुमत कहा जाता है, वहां भी परीक्षाओं में ऋषिदयानन्दकृत भाष्य रखाया अब तक नहीं जा सका। विना ही आर्यसमाज यत्न के यू० पी० गवर्न-मैण्ट ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा वेदभाष्य को एक वार रख तो दिया। पञ्जाब में डी० ए० वी० कालेज मैनेजिङ्ग कमेटी के आर्य कहे जानेवाले विद्वान् इस भाष्य को पढ़ने योग्य ही नहीं समझते तो परीक्षा में दूसरे भला क्यों रखने लगे।

सच जानिये मैं तो जहां भी देखता हूं, पूर्वपक्षियों की ही भरमार दिखाई देती है। दयानन्द का भाष्य आर्यसमाज की संस्थाओं में नहीं पढ़ाया जायेगा तो आप ही सोचिये क्या विदेशी विद्वान् या सनातनधर्म की संस्थायें पढ़ावेंगी या मस्जिदों या गिरजों में पढ़ाया जावेगा ?

कुछ सज्जन कहेंगे आर्यसमाज की ये कच्ची बातें जनता में नहीं लानी चाहिये। आपके शास्त्री आचार्य और ग्रैज्युएट ऋषि के विरुद्ध प्रचार करें और आप इसका कुछ भी उपाय न सोचें, और चाहें कि कोई दूसरा भी व्यक्ति कुछ न कहे, भला इससे सुधार हो जायगा, यह स्वयं सोचें।

ऋषिदयानन्दकृत भाष्य से आगे २॥ वेद का भाष्य करते तब भी बात थी। वेद को ऋषियों का बनाया तक माननेवाले वेदभाष्य करते देखे जाते हैं। भला ऐसे वेदभाष्यों से किसी को वेद का सच्चा ज्ञान कभी हो सकता है ?

वेदभाष्यकारों के आवश्यक गुण

वेदभाष्य करने वालों में कौन-कौन से गुण होने आवश्यक हैं, सो

देखिये। आज से डेढ़ हजार वर्ष पूर्व का वेदभाष्यकार आचार्य स्कन्द-स्वामी क्या कहता है—

'तत्राध्यात्मविदस्तावत् सन्मात्रनिबद्धबुद्धयः शिथिलीभूतकर्मग्रह-ग्रन्थयो भिन्नविषयभवसंक्रमस्थानवैराग्याभ्यासवशात् समासादितस्थिर-समाधयो निरस्तसमस्ताधयो निरस्तबाह्यविषयैषणा निरुद्धान्तःकरण-वृत्तयो निष्कम्पदीपकल्पाः क्षेत्रज्ञज्ञानमननाः ....'

निरु० स्कन्दटीका भा० ३ पृ० ३६।

अर्थात् 'जो आत्मवित् आत्मदर्शी होते हैं, जिनकी बुद्धियां सन्मार्गा-नुगामिनी होती हैं, जिनकी कर्मों की ग्रन्थियां शिथिल हो चुकी हों, जिन्होंने विषयवासनारूपी संसार चक्र से वैराग्यवान् होते हुये अभ्यास द्वारा समाधि की स्थिरता उपलब्ध करली है। जिनकी अन्तःकरण की वृत्तियां निरुद्ध हो चुकी हैं। कम्पादि से रहित दीप के समान (अचल) क्षेत्रज्ञ, जीवसम्बन्धी ज्ञान से भरपूर......।'

ऐसे गुणों वाले ही वेदभाष्य करने के अधिकारी हैं। ये गुण हमारे वेदभाष्यकारों में कहां तक हैं, सो स्वयं सोचने की बात है।

आर्यसमाज में वेदभाष्यों की भरमार

भला विचारशील महानुभाव विचार करें कि जो कोई उठता है, वेदभाष्य करने लग जाता है। ऐसे वेदभाष्यों से जनता का क्या बनेगा। क्या कहें यह अन्धपरम्परा आर्यसमाज में ही चल सकती है।

देखिये सायण से पहिले का वेदभाष्यकार वेंकटमाधव अपनी ऋग्वेदा-नुक्रमणी में क्या कहता है—

न शक्योऽनृषिभिर्वक्तुमृगर्थं इति निश्चयः।
यद् वेदाच्छक्यते ज्ञातुं तदुवाचात्र शौनकः॥१॥
शाकल्यः पाणिनिर्यास्क इत्यृगर्थपरास्त्रयः।
यथाशक्त्यनुधावन्ति न सर्वं कथयन्त्यमी॥२॥
संहितायास्तुरीयांशं विजानन्त्यधुनातनाः।
निरुक्तव्याकरणयोरासीद् येषां परिश्रमः॥३॥ पृ० ६४
भाषमाणास्तमेवार्थमथ सम्प्रति मानवाः।
मायाविनो लिखन्त्यन्ये व्याख्यानानि गृहे गृहे॥४॥ पृ० ८१

भावार्थ—'यह निश्चय है कि अनृषि लोग वेद का भाष्य नहीं कर

सकते। शाकल्य पाणिनि और यास्क ये तीन ऋगर्थ को जानते हैं। उन्होंने भी यथाशक्ति ही अर्थ दर्शाया है। आजकल के लोग वेदार्थ का चतुर्थांश भी नहीं जानते। आजकल के मायावी (मन में कुछ ऊपर से कुछ) लोग घर-घर में वेद के व्याख्यान (भाष्य) लिख रहे हैं'। इत्यादि वेङ्कट ने ये पंक्तियां कितने दुःख भरे शब्दों में लिखी हैं।

वर्त्तमान वेदभाष्यों की क्या स्थिति है, सो विचारशील आर्य विद्वान् स्वयं सोच सकते हैं।

श्री स्वामी जी महाराज ने ऋग्वेद के बहुत से सूक्तों का विस्तृत भाष्य किया था, जो अजमेर में अभी तक विना छपे पड़ा है, जिस में आध्यात्मिक-आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों अर्थ प्रायः हर एक मन्त्र के किये हैं। जिस में से ऋग्वेद के पहिले सूक्त के नौ मन्त्रों का भाष्य नमूने के अंक के रूप में छपा मिलता है। इस से प्रतीत होता है कि ऋषि दयानन्द वेद का विस्तृत भाष्य करना चाहते थे। यदि आर्य समाज श्री स्वामी जी महाराज के शेष वेदभाष्य ही को पूरा कर देता तथा उपर्युक्त रीति से तीनों प्रक्रियाओं में ऋषि की शैली पर वेदभाष्य तय्यार करवाता तब हम समझते कि आर्यसमाज ऋषि के पीछे वेद विषय में आगे बढ़ा है।

वर्त्तमान वेदभाष्यों में वह प्रौढ़ता नहीं, जो होनी आवश्यक है, जिसके विना किसी वेदभाष्य की उपादेयता हो ही नहीं सकती, जिस का दिग्दर्शन हम ऊपर करा चुके हैं। इसीलिये इन वेदभाष्यों से अनेक प्रकार की विषमता आर्यसमाज के सामने आयेगी, और आ रही है, आना स्वाभाविक ही है। भला विना वेदाङ्ग उपाङ्गों के प्रौढ ज्ञान, ब्राह्मण श्रौत मीमांसा की प्रक्रिया और उनके समन्वय के विना, वैदिक साहित्य का गहरा अवगाहन न करके, मासिक वेतन की चिन्ता में, एकाग्रचित्त और स्थितप्रज्ञ हुए विना भला कोई भी सच्चा वेदभाष्य बन सकता है? वेदभाष्य करानेवाले दूसरे, करनेवाले दूसरे, कराने वालों, जिन्हें वेदार्थ का कुछ भी ज्ञान नहीं, उनके इशारे पर चल कर किये गये वेदभाष्य कभी सौन्दर्य वा प्रौढ़तायुक्त अर्थात् आर्यसमाज के लिये गौरव उत्पन्न करनेवाले हो सकते हैं? हां! उन महानुभावों का हमें आभारी होना चाहिये, जो निजीरूप में वेद विषय में संलग्न अर्थात् एक अलूनी शिला को चाटने में लगे रहते हैं, जो आर्यसमाज के लिये

पूर्वपक्षी न बनकर अपनी शक्ति अनुसार ऋषि के चरणचिह्नों पर चलने का यत्न कर रहे हैं। दयानन्द से भिन्न अर्थ करना कोई पाप नहीं, हां उसे असत्य बतानेवाले या दयानन्द की वेदार्थशैली को ही दूषित बताने वाले को तो पूछा जायगा, कि तुमने कुछ पढ़ा भी है या नहीं। पढ़ा है तो प्रमाण रक्खो।

एक वात इस विषय में और जान लेनी आवश्यक है, वह यह कि जो कहते हैं हम तो सत्य के उपासक हैं 'सा नः सत्योक्तिः परिपातु सर्वतः' की झूंठी रट लगाते हैं और कहते हैं कि हम तो वेद का अनुवाद जो शब्द कहेगा वही करते चले जायेंगे, अर्थात् शब्द पर शब्द रखते चले जायेंगे, उन्हें पता होना चाहिये कि भला वेद का अर्थ ऐसे कभी हो सकता है ? लीजिये मैं आप के सामने दो तीन वाक्य रखता हूं कोई भी महानुभाव इन वाक्यों का (literal) अर्थात् शब्द पर शब्द अनुवाद (Translation) अङ्गरेजी में करके दिखावे—

मैं पेशाब करना चाहता हूं (I want to answer the call of nature), उसने मेरे दो रुपये मार लिये तुम्हारा क्या गया (He killed my two rupees what went of yours.)

मैं शाम चौरासी गया, और मेरा दिल बाग-बाग हो गया (I went to evening eightyfour and my heart became garden and garden.)

पहिले वाक्य में call of natur का परस्पर क्या सम्बन्ध, Call of natur छींक भी हो सकती है। आगे के दोनों वाक्यों का अनुवाद अङ्ग-रेजी Translation के साथ मखौल है। भला बताइये जब इन वाक्यों का Literal (शब्द पर शब्द) मक्खी पर मक्खी मारने से अनुवाद नहीं हो सकता, तो वेद जैसे गम्भीर मन्त्रों का literal अनुवाद कभी हो सकता है ? Griffith के अङ्गरेजी अनुवाद की नकल मार कर उसको वेदभाष्य का नाम देना, वेदभाष्य की मट्टी पलीद करना नहीं तो और क्या है ? आक्षेप उठाना दयानन्द भाष्य पर !!!

लोग कहते हैं कि अजी ! ऐसी बातें मत कहो अमुक नाराज हो जायगा, तो अमुक रुष्ट। सच जानिये यदि आर्यराज्य होता तो पाणिनि जैसे ऋषि के एक सूत्र के भी अर्थ को ठीक न समझ कर पाणिनि को ही अशुद्ध बतलानेवालों और ऐसे वेदार्थ को विना प्रौढ़ योग्यता के शब्द पर

शब्द रखनेवालों को राज्य से बाहिर कर दिया जाता, क्योंकि **'बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति'** ।

वेदपरिषदों की आवश्यकता

इन उपर्युक्त दोषों के निवारण के लिये परमावश्यक है कि आर्यसमाज वेदपरिषदों की योजना बनावे, जिस में वे विद्वान् हों जो आर्यसमाज के दस नियमों और ५१ सिद्धान्तों को मनसा वाचा कर्मणा ठीक मानते हों और उन में पूर्ण निष्ठा रखनेवाले हों। उन को जो भी शंकायें उत्पन्न हों वे सब इन वेदपरिषदों में उपस्थित की जावें। वेद या वेदार्थ के विषय में शंकायें उपस्थित करनेवाले की भूरि-भूरि प्रशंसा की जावे, उन के प्रति दुर्भावना वा द्वेषबुद्धि रखनेवाले व्यक्ति घृणित समझे जावें। हां! उन शङ्का उपस्थित करनेवाले महानुभावों का भी कर्त्तव्य होना चाहिये **'न बुद्धिभेदं जानयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्,'** साधारण जनता में इन बातों को न रखकर विद्वानों की सभा में ही इन को रखें। आर्यसमाजों के ही स्कूल वा कालेजों में वेद पढ़ाते हुये छात्रों को वेद में इतिहास पढ़ाना किसी प्रकार भी उचित नहीं कहा जा सकता। जो वेदपरिषदों में अपनी शंकायें न रख कर इधर-उधर भ्रान्ति फैलावें उन्हें घृणित समझा जावे और आर्यसमाज से पृथक् कर दिया जावे।

तात्पर्य यह है कि सब एक सिद्धान्त अर्थात् आर्यसमाज के सिद्धान्त को लेकर उपस्थित हों। ये वेद-परिषदें पहिले बड़े-बड़े शहरों की समाजों में हों, जहां बड़े-बड़े पुस्तकालय हों, फिर प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओं में बने। अन्त में सारे आर्यसमाज की एक मुख्य वेदपरिषद् हो। इन में उपर्युक्त आर्य विद्वानों का ही समावेश रहना चाहिये। वर्ष में कम से कम दो बार इन वेदपरिषदों के अधिवेशन हों। उन में सम्मिलत होने वाले आर्य विद्वानों का सब व्यय दिया जावे। छ मास पूर्व एक ही विषय की शंकाओं की सूचना तथा उत्तर पक्ष का संक्षेप सब के पास पहुंच जावे। उस पर सब तय्यारी करके आवें। ऊहापोह द्वारा अन्त में जो सिद्धान्त ठीक बैठे, उस को प्रकाशित कर दिया जावे, उसी का प्रचार हो, अपने-अपने मत का नहीं।

भला यह कौन कह सकता है कि स्वाध्याय करनेवाले को शंकायें ही पैदा नहीं होतीं। शंका पैदा होना ही स्वाध्याय अर्थात् गम्भीर अनुशीलन का परिचायक है।

यह भी विदित रहे कि ऐसी परिषदों का कोई लाभ नहीं, जिन में जल्प या वितण्डा हो अर्थात् जैसे सन् १९३१ में स्वर्गीय श्री महात्मा हंसराजजी द्वारा बुलाई परिषद् का हाल हुवा। जिसमें आक्षेप करने वालों ने अपना कोई मत स्थापित नहीं किया। आक्षेप करनेवाला २॥ घण्टे बोले तो उत्तर पक्ष को २० मिनट ही समय दिया जाये। वाद और प्रतिवाद के बिना केवल व्याख्यान मात्र होते रहे। ऐसी परिषद् से कुछ भी लाभ नहीं हो सकता।

इन वेदपरिषदों द्वारा ही वेदभाष्यादि स्वीकृत हो कर प्रकाशित होने चाहियें। फिर देखा जावे कि थोड़े से समय में ही आर्यसमाज का मुख कितना उज्ज्वल होता है, और संसार में वेद की ध्वनि कैसे उद्-घोषित होती है।

मूलवेद के मुद्रण के विषय में अनेक कठिनाइयां हैं, विशेषकर अथर्ववेद के विषय में। इन विषयों पर वेदपरिषदों द्वारा ही यथावत् गम्भीर विचार हो सकता है। 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है' भला यह कितना महान् विषय है, जिस को आर्यसमाज ने ही संसार के सामने क्रियात्मक रूप में (केवल शब्द रूप में नहीं) रखना है। हम तो यही कहते रह जायेंगे कि हमारे वेद और प्राचीन ग्रन्थों में विमानादि बनाना स्पष्ट लिखा है। वेद में अमुक-अमुक यन्त्रों का विधान है। उधर यौरुप-अमैरिका-जापान आदि देश यह यन्त्र सब प्रत्यक्ष बना-बना कर हमारे सामने रख रहे हैं। पारे से विमान का स्पष्ट बनाना हमारे यहां होते हुये भी हम एक भी विमान अभी तक नहीं बना सके। हमारी पढ़ी हुई साइंस अभी तक सूई भी नहीं बना सकी। यह सब कार्य है आर्य-समाज के सामने, जो गम्भीरता से ही हो सकता है। केवल हो हल्ला से तो नहीं हो सकता।

जब वेदपरिषदों में हम एक दूसरे की योग्यता बढ़ाने में सहायक होते हुये गम्भीर स्वाध्याय और योग्यता द्वारा योग्य सिद्धान्तपोषक बन जावेगें तो निश्चय समझें इन विदेशीय स्कालरों तथा उनके अनुवर्त्ती भारतीय स्कालरों के समाधान का कार्य बहुत सुगम हो जायगा। वे सब अन्त में हमारे साथ होंगे। क्योंकि अन्त में सत्य की विजय अवश्य होती है। जब हम अपनी धारणाओं और सिद्धान्तों को शुद्ध भावना से, बिना किसी छल कपट के रखेंगे तो हर कोई हमारी बात मानेगा। पहिले हम

अपने घर (अर्थात् आर्यसमाज) में वेदपरिषदों का स्वरूप ठीक बना लेंगे तो आर्यसमाज से बाहर भारतीय विद्वानों से इसी प्रकार वेद-परिषदों द्वारा विचार-विनिमय होकर बहुत लाभ हो सकता है। पीछे संसार भर के विद्वानों से भी विचार हो सकता है, जैसा कि इङ्गलैण्ड के प्रसिद्ध विद्वान् कीथ ने मुझे एक पत्र लिखते हुये इच्छा प्रकट की थी।

सब से पहले आर्यसमाज में इन वेदपरिषदों का होना आवश्यक है। इन के सुस्थिर हुये बिना आगे बढ़ने से कुछ लाभ नहीं हो सकता। इन वेदपरिषदों द्वारा स्वीकृत हो कर ही आर्य प्रतिनिधि सभायें वा आर्य समाजें अपने वेदभाष्यादि प्रकाशित कर सकें।

ऋषि दयानन्द वा आर्यसमाज के विरोधी

वैसे तो आर्यसमाज वा ऋषि दयानन्द के विरोधी बहुत हैं, उन से हमें इतनी हानि नहीं। जितनी उन महानुभावों से है जो आर्यसमाज में कहे तो जाते हैं आर्यसमाज के विद्वान्, पर समय-समय ऋषि दयानन्द की वेदार्थ प्रक्रिया वा सिद्धान्तों के विपरीत अपना पौरुष दिखाते रहते हैं। आर्य समाज के लोग उन्हें अब तक भ्रमवश आर्यसमाज के विद्वान् समझ रहे हैं। ऐसे महानुभावों द्वारा आर्यसमाज को बहुत हानि पहुंच रही है। उनके द्वारा प्रकाशित पुस्तकों के सम्बन्ध में आर्यसमाज को अपनी स्थिति घोषित करनी चाहिये।

ऐसी कृतियों की ओर हम आर्य जनता का ध्यान आकर्षित करना अपना परमावश्यक कर्त्तव्य समझते हैं।

(१) पहिले विस्तार से बताया जा चुका है कि आर्यसमाज वेद को ईश्वरकृत मानता है। शाखाग्रन्थों को यास्क-पतञ्जलि और दयानन्द जैसे आप्त पुरुषों के प्रमाण से ऋषिप्रणीत मानता है। स्वर्गीय महात्मा श्री स्वामी नित्यानन्द विश्वेश्वरानन्दजी ने मूल चारों वेदों की सूची अलग छपवाई थी क्योंकि वे ऋग्-यजुः-साम-और अथर्व इन चारों वेदों को ईश्वरकृत मानते थे। पर अब उन के ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित वेद की सूची में सब शाखाग्रन्थों के साथ ही (जिन को अलग छापना चाहिये था) मूल चार वेदों को भी उन्हीं की कोटि में अर्थात् एक जैसा समझ कर छापा है। श्री स्वामी विश्वेश्वरानन्द तथा स्वामी नित्यानन्द की आत्म-भावना के विरुद्ध यह हुवा। सम्भव है ट्रस्टियों को इसका ज्ञान भी न हो।

(२) इतना ही नहीं, श्रद्धेय स्वामी विश्वेश्वरानन्द नित्यानन्द जी महाराज का जीवन आर्यसमाज के प्रचार में व्यतीत हुआ, जिन्होंने सैकड़ों जगह विरोधियों से शास्त्रार्थ किये। **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' 'मन्त्र और ब्राह्मण दोनों वेद हैं'** इस का घोर खण्डन किया और ऋषि दयानन्द अपने जीवनकाल में करते रहे और उस के पश्चात् आर्यसमाज आज तक 'ब्राह्मण वेद नहीं, वेद की व्याख्या हैं,' इस पर बराबर शास्त्रार्थ करता चला आ रहा है।

ऐसी अवस्था में डी० ए०वी० कालेज लाइब्रेरी में आर्य विद्वान् कहे जानेवाले महानुभावों का यह कहना कि 'The basic text of the Veda, namely, the Mantra and the Brahmana portions, as extant in the several surviving or, at least available recensions of the same.' (देखो ब्राह्मणपदसूची की भूमिका) 'अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थ वेद हैं' यह घोषणा ऋषि दयानन्द के महान् मौलिक मन्तव्य पर आघात और आर्यसमाज और महात्मा स्वामी विश्वेश्वरानन्द नित्यानन्द जी महाराज के किये सैंकड़ों शास्त्रार्थों पर पानी फेरनेवाला है या नहीं ? यह आर्य प्रादेशिक सभा के अधिकारी और स्वर्गीय पूज्य उन दोनों महात्माओं की आत्मभावना को लेकर बने हुये ट्रस्टी अर्थात् उन के विश्वासपात्र कहे जानेवाले महानुभाव गम्भीरता और शान्तिपूर्वक विचारें, कि वे संसार को क्या दे रहे हैं, अन्धकार या प्रकाश। शताब्दियों के पीछे दयानन्द के किये प्रकाश पर ही अन्धकार डाला जा रहा है। यदि ट्रस्टी महानुभाव चाहें, तो मैं उन सब के सामने अपनी इस बात को रखने को तय्यार हूं।

इस प्रकार इस ट्रस्ट द्वारा मूल चार वेदों की पदसूची पृथक् छपनी चाहिये। तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों की भूमिका में उपर्युक्त शब्दों पर हड़ताल फेरनी चाहिये अर्थात् उस पर नया छाप कर चिट लगा देनी चाहिये, यह लिखनेवालों का परम धर्म है। जब यह चिट लग जायगा तो मैं यह कहना सदा के लिये बन्द कर दूंगा।

(३) उधर औन्ध से एक अनार्ष संहिता 'दैवत संहिता' के नाम से प्रकाशित हुई है। उस को बनानेवाले अपने को ईश्वर से भी अधिक ज्ञानी समझने लगे हैं, ऐसा प्रतीत होता है। काशी के बड़े-बड़े वेदज्ञ विद्वानों ने भी इसे अनार्ष, घृणित और मनघड़न्त बतलाया है। वे

कहते हैं कि "११२७ शाखाएं तो आर्यसमाज और सनातन धर्म दोनों की दृष्टि में माननीय हैं, यह ११२८वीं ग्यारह सौ अठाइसवीं मनघड़न्त अनार्ष 'दैवत संहिता' कहां से निकल पड़ीं"।

इस में सारी वेदपरम्परा को ही नष्ट करने का यत्न किया गया है। भला सोचने की बात है कि जैसे निरुक्तकार यास्क ने 'नवो नवो भवति जायमानः' (११।६) में दूसरे पाद का देवता आदित्य माना है, शेष मन्त्र का देवता 'चन्द्रमा' माना है। भला इस मन्त्र को तोड़-फोड़ कर टांग कहीं और बाहु कहीं लगा देने से मन्त्र का स्वरूप वा उस का अर्थ —अन्य मन्त्रों वा मन्त्रांशों के साथ जिन्हें कि पं० सातवलेकरजी ने एक जगह छापने का दुःसाहस किया है, कुछ भी सम्बन्ध लग सकता है? भला इन से पूछा जावे कि जब वेद की आनुपूर्वी-स्वर-वर्णादि सब नित्य हैं, जैसा कि महामुनि पतञ्जलि-यास्क और दयानन्द आर्यसमाज वा सनातन धर्म मानता है, किसी को क्या अधिकार है कि वह वेदमन्त्रों को तोड़ मरोड़कर छापे, और उसे संहिता का नाम देवे। 'सातवलेकर संहिता' उसका नाम रखते तो भी कुछ सार्थक होता।

मन्त्र का जो दोनों देवताओं का सम्बद्ध अर्थ है, जो प्रभु की पवित्र वाणी में अभिप्रेत है, उसमें हस्ताक्षेप करने का पं० सातवलेकरजी को कुछ भी अधिकार नहीं।

अधिक से अधिक यह हो सकता था कि एक सूची छपा दी जाती कि अमुक देवता अमुक-अमुक मन्त्रों का है। २—४ फर्मे की पुस्तक हो जाती तब भी कुछ बात थी।

वास्तविक बात यह है कि पं० सातवलेकर जी तथा उनके साथी ऋग्-यजुः-साम और अथर्व इन चारों वेदों को ईश्वरकृत नहीं मानते। अपने इस विचार को ये लोग अनेक रूप में छिपाने का यत्न करते हुये भी नहीं छिपा पाते। किसी न किसी रूप में जनता के सामने आ ही जाता है। एक दूसरे की हां में हां ('परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ') मिलाते रहते हैं। यदि ऐसा नहीं तो ये स्पष्ट घोषणा करदें कि हम 'ऋग् यजुःसाम और अथर्व' इन चारों को ईश्वरकृत मानते हैं।

आर्यसमाज का कर्तव्य

हम चाहते हैं कि ये महानुभाव एक बार खुल कर आर्यसमाज के साथ विचार कर लें। आर्य जनता को धोखे में कदापि नहीं रखना चाहिये। जो नियोग को घृणित समझता हो वह समझता रहे, पर मूल-

वेद को ही तो न बदल दे जैसे कि पं० सातवलेकर जी ने अथर्ववेद मूल में भी 'देवृकामा' को बदल कर 'देवकामा' कर दिया। हमारे विद्वानों ने उसका उत्तर बहुत ही अच्छा दिया।

आर्यसमाज को चाहिये कि वह इन महानुभावों के विषय में अपनी स्थिति स्पष्ट घोषित कर दे कि हम इन लोगों की पुस्तकों को आर्य समाज की दृष्टि से त्यागने योग्य समझते हैं। दैवतसंहितादि को हम सर्वथा अनार्ष समझते हैं। इन को किसी प्रकार का सहयोग भी नहीं देना चाहिये।

वेदसम्मेलन कैसे होने चाहियें ?

इन सब रोगों की औषधि वेदपरिषद् वा वेदसम्मेलन हैं, जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका। उन वेदपरिषदों के तत्त्वावधान में अर्थात् आर्य विद्वानों द्वारा वेद के भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों पर गवेषणापूर्ण भाषण वा निबन्ध उपस्थित किये जाने चाहियें, जिन से आर्य जनता में वेद के प्रति अपूर्व श्रद्धा-भक्ति उत्पन्न हो, और वैदिकधर्म का मुख उज्ज्वल हो। कम से कम तीन मास पहिले निश्चित विषयों की सूचना विद्वानों तथा आर्य जनता में भी प्रकाशित कर दी जाया करे। समय विचार का आज की भान्ति २-३ घण्टे का नहीं अपितु कम से कम सप्ताह भर का हो। जिस से सब विद्वान् अपने-अपने विचार उत्तम रीति से शान्तिपूर्वक उपस्थित कर सकें। आवश्यकतानुसार समय न्यूनाधिक भी हो सकता है। 'वेद ईश्वरकृत हैं' 'वेद में इतिहास नहीं' आदि-आदि विषयों पर प्रौढ़ ग्रन्थ वा निबन्ध लिखनेवालों को पारितोषिक दिये जावें। जो वेद-विषयों पर प्रौढ़ पुस्तक लिखे, उसे पारितोषिक दिया जावे, जो हजार रुपये तक हो सकता है। क्या आर्यसमाज में मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक की भान्ति महात्मा हंसराज पारितोषिक या महात्मा स्वामी श्रद्धानन्द पारितोषिक नहीं हो सकता ? कालेज विभाग और गुरुकुल विभाग (जिनकी पृथक् सत्ता दुर्भाग्यवश अभी तक विद्यमान है) के सभी योग्य विद्वानों को बुलाया जावे, जो आर्यसमाज के दस नियमों तथा ५१ सिद्धान्तों को मनसा वाचा कर्मणा ठीक मानते हों।

सब आर्य विद्वानों का सब व्यय दिया जावे। एक ही सज्जन वेद-सम्मेलन वा वेदपरिषद् का व्यय दे सकता है। हजार डेढ़ हजार रुपया तो कुछ भी बात नहीं।

आर्यसमाज में जो भी अण्ड वण्ड पुस्तकें वेदविषय में वा अन्य विषयों में निकलें, उनका बिना पक्षपात के आर्यसमाज के विरुद्ध होने के कारण प्रचार रोकना चाहिये। इन्हीं परिषदों को परोपकारिणी सभा के विरुद्ध भी स्पष्ट घोषणा कर देनी चाहिये कि ऋषि दयानन्द की उत्तराधिकारिणी यह सभा श्री स्वामी जी महाराज के स्वीकारपत्र वसीयतनामा (Will) के अनुसार कुछ काम नहीं कर रही। ऋषि के वेदभाष्यादि ग्रन्थ तथा मूलवेदादि सब गन्दे और अशुद्ध छाप रही है। इस की ओर कुछ ध्यान नहीं देती। आर्यसमाजें इस विषय में प्रस्ताव करें, तो झट इस सभा को सीधा होना पड़ेगा। अब तक जो वेद वहां छपे हैं, उनके छपने में मेरा कुछ भी सहयोग नहीं। व्यर्थ में लोगों को भ्रान्ति दी जा रही है।

इन उपर्युक्त वेद-परिषदों व वेदसम्मेलनों द्वारा सोचा जावे कि साधारण जनता में वेद के विषय में श्रद्धा-भक्ति स्वाध्याय की वृद्धि किन-किन उपायों से हो सकती है। वेद के प्रौढ़ विद्वान् किस तरह पैदा हो सकते हैं, ऋषि दयानन्द प्रदर्शित आर्ष पाठविधि कैसे सर्वत्र गुरुकुलों में कार्यरूप में परिणत की जावे। ये परिषदें बतावें कि किस प्रकार हमारे गुरुकुल और कालेज इङ्गलैण्ड और जर्मनी की बड़ी-बड़ी यूनिवर्सिटियों का स्थान लेवें अर्थात् डी० ए० वी० कालेजों और गुरुकुलों में वेद विषय की बड़ी-बड़ी गद्दियां अर्थात् chairs हों, जहां वेद-वेदाङ्ग-उपाङ्गों के एक-एक विषय के प्रौढ़ विद्वान् बैठे हों। वहां अमेरिका जापान-इङ्गलैण्ड-जर्मनी आदि संसार के सभी देशों से संस्कृत का अध्ययन करने के लिये बड़े-बड़े विद्वान् आवें और स्वामी आत्मानन्द पं० बुद्धदेव विद्यालंकार प्रिंसिपल मेहरचन्द डा० मङ्गलदेव शास्त्री से दीक्षा लें, न कि यहां के विद्वान् संस्कृत के लिये योरूप की मोहर लगवाने जावें। तब इस कालिज का नाम 'दयानन्द कालेज' सार्थक हो सकता है। तब आर्यसमाज का मुख उज्ज्वल होगा, भारत सन्तान का उत्थान और संसार का कल्याण होगा, यही अन्तर्वेदना की पुकार है। इस में जो अच्छा हो वह ले लेवें, जो ठीक न हो छोड़ दें। कर्त्तव्याधीन शुद्धभावना से कहा हुआ कोई शब्द किसी महानुभाव को बुरा प्रतीत हुआ हो तो उस के लिये अवश्य क्षमाप्रार्थी हूं।

विद्वानों तथा वैदिक धर्म का सेवक

आर्यसमाज बेलून डलहौजी — ब्रह्मदत्त जिज्ञासुः

२३।१०।४३

आर्य-विद्वत्-सम्मेलन, कलकत्ता

में

सभापतिभाषण

आर्यसमाज की सार्वभौमिकता

'संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।'

'सर्वतन्त्रसिद्धान्त अर्थात् जो बातें सब के अनुकूल सब में सत्य हैं, उनका ग्रहण और जो एक दूसरे के विरुद्ध बातें हैं, उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्तें वर्त्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे।' (सत्यार्थ-प्रकाश भूमिका)

'सर्वतन्त्रसिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म जिसको सदा से सब मानते आये, मानते हैं, मानेंगे भी, इसीलिए उसको सनातन धर्म कहते हैं कि जिसका कोई भी विरोधी न हो सके ··· ।' (ऋषि दयानन्द - स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश)

यह इसके संस्थापक ने लिखा है। आर्यसमाज के लिए, नहीं-नहीं प्रत्येक भारतवासी के लिए परम प्रमाण, अपने पूर्वजों की देन, परमात्मा की पवित्र वाणी वेद में एक भी शब्द जाति वा देश विदेश के लिये न होने से और एक महापुरुष संन्यासी के द्वारा स्थापित होने से, इतना ही नहीं, उद्देश्यों तथा कर्त्तव्यों में स्वयं संन्यासीवत् होने से आर्यसमाज एक सार्वभौमिक संस्था है, जिसका ध्येय प्राचीन भारतीय संस्कृति, सभ्यता तथा साहित्य के पुनरुज्जीवन द्वारा प्राणिमात्र का उपकार करना है। जिस प्रकार एक रथ के पहिये [चक्र] में लगे हुए दण्डे पृथक्-पृथक् रथ को ले चलने में कुछ भी काम नहीं दे सकते, पर जब चक्र में यथास्थान जोड़कर लगा दिये जाते हैं, तो वे ही कितने महान् कार्य भार को वहन करने में कितने समर्थ वा शक्तिशाली हो जाते हैं, इसी प्रकार आर्य-समाज के विद्वान् नेता सभासद वा कार्यकर्त्ता स्वयं अल्प सामर्थ्य वा पृथक्-पृथक् आश्रमों में होते हुए भी एक संन्यासी के संसार का उपकार करने रूप महान् कर्त्तव्य में समर्थ हो सकते हैं, या होने में यत्नशील होने चाहिये। आर्यसमाज को अपने सार्वभौमिक रूप को न भूलना चाहिये।

धर्मप्रधान भारत

भारत का अब तक का इतिहास यही बतलाता है कि इसमें सदा धर्म की प्रधानता रही है। चाहे उसका वास्तविक स्वरूप मध्य समय में अज्ञानवश कितना भी विकृत वा अन्तर्हित सा होता रहा है। भारत में वर्णाश्रम व्यवस्था ही केवल यदि अपने शुद्ध स्वरूप (गुण-कर्मानुसार) व्यापक रूप में चल पड़े तो इतने से ही देश का महान् कल्याण हो सकता है। अनेक बुराइयां इतने से ही दूर हो सकती हैं। ऋषि दयानन्द ने सबसे बड़ा उपकार यह किया कि संसार और भारतवासियों के सामने रखा कि तुम अपने धर्मग्रन्थों वेद-शास्त्रों को देखो तो तुम्हें पता लगेगा कि जिसको तुमने धर्म मान रखा है, वेद-शास्त्रों के अनुसार वह धर्म नहीं। भारतीय जनता खलबला उठी, अवाक् रह गयी, कोई उत्तर नहीं था। ईंट पत्थरों से उत्तर देना चाहा, पर ऐसा उत्तर कभी फलीभूत थोड़े ही हो सकता है। महान् दयानन्द की यही विशेषता थी।

अछूतोद्धार-बालविवाहनिषेध-विधवाविवाह-स्त्रीशिक्षा, स्त्री और शूद्रों को वेद का अधिकार, समुद्रयात्रा-छुआछूत, ईसाई-मुसलमानों को भारतीय संस्कृति में लाना इत्यादि जिन बातों में आर्यसमाज में अनेक बलिदान हुये, अब भारतीय संस्कृति के उपासक इन सब बातों को अपना ही नहीं रहे, अपितु राजकीय नियम तक बनाते जा रहे हैं। समय का चक्र है। यह दयानन्द वा आर्यसमाज के सिद्धान्तों की महान् विजय है। कहना यह है कि स्वतन्त्र भारत में भी यदि कोई विधि वा क्रम सफल हो सकता है तो वही हो सकता है, जिस में 'धर्मभावना' का ध्यान रखा जायगा। हां वह धर्मभावना संकीर्ण न होकर, सार्वभौमिक शान्ति वा कल्याण के लक्ष्य से हो, तभी स्वतन्त्र भारत संसार में महान् हो सकता है। सोशलिस्ट यदि धर्मभावना को तिलाञ्जलि न दें, अपितु 'धर्म' के शुद्ध स्वरूप को जनता में प्रवाहित करें तो बड़ा लाभ हो सकता है, नहीं तो उनके वा कम्युनिस्ट विचारों के भारत भूमि में, रूसादि देशों के ढंग पर, पनपने की आशा नहीं। इसमें भारत की पवित्र धर्मभावना ही चट्टान के समान बाधक होगी। कांग्रेस ने यदि धर्म को सार्वभौमिक दृष्टि से अपनाया तो आशा नहीं कि कम्युनिस्ट विचारों की विजय भारत में हो सके। दुर्भाग्यवश यदि कम्युनिस्ट विचारधारा कभी भारत में पनप भी उठे, जिसकी कि हमें आशा नहीं, तो भी वह क्षणिक वा अस्थायी ही होकर रह जायगी, यह निश्चय है।

धर्मप्रधान इस भारत में 'आर्यसमाज' ही एक ऐसा समाज है, जो धर्म के सार्वभौमिक स्वरूप को जनता वा संसार के सामने बिना किसी जातिभेद वा देशभेद के रख सकता है। वेद को वह परमात्मा की पवित्र वाणी मानता है। चलो, किन्हीं देशी-विदेशी संस्कारों के कारण से कुछ एक भ्रान्त भारतवासी वेदों को परमात्मा की वाणी न मानें, अपने प्राचीन पूर्वजों की देन वा संसार के पुस्तकालय में सबसे पुराना ज्ञान पुस्तक तो मानेंगे। यही मानकर उनकी शिक्षा-दीक्षा को तो स्वीकार करेंगे।

हमें यहां यह कहना है कि यदि भारत सरकार वा भारतवासी धर्म के सार्वभौमिक स्वरूप को अङ्गीकार करें वा करते हैं तो आर्यसमाज से बढ़कर इस विषय में कोई उनका सहायक नहीं हो सकता। आर्यसमाज से इस विषय में पूरा सहयोग देश के नेता लेवें और आर्यसमाज साम्प्रदायिकता की भावना से सर्वथा ऊंचा होकर इस विषय में अपनी सरकार को पूरा सहयोग दे। अब समय आ गया है, जब प्रत्येक आर्यबन्धु को इस विषय में गम्भीरतापूर्वक विचार करके एक योजना बनानी होगी। चुप होकर बैठे रहने से काम नहीं चलेगा।

स्वतन्त्र भारत में आर्यसमाज की आवश्यकता

कुछ लोग कहते हैं कि भारत स्वतन्त्र हो गया, अब आर्यसमाज की क्या आवश्यकता है। किन्तु उपर्युक्त सार्वभौमिकता का विस्तार वा प्रचार आर्यसमाज के बिना कौन कर सकता है? करेगा भी तो भारतीय संस्कृति सभ्यता साहित्य के साथ उसका मेल नहीं खा सकता। भारतीयता जो कुछ भी है, उसका सच्चा स्वरूप पूर्वोक्त संस्कृति सभ्यता और साहित्य के आधार पर ही है, जिसे किसी अवस्था में छोड़ा नहीं जा सकता। मध्यकाल में इनके अत्यन्त विकृत हो जाने के कारण इस युग में इनका शुद्ध स्वरूप दयानन्द की कसौटी से ही निर्धारित हो सकता है।

स्वतन्त्र भारत में आर्यसमाज की आवश्यकता कार्यशैली में कुछ परिवर्तन आवश्यक है

एक दूसरी दृष्टि से भी विचार कीजिये। भारत में पहिले तो अभी शिक्षा की भारी कमी है, जिसमें पर्याप्त समय और शक्ति लगेगी।

मिथ्याविश्वास, कुरीतियां, मतमतान्तरों के परस्पर विद्वेष हटा एक (भारतीय) संस्कृति की स्थापना, विदेशी संस्कृति को भारतीय संस्कृति है परिणत करना कितने महान् और परिश्रमसाध्य कार्य हैं ! शहरों की जनता, वह भी वहुत थोड़ी, को छोड़कर समूचे भारत के ग्रामों में उपर्युक्त सव बातों का प्रसार और विस्तार कैसे होगा ? क्या अस्पृश्यता हृदय से निकल जावे, इसके लिये कानून बना देने से काम चल सकेगा ? वालविवाह का निषेध, आवालवृद्ध (स्त्री या पुरुष) के लिये शिक्षा, जन्मगत जाति पांति के मिथ्याभिमान का त्याग, दान का सुपात्रों में सदुपयोग, विदेशी संस्कृति के कारण अपने से बिछुड़े भाइयों का सच्चे हार्दिक-प्रेम से भारतीय संस्कृति में लाकर निष्ठावान् करना अनेक मिथ्याविश्वासों तथा कुरीति का, जिनके कारण जाति की शक्तियों का ह्रास हो रहा है, नाश करना बड़ा भारी काम है। आर्यसमाज की स्थिति एक कृषक के समान समझनी चाहिये, जिसने वड़ी कठिनाइयों से घोर परिश्रम द्वारा निरन्तर वर्षों तक समय लगाकर अपनी ऊबड़-खाबड़ बंजर भूमि के बीहड़ जङ्गल-झाड़ झांकरों को साफ कर पाया हो और अनेक वार हल चला-चलाकर पाटला फेर कर नरम तथा बराबर कर पाया हो। बीजवपन का समय उपस्थित होने पर उसके मस्तिष्क में यह विचार उत्पन्न हो अथवा उत्पन्न कर दिया जावे कि झाड़ जङ्गल तो साफ हो ही गये हैं, भूमि ठीक हो गयी है। उसे परिश्रम करने की क्या आवश्यकता है, उसे तो अब आराम ही करना चाहिये। ऐसा स्वयं समझने वाला मूर्ख ही कहा जायगा। कोई दूसरा कहनेवाला यदि कहे कि तुम्हें अब आराम करना चाहिये, अब व्यर्थ परिश्रम करने की क्या आवश्यकता है, तो वह है मूर्ख या हृदय से उस कृषक का सर्वनाश चाहने वाला ही समझा जायगा।

यही बात सर्वांश में उस व्यक्ति पर घटती है, जो या समझता या कहता है कि 'भारत स्वतन्त्र हो गया, अब आर्यसमाज की आवश्यकता नहीं'। जब आर्यसमाज ने भारत से छुआछूत, जन्मगत जातिभेद दूर करने, अन्यमतवालों को अपने में ले लेने; स्त्री और शूद्र को वेदाध्ययन का अधिकार, युवावस्था में विवाह, विधवा-विवाह आदि देश जाति हित के कार्यों के करने में आनेवाली घोर से घोर आपत्तियों को सहा और अनेकविध मिथ्याविश्वासों पर कुठाराघात कर उन्हें पर्याप्त विलुप्त वा

नष्ट कर दिया है और अपने अनेक वलिदानों, त्याग और तपस्या द्वारा भारतभूमि को वेदशास्त्र ज्ञानरूप वीज वोने के पर्याप्त योग्य मान लिया है, तव यह समझना या कहना कि अव आर्यसमाज की आवश्यकता नहीं, किसी पागल मनुष्य का प्रलाप ही समझा जा सकता है। या हृदय से आर्यसमाज न फैले, कहीं देश में व्यापकता से पनप न जावे, देशवासियों के हृदय में समादर न पा जावे, ऐसी दुर्भावना रखनेवाला ही ऐसा कह सकता है। मेरे विचार में आर्यसमाज को इस समय बहुत ही सहृदयता, प्रेम से किसी भिन्न विचारवाले के हृदय पर चोट न पहुंचाते हुये साम्प्रदायिकता वा मतमतान्तरों के विरोध को सर्वथा दूर करने में पूरा साधन बनना चाहिये। जो माता वा पिता वा गुरु, अपने पुत्र-पुत्री वा शिष्य को स्नेह प्यार नहीं कर सकता, उसको ताड़ना देने का कोई अधिकार नहीं। ऐसी ताड़ना का किञ्चित् भी फल नहीं हो सकता, हानि भले ही हो सकती है। हम जब अन्य मतवालों के हृदयों में यह बात अङ्कित कर दें कि हम हितभावना से ही उन्हें चेता रहे हैं, चिड़ाने या हानि पहुंचाने के विचार से नहीं, तभी उनमें हमारी बात सुनने की इच्छा पैदा होगी, तभी लाभ भी हो सकता है। आर्यसमाज को इस दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये। आर्यसमाज बचाव में हो न कि आक्रमण में। इन सब दृष्टियों से आर्यसमाज की परमावश्यकता है।

आर्यसमाज में आन्तरिक संशोधन व परिवर्तन की आवश्यकता

आन्तरिक संशोधन वा परिवर्तन की आवश्यकता प्रायः सभी विचारशील आर्यपुरुष अनुभव करते हैं। इस विषय में मैं अपने विचार उपस्थित करता हूं—

(१) आन्तरिक संगठन में परिवर्तन प्रथम हमें आर्यसमाजों, आर्य प्रतिनिधि सभाओं तथा आर्य सार्वदेशिक सभा में एक वार सर्व सम्मति से तीन वर्ष के लिए प्रधान या मन्त्री चुनने चाहिये। वे अपनी अन्तरंग भी बना लें। साधारण सभा की ओर से उन्हें अधिकार रहे। ५ वर्ष तक इस अनुभव को देखा जावे। अन्तरङ्ग द्वारा निश्चित विषयों में प्रधान के अनुशासन में चलने का सब व्रत लें।

(२) आर्यसमाज, प्रतिनिधिसभा, सार्वदेशिक सभा के पदाधिकारी वे ही होने चाहियें जो २४ घन्टे आर्यसमाज की सेवा में ही लगा सकते

हों, जो आर्य सभासद् के नियमों के पालन में परीक्षित हों। सात्त्विक भावनावाले विद्वान् हों, किसी पार्टी में यत्किंचित् भी भाग लेनेवाले न हों। इनको मुख्य संचालक बनाया जावे।

(३) उपदेशक प्रचारकों का संचालन आर्य विद्वान् वा आर्योपदेशक ही करें। संन्यासी और वानप्रस्थी का संचालन उनमें से ही करें। आर्यवीर वा आर्यकुमारों की सर्वसम्मति से उनका एक पथप्रदर्शक आर्य पुरुष रहे, उनकी सर्वसम्मति से प्रांतीय पथप्रदर्शक रहें। जिनके अनुशासन में आर्ययुवक चलें। इनका एक प्रतिनिधि आर्यसमाज की अन्तरङ्ग में अवश्य रहे। युवकों के योग्य पुस्तकों का संग्रह प्रत्येक आर्यसमाज में अवश्य रहे। जिनकी सूची सब स्थानों के लिये सामान्य तैयार कर ली जावे।

(४) सब आर्यसंस्थायें आर्यसमाज की उपसमितियों वा आर्यपुरुषों की स्वतन्त्र कमेटी वा ट्रस्ट द्वारा चलाई जावें। जिनमें आर्यसमाज के प्रतिनिधि अवश्य रहें। संस्थायें आर्यसमाजों से पृथक् हों।

(५) सब आर्यसमाज-मन्दिरों में प्रातःकाल एक घण्टा ईश-प्रार्थना, सन्ध्या, अग्निहोत्र, सत्सङ्ग वा प्रतिदिन पारिवारिक सत्सङ्ग अनिवार्यतया किये जावें। उस समय में ही परस्पर एक दूसरे का पारिवारिक सुख-दुःख जानकर, परस्पर आवश्यक सहयोग वा सेवा का ढंग बने। यह आर्यसमाज के भावी कार्यक्रम की मौलिक और परमावश्यक बात है। इस पर ही भविष्य का बहुत कुछ निर्भर है।

(६) स्त्री-समाजों का संगठन भी व्यापक और सुदृढ़ बनाया जावे। आर्यसमाज के सत्सङ्ग में स्त्री-समाज की सब सदस्याओं का आना अनिवार्य हो। पारिवारिक सत्सङ्ग में भी आना चाहिये। इनके लिये आर्यसमाज में इन्हीं की अध्यक्षता में पुस्तक-संग्रह अवश्य रहे। इनकी ओर से आर्यसमाज की अन्तरङ्ग में एक देवी प्रतिनिधि रहे।

(७) यह नियम बनाया जावे कि प्रत्येक सभासद् हर मास की नियत तिथि पर अपना मासिक वा वार्षिक दशांश वा शतांश स्वयं अपने-अपने प्रतिनिधि द्वारा दे दें। यह काम चपरासी (सेवक) से न लिया जावे। दान-प्रथा को सुधारना परमावश्यक है।

(८) यह भी एक अनिवार्य नियम बनाया जावे कि प्रत्येक परिवार अपने-अपने यहां से कम से कम एक-एक रोटी अतिथियज्ञ के रूप में

अवश्य निकाले, जो एक नियत व्यक्ति प्रतिदिन आर्यसमाज में लावे। ये रोटियां संन्यासी, महात्मा, उपदेशक, प्रचारक व अन्य सुपात्र आर्य अतिथियों अथवा विद्याध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों के उपयोग में आवें। यह बात देखने में बहुत छोटी सी प्रतीत होती है, परन्तु इसको परिमार्जित रूप दे देने से महान् लाभ होगा।

(९) जन्म-मूलक जाति-पाति के बन्धन तोड़कर अपने पुत्र व पुत्रियों के सम्बन्ध वा संस्कार न करनेवाले तथा ५० वर्ष से ऊपर के किसी पुरुष को, जब तक वह अपना गृह-सम्बन्ध न छोड़ दे, न तो आर्यसभासद् समझा जावे, न ही वह किसी आर्यसमाज, आर्य-प्रतिनिधि सभा, आर्य सार्वदेशिक सभा का अधिकारी बन सके।

शास्त्रार्थ वा ज्ञानगोष्ठी

कम से कम ३, ४ वर्ष के लिये तो हमें, जब तक विरोधी हमें चैलेंज न करे, अपनी ओर से चैलेंज न करना चाहिये। हां ! हमें भारत सरकार की देख-रेख में बहुत बड़े पैमाने पर गम्भीर शास्त्रार्थों की योजना बनानी चाहिये। जैसे काशी के विद्वानों से आदर और प्रेमपूर्वक एक महान् शास्त्रार्थ की योजना किसी समय बनानी चाहिये, जिसमें प्रवेश टिकट से हो। अथवा भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के दृष्टिकोण, जिनमें पर्याप्त परिवर्तन आ चुका है, जानने तथा अपना दृष्टिकोण उन्हें जनाने के लिये विद्वत्परिषदों की योजना बनानी चाहिये, जिसमें आर्यसमाज के विद्वान् प्रौढ़ता से अपने से भिन्न विचार रखनेवालों के हृदयों में आर्यसमाज के सिद्धान्त अङ्कित कर दें। ऐसी ज्ञानगोष्ठियों से ही भारत के विद्वानों को आर्यसमाज की ओर आकृष्ट किया जा सकता है। आर्यसमाज योरूप और अमेरिका तथा भारत के विद्वानों को एकत्रित करके या जहां एकत्रित हों वहां, अपने आर्यविद्वानों द्वारा प्रीतिभोजों वा ज्ञानगोष्ठियों में उनके विचार सुने और अपने विचार सुनाये। मुसलमानों के साथ श्री पं० रामचन्द्र देहलवीजी के ढंग पर ऊंचे शास्त्रार्थ वा ज्ञानगोष्ठी की योजनायें बनाई जा सकती हैं। अब ऊंचे स्तर के शास्त्रार्थों से आर्यसमाज का गौरव बढ़ सकता है।

आर्यसमाज के उपदेशक

आर्यसमाज के उपदेशक वा प्रचारक सिद्धान्ततः त्यागी वा तपस्वी

ही होने चाहियें, पर व्यवहारतः इसमें बाधा है। यदि संचालन का सूत्र त्यागी वा तपस्वियों द्वारा ही हो, तब भले ही ये महानुभाव वैदिक धर्म के प्रचार के कार्य में लग सकते हैं। आर्यसमाज में संन्यासी, वानप्रस्थ, त्यागियों की पर्याप्त संख्या है। उपर्युक्त रीति से ही इसमें सफलता हो सकती है। यदि इन पर इन्हीं में से किसी का शासन वा संचालन रहेगा, तो बहुत सी उलझन दूर हो जायगी। दूसरा, इनकी सेवा भोजनादि का प्रबन्ध, जहां भी जावें, श्रद्धा- भक्ति से परिवारों में होना चाहिये, समाज के धन से नहीं। हां, इन महानुभावों की आवश्यकता या व्यय भी इतना न होना चाहिये, जो वैतनिक महानुभावों के वेतन से भी ऊपर हो जावे।

(ख) संन्यासी वा वानप्रस्थ उपदेशक प्राप्त करने का प्रकार यह है कि मर्यादित आयु से अधिक गृहस्थी विद्वान् घर में न रह सकें। यदि रहते हों, तो आर्यसमाज में किसी अधिकृत पद पर न रह सकें।

(ग) यदि ऐसा न हो सके तो वैतनिक उपदेशकों की अपेक्षा जीवन सदस्यता का क्रम समीचीनतर होगा। जिसमें उन्हें मध्यम श्रेणी के नागरिक के समान भरण-पोषण का व्यय दिया जावे।

(घ) इनको अपने परिवारों में जाने की यथासम्भव पूरी सुविधा दी जानी चाहिये, इसमें उदारनीति रहनी चाहिये। इनके पुत्र-पुत्रियों की शिक्षा सन्तोषजनक हो, इसका भार भी सभाओं को उठाना चाहिये। अपनी संस्थाओं में इन्हें पूरी सुविधा दी जावे।

गुरुकुलों वा महाविद्यालयादि में इनकी सन्तानों को सबसे प्रथम निःशुल्क अवश्य स्थान दिया जाना चाहिये।

(ङ) व्याख्यान देना ही उपदेशक महोदय का मुख्य काम न समझा जावे। उसका निवास स्थान एक केन्द्र में हो, जो १० वर्ग मील में रहे, जिसमें आने-जाने में असुविधा न हो। उसके पास एक छोटा सा पुस्तकालय जिसमें आर्यसमाज के सैद्धान्तिक ग्रन्थ, साप्ताहिक-मासिक-पत्र एवं एक-दो दैनिक पत्र भी हों। इसके अतिरिक्त एक छोटा-सा औषधालय भी रहे।

(च) उनका दैनिक कार्यक्रम ऐसा हो कि प्रातः सूर्योदय से पूर्व ही ग्राम अथवा उपनगर (जहाँ कि वह रहता हो) के बच्चे तथा नवयुवक नियत स्थान पर एकत्रित हों। वहीं उपदेशकजी के सामने व उनके साथ

शौच-दन्तधावन-स्नान-व्यायाम-सन्ध्या-अग्निहोत्र तथा सम्मिलित भजन आदि कृत्य प्रातः-सायं नित्य हों। पुस्तकालय तथा औषधालय की व्यवस्था रहे।

प्रातः यज्ञ के पश्चात् धर्मशिक्षा और संस्कृत का एक घण्टा रखा जावे। सायंकाल की क्रीड़ा भी समक्ष में होना अच्छा हैं। कन्याओं वा स्त्रियों में यह सब उपदेशक महानुभाव की धर्मपत्नी करे तो बहुत ही उत्तम हो।

प्रायः शिक्षा के पश्चात् उपदेशक महोदय पुस्तकालय तथा औषधालय में बैठें। समाचार-पत्र पढ़नेवाले समाचार-पत्र पढ़ें। पुस्तक लेने और देनेवाले लें और दें। एक घण्टा किसी विशेष पुस्तक का पाठ सुविधानुसार प्रातः व सायं भी रखा जावे। परिवारों में नित्यप्रति एक घण्टा कथा व श्रेणीवत् धार्मिक पढ़ाई का ढङ्ग भी बन सकता है। औषध का समय भी नियत रहे।

नियत समय पर इस कार्य से निवृत्त होकर भोजन करे, डाक लिख कर फिर कतिपय पुस्तक, पिछले सप्ताह के समाचार-पत्र, कुछ औषधियां थैले में रखकर किसी निर्दिष्ट गांव में जावे। वहां दुःखियों के दुःख में सम्मिलित हो। औषधादि प्रदान करे। पात्रों से धार्मिक विषयों पर विचार विनिमय करे। किसी को समाचारपत्र, किसी को पुस्तक दे और दी हुई ले। सायंकाल अपने निवास स्थान पर लौट आवे। सायंकाल के कार्यक्रम में पारिवारिक सत्सङ्ग भिन्न-भिन्न परिवारों में चलता रहे।

५ वर्ष एक केन्द्र में रहे। इतने समय में तीसरे मास एक-एक सप्ताह का शिक्षण कैम्प (ट्रेनिङ्ग कैम्प) भिन्न-भिन्न गांवों में लगाकर वहीं के योग्य व्यक्ति एक-एक ग्राम में कार्यकर्ता तैयार किये जायें, जो अपने-अपने ग्राम में उपर्युक्त सब कार्यक्रम यथासम्भव चलाने लग जावें। इस प्रकार पहिले एक जिले में यह योजना व्यापक ढङ्ग पर चल सकती है। आर्यकुमार सभा वा आर्यवीर दलों द्वारा योजना बहुत ही शीघ्र व्यापक रूप धारण कर सकती है।

इस उपर्युक्त योजना में कार्य करने पर सुविधानुसार न्यूनाधिकता भी की जा सकती है।

(छ) हां! प्रचारक संन्यासी वानप्रस्थ वा गृहस्थादि की परीक्षा लिखित तथा मौखिक, तत्काल विषय देकर व्याख्यान द्वारा एक केन्द्रीय

आर्य विद्वत् समिति द्वारा होकर प्रमाण-पत्र दिया जावे। तभी उनकी नियुक्तियां हों। परीक्षा में उनकी विद्या, तितिक्षा, प्रचार, संस्कृत-भाषण के ढङ्ग के पृथक्-पृथक् अङ्क रहने चाहिये और प्रथम, द्वितीय, तृतीय श्रेणी में उत्तीर्णता की कोटि रहनी चाहिये।

(ज) धनसंग्रह का काम उपदेशकों से सर्वथा न लिया जावे। हां उन्हें कोई सज्जन सभादि के लिए दान दे दें, तो उसे वे पहुंचा देवें। उपदेशकों द्वारा धनसंग्रह का काम लेने में वैदिकधर्म प्रचारक की भावना में हीनता का भाव उत्पन्न होता है और उपदेशकों की योग्यता का परिणाम केवल धन-संग्रह तक ही रह जाता है।

(झ) भजनोपदेशक जो कम से कम ऋषि दयानन्द के ग्रन्थ पढ़ा सकते हों और सदाचारी, नित्य सन्ध्या अग्निहोत्र करनेवाले, शराब मांसादि से सर्वथा पृथक् आर्यप्रतिनिधि सभा की ओर से परीक्षा में उत्तीर्ण हों, वे ही रखे जावें। इनके भी व्याख्यान रखे जावें, भजनों के समय केवल भजन ही हों। भजनों द्वारा जनता को एकत्रित करने की प्रवृत्ति को कम से कम ५ वर्ष से स्थापित हुई समाजों में तो सर्वथा बन्द किया जाना चाहिये। हां ! सम्मिलित भजन बोलने की प्रवृत्ति का अधिक से अधिक प्रचार होना चाहिये।

(ञ) इन उपदेशक-प्रचारक महानुभावों से आर्यसमाजें वा आर्य-प्रतिनिधिसभायें चुनाव के विषय में यत् किञ्चित् भी काम न लें। न वे दलवन्दी में भाग लें। जो अधिकारी ऐसा काम लें वा उपदेशक दें, उन्हें पांच वर्ष के लिये पृथक् कर दिया जावे।

(ट) स्त्रियों में अपनी धर्मपत्नी द्वारा तथा नवयुवकों में स्वयं संगठन करें। नवयुवकों द्वारा महान् कार्य हो सकता है। परिवारों में आर्यधर्म की भावना वा मातृशक्ति में आर्यविचारों की निष्ठा तथा नवयुवकों में आर्यसमाज के प्रति भावना वा आकर्षण और प्रतिदिन सत्सङ्ग की योजना ऐसे उपदेशकों द्वारा ही होना सम्भव है।

उत्कृष्ट साहित्य

उत्कृष्ट साहित्य के लिये प्रत्येक प्रान्त में आर्यप्रतिनिधि-सभाओं वा स्वतन्त्र आर्य विद्वानों द्वारा अपने-अपने अनुकूल आर्य विद्वानों के सहयोग की योजना बननी चाहिये, जहां बड़े-बड़े पुस्तकालय हों। प्रत्येक स्थान में कम से कम ४-५ विद्वानों को अपनी आवश्यकताओं की चिन्ता से सर्वथा मुक्त किया जावे। उनका सञ्चालन वा कार्यक्रम का निर्माण उन

आर्य विद्वानों की सर्वसम्मति से किसी एक आर्य विद्वान् द्वारा होना चाहिये। सभाओं के कोरे अनुशासन द्वारा ये काम कभी नहीं हो सकते। मुख्य विद्वान् द्वारा कार्य की रीति-नीति का निर्धारण होगा। शेष सब उसके सहायक होंगे। यह वैदिक साहित्य की खोज, रक्षा तथा प्रचार का महान् कार्य है। इसका विस्तार बहुत कुछ है। सर्वप्रथम ऋषि दयानन्दकृत ग्रन्थों पर प्रौढ़ साहित्य, वेदों तथा आर्षग्रन्थों के शुद्ध संस्करण, आर्षग्रन्थों के भाष्य वा व्याख्या आदि महान् कार्य हैं। ये सब विद्वान् जीवनसदस्य हों।

हां ! सर्वसाधारण के लिये भी साहित्य आर्यसमाज की दृष्टि से अवश्य बनाया जावे। इसकी योजना भी बनना परमावश्यक है। ऋषि दयानन्द प्रदर्शित सिद्धान्तों, आर्यसमाज के नियम तथा ५१ सिद्धान्तों में मनसा वाचा कर्मणा विश्वास तथा आर्ष ग्रन्थों में प्रौढ़ योग्यता रखने वाले विद्वानों द्वारा ही यह काम हो सकता है।

आर्यसमाज की एक नीति रहे, इसके लिये तीन वा पांच विद्वानों की एक समिति आर्यसार्वदेशिक सभा की ओर से नियत रहे, जो आर्यसमाज के छपनेवाले वा छपे साहित्य पर अपनी सम्मति दे कि यह ग्रन्थ कहां तक आर्यसमाज के सिद्धान्त वा विचारों के अनुकूल है। इससे आर्य-साहित्य की एकसूत्रता रह सकती है।

आर्यसमाज की संस्थायें

४ प्रकार की संस्थायें हैं—१. ऋषि दयानन्दप्रदर्शित आर्ष पाठविधि के अनुसार पढ़ानेवाली, २. गवर्नमेण्ट की परीक्षाओं के अनुसार आर्ष अनार्ष संस्कृत पढ़ानेवाली, ३. स्वतन्त्र परीक्षाओं द्वारा वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के साथ-साथ हिन्दी की उत्कृष्ट शिक्षा तथा अंग्रेजी शिक्षा देनेवाली, ४. स्कूल तथा कालेजों द्वारा केवल थोड़ी धार्मिक शिक्षा आर्यसमाज के ढंग पर देते हुए सरकारी यूनिवर्सिटी की एम० ए०, बी० ए० वा रत्न, भूषण, प्रभाकर की परीक्षायें दिलानेवाली।

प्रत्येक प्रतिनिधि सभा अपने-अपने प्रान्त में एक-एक उच्चकोटि का ऋषि दयानन्द-प्रदर्शित आर्ष-पाठविधि का गुरुकुल वा विद्यालय पुत्र और पुत्रियों का खोले, जिसमें ऋषि दयानन्द-वर्जित कोई ग्रन्थ न पढ़ाया जावे और वहां अन्तिम एक वर्ष में अंग्रेजी का ज्ञान करा दिया जावे। आर्यसमाज का धन इन्हीं में व्यय होना चाहिये। इनमें आर्यसमाज के लिये उपदेशक तथा अध्यापक वा अध्यापिकायें तैयार किये जावें।

निरुक्त तक अध्ययन करने के पश्चात् कोई विशेष विषय विज्ञान, दर्शन, आयुर्वेद, साहित्य, अंग्रेजी वा अन्य विषयों में जाना चाहे तो चला जावे। ऐसे गुरुकुल वा विद्यालयों में (अश्लील को छोड़कर) हिन्दी, गणित, भूगोल इतिहासादि का ज्ञान अवश्य कराया जावे। यह प्रवचन रूप में हो या पठन-पाठन रूप में। ये सब कालेज वा स्कूल ५ वर्ष वा यथावश्यक समय लगाकर गुरुकुलों के ढंग पर चलाये जावें। चाहे अपनी परीक्षायें हों चाहें सरकारी भी दे सकें। पर इनमें अध्यापक वा आचार्य सबके सब आर्यसिद्धान्तों की नियत परीक्षा द्वारा परीक्षित, प्रमाण-पत्र प्राप्त आर्य अध्यापक वा अध्यापिकायें ही हों। जो कम से कम ऋषि दयानन्दकृत ग्रन्थ पढ़ा सकते हों, जिनके परिवार में मूर्तिपूजा, मृतक-श्राद्ध, नास्तिकता न हो, नित्य सन्ध्या-हवन करनेवाले हों, उक्त संस्था में आने के तीन वर्ष पूर्व ही से वैदिक संस्कार करते हों। राजकीय संस्कृत परीक्षाओं में विकल्प में आर्यसमाज के अभीष्ट विषयों को रखवा कर ही परीक्षायें दिलाई जावें। अन्यथा आर्यसमाज की ओर से एक पृथक् विश्वविद्यालय स्थापित किया जावे। जो छात्र आर्ष पाठविधि में ८ या १० वर्ष पढ़ चुकें, उमसे आगे यदि वे न चल सकें, वा अन्य विषयों में रुचि करें, तो उनके लिये गुरुकुलों के वर्त्तमान ढंग पर (पाठचक्रम में कुछ परिवर्तन के साथ) प्रबन्ध किया जावे। इस प्रकार से उपर्युक्त तीनों चारों प्रकार की संस्थाओं का एकीकरण वा संगठित रूप भी बन जाता है। ८ या १० वर्ष तक सब आर्ष-पाठविधि पढ़ें। आगे जो अन्य विषयों में जाना चाहें वा सरकारी परीक्षायें उपर्युक्त रीति से देना चाहें—दे दें। पृथक् स्कूल वा कालेजों की आवश्यकता नहीं। कालेज-स्कूल गुरुकुलों को अपना लें, गुरुकुल स्कूल-कालेजों को अपना लें। 'इनमें भी पुरुषों को व्याकरण, धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यून से न्यून अवश्य पढ़नी चाहिये' (ऋषि दयानन्द)। यही क्रम कन्याओं के विषयों में होना चाहिये। हां कन्याओं के पाठचक्रम में अब अङ्गरेजी की कोई आवश्यकता नहीं। उसके स्थान में संस्कृत तथा गृहकर्म के ज्ञान के विषयों की अधिकता रहे। 'स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्पशिक्षा तो अवश्य पढ़नी चाहिये।' (ऋषि दयानन्द)

सबका सञ्चालन एक ही विद्यासभा के अधीन हो, अर्थात् पाठच-क्रमादि की व्यवस्था सब की एक जैसी हो। ऋषि दयानन्द कृत ग्रन्थ सब संस्थाओं की पढ़ाई में अनिवार्य रहने चाहिये और उन के द्वारा

आर्यसमाज व वैदिकधर्म की सार्वभौमिकता छात्र-छात्राओं के हृदय में अङ्कित करनी चाहिये, जिससे साम्प्रदायिक भावना उनके हृदयों में जागृत न होकर मानव कल्याण रूप धर्म की भावना उत्पन्न हो।

आर्य विद्वानों का संगठन

आर्य विद्वान् की परिभाषा यह हो कि जो कम से कम अष्टाध्यायी का विद्वान् हो, संस्कृतभाषण कर सकता हो, ऋषि दयानन्द प्रदर्शित आर्यसमाज के १० नियमों तथा ५१ सिद्धान्तों में मनसा वाचा कर्मणा विश्वास रखता हो, ऐसे विद्वानों की आर्य विद्वत्परिषदें प्रत्येक जिला में होनी चाहिये। इन में से फिर वेदशास्त्रों के प्रौढ़ विद्वान् प्रान्तीय वा केन्द्रीय विद्वत्परिषदों में रहें।

इन विद्वत् वा वेदपरिषदों द्वारा आर्यसमाज में छपे वा छपनेवाले साहित्य की परीक्षा हो कर प्रकाशित होना चाहिये। गम्भीर स्वाध्याय वाले उपर्युक्त आर्यविद्वान् ही इनमें हों। विद्वानों की परस्पर जो भी शङ्कायें हों, वे सब इन्हीं परिषदों में ही उपस्थित की जावें। वेद या वेदार्थ के विषय में शंकायें उपस्थित करनेवाले की भूरि-भूरि प्रशंमा की जावे। उसके प्रति दुर्भावना वा द्वेषबुद्धि रखनेवाले व्यक्ति घृणित समझे जावें। इन परिषदों में अपनी शंकायें न रखकर जो इधर-उधर भ्रान्ति फैलावें, उन्हें घृणित समझा जावे और आर्य समाज वा उसकी संस्थाओं से पृथक् कर दिया जावे। इन परिषदों में छः मास पूर्व शंकायें तथा ३ मास पूर्व सबका संक्षिप्त विचार पहुंच जावे। सब तैयारी करके आवें। ऊहापोह द्वारा अन्त में जो सिद्धान्त ठीक बैठे, उसको प्रकाशित कर दिया जावे। उसका ही प्रचार हो। भला यह कौन कह सकता है कि स्वाध्याय करनेवाले को शंकायें ही पैदा नहीं होतीं? शङ्का पैदा होना तो स्वाध्याय अर्थात् गम्भीर अनुशीलन का परिचायक है। इन आर्य विद्वत् परिषदों के सुदृढ़ हो जाने के पश्चात् हमें आर्यसमाज से बाहिर के विद्वानों के साथ भी वेद-परिषदों द्वारा वेद के विषय में विचार-विनिमय करना चाहिये।

धर्मार्य सभाओं का संचालन वा व्यवस्था उपर्युक्त आर्य विद्वानों द्वारा ही होनी चाहिये। यह परमावश्यक है।

ब्रह्मदत्तजिज्ञासु

[—वेदवाणी, वर्ष १, अङ्क ९-११]

वेद-सम्मेलन, खुरजा

के

सभापति का भाषण

निवेदन

माननीय विद्वन्मण्डल तथा आर्य-बन्धुओं !

आप महानुभावों ने मुझे इस वेद-सम्मेलन का सभापति निर्वाचित किया है, इसके लिए मैं आप सबका आभारी हूं। प्रभु से प्रार्थना करता हूं कि वह हमारी बुद्धियों में इस पवित्र कार्य की सफलता के लिए विमलता, उदारता और सहनशीलता की भावना का सञ्चार करे !! धियो यो नः प्रचोदयात् !!!

परमदेव परमात्मा को कोटिशः धन्यवाद है जो इस गये-बीते युग में, भोजन वस्त्र आदि की चिन्ताओं में ही निमग्न रहते, देश में त्राहि-त्राहि की ध्वनि होते, स्वतन्त्रता के परिणामस्वरूप सैकड़ों नहीं लाखों पीड़ित बहिन और भाइयों के आर्तनाद के होते हुए भी आज हम वेद जैसे गहन विषय पर विचार करने के लिए यहां एकत्रित हुये हैं।

आर्यसमाज खुर्जा के धर्मानुरागी सदस्यों ने साहस करके इस वेद-सम्मेलन को खुर्जा में बुलाने का उपक्रम किया है, जिसके लिए वे हमारे सब के हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं। उनके इस उपक्रम का फल आर्य-समाज के लिये कहाँ तक स्थिर लाभप्रद हो सकेगा, यह सम्प्रति भविष्य के गर्भ का विषय है।

वेद के विषय में आवश्यक और गम्भीर विषयों में परस्पर विचार विनिमय वा ऊहापोह कर निश्चित धाराओं पर पहुंचने के उद्देश्य से ही ये सब माननीय विद्वान् यहां पधारे हैं। कोई समझे या न समझे, इस वेद-सम्मेलन का बड़ा भारी महत्त्व है, जो आर्य-विद्वानों के परमत्याग का द्योतक है। सैकड़ों मीलों से इतनी दूर पर अपना सब कार्य छोड़कर अर्थात् अपनी जीविका की हानि करके, इतना ही नहीं लक्ष्मी द्वारा कुपित यह विद्वद्वर्ग स्वयं अपना खर्च करके भी खुर्जा पहुंचा है, जिसकी कई सज्जनों

को आशा नहीं थी, क्योंकि आर्थिक समस्या ही इस समय देश की भारी समस्या है। इनसब कारणों से आर्य विद्वानों का अभीष्ट संख्या में पहुंचना कठिन ही नहीं अपितु अत्यन्त कठिन था। इसलिए जितनी भी संख्या में आर्य-विद्वान् यहां पधारे हैं, मैं उनके सामने नतमस्तक हूं और उनका स्वागत करता हूं। उनकी इस कृपा के लिए उनका आभारी भी हूं। मैं जानता हूं इनमें ऐसे भी विद्वान् हैं जो अपने बाल-बच्चों का पेट (भोजन) काटकर भी यहां पहुचे हैं। मैं चाहता हूं कि देश का धनी समुदाय आर्य-विद्वानों के इस आर्थिक सङ्कट को दूर करता और करे। उनके लिये कम से कम मार्ग-व्यय का प्रबन्ध तो होना ही चाहिये था, अब भी हो सके तो मुझे अत्यन्त प्रसन्नता होगी। इस सम्मेलन को मैं उपर्युक्त कारणों से बहुत महत्त्व देता हूं। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह वेद-सम्मेलन बिना किसी बाह्य प्रदर्शनों के केवल वेद के लिए किया गया है। तीसरी भारी बात जो इस वेदसम्मेलन के महत्त्व की है, यह वह है कि हमें इन दिनों में परस्पर बैठकर निश्चय करना है कि वेद सम्बन्धी विचार के लिये वेदसम्मेलन का कोई स्थायी रूप बने, जिससे यह पवित्र कार्य आर्यसमाज की भावनानुसार भविष्य में भी निरन्तर निर्बाध चलता रहे। जिससे आर्य जनता की चिरकाल से चली आ रही आशालता सफल हो सके और वैदिकसाहित्य के निर्माण का बीज आरोपित हो सके। मैं आशा करता हूं कि माननीय विद्वन्महानुभाव इस विषय में उदारता, समन्वयबुद्धि, दूरदर्शिता और गम्भीरता तथा परस्पर सहयोग अर्थात् एक दूसरे की योग्यता से लाभ उठाने की भावना से इस पवित्रकार्य का सम्पादन करेंगे।

आर्य-जनता से निवेदन है कि वह शान्ति और गम्भीरता से विद्वानों की कार्यवाही को देखे, सुने (जहां उनके लिए आर्यसमाज खुर्जा द्वारा सम्मिलित होने की स्वीकृति रहे) और पकती हुई खिचड़ी को खाने की शीघ्रता न करें, अपितु पकने पर ही (अर्थात् विचार करते समय नहीं, अपितु जब विचार होकर निश्चित धारणा बन जावे) तभी खाने का यत्न करें। उससे पहले किसी के सम्बन्ध में कोई धारणा बनाने का कष्ट न करें, अन्यथा विचार करने में बाधा उपस्थित हो सकती है।

प्रभु सबको सुमति और बल प्रदान करें! अब मैं अपना वक्तव्य प्रारम्भ करता हूं—

तत्स॑वि॒तुर्वरे॑ण्यं॒ भर्गो॑ दे॒वस्य॑ धीमहि । धियो॒ यो नः॑ प्रचो॒दया॑त् ॥

अन्तर्यामिन् प्रभो ! आप निर्मल हो (मानव तो कुछ न कुछ मलिन भी रहता है) तुम ही दिव्य (अनेकविध गुणों के आगार) हो, (अपनी मलिनताओं, कमियों को दूर करने के लिए) आपका ही ध्यान, स्मरण (आश्रयण) हम करते हैं। परमदेव आप हमारी बुद्धियों, विचार-धाराओं, मनोगतियों को ठीक-ठीक दिशाओं में प्रेरित करो !

वेद उस ज्ञान का नाम है, जो सृष्टि के आदि में परमपिता परमात्मा द्वारा जीवों की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति, ऐहिक और पारलौकिक सुख कल्याण की प्राप्ति के लिए प्रदान किया गया और किया जाता है। जिसका स्वर वर्णानुपूर्वी नित्य है उसके आधार पर ही आगे ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों की रचना हुई। वह वेद सर्वज्ञानमय (सब सत्य विद्याओं का भण्डार) है, मानव संबंधी समस्त आवश्यक ज्ञान बीजरूप से इसमें है। यह धारणा समस्त ऋषि-मुनियों की है, अतएव ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज ने भी इसी धारणा को आधारभूत माना है। आर्य-सनातन-वैदिक (आजकल हिन्दु कहे जाने वाले) धर्म का यत्किञ्चित् भी क्रिया-कलाप वेद के बिना नहीं चल सकता। जन्म से मरणपर्यन्त वेद का ही आश्रय लेना अनिवार्य है। भारत के राष्ट्रपति और प्रधान-मन्त्री (चाहे वह अपने आप को सैक्यूलर कहें या नास्तिक) के यहां भी विवाह आदि कोई शुभ कार्य वेद की ध्वनि के बिना नहीं हो सकता। अतएव वेद आर्य जाति का प्राण है। इसमें यत्किञ्चित् भी अत्युक्ति नहीं। भारतीय-संस्कृति, सभ्यता और साहित्य का मूलाधार वेद है। प्राण और मूलाधार एकार्थवाचक हैं। इसलिए मनु महाराज ने कहा—

स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ।

अर्थात् वेद में सब ज्ञान, विद्यायें वर्णित हैं क्योंकि वेद सर्वज्ञानमय हैं।

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ।

महाभारत शां० २३।१४२

अर्थात् स्वयंभु परमेश्वर ने वेदमयी दिव्य, नित्य जिसका आदि-अन्त

व्यवहार चले। ऋग्वेद के दशम मण्डल के ७१ वें सूक्त में भी इसी बात को कहा गया है।

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः।

अर्थात् वेदवाणी प्रथम अर्थात् सृष्टि के आदि में दी जाती है, वही सब भाषाओं की मूल है। उसी से सब पदार्थों के नामादि का व्यवहार चलता है। वह सर्वश्रेष्ठ सर्वदेशी होती है और उत्कृष्ट आत्माओं द्वारा प्रकाशित होती है। मनु ने भी इसी बात को आगे के श्लोक में कहा है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ मनु० १।२१।

वेद का महत्त्व सदा से ऐसा ही माना जाता रहा,यही हमारा कहना है।

वेद-सम्बन्धी मिथ्या धारणायें

वेद का अभ्यास शताब्दियों से छूट जाने के कारण वेद के सम्बन्ध में मिथ्या धारणायें चल पड़ीं। इनका प्रारम्भ तभी से हुआ जब वेद को केवल यज्ञ में ही सीमित कर दिया गया। वेदों के आध्यात्मिक और आधिदैविक अर्थों का लोप हो गया, जिनकी परम्परा आज से १४००-१५०० वर्ष पूर्व तक विद्यमान रही। इतना ही नहीं यास्कमुनि को भी यही अभीष्ट था। जिसका सप्रमाण वर्णन हम अपने पूर्व वेदसम्मेलनों के भाषणों में विस्तार से कर चुके। इस उत्कृष्ट परम्परा को या तो सायणाचार्य ने नष्ट कर दिया, या उसकी अपनी समझ में नहीं आयी। और इस कारण उसने इसे छोड़ दिया। यह बात हम इसलिये कहते हैं कि सायणाचार्य ने यहां तक लिख दिया कि संहिता और ब्राह्मण केवल यज्ञ का ही प्रतिपादन करते हैं। तद्यथा—

'तस्मिंश्च वेदे द्वौ काण्डौ। कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्यकाख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डस्तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोर्ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वम्। तत्रोभयत्राधानाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादि कर्मण एव प्रतिपाद्यत्वात्।' (काण्वसंहिता सायणभाष्यभूमिका)

अर्थात् वेद में दो काण्ड हैं, कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड। बृहदारण्यक (अर्थात् उपनिषद् सामान्य ले०) ग्रन्थ तो ब्रह्मकाण्ड है और उससे शेष

शतपथब्राह्मण और संहिता इन दोनों ग्रन्थों का विषय कर्मकाण्ड है। इन दोनों (शतपथब्राह्मण और संहिता) में अग्निहोत्र दर्शपूर्णमासादि कर्मों का ही प्रतिपादन है। यहां 'एव' 'ही' पद विशेष ध्यान देने योग्य हैं।

सायणाचार्य की उत्पन्न की हुई यह उपर्युक्त भ्रान्ति वेद-सम्बन्धी समस्त मिथ्या भ्रान्तियों का मूल आधार है। इसने वेदसम्बन्धी सब गौरव और मानवजीवन में वेद की उपादेयता का सर्वथा नाश कर दिया। सायणाचार्य संवत् १३७१ से १४४४ में हुए। उनके पश्चात् इन ५००—६०० वर्ष के काल में वेद का स्वरूप और महत्त्व लगभग सर्वथा लोप हो गया। वेद के अर्थ समझने की प्रवृत्ति लुप्त हो गई और वेद की पुस्तक वर्ष में एक बार नवरात्रों के दिनों में धूप में रक्खी जाती रही या अधिक हुआ तो वेद की सवारी (एक रथ में सजाकर सारे नगर में घुमा देना) निकाली जाती रही, जो हम बाल्यकाल में देखा करते थे।

वेद का पठन-पाठन केवल कण्ठस्थ करने तक ही रहा। अर्थसहित पठन-पाठन में वेद प्रायः लुप्त हो गया।

वेदसम्बन्धी उक्त भूल के दुष्परिणाम

यह भूल सायणाचार्य तक ही रह जाती, अथवा भारत तक ही सीमित रही होती, तब भी इतनी हानि नहीं थी। इसके परिणाम बड़े भयङ्कर हुए। यह ठीक है कि महात्मा बुद्ध के काल में भी यज्ञयागादि की प्रधानता रही और वेद का अर्थ केवल यज्ञपरक ही होता है, इस मान्यता से ही यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई। और बुद्ध जैसे महापुरुष पवित्र-हृदय महात्मा यह कहने पर वाधित हुए कि मैं ऐसे वेद को मानने को तैयार नहीं, जिसमें पशुहिंसा का विधान हो। यह बात निश्चय ही सायणाचार्य से पूर्व की है। अर्थात् सायणाचार्य से पूर्व यज्ञों में मांसादि का विधान चल चुका था। सायणाचार्य इस सबसे बच न सके, उन्होंने इतनी ही भूल की (जो बड़ी भारी भूल थी) कि वेद ब्राह्मण और संहिता में केवल यज्ञ का ही प्रतिपादन है, ऐसा लिखकर वेदार्थ-सम्बन्धी चली आनेवाली आध्यात्मिक, आधिदैविक प्रक्रियाओं की परम्परा का नाश कर दिया।

विदेशीय विद्वानों को वेदविषय में सायणभाष्य ही एकमात्र आश्रय मिला। वह उनके अनुकूल निकला, क्योंकि वे तो चाहते ही थे कि भारतीयों को अपनी प्राचीन संस्कृति, सभ्यता और साहित्य के प्रति अश्रद्धा

उत्पन्न कर उन्हें मार्ग-भ्रष्ट किया जाये और हमारा राज्य भारत में चिरस्थायी रह सके और इसी कारण बहुत दिन रहा भी।

इसमें संदेह नहीं कि हम विदेशी विद्वानों का आभार मानते हैं, जो उन्होंने अभारतीय होते हुए भी संस्कृतसाहित्य विशेषकर वैदिकसाहित्य में अनुपम प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय उद्योग किया। निस्सन्देह उन्होंने वैदिकसाहित्य की खोज (Research) का उपक्रम करके हम भारतीयों के सामने अपने साहित्य की रक्षा का उत्तम मार्ग दर्शाया, जिस किसी विदेशी विद्वान् (स्कालर) ने संस्कृतसाहित्य के जिस किसी ग्रन्थ का सम्पादन किया, सर्वसाधारण की दृष्टि से वह उनके अत्यन्त परिश्रम, निरंतर धैर्य और गम्भीर दिवेचना का परिचय देता है। यह दूसरी बात है कि उनका ज्ञान शास्त्र विषय में गहरा नहीं था और उनकी भावना विपरीत थी।

सायणाचार्य की वेदार्थ विषय की इस मिथ्या धारणा का क्या दुष्परिणाम हुआ, यह हमको कहना है। सोचने की बात है कि इन विदेशी विद्वानों को यदि सायणाचार्य की अपेक्षा कोई और उत्तम भाष्य मिला होता, तो इनके अंग्रेजी-जर्मन-फ्रेंच आदि विदेशी भाषाओं में किये अनुवादों का स्वरूप निश्चय ही भिन्न होता जो अब सायण से आगे कोई न बढ़ सका।

ऋषि दयानन्द और वेद

वेद का अर्थ केवल यज्ञपरक ही होता है और यज्ञ में पशुवलि का विधान है यह मिथ्यावाद घोररूप में प्रचलित था। उपर्युक्त सब अनर्थ वेद और शास्त्र के नाम पर हो रहे थे। अपने उन विषयों के लिये ब्राह्मण-श्रौत-सूत्र आदि ग्रन्थों के प्रमाण उपस्थित किये जाते थे। हमने काशी में देखा कि मांस, मद्य आदि से अत्यन्त घृणा करनेवाले व्यक्ति भी यज्ञ में अज (बकरे) का मांस खाने को बाधित हुए क्योंकि वह मानते थे कि यज्ञ में मांस डालने का शास्त्रीय विधान है। क्योंकि उनके हृदय में यह बैठ चुका है कि इसके लिये शास्त्र की आज्ञा है, इसका पालन न करने में प्रत्यवाय (पाप) लगेगा। इन्होंने घृणा के कारण आगे-पीछे कभी कोई मांस नहीं खाया।

ऐसी दुरवस्था में परमपिता परमात्मा की असीम कृपा से महापुरुष दयानन्द का प्रादुर्भाव हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वनियन्ता

अन्तर्यामी जगदीश्वर पर पूर्ण आस्थावान् होने के कारण ही दयानन्द को दैवी अन्तःप्रेरणा हुई कि वेदार्थ लुप्त हो चुका है, तुम उसका उद्धार करो और वेद के सच्चे अर्थ संसार के सामने रखो, जिससे शताब्दियों से इस विषय में फैली हुई भ्रान्ति दूर हो और संसार का कल्याण हो। दयानन्द ने पर्वत के शिखर पर खड़े होकर देखा कि संसार मेरे विरुद्ध है, और उसमें शास्त्रों को प्रमाणरूप में उपस्थित किया जाता है। सर्व साधारण की दृष्टि में शास्त्र दयानन्द का साथ नहीं देते। उस समय का विद्वन्मण्डल चकित रह गया जब दयानन्द ने घोषणा की—'वेद प्रभु की पवित्र वाणी है, जो सृष्टि के प्रारम्भ में मानवकल्याण के लिये संसार के अन्य भोग्य पदार्थों की भांति यथावत् व्यवस्था के ज्ञानार्थ तथा उसके अनुसार आचरण करने के लिये प्रभु की ओर से ऋषियों द्वारा प्रदान की गई है और यह वाणी नित्य है। सदा से प्रदान की जाती रही और की जाती रहेगी। यह मानव या मानवों के समुदाय की कृति नहीं है, अपितु सम्पूर्ण विश्व के रचयिता परमपिता परमात्मा की ही रचना है। कल्प-कल्पान्तरों में इनमें किसी प्रकार की न्यूनाधिकता नहीं होती। इसमें किन्हीं व्यक्तिविशेषों का इतिहास नहीं, न पशुबलि आदि का ही विधान है। और यह मानवमात्र के लिये है, शूद्र वा स्त्री आदि किसी मानव देहधारी को इससे वंचित नहीं रखा गया। वेद के मन्त्रों के केवल यज्ञ-परक ही अर्थ नहीं होते, अपितु मानव-जीवन की प्रत्येक समस्या के हल करने का उपाय बीज रूप से वेद में विद्यमान है इत्यादि-इत्यादि।'

यह धारणा वेद के सम्बन्ध में वैदिकधर्मियों की है, जिसका विशद निरूपण हमें ऋषि दयानन्दकृत समस्त ग्रन्थों में, विशेषकर ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका में मिलता है। ऋषि का छोटे से छोटा ग्रन्थ हो, या बड़े से बड़ा, उसकी प्रत्येक पंक्ति में, नहीं नहीं प्रत्येक पृष्ठ में, ईश्वर और वेद का निरूपण किसी न किसी प्रकार से अवश्य मिलेगा। इसीलिये साम-वेद का भाष्य करनेवाले श्रीरामानन्दसम्प्रदाय के आचार्य स्वामी भग-वदाचार्यजी ने स्वामी दयानन्द को आस्तिकशिरोमणि लिखा।

उपर्युक्त धारणा को हम वैदिकधर्मियों ने ठीक होने से अङ्गीकार किया और उसके पुनरुद्धार का भार अपने ऊपर लिया है।

वेद के इस स्वरूप को निर्धारित करने में वीतराग तपस्वी दयानन्द को कहां तक कष्ट उठाना पड़ा, वह भी उस अवस्था में, जब कि वेदों का

पठन-पाठन लुप्तप्रायः ही हो रहा था, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। शास्त्रसम्बन्धी विविध रूढ़ियों, प्रचलित रीतियों और शास्त्रकारों के कहे जानेवाले परस्पर विरोध के भंवरों, विविधवादों तथा मतमतान्तरों के तूफान में, दयानन्द पर्वत के समान अचल रहे, डिगे नहीं। अपने आपको न केवल संभाले रहे, अपितु इन्होंने एकदम उन सबके विरुद्ध घोषणा कर दी—'वेद प्रभु की वाणी है। नित्य स्वतःप्रमाण है। इसमें किसी का इतिहास नहीं। अन्य सब ऋषियों के बनाये ग्रन्थ परतःप्रमाण हैं। अर्थात् वेदानुकूलतया ही प्रमाण हैं'। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यह घोषणा कल्पनामात्र से ही नहीं की, अपितु उन्हीं ऋषि मुनिकृत ग्रन्थों के आधार पर की, जिनके प्रमाण से वे लोग अपनी बातें सिद्ध करते थे। दूसरे शब्दों में महान् दयानन्द ने ऋषि मुनियों के उन ग्रन्थों के शुद्ध अर्थ ही उन्हें बताये।

आर्यसमाज और वेद

'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।' आर्यसमाज का तीसरा नियम बनाकर ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना ईश्वर के आधार पर की, 'संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है' इससे सार्वजनिक, सार्वभौमिक उपकार वा कल्याण का उद्देश्य स्थिर किया, और साधनरूप वेद का पढ़ना-पढ़ाना परमधर्म (तीसरा नियम) बनाकर जहां भारत का सिर ऊंचा किया, वहां संसार को भी सच्चा मार्ग दिखाया।

हम समझते हैं, आर्यसमाज प्रारम्भ काल में इस उद्देश्य में पूर्ण श्रद्धा भक्ति और बहुत उत्साह से प्रवृत्त हुआ। देश को वेद की ओर लगाने में आर्यसमाज ने अपनी शक्ति भर बहुत प्रयत्न किया। क्योंकि हमें स्मरण है जब मैंने बाल्यावस्था में हिन्दी अक्षरों का अभ्यास किया, तो हमारे घर के लोग कहा करते थे, कि हमारा लड़का 'शास्त्री' (पंजाब में हिन्दी को शास्त्री कहते हैं) पढ़ता है, और हिन्दी पढ़ना मैंने आर्यसमाज की ही प्रेरणा से आरम्भ किया था। उन दिनों उर्दू की इतनी भरमार थी कि कोई सोच भी नहीं सकता था कि कभी हिन्दी भी हमारे देश की भाषा हो सकेगी। अब तो स्टेशनों पर भी हिन्दी के ही बोर्ड लिखे मिलते हैं। उर्दू भाषा अभी हिन्दू परिवारों में नष्ट नहीं हुई। इसको देखना हो तो

देहली में जाकर देख सकते हैं, जहां अभी भी उर्दू वाले सिसकती हिन्दी लिखते हैं और कई एक लिखते समय सिसकियां भी लेते दिखाई देते हैं। 'सविनय नमस्ते' को 'स्वनय नमस्ते,' 'स्वागतम्' को 'सवागतम्', आदि अब भी लिखते देखे जाते हैं।

कल ही मेरे पास एक पत्र आर्यसमाज, लारंसरोड के प्रधानजी का आया है, उसमें—

आनन्द के स्थान पर	=अनन्द,	नवम्बर के स्थान में	—नबम्ब्र
प्रसन्न ,, ,,	,,=प्रस्न	जनता ,,	,,=जन्ता
कृतार्थ ,,	,,=कर्त्तार्थ	सकती ,,	,,=स्कती
शीघ्र ,,	,,=शीग्रह	कृपया ,,	,,=कृप्या

१२ पंक्तियों में, ८ अशुद्धियां हैं, यद्यपि यह दुःख की बात है कि आर्यसमाज के उपदेशक इन मन्त्री, प्रधानों को बाधित नहीं करते कि वह हिन्दी तो शुद्ध लिख पढ़ सकें। परन्तु प्रधानजी मन्त्रीजी रुष्ट हो जायेंगे हमारा खीर-हलुवा जाता रहेगा, सो कुछ नहीं कहते।

कहना यह है कि आर्यसमाज ने हिन्दी के प्रचार का कितना महान् कार्य किया है, यह बात पञ्जाब प्रान्त निवासी ही ठीक-ठीक समझ सकते हैं।

मेरा कहना यह है कि आर्यसमाज ने भारत में अपने-अपने ग्राम और नगर में हिन्दी का प्रचार तो किया ही है, वेद की ध्वनि भी अवश्य पहुंचाई है, सोई हुई जनता को वेद का सन्देश अवश्य पहुंचाया है। चाहे वह किसी रूप में भी रहा हो। कहीं तो चिरायते की तरह सीधा काढ़ा दिया गया, कहीं खांड लिपटी कुनीन की गोली के समान वेद का सन्देश दिया गया। वेदप्रचार की योजना भी बनाई गई। आर्थिक दृष्टि से बहुत ही साधारण कोटि के इस समुदाय 'आर्यसमाज' ने सैकड़ों उपदेशक वैदिक धर्म के प्रचार के लिए देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में रक्खे, जिनके द्वारा वैदिक-धर्म का प्रचार (उन उपदेशकों की योग्यता और परिस्थिति के अनुसार) हो रहा है।

हमारा कहना यह है कि भारत का कुछ समुदाय (चाहे वह अभी आटे में नमक के बराबर हो) आर्यसमाज के प्रचार से वेद का सन्देश सुन पाया है, इसी का फल है जो आर्यसमाज की गुरुकुल काङ्गड़ी, गुरुकुल वृन्दावन-महाविद्यालय ज्वालापुर, डी. ए. वी. कालेज लाहौर,

कन्या महाविद्यालय जालंधर, कन्या गुरुकुल देहरादून, कन्या गुरुकुल हाथरस तथा सैकड़ों की संख्या में अन्य गुरुकुल और विद्यालय अपनी-अपनी विचारधारा के अनुसार सफलतापूर्वक चल रहे हैं। चाहे उनमें कितनी भी विघ्न-बाधायें रही हों। ये बराबर चलते रहे। जनता ने सहयोग दिया तभी तो चलते रहे और चल रहे हैं। यदि यह सब मिल कर शिक्षा-विषय में एक निश्चित धारणा आर्यसमाज की दृष्टि से बना कर चलें, तो एक पृथक् यूनिवर्सिटी का रूप बन सकता है। जिसको सफलतापूर्वक चलता देखकर भारत सरकार को (चाहे वह किसी विचार की भी हो) आर्यसमाज के इस कार्य में विवश होकर आर्य-समाज का सिद्धान्त मानकर सहायता देनी पड़ेगी। क्योंकि आर्यसमाज ही प्राचीन भारतीय संस्कृति का परम पुजारी है, इसकी अवहेलना कोई भी न कर सकेगा। वर्त्तमान जैसा न होगा कि दे दिया गुरुकुल काङ्गड़ी को एक लाख वा ३० हजार रुपया, जैसे भूखे को रोटी फेंक दी जाती है। क्यों न सभी गुरुकुल को उनके व्यय का आधा सरकार दे।

यदि आर्यसमाज का सङ्गठन दृढ़ हो जावे तो सरकार आर्यसमाज के पीछे-पीछे फिरेगी, आर्यसमाज सरकार के पीछे-पीछे नहीं फिरेगा। तभी वेद की रक्षा, वैदिक संस्कृति का प्रचार हो सकेगा। तभी हम आर्य-समाज की विजय समझेंगे, नहीं तो समझेंगे कि पहले आर्यसमाज अपनी संस्थाओं के चलाने के लिए अंग्रेजी सरकार की जी-हजूरी करता रहा (गुरुकुल-काङ्गड़ी-वृन्दावन-डी ए. वी. कालेज लाहौर आदि कुछ संस्थाओं को छोड़कर) और अब कांग्रेस सरकार की जी-हजूरी कर रहा है। यदि सरकारी पढ़ाई ही चलानी है तो सब संस्थायें आर्यसमाज को एकदम से बन्द कर देनी चाहिए। हम धार्मिक शिक्षा भी नहीं दे सकते तो ऐसी संस्थाओं से लाभ ही क्या? केवल मन्त्री, प्रधान के हाथ में कुछ सत्ता (अध्यापकों पर राज्य) आना है, जिसका मूल्य व्यक्तिगत स्वार्थ के अतिरिक्त कुछ नहीं। आर्य-अध्यापक, अध्यापिकायें ही तैय्यार करने की कोई योजना आर्यसमाज ने बनाई होती, तो भी ठीक था। सो भी नहीं, अनार्य अध्यापक अध्यापिकाओं की भरमार प्रायः सर्वत्र है।

क्यों नहीं इन संस्थाओं में संस्कृत, वेद और ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों को अनिवार्य कर दिया जाता। क्यों नहीं हर एक जगह वेद और संस्कृत की पढ़ाई का प्रबन्ध किया जाता। कम से कम प्रिन्सिपल तो

आर्य हो और नहीं तो। ये बातें अब बहुत गम्भीरता से सोचनी होंगी। हां, साम्प्रदायिक भावना के स्थान में हमें सार्वजनिक धर्म, जिसका कोई भी विरोधी न हो सके, इसकी शिक्षा इन संस्थाओं में देनी चाहिये, यह ठीक है। कहना यह है कि आर्यसमाज ने हिन्दी का प्रचार देश में अद्भुत किया। आर्यसमाज ने वेद का सन्देश घर-घर पहुंचाने में बहुत कुछ उद्योग किया है। जिसके लिए भारतीय जनता को आर्यसमाज का आभारी होना चाहिये।

ऋषि दयानन्द की सबसे बड़ी देन

ऋषि दयानन्द की सबसे बड़ी देन संसार को, विशेषकर भारत को, यही है कि उन्होंने वेद शास्त्र का शुद्ध स्वरूप संसार के सामने रखा और साथ ही सबसे कठिन, समझे जानेवाले वेद को इन्होंने सर्वसाधारण तक पहुंचाने के लिए उनका अर्थ आर्यभाषा में भी किया। इतना ही नहीं, व्याकरण जैसे दुरूह विषय को भी उन्होंने आर्यभाषा में लिखा। अष्टाध्यायी के भाष्य की रचना भी संस्कृत और आर्यभाषा दोनों में की। सन्ध्या के अर्थ व्याख्या संस्कारविधि की सब विधियां आर्य-भाषा में लिख दीं। ऋषि दयानन्द का यह साहसपूर्ण कार्य भारत के इतिहास में चिरस्थायी रहेगा। पहले-पहले तो लोगों ने इस बात पर ऋषि दयानन्द की बहुत हँसी उड़ाई कि 'उन्होंने हिंदी में लिखा है।' आर्यसमाज के बहुत से पुराने विद्वानों ने भी ऋषि के आर्यभाषा में अपने ग्रन्थों को लिखने के महत्त्व को पूर्णतया नहीं समझा। 'संस्कृत में ही रहना चाहिये' ऐसी ध्वनि कभी-कभी सुनाई देती रही, विशेषकर व्याकरण के ग्रन्थों के विषय में, यह सब भ्रांति की बात थी। ऋषि से पहले वेदमन्त्रों के पढ़ने और उनके अर्थ करने का द्वार उस समय के पंडितों ने वैश्यों क्षत्रियों तक के लिये बन्द कर रखा था, शूद्र और स्त्रियों के लिये तो कहना ही क्या !!

मेरा तो हृदय गद्-गद् हो उठता है, जब मैं आर्यपरिवारों में नित्य के सन्ध्या-हवन में, बड़े-बड़े यज्ञों, समाज के उत्सवादि वा समारोहों में सहस्रों की संख्या में एक साथ वेद के मंत्र उच्चारण करते सुनता हूं। छोटे-छोटे बच्चों को सन्ध्या के अर्थ बोलते सुनता हूं। इस विषय में अब हमारा परम कर्त्तव्य है कि हम स्वर की बात अभी छोड़ दें, क्योंकि यह विद्वानों के विचार का विषय है, शुद्ध पाठ पर सर्वत्र विशेष ध्यान देने

की आवश्यकता है, विद्वानों को इसका पूरा ध्यान रखना चाहिए। मुझे स्मरण हो उठता है कि काशी में इस समय तक भी काशी के रूढ़िवादी और पौराणिक विद्वान् ही नहीं, अपितु हिन्दू-विश्वविद्यालय बनारस तक में स्त्री और शूद्रों के लिए वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है। उन्होंने वेद पर से स्वर ही हटा दिया है। वे कहते हैं कि वेद विना स्वर के पढ़ लो, स्वर हम नहीं पढ़ायेंगे। स्वर सहित ही वेद होगा, स्वर रहित तो पाठ-मात्र है!! भला इस मूर्खता का भी कोई ठिकाना है!!! ऐसी अवस्था में संसार को ऋषि दयानन्द की अपूर्व मेधा और तपश्चर्या का लोहा मानना पड़ता है। अब भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर यह वेद ध्वनि जब तक भारत के ग्राम-ग्राम में एक-एक पुत्र और पुत्री के मुख से न निकले, तब तक आर्यसमाज की आवश्यकता बनी रहेगी। इसको कौन करेगा? क्या सैक्यूलर-धर्मनिरपेक्ष, नहीं-नहीं, धर्मविरोधी, यह कांग्रेस का राज्य !!!

यह करेगा तो आर्यसमाज ही करेगा। कौन कहता है कि आर्य-समाज की आवश्यकता नहीं। आर्यसमाज प्रकाश स्तम्भ के रूप में भारत में सदा जीवित रहेगा। हमें अपनी कमियों को पूर्ण करना है और अपने कर्त्तव्य पर कटिबद्ध हो जाना है। बस यही एक मुख्य समस्या है।

सर्वसाधारण की वेद के प्रति आस्था हम तभी पैदा कर सकते हैं, जब हम अपने में, कार्यकर्त्ताओं में, वेद के प्रति उत्कृष्ट भावनायें पूर्ण रीति से भरें। हम अपने में भरेंगे, तभी दूसरों में भर सकेंगे।

भारतीयों की वेद के प्रति अनास्था क्यों ?

वेद का अर्थ केवल यज्ञपरक होने लगा और यज्ञ में पशुहिंसा का विधान चल पड़ा। सायण, उव्वट, महीधर आदि ने इन पर मुहर लगा दी। महीधर ने जहां वेद का अत्यन्त बीभत्स अर्थ किया, वहां सायण ने 'यज्ञ एव' = 'यज्ञ ही' वेदों का अर्थ बताया, जिसमें वेदों के प्रति बहुत काल से अनास्था चल पड़ी। यह हम ऊपर लिख चुके हैं। मैं तो कहता हूं महीधरभाष्य को भी छोड़ दें (जो अत्यन्त बीभत्स है), तो भी यदि वेद का सायणभाष्य ही हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू वा अन्य किसी भाषा में अनुवाद कर के हिन्दीशिक्षणालयों के पाठचक्रम में रख दिया जावे, तो निश्चय ही समझना चाहिये, कुछ श्रद्धालुओं को छोड़कर, सबकी एक ही ध्वनि उठेगी कि यह वेद जंगलियों की बड़बड़ाहट वा अन्टसन्ट

कृतियां हैं, जिनसे मानवसमाज को कुछ लाभ नहीं हो सकता। पंजाब यूनिवर्सिटी की शास्त्री-परीक्षा में जितना अंश सायणभाष्य का है, उस से सायण की छाप के कारण ये शास्त्री लोग प्रायः वेद से विमुख हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें वेद के वास्तविक स्वरूप का तो दर्शन भी नहीं हो पाता।

आर्यसमाज ने वेद के विषय में बहुत कुछ ज्ञान देने का प्रयत्न तो किया, जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं। पुनरपि हमें वेद के प्रति अनास्था क्यों दिखाई देती है, एक विचारशील भारतीय स्वभावतः यह सोचने लगता है कि—

इस अनास्था के अन्य कारण

वेद के विषय में हमारी आर्यसंस्कृति में प्राचीन काल से चली आ रही इतनी उत्कृष्ट भावना के होते हुए भी क्या कारण है कि भारतीयों में वेद के प्रति सम्प्रति इतनी अनास्था हो गई, वे इससे एकदम दूर हो गये? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। हम विचारशील सज्जनों के समक्ष इस विषय में अपने विचार उपस्थित करते हैं। वेद के प्रति अनास्था रखनेवालों की कई कोटियां हैं, हम सब पर क्रमशः विचार करेंगे—

(१) प्रथम कोटि उन लोगों की है, जिन्हें दुर्भाग्यवश अपने घर (भारतीय संस्कृति, साहित्य, सभ्यता) का कुछ भी संस्कार व ज्ञान बाल्यकाल से नहीं मिला। वे या तो विदेश में पढ़े या उन्होंने भारत में विदेशी राज्य द्वारा चलाई गई विदेशी पाठ्य-पद्धति से ही अध्ययन किया। संस्कृत साहित्य से शून्य न रहना तो दूर की बात है, वेदशास्त्रों के हिन्दी में प्राप्त होनेवाले अनुवाद वा भाषार्थ को भी उन्होंने कभी नहीं पढ़ा। ऐसे लोग वेद या शास्त्र के विषय में कोई बात (जो उन्होंने अंग्रेजी की पुस्तकों में पढ़ी होती है) कहने लगते हैं, उनसे वह स्वयं तो सर्वथा अनभिज्ञ होते ही हैं, जिनकी पुस्तकों के आधार पर वह बोल रहे होते हैं, वे भी प्रायः प्राचीन वैदिक साहित्य से कोरे होते हैं, या उन्होंने भी वे बातें अपने विदेशी गुरुओं वा विदेशी पद्धति से पढ़े हुए विद्वानों से ही ली होती हैं। उसमें उनका अपना ज्ञान बहुत थोड़ा होता है। ऐसे व्यक्तियों द्वारा यह कहना कि वेद-शास्त्र में क्या रक्खा है, स्वाभाविक है। भला इनकी ऐसी बात का क्या मूल्य हो सकता है? इसे, अज्ञानमूलक होने से किसी पागल का प्रलापमात्र ही तो कहा जायगा।

(२) दूसरी कोटि उन विद्वान् समझेजानेवालों की है, जो एम. ए. तथा शास्त्री आदि पढ़े होते हैं या हमारी आर्यसमाज की संस्थाओं की परीक्षाएं पास किये होते हैं। वे महानुभाव जब वेद-शास्त्रों के विषय में अपनी अनास्था प्रकट करते हैं; तो जनता में महान् क्षोभ उत्पन्न हो जाता है कि ये संस्कृत के विद्वान् हैं, इतने वर्ष आर्यसमाज की वा अन्य संस्थाओं में पढ़े हैं, इनका कथन अतथ्य कैसे हो सकता है ? इस विषय में मेरी इस प्रकार के कई महानुभावों से बातचीत हुई, सो पता लगा कि इनकी अपनी कोई स्थिति—धारणा वा ठिकाना (खूंटा) नहीं होता। यहीं तक नहीं, ये महानुभाव स्पष्ट कहने लगते हैं कि हमें तो ईश्वर के अस्तित्व में भी विश्वास नहीं। कर्मवाद के सिद्धान्त में भी उन्हें कोई आस्था नहीं होती। वह समझने लगते हैं कि ज्ञान तो बढ़ता ही रहता है। संसार ऋषि-मुनियों से बहुत आगे निकल चुका है। इस प्रकार उन की बुद्धि भ्रान्त हो चुकी होती है और वे ईश्वर, वेद, धर्म, कर्मवाद, संस्कृति, सभ्यता के विषय में बहकी-बहकी बातें करते हैं। ऐसे व्यक्तियों की—किन्हीं निर्बलताओं के कारण ईश्वर की सत्ता से भी आस्था उठ गई होती है। जिसका कारण बहुत गहराई में जाने से ही पता लग सकता है। एक बार एक सज्जन ने बताया 'मैं आज से कुछ वर्ष पहले आर्य-समाज का अत्यन्त श्रद्धालु और कार्यकर्त्ता युवक था। विदेश में कुछ वर्ष रहा। हजारों रुपया मुझे वहां पढ़ने के लिये छात्रवृत्ति मिली। मैं वेद शास्त्र का ही विश्वासी था। विदेश में रहने से मेरा विचार एकदम बदल गया और मुझे तो अब निश्चय हो गया है कि संसार का जितना ज्ञान है वह अमेरिका, इङ्गलैण्ड आदि में ही है। मैं अपना भाग्य समझता हूं कि वेद-शास्त्र के चक्र से निकल आया। मैं तो सत्य का उपासक हूं; जो भी सत्य होगा, मैं उसे मानूंगा। हमारे वेद-शास्त्रों में कुछ नहीं। भारतीय संस्कृति, सभ्यता-साहित्य में कुछ नहीं रखा, यों ही अण्ट-सण्ट लिखा है। संसार उन्नत होकर बहुत आगे बढ़ चुका है। भारतवासी उसी प्राचीन वेद-शास्त्र को लिये जा रहे हैं। जिसमें कुछ भी नहीं। भौतिक उन्नति सुख और शान्ति का परम साधन है, इत्यादि-इत्यादि।'

आर्यसमाज के संपर्क में कुछ समय रहे इस व्यक्ति के विचारों को सुनकर प्रथम तो मैं कुछ देर स्तब्ध सा रहा, सोचने लगा कि इसको हो क्या गया है। अन्त में मैं पूछ बैठा, कहिए ! आप ईश्वर की सत्ता को तो मानते हैं, वा अनुभव करते हैं, या नहीं ? उसने कहा—मेरा ईश्वर

की सत्ता और कर्मवाद में विश्वास नहीं। जब उसने यह कहा, तब समझ में आ गया कि इन ऊलजलूल विचारों का कारण क्या है। जो व्यक्ति ईश्वर की सत्ता को ही अनुभव नहीं कर पाता, उसमें जिसकी आस्था नहीं, भला वह उसके (ईश्वर के) बनाये वेद में कैसे आस्था कर सकता है? अन्य शास्त्र और भारतीय संस्कृति के प्रति तो उसकी भावना हो ही कैसे सकती है। भौतिकोन्नति को देखकर बुद्धि भ्रान्त हो जाती है तो आध्यात्मिकता का कोई मूल्य उनको जंचता नहीं। ऐसे लोगों की बुद्धियां भ्रान्त होकर न जाने कितनी आत्माओं को मार्गच्युत कर देती हैं। विशेषकर उस अवस्था में जबकि वे शिक्षक होते हैं।

अंगरेजी और संस्कृत के पढ़े ही इस कोटि में आते हैं, सो बात नहीं। केवल संस्कृत के पढ़े भी जब ईश्वर में अनास्था करने लगते हैं, तो उन की भी यही दशा होती है; जो ऊपर वर्णित की गई है। इनके द्वारा जनता में वेद-शास्त्रों के प्रति और भी अनास्था उत्पन्न होती है। ऐसे व्यक्तियों में या तो वे होते हैं, जिनकी ज्ञानधारा वा संस्कार किन्हीं कारणों से विपरीत दिशा में बहने लगते हैं। उस विपरीत ज्ञान से वे तब तक विरत नहीं होते, जब तक उन्हें जीवन में कोई भारी धक्का नहीं लगता। या वे होते हैं, जिन्हें अपनी बुद्धि पर वहुत अधिक मात्रा में विश्वास होने लगता है, और वे समझने लगते हैं कि यह ईश्वर का न्याय क्या हुआ जो मूर्ख (बिना पढ़े और कम पढ़े) तो संसार में सुख पा रहे हैं, हम इतना परिश्रम करते हैं, हम दुःखी रहते हैं। वे भूल जाते हैं कि कर्मवाद के सिद्धान्त से सब को अपने कर्मों का यथावत् फल मिलता है। यह अवस्था मानव के ज्ञान से बाहर की वस्तु होती है। बहुत-सा दुःख तो मनुष्य अपने अज्ञान से, अपनी आवश्यकताओं को बढ़ा कर भी उत्पन्न कर लेता है। ऐसे व्यक्ति दुःखी होकर ईश्वर वा वेदशास्त्र के प्रति भी अनास्था के भाव प्रकट करने लग जाते हैं, जिसका मूल कारण उनकी अपनी निर्बलता होती है।

(३) तीसरी कोटि उनकी है, जिनकी ईश्वर कर्मवाद आदि में विश्वास वा आस्था तो है, पर कभी-कभी बुद्धि डगमगाने लगती है। इस अवस्था में कभी-कभी तो बहुत ऊंची भावनाएं उनके मन में उत्पन्न होती हैं; और कभी-कभी अस्त-व्यस्त विचार भी मन के सामने आने लगते हैं। इस कोटि के महानुभाव अपने को पूर्णप्रज्ञ समझने लग जाते हैं, यही भूल है। वे समझते हैं कि हम ही दूसरों को सिखा सकते हैं, कोई दूसरा हमें नहीं

सिखा सकता। अपनी भूल के लिये मार्जन भी रखना इन्हें इष्ट नहीं होता।

ऐसी अवस्था में इनके द्वारा की गई रिसर्च वा वेदविषयक धारणाएं इनके लिए ही हर्षदायक व लाभदायक हुआ करती है, संसार के लिए नहीं। ऐसे व्यक्ति जनता का सहयोग प्राप्त करने के लक्ष्य से या तो अपनी रिसर्च का विषय ही ऐसा वना लेते हैं, जिसमें सूचियां बनाना हो, या फिर गोलमाल लिखते रहते हैं, जिसमें दोनों प्रकार के बिचार जनता के सामने आते रहते हैं। साधारण जनता यह समझ भी नहीं पाती कि इनका अपना सिद्धान्त क्या है। ऐसे महानुभाव वेद-शास्त्र के विषय में जब अनास्था की बात करते हैं, तो जनता में क्षोभ होने लगता है। हमारी संस्थाओं में से निकलकर बहुत से नवयुवक भी इसी सरणि का अवलम्बन करने लगते हैं। उसमें हमारी भी कमी होती है, जो हम उन्हें अध्ययनकाल में पूरी सामग्री नहीं दे पाते। चाहे उसका कारण कुछ भी हो। हम इसमें किसी को दोषी व बुरा नहीं कहते, हमने तो वस्तुस्थिति का निर्देश किया है, जैसा देखने में आता है। हमें कहना यह है कि ऐसे महानुभावों की अनास्था का कारण भी ईश्वर-कर्मवाद आदि मूलभूत सिद्धान्तों में संदेह-संशय वा पूर्णास्था का अभाव ही होता है। हां! इस कोटि में ऐसे महानुभाव भी हैं जिन्हें ईश्वर पर विश्वास है, पर वेद को ईश्वर-ज्ञान न मानकर ऋषियों की कृति मानते हैं। ऐसा मानते हुए भी वे वेदों को वहुत अच्छी दृष्टि वा परम श्रद्धा से देखते हैं। उनमें उन्हें अनेक ऊंची भावनाएं मिलती हैं। मानवसमाज के लिये वे वेद को परम आवश्यक व परम साधन मानते हैं। ऐसे शुद्ध भावनापूर्ण महानुभावों का हमें सादर स्वागत करना चाहिये और उनकी उत्कृष्ट खोज वा दैवी ऊहा से लाभ उठाना चाहिये। निश्चय ही ऐसे महानुभावों की ईश्वर-विषयक वह धारणा नहीं, जो ऋषि दयानन्द की आर्यसमाज के दूसरे नियम में वर्णित है। ऐसे महानुभाव वेदशास्त्रों के प्रति कभी अनास्था की बात नहीं कहते, पर मूलाधार में संदेह होने से संशयात्मक तो बने रहते हैं।

(४) अब हम चौथी कोटि पर विचार करते हैं। यह कोटि भारत में उनकी है जो ६० प्रतिशत अनपढ़ और हिंदी भाषा तक से भी शून्य हैं। ऐसे लोगों को वेदशास्त्र में अनास्था हो, सो बात नहीं। हां, अज्ञान

अवश्य है, जिसके कारण उनकी आस्था में कमी है। इनको जिसने जब जैसा बता दिया, बस उसी को पकड़ लिया। बतानेवालों ने ठीक बता दिया तो ठीक समझ लिया, विपरीत बता दिया तो विपरीत मानने लगे। इतना तो है, ऐसे लोगों को वेदशास्त्रों के तथ्यों से अवगत करा दिया जावे, उन्हें इस विषय में निरन्तर शिक्षा दी जावे, तो सरल हृदय होने के कारण, ये उन तथ्यों को शीघ्र समझते हैं, ऐसा अनुभव से देखा गया है। श्वेत वस्त्र पर रंग अच्छा आता है, मलिन पर नहीं। ये लोग ईश्वर में आस्थावान् होने से शीघ्र समझ जाते हैं।

(५) पांचवीं कोटि हम उनकी समझते हैं, जो पठित हैं और जिन को ईश्वर-वेद-शास्त्र-कर्मवाद आदि वेदप्रतिपादित सिद्धान्तों पर पूर्ण विश्वास है। नई-नई शङ्काएं सामने आने पर इन्हें सन्देह होने लगता है। मेरे विचार में ऐसे महानुभावों के समाधान, सन्देहनिवृत्ति, वा आत्म-सन्तोष के लिये पूर्ण प्रयत्न करना हमारा परम कर्त्तव्य है। शेष कोटि के महानुभावों के प्रति भी हमें हार्दिक प्रेम, सहानुभूति और सद्भावना से ही उनकी आत्मशान्ति, सन्देहनिवृत्ति का यत्न करते रहना चाहिये।

वेद के प्रति सर्वसाधारण की अनास्था का एक बड़ा भारी कारण यह भी हो गया है कि जन्म-विवाह-मरण आदि के समय पर ही कुछ थोड़ा बहुत वेदशास्त्रों का स्वरूप परिवारों के सम्मुख आता है, वह भी नाममात्र ही और वह भी कभी-कभी ही। जो आता भी है, उसमें भी उन मन्त्रों से अर्थ व अभिप्राय का संस्कार आदि करानेवाले तक को कुछ पता नहीं होता, वह यजमान को बतावे क्या। यह भी कारण हुआ वेद शास्त्रों के प्रति सर्वसाधारण की अनास्था होने का। उनकी समझ में आवे तब तो कुछ आस्था उनमें उत्पन्न हो। जब कोरे बिना अर्थ के शब्दों का ही श्रवण हो, तो उससे जनता क्या समझ सकती है। और उससे जनता में आस्था पैदा भी कैसे हो सकती है।

इन विविध कोटियों के वर्णन का यहां इतना ही अभिप्राय है कि आर्य-समाज ने वेद का झण्डा उठाया है, इसके सामने इतने प्रकार की विचारधाराएं हैं, जिन्हें हमें सन्मार्ग पर लाना है, और वह भी सद्भावना प्रेम-आदर और हितसाधन की दृष्टि से।

ये हैं वेद के प्रति जनता में अनास्था होने के मुख्य कारण। अब हम यह दर्शाना चाहते हैं कि वर्त्तमान में देश में वेद के पठन-पाठन की स्थिति

क्या है। आर्थिक समस्या भी एक बड़ा कारण है। पर जो कर्त्तव्य वा धर्म समझकर वेद के अध्ययन की ओर प्रवृत्त होना चाहते हैं, वे भी वेद विषय को छोड़ अन्य विषयों में प्रवृत्त होते हैं। इस विषय की स्थिति भी सज्जनों के समक्ष रखना अनुचित न होगा।

वर्तमान में वेद का पठन-पाठन

काशी भारत में सबसे अधिक संस्कृत का केन्द्र समझा जाता रहा और इस समय भी समझा जाता है, जो ठीक ही है। लगभग एक सौ पचास वर्ष में जब से कि अष्टाध्यायी-महाभाष्य आदि आर्ष ग्रन्थों का पठन-पाठन देश से लुप्त हो गया और उलटे मार्ग पर ले चलनेवाले लघु-कौमुदी-सिद्धान्तकौमुदी आदि अनार्ष ग्रन्थ प्रवृत्त हो गये, तब से काशी में भी केवल व्याकरण प्रधान हो गया। पिछले वर्षों में १५००० छात्रों में १४००० केवल व्याकरण की ही परीक्षा देते रहे। शेष १००० छात्रों ने अन्य सब विषय में परीक्षा दी, जिनमें भी साहित्य में ९०० छात्र परीक्षा दिये होंगे। शेष १०० छात्रों में वेद-दर्शन-ज्योतिष-धर्म-शास्त्र तथा शेष सब विषयों में समझने चाहियें। अर्थात् ९५ प्रतिशत छात्र व्याकरण ही पढ़ते हैं। १९५१ में काशी की परीक्षाओं में लगभग १०,००० छात्रों में केवल २७ छात्रों ने मध्यमा शास्त्री आचार्य की वेदविषय में परीक्षा दी, जिसमें आचार्य में तीन छात्र ही बैठे। वेद-नैरुक्त-प्रक्रिया में सब मिलाकर सात छात्र बैठे। इस प्रकार प्रति सहस्र केवल ३ छात्र वेदविषय में बैठे, ऐसा ही कहना पड़ेगा। यह है वेदाध्ययन की वर्तमान स्थिति, जो संस्कृत विद्यालयों में वर्त्तमान में चल रही है।

काशी की विशेष घटना

इस समय काशी में कुछ एक को छोड़कर विद्वानों में प्रत्येक विषय का पठन-पाठन पिछले तीस वर्ष में अत्यन्त ही निर्बल हो रहा है। व्याकरण यहां प्रधान है और वह भी उनके ढंग से विनष्ट हो रहा है। जब से भारत के व्याकरण के सूर्य स्व० पूज्य० पं० देवनारायण तिवारी जी का निधन हुआ है, तब से काशी में एक दो विद्वानों को छोड़कर पातञ्जल महाभाष्य के पढ़ानेवाले विद्वान् लुप्त हो गये। अन्य दर्शन आदि विषयों में भी प्रायः यही अवस्था है। काशी की एक मनोरञ्जक (पर दुःख-प्रद) घटना यहां उपस्थित करते हैं। गवर्मेण्टसंस्कृतकालेज में एकबार एक पण्डित जी की नियुक्ति की घोषणा सरकारी गजट द्वारा हुई। लगभग तीन चार सौ प्रार्थनापत्र आये। जब इण्टरव्यू (साक्षात् परीक्षण) के

लिये बुलाये गए, तो उनमें जो विद्वान् आये, उनमें से काशी के एक विद्वान् भी थे, जो अच्छे विद्वान् समझे जाते थे। निरुक्त का विषय उन्हें पढ़ाना था। जब पब्लिक सर्विस कमीशन में बैठे विद्वानों ने उनसे प्रश्न किया—

प्रश्न—कहिये पण्डितजी ! आप निरुक्त पढ़ा सकते हैं ?

उत्तर—जी हां ! पढ़ा सकता हूं।

प्रश्न—आप ने निरुक्त कहां पढ़ा है ?

उत्तर—पढ़ा तो नहीं।

प्रश्न—क्या आपने देखा है कि यह कितना बड़ा ग्रन्थ है ?

उत्तर—नहीं ! देखा भी नहीं।

सज्जनों ! आप विचारें कि जब एक व्यक्ति ने किसी ग्रन्थ को देखा तक नहीं, तो वह उसे भला पढ़ायेगा क्या ? काशी की यह दोषपूर्ण प्रथा है कि विद्यार्थी जिस किसी विद्वान् के पास किसी विषय का भी ग्रन्थ ले जाता है—चाहे वह उसके विषय में कुछ भी न जानता हो, पढ़ा भी न हो, नहीं-नहीं, चाहे उसने उस ग्रन्थ को देखा भी न हो—वह पढ़ाने का मिथ्या प्रपंच अवश्य करेगा। इतना भी नहीं कि वह कह दे कि अच्छा मैं इस ग्रन्थ को पांच-सात दिन देख लूं, पीछे पढ़ाऊंगा। यह बात हमने पूज्य तिवारीजी में देखी। वह जो बात पढ़ाते समय भी अपने को ही सन्दिग्ध प्रतीत हुई, झट कह देते थे कि अच्छा इसे कल विचार कर कहेंगे। काशी के एक महामहोपाध्याय वेदाचार्य ने निरुक्त में आये हुए मन्त्र 'उताधीतं विनश्यति' इसका अर्थ 'पढ़ा लिखा भूल जाता है' ऐसा पढ़ाया, जिसका वास्तविक अर्थ यह है कि मनुष्य का चित्त चंचल होने से उसकी अच्छी प्रकार से सोची हुई बात भी कालान्तर में बदल जाती है, दूसरे के चित्त का क्या ठिकाना कि कब बदल जावे।

इतने से ही सज्जन समझ सकते हैं कि जब निरुक्त का दर्शन नहीं तो वेद का अर्थ करने या वेद के सम्बन्ध में बताने की बात तो दूर रही। काशी में प्रायः ऐसा ही है। केवल मूल वेदाध्ययन करनेवाले भी वर्त्तमान में आर्थिक कठिनाइयों से त्रस्त होकर अपने पुत्रों को अंग्रेजी शिक्षा में लगा रहे हैं। पण्डितों के पुत्र संस्कृत छोड़ अंग्रेजी पढ़ने में लग रहे हैं जो अति शोचनीय है।

प्राचीन संस्कृति-प्रेमी भारतीयों के सामने यह बहुत बड़ी समस्या

उपस्थित है। राज्य की ओर से जब तक वेद वा संस्कृत का संरक्षण न होगा, काम न चलेगा। इस बात को असेम्बलियों में बड़े बलपूर्वक उपस्थित करना होगा।

हमारा कहना इतना ही है कि वर्त्तमान में वेद के अध्ययन अध्यापन की अवस्था कहां तक ह्रास को प्राप्त हो चुकी है। काशी जैसे विद्या-स्थान में यह हाल है तो अन्यत्र का तो कहना ही क्या? जो लोग यह कहते हैं कि सर्वसाधारण में वेदाध्ययन कभी नहीं रहा, उनकी जानकारी के लिये हम दर्शाते हैं:—

रामायण बालकाण्ड सर्ग १८ में लिखा है—

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे लोकहिते रताः।
ते चापि मनुजव्याघ्रा वैदिकाध्ययने रताः॥

इससे स्पष्ट है कि वेदाध्ययन की परम्परा उस काल में विद्यमान थी। महाभारत द्रोणपर्व ७-१ तथा वनपर्व ५८-७० में लिखा है—

'वेद षडङ्गं वेदाहं ···।' 'योऽधीते चतुरो वेदान्॥'

अर्थात् 'मैं षडङ्ग वेद को जानता हूं'। जो चारों 'वेदों' का अध्ययन करता है। इन वचनों से स्पष्ट है कि उस समय वेद का अध्ययन सर्व साधारण में होता था। अब नहीं हो सकता सो बात नहीं। राज्य-व्यवस्थ द्वारा ही ऐसे कार्य सम्पन्न हुआ करते हैं, ऐसी अवस्था हमें लानी होगी।

जिस आर्यसमाज ने वेद का पढ़ना, पढ़ाना, सुनना सुनाना परम धर्म माना है, जिसका लक्ष्य संसार में 'वेद का प्रचार करना है' वह भी वर्त्तमान में कहां तक और किस प्रकार प्रवाह में वह रहा है, जिससे आर्यसमाज की रक्षा करना प्रत्येक वैदिक धर्मी आर्यपुरुष का कर्त्तव्य है। अब हम इस विषय में अपने विचार उपस्थित करते हैं—

आर्यसमाज की संस्थाओं में आजकल वेद का पठन-पाठन

स्कूल-कालेजों में धर्मशिक्षा का घण्टा रहता था, वह भी समाप्त हुआ। जबसे कांग्रेस सरकार आयी, उसने धर्म का नाम काट (तिलाञ्जलि) ही दिया। इतना भी नहीं सोचा, या सोचने का यत्न किया कि भला वेद किस देश या जाति की बपौती हैं। वेद में कोई बात

ऐसी नहीं, जो किसी जाति या देश के विरोध में हो।! हां देव और असुरों का वर्णन अवश्य है। देव भले मनुष्यों को कहते हैं, असुर पापी अत्याचारी परपीडन करनेवालों को कहते हैं, जो कोई भी हों, जहां कहीं भी हों। किन्हीं देश-विशेष या जातिविशेष के साथ इन शब्दों का सम्बन्ध नहीं। सार्वभौमिक नियमों का नाम धर्म है, जिसका कोई विरोधी नहीं। यह बात सरकार को क्यों नहीं बताई जाती? आर्य-समाज को साम्प्रदायिक कहना सर्वथा मिथ्या है। हमारी संस्थायें जो पहले अंग्रेजी सरकार की कृपा पर जीवित रहती थीं, अब इन्होंने कांग्रेस सरकार को अपना जीवन का आधार वना लिया है। राज्य की सहायता के बिना इनका निर्वाह नहीं। इन्होंने अपने इन कांग्रेसी प्रभुओं को उनके कहने से पहले ही धर्मशिक्षा की घण्टी निकाल दी! हां! अभी दयानन्द या आर्य शब्द को नहीं निकाला, सो भी आगे निकलता ही दिखाई देता है। कह तो यह रहे थे कि इनमें धर्मशिक्षा की घण्टी भी प्रायः लुप्त हो गई। उनमें सन्ध्या वा हवन के मन्त्र तो बच्चों को सिखा देते थे और नहीं तो वेद कितने हैं, चार हैं। कौन-कौन से?—ऋग्वेद, यजुर्वेद, साम-वेद, अथर्ववेद। चलो वेदों के नाम तो बच्चों को आ जाते थे। सो भी गये। अच्छा देश स्वतन्त्र हुआ!!!

सो इस प्रकार प्राईमरी, मिडिल, हाईस्कूल, इण्टर, बी०ए०, एम० ए० के स्कूलों और कालेजों से चाहे वे पुत्रों के हो या पुत्रियों के, वेद का नाम गया। हां एम०ए० में संस्कृत लेनेवालों को कुछ नाममात्र वेद पढ़ाया जाता है। सो उनमें भी वही सायण और उनके अंग्रेजी अनुवादों के आधार पर पढ़ाया जाता है। जिससे आर्य-परिवार के दृढ़ विचार का युवक भी (ठीक अर्थ की व्यवस्था न होने और उक्त ग्रन्थ ही पढ़ाई में होने के कारण, क्योंकि आर्यसमाज ने तो अभी कोई ग्रन्थ वेद-विषयक तैयार नहीं कराया) पथ-विचलित हो जाता है।

अब ले-देकर हमारे गुरुकुल हैं जो इस दिशा में बहुत-कुछ यत्न कर रहे हैं। संसार का प्रवाह इतना प्रबल है कि इनमें भी अब वेद-शिरोमणि या वेद-वाचस्पति या वेदभास्कर प्रतिवर्ष एक-दो ही बनते होंगे। स्वर्गीय महात्मा स्वा० श्रद्धानन्दजी महाराज के समय में जो बन गये सो बन गये। अब तो आयुर्वेद की ही प्रधानता हो रही है। वेद के नाम पर स्था-पित की गई हमारी इन संस्थाओं की यह अवस्था आर्यसमाज के लिये

विचार का विषय बन रही है। वहां के आचार्य चाहते हुये भी अपनी विवशता ही प्रकट करते हैं। अर्थात् वेदवालों को वृत्ति देने पर भी छात्र वेदविषय न लेकर आयुर्वेद ही प्रायः लेते हैं जबकि आयुर्वेद विषय में वृत्तियां भी नहीं दी जातीं। अब आर्य जनता को यह बात विचारनी होगी।

यह हमारा कहना है। वेद के अध्ययन-अध्यापन की मुख्यता हमें लानी ही होगी, जिसके लिये आर्य-जनता आशा लगाये बैठी है। वेद विशय को प्रौढ़ता पूर्वक पढ़ाने की व्यवस्था करनी होगी और ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की दृष्टि से वैदिक साहित्य की खोज और विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों की रचना करनी-करानी होगी।

वेद-सम्मेलन को इस विषय में गम्भीरता पूर्वक विचार करना होगा।

वेद-सम्बन्धी कार्य की महती आवश्यकता

हमारे उपर्युक्त सब लिखने का अभिप्राय इतना ही है कि आर्यसमाज को वेद के लिये बहुत कुछ कार्य करना होगा। पौराणिकों ने तो वेद को केकल यज्ञपरक कहकर छुट्टी पा ली, पर आर्यसमाज ऐसा नहीं कर सकता। क्योंकि आर्यसमाज ने तो 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है', की घोषणा की हुई है, जिसके लिये वह मनु के 'सर्वज्ञानमयो हि सः' वेद सब ज्ञान का भण्डार है, यह प्रमाण उपस्थित करता है। सर्वविध-ज्ञान का भण्डार है, इस बात को वर्त्तमान प्रत्यक्षवादी संसार के सामने प्रमाणित करना वा हृदय में बिठा देना कितना महान् कार्य है, जो आर्यसमाज के सामने है। इस कार्य में सैकड़ों त्यागी आत्माओं की आहुति पड़े, विपुल साधन जुटें, और सुदीर्घ काल तक व्यवस्था बने, तब कहीं आर्यसमाज का यह स्वप्न पूरा हो सकता है। हमें तो यह कार्य असम्भव प्रतीत नहीं होता, हां, घोर तप त्याग और परिश्रमसाध्य प्रतीत होता है। आवश्यकता है कि पचास योग्य विद्वानों को सर्वथा निश्चिन्त कर दिया जावे और उनको एक साथ कम से कम बीस वर्ष के लिये ग्रन्थ आदि सर्वसामग्री सहित एक मकान में बिठाने की व्यवस्था की जावे। इसका प्रारम्भ दस वर्ष के लिये दस विद्वानों को एक स्थान में पूरे पुस्तक संग्रह आदि साधनों सहित बिठाया जावे। कार्य की रूपरेखा पहले अति गम्भीरता से सोचनी होगी, विद्वान् भी वही लेने होंगे, जिन

की वेदविषय में पूर्णनिष्ठा, उत्कृष्ट मेधा और तीव्र रुचि वा गति हो। किन्हीं व्यक्तियों की जीविका का प्रबन्ध कर देना मात्र ही लक्ष्य न हो। योग्यतम व्यक्तियों को लगाया जावे, जो परस्पर एक-दूसरे के सहयोगी और एक-दूसरे के विद्याज्ञान को बढ़ाने की भावनावाले हों। यदि ५० विद्वानों का प्रबन्ध हो, तब विज्ञानादि सभी आवश्यक विषयों के विशेषज्ञ भी लिये जा सकते हैं। दस विद्वानों के लिये दस वर्ष तक पांच लाख रुपये से काम चल सकता है, आगे फिर बढ़ाया भी जा सकता है। क्या आर्य-पुरुष ५ लाख का भी प्रबन्ध नहीं कर सकते?

वेदसम्मेलन के स्थायी संगठन की आवश्यकता

हमारा विचार है कि यदि आर्य विद्वान् वेदविषयक समस्याओं के हल करने, तथा परस्पर एक-दूसरे से वेद-सम्बन्धी भिन्न-भिन्न दृष्टियों को लेने तथा इसकी कमी उससे पूरी हुई, और उसकी इससे, इस भावना से, अधिक नहीं तो, वर्ष में दो बार भी, एकत्रित हो परस्पर सहयोग द्वारा कार्य आरम्भ करें, और प्रतिवर्ष नहीं तो हर दो वर्ष पीछे वेद के गहन विषयों पर तैय्यारी करके लेख लिखें। कोई न कोई गहरी और नवीन खोज विद्वानों के सामने लावें और इसको स्थायी रूप देवें तो वेद के उपर्युक्त महान् और पवित्र कार्य की ओर हमारा यह प्रथम पग होगा। आगे किसी बड़ी योजना को चलाने में भी हम समर्थ हो सकेंगे। सहयोग की भावना इसका मुख्य परीक्षण है। मैं तो यहां तक भी कहता हूं कि यदि खूंटा एक हो तो नौकायें घूम-फिर कर भी एक स्थान पर आ सकती हैं। कार्य का विभाग कर लिया जावे। जिन-जिन का परस्पर सहयोग मनोयोग है वा हो सकता है, वे एक विभाग का कार्य अपने ऊपर ले लें। दूसरे दूसरा ले लें। यदि वे कोई उपयोगी कार्य करेंगे, जो किसी भी प्रकार की कमी को पूरा करता होगा तो भला उसे कौन न चाहेगा। विषमता तो तब होती है जब हम कुछ न करते हुए एक-दूसरे को नीचा दिखाने के लिये चेष्टा करने लगते हैं। हम एक लकीर (पंक्ति) को मिटाकर छोटा करने के स्थान में अपनी योग्यता वा परिश्रम से उस से बड़ी लकीर (पंक्ति) खींच दें, वह स्वयं छोटी हो जायेगी। यदि हमारे व्यवहार में सत्यता, सद्भावना नहीं तो हम अपने कार्य में सफल नहीं हो सकते। कागज की नौका सदा नहीं चलती। जनता हमारे कार्य-कलापों से ही हमारे विषय में अपनी धारणा बनायेगी, लम्बी-चौड़ी

बातों वा हमारे दावों से ही नहीं। जनता जान लेती है कौन कैसा है। चाहें वह लोक-लाज से वा व्यर्थ झगड़े में क्यों पड़ा जावे, इस विचार से कोई बात न कहे, पर जनता जो जैसा है उसे खूब जानती है। जो ऐसा नहीं समझता वह स्वयं अपने को धोखे में रख रहा है। हम एक दूसरे का सम्मान नहीं करेंगे, एक-दूसरे के प्रति शुद्ध भावना रखते हुए प्रवृत्त न होंगे, तो कोई भी कार्य हम कैसे कर सकेंगे। सिद्धान्त विषय में हम जब ऋषि दयानन्द को प्रमाण मानकर चलेंगे और साथ ही अपनी सम्मति को अन्तिम सत्य न समझकर उसमें मार्जन रखेंगे, तो किसी भी प्रकार की विषमता उत्पन्न नहीं हो सकती। विषमता उत्पन्न करना ही ध्येय हो तो दूसरी बात है।

इन भावों से प्रेरित होकर हमें वेद-सम्मेलन को एक स्थायी सङ्गठन का रूप देना चाहिये। तभी वेदविषय में किसी भी प्रकार की उन्नति का सम्भव वा प्रारम्भ हो सकता है। ऐसे सङ्गठन की आवश्यकता को प्रत्येक आर्य विद्वान् ही नहीं, सर्वसाधारण भी स्वीकार करता है और करेगा।

क्या आर्यसमाज में विद्वान् नहीं ?

मैं यह बात नहीं मान सकता। क्योंकि मैं जानता हूं आर्यसमाज से बाहर काशी आदि में विद्वानों की क्या स्थिति है। आर्यसमाज में कुछ विद्वान् तो निस्सन्देह उच्च कोटि के हैं, चाहे उनकी संख्या थोड़ी ही हो। अपनी-अपनी दृष्टि से वेद-सम्बन्धी स्वाध्याय, अनुशीलन और गम्भीर विचार में लगे रहनेवालों की संख्या कम नहीं है। बहुत से तो ऐसे छिपे रत्न हैं, जिनको हमलोग वा आर्यजनता जानती भी नहीं। कभी-कभी ऐसे योग्य महानुभावों के दर्शन होने पर बड़ी प्रसन्नता होती है। १९५१ में वेदसम्मेलन मेरठ के लिये मैंने गाड़ी में चलते-चलते जब आर्यसमाज के वेद-विषय के विद्वानों की सूची केवल अपनी स्मृति से तय्यार की, तो १२० के लगभग संख्या पहुंची, जिसमें निश्चय ही बहुत से नाम छूट गये होंगे। उनमें से कई एक तो अपने-अपने विषय के प्रौढ़ विद्वान् हैं। मेरा तो यहां तक अनुभव और विचार है कि किसी को छोटा मत समझो, न जाने किस समय किस को क्या बात सूझ जावे, कोई नहीं कह सकता। अतः किसी का निरादर मत करो। उसकी बात को सुनो। जो ग्राह्य हो सो ले लो, शेष छोड़ दो। इस आदान-प्रदान प्रक्रिया से ही विद्या बढ़

सकती है। आर्यसमाज में विद्वानों की कमी नहीं यह मैंने बताया। अब मैं केवल उन विद्वानों के नाम उपस्थित करता हूं, जिन्हें यदि अनुकूल स्थान, निर्वाह, पुस्तकालय आदि की सुविधा दी जावे और उनकी आवश्यतकता के अनुसार प्रबन्ध करके, परिवार की चिन्ताओं से मुक्त कर दिया जावे, और कम-से-कम ५ वर्ष के लिये ही—स्वयं स्वीकृत कारागर में रख दिया जावे और वह अपना-अपना कार्य विद्वानों की समिति के ही समक्ष उपस्थित करें तो ५ ही वर्ष में न जाने कितना कार्य हो जावे।

यहां मैं उन विद्वानों के नाम उपस्थित करता हूं जो निजी रूप से अपनी पूरी शक्ति से अपने-अपने ढंग से कार्य में लगे हैं। चाहे वह मुख्यतया जीविकोपार्जनार्थ हो वा दूसरे प्रकार का हो, जिनकी शक्ति का बहुस-सा भाग ठीक व्यवस्था न होने के कारण व्यर्थ जा रहा है, उनमें श्री पं० ईश्वरचन्द्रजी दर्शनाचार्य्य बम्बई में जैनियों के यहां पढ़कर अपना जीविकोपार्जन करते हैं। यदि ऐसे विद्वान् वैदिक साहित्य के कार्य में लगें, तो कितना महान् कार्य हो। श्री पं० उदयवीरजी शास्त्री हैं, जो चाहते तो वैद्यक द्वारा सैकड़ों रुपया प्रति मास कमा सकते थे (किसी को बिच्छू लड़ता है और किसी को सांप, इन को वेद लड़ गया हुआ है)। क्या ऐसे विद्वान् ढूंढने से भी मिल सकते हैं। श्री पं० चन्द्रमणिजी वेद के विषय में महान् कार्य कर सकते थे, पर पहले ट्रङ्कों की दूकान खोली, पीछे छापेखाने के चक्कर में पड़ गये। देखें, कब छूटते हैं? श्री पं० बुद्धदेवजी विद्यालङ्कार जैसे महाविद्वान् भला एक छोटा-सा आश्रम चलाने के लिये धन मांगते फिरें, क्या यह हम सब के दुर्भाग्य और लज्जा की बात नहीं है? भला यह क्यों अपना समय नष्ट करें, एक जगह बैठकर वेद की समस्याएं हल करने में ही समय लगावें। इनकी ऊहा (यदि ठीक चलती रहे) अत्यन्त उपयोगी हो सकती है। श्री० पं० भगवद्दत्तजी जैसा अद्भुत प्राचीन संस्कृति और इतिहास का मर्मज्ञ भारत में स्यात् ही कोई हो। डी० ए० वी० कालेज की पूरी लाइब्रेरी इन्होंने ही बनाई, जो पीछे इनसे छीन ली गई। इस वीर-पुरुष ने अपने स्वाध्याय को नहीं छोड़ा लाइब्रेरी छिन जाने पर भी। इतना ही नहीं पाकिस्तान में आपकी प्रायः बहुमूल्य पुस्तकें रह गईं। एक व्यक्ति इतना बड़ा सङ्कट आने पर भी अपने स्वाध्याय को चालू रख सकता है, यह देखकर मैं तो स्तब्ध रह जाता हूं। मेरी पुस्तकें रह जातीं तो मैं तो सम्भव है पुस्तकें छूता भी न। इनकी वैदिक साहित्य

की दृष्टियां इतनी गम्भीर और मूल्यवती होती हैं कि यदि हमारे आर्य-विद्वान् उन दृष्टिकोणों को इनसे लेने का यत्न करें तो उनके स्वाध्याय में चार चांद लगेंगे। इसमें आशा ही नहीं अपितु दृढ़ निश्चय है। यह भी स्वयं स्वबल पर ही तो वैदिकसाहित्य का इतना बड़ा कार्य कर रहे हैं।

श्री पं० अयोध्याप्रसाद जी अद्भुत शक्ति हैं, इनकी विद्या-त्याग-तपस्या का क्या ठिकाना है। श्री पं० विश्वनाथजी की सारी आयु वेद और वैदिक साहित्य के अनुशीलन वा अध्यापनादि में व्यतीत हुई। चाहते तो ये भी मन्त्री बन सकते थे। कहां तक कहा जावे—श्री स्वा० ब्रह्ममुनिजी—पं० शङ्करदेवजी—पं० वैद्यनाथ जी शास्त्री—पं० बुद्धदेवजी मीरपुरी—स्वा० भूमानन्दजी—श्री शिवस्वामीजी—प० विद्यानन्दजी विदेह—पं० इन्द्रदेवजी आदि-आदि एक से एक बढ़कर विद्वद्रत्न हमारे में हैं, जो अपने-ढङ्ग पर वेद का अनुशीलन वा कार्य कर रहे हैं। इनसे अतिरिक्त (जिनकी संख्या १००-१२५ तक पहुंचती है) बहुत से विद्वान् आर्यसमाज में वेदविषय में लगे हैं (जिनके विषय में लिखने लगें तो एक ग्रन्थ बन जावे)। मैंने तो ऊपर केवल कुछ विद्वानों के नाम गिनाए जो निजी रूप में, जीविका-व्यवस्था न होने पर भी, वेदसम्बन्धी कार्य में लगे हुए हैं। जिनमें कुछ को छोड़कर, सबके लिये वेदसम्बन्धी महान् कार्य की एक कोई उत्तम व्यवस्था की जानी चाहिये, जो एक प्रकार खाली से हैं। क्या आर्यसमाज में ५ लाख रुपये भी लगा सकनेवाला कोई नहीं है?

कहने का तात्पर्य हमारा यही है कि हमें अपने विद्वानों से कार्य लेने का कोई क्रम बनाना चाहिये। मैं कह सकता हूं, यदि अवसर दिया जावे तो आर्यविद्वान् भारत का राज्य भी चला सकते हैं। इन गान्धी-टोपी वालों की जगह एक वार इनकी नियुक्ति करके देखा जा सकता है। इतना तो मुझे विश्वास है कि वर्तमान मिनिस्टरों से तो ये पीछे कभी नहीं रहेंगे। आजकल तो कुर्सी पर बैठकर ही बुद्धि आ जाती है, यही पिछले ६ वर्ष का अनुभव बतलाता है। पर वेद-कार्य उससे कहीं महत्त्व का है, हमें तो वह करना है।

वेदसम्मेलन की स्थायी योजना

उद्देश्य—वेदसम्बन्धी अनुशीलन-खोज तथा साहित्य का निर्माण।

कर्तव्य (क) १. वेदसम्मेलन अखिल भारतवर्षीय, तथा तत्तत्-प्रान्तों में प्रतिवर्ष वा प्रति दो वर्ष पीछे चलाना।

२. इस कार्य के सञ्चालनार्थ सदस्यों की नियुक्ति, प्रतिनिधियों वा कार्यकारिणी की व्यवस्था करना ।

३. विद्वानों से लेखों का प्राप्त करना, उन पर विचार करना और पीछे प्रकाशित करना ।

४. उक्त सब कार्यों के लिये आर्थिक प्रबन्ध करना।

५. आर्यसमाज की ओर से वेद तथा ऋषिग्रन्थों की उच्च परीक्षायें चलाना ।

(ख) १. आर्यसमाज की संस्थाओं में वेद और ऋषि-ग्रन्थों को पाठ्यक्रम में उचित रीति से रखवाने का विशेष प्रयास करना और इस के लिये उपयुक्त ग्रन्थों का निर्माण भी कराना।

२. भारत के भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों में ऋषिदयानन्दकृत वेद-भाष्य, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा आर्यसमाज वा आर्यविद्वानों द्वारा प्रकाशित अन्य ग्रन्थों को पाठ्यक्रम में रखवाना।

३. पारितोषिकादि द्वारा वैदिक साहित्य के निर्माण का प्रयत्न करना।

४. सब आर्यसमाजों में तथा पुत्र-पुत्रियों के विद्यालयों में संस्कृत के पठन-पाठन की सरल उपाय द्वारा व्यवस्था करना। इसके लिये देश के भिन्न-भिन्न नगरों में समय-समय पर संस्कृत-शिविरों की स्थायी व्य-वस्था करना।

५. एम० ए० और बी० ए० शास्त्री, आचार्य आदि परीक्षाओं में पढ़ाये जानेवाले वेदसम्बन्धी पाठ्यक्रम की पुस्तकों का निर्माण ऋषि दयानन्द की दृष्टि से तय्यार कराना ।

६. इतिहास, आर्यभाषा आदि में जिन-जिन पाठ्यपुस्तकों में वैदिक सिद्धान्त, भारतीय संस्कृति और भारतीय इतिहास के विरुद्ध बातें पढ़ाई जाती हैं, उन्हें पाठ्यक्रम से निकलवाने का पूरा प्रबन्ध करना ।

७. इसके लिये सम्मेलन की ओर से एक स्थायी विद्वत्-समिति तीन या पांच विद्वानों की नियुक्ति करना।

सदस्य – १. आर्यसमाज के १० नियमों, ५१ सिद्धान्तों को ऋषि दयानन्दकृत ग्रन्थों में की गई उनकी व्याख्या को प्रमाण माननेवाले सज्जन ही, जिनकी आयु २५ वर्ष से अधिक हो, इस वेदसम्मेलन के सदस्य हो सकेंगे।

२. उपर्युक्त रीति से ऋषि दयानन्द को आप्त मानते हुए किन्हीं विषयों वा सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कोई भी सदस्य विचारार्थ पूर्वपक्ष रख सकता है। उस पर प्रेमपूर्वक विचार किया जावेगा।

३. ईश्वर-वेद अपौरुषेयवाद—ऋषियों को आप्त प्रमाण न मानने वाले महानुभाव इस वेदसम्मेलन के सदस्य न हो सकेंगे।

४. वेद में पूर्ण श्रद्धावान् और वेद को ऋषियों की कृति मानता हो, वह इस सम्मेलन का सहायक सदस्य हो सकता है। ऐसे विद्वान् का अविरोधी लेख सम्मेलन की स्वीकृति से पढ़ा जा सकता है। ऐसा लेख अन्त में पढ़ा जायगा। सम्मेलन की स्वीकृति से ऐसा लेख छापा भी जा सकेगा।

५. सम्मेलन विशेष शास्त्रीय विषय के गम्भीर विचारार्थ आवश्यकता पढ़ने पर भारत के सब प्रान्तों से विद्वानों को भी बुला सकेगा, जो आर्यसमाज के क्षेत्र से बाहर होंगे।

६. हर एक जिले से समाजों वा संस्थाओं की ओर से कम से कम दो विद्वान् प्रतिनिधि रहें। उनका मार्ग-व्यय जिला समाज वा उक्त संस्थाएं दें। आर्यप्रतिनिधि सभाओं—सार्वदेशिक सभा--तथा परोपकारिणी सभा के दो-दो प्रतिनिधि रहें। जिला समाजों वा संस्थाओं से दो-दो प्रतिनिधि रहें। दस विद्वान् विशेष निमन्त्रित हों। सब विद्वानों को अपने-अपने यहां से मार्ग-व्यय अवश्य मिले। उक्त विशिष्ट विद्वानों को जो कहीं से प्रतिनिधि न हों, सम्मेलन की ओर से मार्ग-व्यय दिया जावे।

७. सदस्य शुल्क ५) रु० हो।

८. सम्मेलन कम से कम ७ दिन हो। जिसमें एक-एक दिन में एक-एक विशेष विषय पर विचार हो। (१) वेद (२) वेदाङ्ग (३) दर्शन (४) आयुर्वेद (५) विज्ञान (६) इतिहासादि ये विषय रहें।

इन सब विषयों के सभापति पृथक्-पृथक् रहें। सामान्य सभापति भी रहे।

९. सम्मेलन कम से कम हर दो वर्ष पीछे हो। आगामी सम्मेलन का स्थान, तिथियों तथा सभापति का निश्चय सम्मेलन की समाप्ति में ही हो जाया करे।

लेखों-सम्बन्धी व्यवस्था

(१) लेखक मौलिक-वेदार्थ वा वैदिक साहित्य अर्थात् वेदाङ्ग

उपाङ्गादि सम्बन्धी किसी समस्या का हल करनेवाले, पूर्व अप्रकाशित, नवीन अनुसन्धान से पूर्ण होने चाहियें ।

(२) सब लेखों का संक्षेप संयोजक के पास सम्मेलन की तिथियों से तीन मास पूर्व पहुंच जाय । वह उस-उस विषय के आगामी मनोनीत सभापति के पास अपनी सम्मति सहित भेज दें । वह उसे पढ़कर स्वीकृति दें । यदि कोई लेख योग्यतापूर्ण न समझा जाय तो उसकी स्वीकृति नहीं दी जायगी । संक्षेप लेख सब छापकर सब विद्वानों के पास (जिनकी सूची बनी रहेगी) एक मास पूर्व भेज दिये जायंगे । ताकि वह उस-उस विषय को विचार कर आ सकें ।

(३) सम्पूर्ण लेख सम्मेलन की तिथियों से १५ दिन पूर्व अवश्य पहुंच जावें । यदि कोई विद्वान् अनिवार्य कारण से स्वयं न पहुंच सकें तो उसके लेख किसी अन्य विद्वान् द्वारा सम्मेलन में पढ़ दिये जावें ।

(४) सम्मेलन में प्रत्येक लेख के पढ़ने के पीछे उस पर आलोचना प्रत्यालोचना आध घण्टे से एक घण्टे तक हो सकती है । आवश्यक समझने पर सभापति इसमें न्यूनाधिकता भी कर सकते हैं ।

आलोचना-प्रत्यालोचना के पश्चात् यदि लेखक अपने लेख में कोई परिवर्तन करना चाहें तो वह परिशिष्ट रूप में लिखा जा सकता है ।

(५) सम्मेलन में पढ़े गये लेख प्रकाशित होंगे ।

(६) ५) देने वाले सदस्यों को ये प्रकाशन विना मूल्य दिये जावेंगे ।

(७) प्रत्येक लेख सम्मेलन में पढ़ने योग्य है या नहीं, इसका निर्णय संयोजक सभापति तथा एक अन्य विद्वान् (जिसकी नियुक्ति सम्मेलन द्वारा होगी) करेंगे ।

(८) हर लेखक को अपने लेख की २० प्रतियां दी जावेंगी ।

(९) सदस्यों से अतिरिक्त को भी प्रकाशन मूल्य पर मिल सकेंगे ।

ओरियण्टल कान्फ्रेन्स और वेदसम्मेलन में भेद

कुछ सज्जनों को यह भी विचार हो सकता है कि जब देश में ओरियन्टल-कान्फ्रेन्स अंग्रेजी राज्य से ही होती चली आ रही है, उसमें वेद-विभाग भी हैं, जिसमें वेद के सम्बन्ध में निबन्ध पढ़े जाते हैं । उन पर विचार होता है, और लेख छापे जाते हैं, उनका सारांश कान्फ्रेन्स से

पहले विद्वानों के पास भेजा जाता है। नये वेदसम्मेलन की क्या आवश्यकता है ?

यह ओरियण्टल कान्फ्रेंस अंगरेजी राज्य में प्रान्तों के गवर्नरों के सभापतित्व में होती थी, जिसमें प्रान्तीय सरकार उसका सारा व्यय-भार उठाती थी। राजाओं धनीमानियों से भी गवर्नरों कलक्टर आदि द्वारा पर्याप्त धन सहायतार्थ लिया जाता था। सब प्रान्तीय सरकारों की ओर से भी सम्भवतः दो-दो हजार रुपये प्रति अधिवेशन मिलता था। उसमें विदेशों से तथा समस्त भारत के अंगरेजी पढ़े लिखे संस्कृत विद्वान् स्कालर प्रान्तीय सरकारों वा स्व-स्व यूनिवर्सिटियों वा कालेजों की ओर से प्रतिनिधि होकर आते थे। जिनका मार्ग आदि का व्यय उन-उनकी ओर से दिया जाता था।

अब भी ओरियण्टल कान्फ्रेन्स का ढंग लगभग वैसा ही चल रहा है, बहुत से अपने पास से भी व्यय करके आते थे और अब भी आते हैं।

ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के सिद्धान्तों और मन्तव्यों को देखते हुए ओरियण्टल कान्फ्रेन्स में प्रायः सब लेख पूर्वपक्ष के ही होते हैं। जिन के समाधान का भार भी आर्यसमाज पर है।

ऐसी अवस्था में जब तक आर्यविद्वान् पहले सम्मेलन द्वारा अपने सिद्धान्तों में परस्पर सहयोग एकमत न हो जावें, वा सिद्धान्त उत्तर के लिये परस्पर मिलकर शक्ति का सम्पादन न कर लें, उन्हें सफलता कदापि न होगी, समाधान ठीक रीति से न दे सकेंगे। अतः आर्य विद्वानों को पहले एक-दूसरे की योग्यता बढ़ाने और एक-दूसरे से ग्रहण करने की भावना को तीव्रता से लाना होगा, तभी हम अपने उद्देश्य में सफल हो सकेंगे।

जब हमारा संगठन दृढ़ हो जायगा, हमारी शक्ति दृढ़ हो जायगी, तभी हम ओरियण्टल कान्फ्रेन्स में जाकर उसके अंग्रेजियत पूर्ण ढंग को बदल कर भारतीय ढंग पर ला सकेंगे। यह काम योग्यता से ही सम्पादन हो सकता है। केवल व्याख्यान देने से नहीं। हमारी योग्यता की धाक जब उन पर बैठेगी तभी वे हमारी बात मानेंगे। कभी-कभी हमें उस कान्फ्रेन्स में अपने विचारों को योग्यता और सहृदयता से उपस्थित भी करना चाहिये।

वेदसम्मेलन की आर्थिक व्यवस्था

अन्त में हम वेद-सम्मेलन की आर्थिक व्यवस्था पर भी अपने कुछ विचार उपस्थित करते हैं।

इसका व्यय प्रारम्भ में लगभग इस प्रकार समझना चाहिये—

५००) रुपया २० विशिष्ट विद्वानों का मार्ग-व्यय।
७००) रुपया एक सप्ताह का सब विद्वानों का भोजनादि व्यय।
१००) लेखों के संक्षेप ५०० प्रतियां छापने में।
१०००) लेख छापने में २० फार्म १००० प्रतियां छापने में।
२५०) सम्मेलन पर पिण्डालादि में।
२५०) डाकादि व्यय वर्ष भर का।
५००) कार्यालय लेखक का दो वर्ष का व्यय।
२५०) फुटकर व्यय।

———

३५००) व्यय का जोड़
५) वाले विद्वान् सदस्य १००=५००)
" अन्य सदस्य तथा समाजें ४००=२०००)
२५००)
१०००) किसी विशेष दानी की सहायता प्राप्त की जावे।

विशेष

वेदसम्मेलन सम्बन्धी ये नियमादि हमारे विचार की सुगमता के लिये सुझाव रूप में यहां लिखे हैं। इन पर विचार सम्मेलन में ही होगा। सब नियमादि उसी में निश्चित होंगे।

इस प्रकार हमने सन् १९५१ के वेदसम्मेलन मेरठ के निश्चयानुसार आज के इस वेदसम्मेलन में भावी वेदसम्मेलन की स्थायी योजना की रूपरेखा का निश्चय करना है।'

प्रभु कृपा करें हम सब इस कार्य में सफल हो सकें।

खुर्जा — वैदिक धर्म तथा विद्वानों का सेवक
आश्विन शुक्ल १ सं० २०१० — ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
९ अक्तूबर १९५३ — मोतीझील, बनारस—६

[वेदवाणी, वर्ष ६, अङ्क ३]

—:०:—

वेद-सम्मेलन, मेरठ

में

सभापति-भाषण

विश्वान देव सवितर्दु रितानि परासुव । यद् भद्रं तन्न आ सुव ।।

वेद प्रभु की पवित्र वाणी है, जो सृष्टि के आदि में जीवों के कल्याणार्थ परमपिता परमात्मा ने ऋषियों द्वारा प्रदान की। समस्त-विद्याओं का उद्भव स्थान, सार्वकालिक और सार्वभौमिक नियमों का प्रदर्शक, मानव-समाज सम्बन्धी क्रिया-कलापों का विज्ञापक, सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का आगार होने से वेद प्रत्येक देश-जाति-समाज और व्यक्ति के लिये सदैव उपादेय है और रहेगा।

जहां सर्गारम्भ में परमपिता परमात्मा ने जीवों के लिये अनेकविध पदार्थों की रचना की, पृथिवी जल तेज वायु आकाशादि पदार्थों का निर्माण किया, वृक्ष ओषधि वनस्पति, लता गुल्म पुष्प आदि, गुहा वन पर्वतादि, मेघ, स्रोत नदी समुद्रादि, लोह ताम्र रजत सुवर्णादि तथा अन्य असंख्य पदार्थ संसार में उत्पन्न किये, मनुष्य पशु पक्षी आदि के शरीरों की रचना की, अर्थात् समस्त स्थावर जङ्गम जगत् का निर्माण किया, वहां उस सर्वज्ञ-सर्वान्तर्यामि-सर्वनियन्ता जगदीश्वर ने जीवों के अभ्युदय और निःश्रेयसार्थं, संसार के समस्त कार्यकलाप के निर्वाहार्थं परम अनुकम्पा से उपर्युक्त सब पदार्थों से यथावत् लाभ प्राप्त करने के निमित्त ज्ञान का प्रकाश भी दिया। दूसरे शब्दों में पदार्थ दिये, तो उन पदार्थों के उपभोग की समझ भी दी, जो देनी ही चाहिये थी। जिससे मानव-समाज उन पदार्थों का यथोचित उपभोग करके अपने जीवन को सफल कर सके। प्राचीन समस्त ऋषि-मुनियों तथा शास्त्रों की परिभाषा में इस ईश्वरीय ज्ञान को 'वेद' कहा है।

ईश्वरीय ज्ञान के स्वरूप को स्वयं वेद इस प्रकार वर्णन करता है—

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ।।

ऋ० १०।७१।१।।

हे विद्वन् ! सृष्टि के आदि में समस्त वाणियों की मूल (सृष्टिगत पदार्थों के) नामों को धारण करनेवाली, जिस वाणी को (विद्वान् लोग) उच्चारण करते हैं, वह वाणी (ऋषियों की) गुहा (बुद्धि) में धारण की हुई (ईश्वर की) प्रेरणा से प्रकाशित होती है।

यह वाणी सृष्टि के आदि में प्रकाशित हुई, इसलिये इसे 'प्रथमम्' कहा। वेदवाणी से ही सब भाषायें निकलीं, इसलिये इसे 'वाचो अग्रम्' कहा। सब पदार्थों के नामों तथा कर्म का निर्धारण वेदवाणी से हुआ (सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ (मनु १।२१) अतएव मन्त्र में 'नामधेयं दधानाः' कहा गया। सर्वश्रेष्ठ विस्तृत विशाल होने से 'श्रेष्ठ' कहा। दोषरहित होने से 'अरिप्रम्' और बुद्धि में निहित होने से 'निहितं गुहा' कहा। जन्म-जन्मान्तरों से परमपिता परमात्मा के भक्त (ऋषि) जनों द्वारा यह भगवान् की प्रेरणा से प्राप्त होती है, इसीलिये मन्त्र में इसे 'प्रेणा आविः' कहा।

उपर्युक्त मन्त्र में दर्शाई सब विशेषतायें वेद में ही चरितार्थ होती हैं।

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्।
ऋ० १०।७१।३॥

सृष्टि के आदि में यज्ञ अर्थात् परमात्मा के द्वारा वाणी की प्राप्ति के योग्य ऋषियों में प्रविष्ट हुई वेदवाणी को मनुष्य पीछे प्राप्त करते हैं अर्थात् वेद का प्रकाश सृष्टि के आदि में पहले ऋषियों के अन्तःकरण में होता है।

सब ऋषि मुनि वेद को **'सर्वज्ञानमयो हि सः'** (मनु २।७) **'प्रमाणं परमं श्रुतिः'** (मनु २।१३) **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'** (मनु २।६) सर्वज्ञान का मूल, परम प्रमाण और **'देवपितृमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्'** सब का पथप्रदर्शक मानते हैं।

इन्हीं कारणों से ऋषि दयानन्द ने वेद को आधार माना और **'वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनना सब आर्यों का परमधर्म है'** यह नियम बनाकर आर्यसमाज की स्थापना की। आर्यसमाज भी उपर्युक्त कारणों से ही इस सिद्धान्त को मान रहा है।

प्राचीन काल से वेद आर्य संस्कृति के प्रकाशस्तम्भ रहे हैं। आर्य-जाति के संगठन और उस की जीवनचर्या के व्यवस्थापन वा नियमन उसकी आध्यात्मिक अन्य तथा उत्कृष्ट भावनाओं की प्रेरणा में वेद का प्रमुख स्थान रहा है, यह हमारा इतिहास बतलाता है। सभी ऋषि-मुनियों ने वेद को परमप्रमाण, अपौरुषेय और ज्ञान का भण्डार माना है। उन प्राचीन ऋषि-मुनियों की कृतियों में जो लोकोत्तर महत्ता दिखायी देती है, उसमें भी हमें वेद की उत्कृष्ट भावनाओं का प्रभाव पदे-पदे दृष्टिगोचर होता है, जो हमारी आर्यसंस्कृति का अङ्ग बनकर हमारे देश से बाहर कहीं-कहीं धुंधले प्रकाश के रूप में दिखाई देती है, जिससे हमें अपने आर्यसंस्कृति का महत्त्व अधिक स्पष्ट प्रतीत होने लगता है। इस सब के मूल को खोजने से हमें यही विदित होता है कि वेद हमारी आर्यजाति-आर्यसंस्कृति तथा सभ्यता के प्राण, अक्षय्य निधि, पथप्रदर्शक सदा रहे हैं और वेद के कारण ही ये सब संसार में अजर-अमर हैं।

'निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' (महाभाष्य, आ० १) बिना यह विचार किये कि इसी से क्या लाभ होगा, परम कर्त्तव्य समझते हुए इस वेद के छओ अङ्गों सहित पढ़ने का आदेश इसीलिये हमारे ऋषि लोग करते चले आ रहे हैं। इसी का यह फल है कि यह वेद इस समय तक हमारे पूर्वजों के पुण्य प्रताप से कुल परम्पराओं द्वारा सुरक्षित रहता आया। अन्यथा भूमण्डल भर में खोजने पर भी इस का चिह्न तक न मिलता, जैसा कि अनेक जातियां अपने-अपने साहित्य के साथ इस भूमण्डल से सदा के लिये मिट गईं, वैसे यह वेद भी कभी का लुप्त हो जाता।

वेद के प्रति अनास्था के कारण

वेद के विषय में हमारी आर्यसंस्कृति में प्राचीन काल से चली आ रही इतनी उत्कृष्ट भावना के होते हुए भी क्या कारण है कि भारतीयों में वेद के प्रति सम्प्रति इतनी अनास्था हो गई, वे इससे एकदम दूर हो गये। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। हम विचारशील सज्जनों के समक्ष इस विषय में अपने विचार उपस्थित करते हैं। वेद के प्रति अनास्था रखनेवालों की कई कोटियां हैं, हम उन पर क्रमशः विचार करेंगे—

(१) प्रथम कोटि उन लोगों की है, जिन्हें दुर्भाग्यवश घर (भारतीय

संस्कृति, साहित्य, सभ्यता) का कुछ भी संस्कार वा ज्ञान बाल्यकाल से नहीं मिला। वे या तो विदेश में पढ़े या उन्होंने भारत में विदेशी राज्य द्वारा चलाई गई विदेशी पाठ्य-पद्धति से ही अध्ययन किया। संस्कृत साहित्य से शून्य रहना तो दूर की बात है, वेदशास्त्रों के हिन्दी में प्राप्त होनेवाले अनुवाद वा भाषार्थ को भी उन्होंने कभी नहीं पढ़ा। ऐसे लोग वेद या शास्त्र के विषय में कोई बात (जो उन्होंने अंग्रेजी की पुस्तकों में पढ़ी होती है) कहने लगते हैं, उनसे वह तो सर्वथा अनभिज्ञ होते ही हैं, जिनकी पुस्तकों के आधार पर वे बोल रहे होते हैं, वे भी प्रायः प्राचीन वैदिक साहित्य से कोरे होते हैं, या उन्होंने भी वे वातें अपने विदेशी गुरुओं वा विदेशी पद्धति से पढ़े हुए विद्वानों से ही ली होती हैं। उसमें उनका अपना ज्ञान बहुत थोड़ा होता है। ऐसे व्यक्तियों द्वारा यह कहना कि वेदशास्त्र में क्या रक्खा है? भला इनकी ऐसी बात का क्या मूल्य हो सकता है? इसे अज्ञानमूलक होने से किसी पागल का प्रलापमात्र ही कहा जायगा।

(२) दूसरी कोटि उन विद्वान् समझे जानेवालों की है, जो एम. ए. तथा शास्त्री आदि पढ़े होते हैं। ये लोग जब वेदशास्त्रों के विषय में अपनी अनास्था प्रकट करते हैं; तो जनता में महान् क्षोभ उत्पन्न हो जाता है कि ये संस्कृत के विद्वान् हैं, इतने वर्ष आर्यसमाज की वा अन्य संस्थाओं में पढ़े हैं, इनका कथन अतथ्य कैसे हो सकता है? इस विषय में मेरी इस प्रकार के कई महानुभावों से बात हुई, तो पता लगा कि इन की अपनी कोई स्थिति --धारणा वा ठिकाना (खूंटा) नहीं होता। यहीं तक नहीं, ये महानुभाव स्पष्ट कहने लगते हैं कि हमें तो ईश्वर के अस्तित्व में भी विश्वास नहीं। कर्मवाद के सिद्धान्त में भी उन्हें कोई आस्था नहीं होती। वह समझने लगते हैं कि ज्ञान तो बढ़ता ही रहता है। संसार ऋषि-मुनियों से वहुत आगे निकल चुका है। इस प्रकार उन की बुद्धि भ्रान्त हो चुकी होती है। और वे ईश्वर-वेद-धर्म-कर्मवाद-संस्कृति-सभ्यता के विषय में बहकी-बहकी बातें करते हैं। ऐसे व्यक्तियों की किन्हीं निर्बलताओं के कारण ईश्वर की सत्ता से भी आस्था उठ गई होती है। जिस का कारण बहुत गहराई में जाने से ही पता लग सकता है। एक सज्जन ने बताया—'मैं आज से ४ वर्ष पहले आर्यसमाज का अत्यन्त श्रद्धालु और कार्यकर्त्ता युवक था। अमेरिका में ३॥ वर्ष रहा। लगभग ३०-३२ हजार रुपया मुझे वहां पढ़ने के लिये छात्रवृत्ति
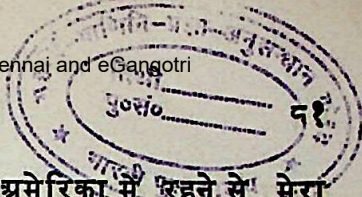
मिली । मैं वेदशास्त्र का ही विश्वासी था । अमेरिका में रहने से मेरा विचार एकदम बदल गया और मुझे तो अब निश्चय हो गया है कि संसार का जितना ज्ञान है, वह अमेरिका इङ्गलैण्ड आदि में ही है । मैं अपना भाग्य समझता हूं कि वेदशास्त्र के चक्र से निकल आया । मैं तो सत्य का उपासक हूं; जो भी सत्य होगा, मैं उसे मानूंगा । हमारे वेद-शास्त्रों में कुछ नहीं । भारतीय संस्कृति सभ्यता-साहित्य में कुछ नहीं रखा, यों ही अण्ट-सण्ट लिखा है । संसार उन्नत होकर बहुत आगे बढ़ गया है । भारतवासी उसी प्राचीन वेद-शास्त्र को लिये जा रहे हैं, जिसमें कुछ भी नहीं । भौतिक उन्नति सुख और शान्ति का परम साधन है, इत्यादि ।'

आर्यसमाज के सम्पर्क में कुछ समय रहे इस व्यक्ति के विचारों को सुनकर प्रथम तो मैं कुछ देर स्तब्ध सा रहा, सोचने लगा कि इसको हो क्या गया है । अन्त में मैं पूछ बैठा, कहिए ! आप ईश्वर की सत्ता को तो मानते हैं, या नहीं ? उसने यह कहा—मेरा ईश्वर की सत्ता और कर्मवाद में विश्वास नहीं । जब उसने यह कहा, तब समझ में आ गया कि इन ऊलजलूल विचारों का कारण क्या है । जो व्यक्ति ईश्वर की सत्ता को ही अनुभव नहीं कर पाता, उसमें जिसकी आस्था नहीं, भला वह उस के (ईश्वर के) बनाये वेद में कैसे आस्था कर सकता है ? अन्य शास्त्र और भारतीय संस्कृति के प्रति तो उसकी भावना हो ही कैसे सकती है । भौतिकोन्नति को देखकर बुद्धि भ्रान्त हो जाती है तो आध्यात्मिकता का कोई मूल्य उनको जंचता नहीं । ऐसे लोगों की बुद्धियां भ्रान्त होकर न जाने कितनी आत्माओं को मार्गच्युत कर देती हैं । विशेषकर उस अवस्था में जब कि वे शिक्षक होते हैं ।

अंग्रेजी और संस्कृत के पढ़े ही इस कोटि में आते हैं, सो बात नहीं । केवल संस्कृत के पढ़े भी जब ईश्वर में अनास्था प्रकट करने लगते हैं, तो उनकी भी यही दशा होती है, जो ऊपर वर्णित की गई है । इनके द्वारा जनता में वेद-शास्त्रों के प्रति और भी अनास्था उत्पन्न होती है । ऐसे व्यक्तियों में या तो वे होते हैं, जिनकी ज्ञानधारा वा संस्कार किन्हीं कारणों से विपरीत दिशा में बहने लगते हैं । उस विपरीत ज्ञान से वे तब तक विरत नहीं होते, जब तक उन्हें जीवन में कोई भारी धक्का नहीं लगता । या वे होते हैं, जिन्हें अपनी बुद्धि पर बहुत अधिक मात्रा में विश्वास होने

लगता है, और वे समझने लगते हैं कि यह ईश्वर का न्याय क्या हुआ जो मूर्ख (बिना पढ़े और कम पढ़े) तो संसार में सुख पा रहे हैं। हम इतना परिश्रम करते हैं, हम दुःखी रहते हैं। वे भूल जाते हैं कि कर्मवाद के सिद्धान्त से अपने कर्मों का यथावत् फल मिलता है। यह अवस्था मानव के ज्ञान से बाहर की वस्तु होती है। बहुत-सा दुःख तो मनुष्य अपने अज्ञान से, अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाकर भी उत्पन्न कर लेता है। ऐसे व्यक्ति दुःखी होकर ईश्वर वा वेद-शास्त्र के प्रति भी अनास्था के भाव प्रकट करने लग जाते हैं। जिसका मूल कारण उनकी अपनी निर्बलता होती है।

(३) तीसरी कोटि उनकी है, जिनकी ईश्वर कर्मवाद आदि में विश्वास वा आस्था तो है, पर कभी-कभी बुद्धि डगमगाने लगती है। इस अवस्था में कभी-कभी तो बहुत ऊंची भावनाएं मन में उत्पन्न होती हैं; और कभी-कभी अस्त-व्यस्त विचार भी मन के सामने आने लगते हैं। इस कोटि के महानुभाव अपने को पूर्णप्रज्ञ समझने लग जाते हैं, यही भूल है। वे समझते हैं कि हम ही दूसरों को सिखा सकते हैं, कोई दूसरा हमें नहीं सिखा सकता। अपनी भूल के लिए मार्जन भी रखना उन्हें इष्ट नहीं होता।

ऐसी अवस्था में इनके द्वारा की गई रिसर्च वा वेदविषयक धारणाएं इनके लिए ही हर्षदायक वा लाभदायक हुआ करती हैं, संसार के लिए नहीं। ऐसे व्यक्ति जनता का सहयोग प्राप्त करने के लक्ष्य से या तो अपनी रिसर्च का विषय ही ऐसा बना लेते हैं, जिसमें सूचियां बनाना हो, या फिर गोलमाल लिखते रहते हैं, जिसमें दोनों प्रकार के विचार जनता के सामने आते रहते हैं। साधारण जनता यह समझ भी नहीं पाती कि अपना सिद्धान्त क्या है। ऐसे महानुभाव वेद-शास्त्र के विषय में जब अनास्था की बात करते हैं, तो जनता में क्षोभ होने लगता है। हमारी संस्थाओं में से निकलकर बहुत से नवयुवक भी इसी सरणि का अवलम्बन करने लगते हैं। उसमें हमारी भी कमी होती है, जो हम उन्हें अध्ययन-काल में पूरी सामग्री नहीं दे पाते। चाहे उसका कारण कुछ भी हो। हम इसमें किसी को दोषी व बुरा नहीं कहते, हमने तो वस्तुस्थिति का निर्देश किया है। जैसा देखने में आता है। हमने कहना यह है कि ऐसे महानुभावों की अनास्था का कारण भी ईश्वर-कर्मवाद आदि मूलभूत सिद्धान्तों में सन्देह-संशय वा पूर्णास्था का अभाव ही होता है। हां! इस कोटि

में ऐसे महानुभाव भी हैं, जिन्हें ईश्वर पर विश्वास है पर वे वेद को ईश्वर-ज्ञान भी न मानकर ऋषियों की कृति मानते हैं। ऐसा मानते हुए भी वेदों को बहुत अच्छी दृष्टि वा परम श्रद्धा से देखते हैं। उनमें उन्हें अनेक ऊंची भावनाएं मिलती हैं। मानव-समाज के लिये वे वेद को आवश्यक व परम साधन मानते हैं। ऐसे शुद्ध भावनापूर्ण महानुभावों का हमें सादर स्वागत करना चाहिये और उनकी उत्कृष्ट खोज व दैवी ऊहा से लाभ उठाना चाहिये। निश्चय ही ऐसे महानुभावों में ईश्वरविषयक वह धारणा नहीं, जो ऋषि दयानन्द की आर्यसमाज के दूसरे नियम में वर्णित है। ऐसे महानुभाव वेद-शास्त्रों के प्रति कभी अनास्था की बात नहीं कहते।

(४) अब हम चौथी कोटि पर विचार करते हैं। यह कोटि भारत में उनकी है, जो ६० प्रतिशत अनपढ़ और हिन्दी भाषा तक से भी शून्य हैं। ऐसे लोगों को वेद-शास्त्र में अनास्था हो, सो बात नहीं, हां अज्ञान अवश्य है, जिसके कारण उनकी आस्था में कमी है। इनको जिसने जब जैसे बता दिया, बस उसी को पकड़ लिया। बतानेवालों ने ठीक बता दिया तो ठीक समझ लिया, विपरीत बता दिया तो विपरीत मानने लगे। इतना तो है, ऐसे लोगों को वेद-शास्त्रों के तथ्यों से अवगत करा दिया जावे, उन्हें इस विषय में निरन्तर शिक्षा दी जावे, तो सरलहृदय होने के कारण ये उन तथ्यों को शीघ्र समझते हैं, ऐसा अनुभव से देखा गया है। श्वेत वस्त्र पर रङ्ग अच्छा आता है, मलीन पर नहीं। ये लोग ईश्वर में आस्थावान् होने से शीघ्र समझ जाते हैं।

(५) पांचवीं कोटि हम उनकी समझते हैं, जो पठित हैं और जिन को ईश्वर-वेद-शास्त्र-कर्मवाद आदि वेदप्रतिपादित सिद्धान्तों पर पूर्ण विश्वास है। नई-नई शङ्कायें सामने आने पर इन्हें सन्देह होने लगता है। मेरे विचार में ऐसे महानुभावों के समाधान, सन्देहनिवृत्ति, वा आत्मसन्तोष के लिए पूर्ण प्रयत्न करना हमारा परम कर्त्तव्य है। शेष कोटि के महानुभावों के प्रति भी हमें हार्दिक प्रेम सहानुभूति और सद्भावना से ही उनकी आत्मशान्ति सन्देहनिवृत्ति का यत्न करते रहना चाहिए।

वेद के प्रति सर्वसाधारण की अनास्था का एक बड़ा भारी कारण यह भी हो गया है कि जन्म-विवाह-मरण आदि के समय पर ही कुछ थोड़ा-बहुत स्वरूप वेद-शास्त्रों का परिवारों के सम्मुख आता है, वह भी

नाममात्र ही और वह भी कभी-कभी ही। जो आता भी है, उसमें भी उन मन्त्रों के अर्थ व अभिप्राय का संस्कार आदि करानेवाले तक को कुछ पता नहीं होता, वह यजमान को बतावे क्या। यह भी कारण हुआ वेद-शास्त्रों के प्रति सर्वसाधारण की अनास्था होने का। उनकी समझ में आवे तब तो कुछ आस्था उन में उत्पन्न हो। जब कोरे बिना अर्थ के शब्दों का ही श्रवण हो, तो उससे जनता क्या समझ सकती है। और उससे जनता में आस्था पैदा भी कैसे हो सकती है।

इन विविध कोटियों के वर्णन का यहां इतना ही अभिप्राय है कि आर्यसमाज ने वेद का झण्डा उठाया है, इसके सामने इतने प्रकार की विचारधाराएं हैं, जिन्हें हमें सन्मार्ग पर लाना है, और वह भी सद्-भावना, प्रेम-आदर और हितसाधन की दृष्टि से।

ऋषि दयानन्द की सबसे बड़ी देन

ऋषि दयानन्द की सबसे बड़ी देन संसार को यही है कि उन्होंने वेदशास्त्र का शुद्धस्वरूप संसार के सामने रखा। और साथ ही सब से कठिन समझे जानेवाले वेद को इन्होंने सर्वसाधारण तक पहुंचाने के लिए उनका अर्थ आर्यभाषा में भी किया। इतना ही नहीं, व्याकरण जैसे दुरूह विषय को भी उन्होंने आर्यभाषा में लिखा। अष्टाध्यायी के भाष्य की रचना भी संस्कृत और आर्यभाषा दोनों में की। सन्ध्या के अर्थ-व्याख्या संस्कारविधि की सब विधियां आर्य-भाषा में लिख दीं। ऋषि दयानन्द का यह साहसपूर्ण कार्य भारत के इतिहास में चिरस्थायी रहेगा। पहले-पहले तो लोगों ने ऋषि दयानन्द की ऐसी हँसी उड़ाई कि 'उन्होंने हिन्दी में लिखा है।' आर्यसमाज के बहुत से पुराने विद्वानों ने ऋषि के आर्य-भाषा में अपने ग्रन्थों को लिखने के महत्त्व को पूर्णतया नहीं समझा। 'संस्कृत में ही रहना चाहिए' ऐसी ध्वनि कभी-कभी सुनाई देती रही। पर यह सब भ्रान्ति की बात थी। ऋषि से पहले वेदमन्त्रों के पढ़ने और उनके अर्थ करने का द्वार उस समय के पण्डितों ने वैश्यों क्षत्रियों तक के लिए बन्द कर रखा था, शूद्र और स्त्रियों के लिए तो कहना ही क्या ?

मेरा तो हृदय गद्गद् हो उठता है, जब मैं आर्यपरिवारों में, नित्य के सन्ध्या-हवन में, बड़े-बड़े यज्ञों, समाज के उत्सवादि वा समारोहों में सहस्रों की संख्या में एक साथ वेद के मन्त्र उच्चारण करते सुनता हूं। छोटे-छोटे बच्चों को सन्ध्या के अर्थ बोलते सुनता हूं। इस विषय में अब

हमारा परम कर्त्तव्य है कि हम स्वर की बात अभी छोड़ दें, क्योंकि यह विद्वानों के विचार का विषय है, शुद्धपाठ पर सर्वत्र विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है, विद्वानों को इसका पूरा ध्यान रखना चाहिये। मुझे स्मरण हो उठता है कि काशी में इस समय तक भी काशी के रूढ़िवादी और पौराणिक विद्वान् ही नहीं, अपितु हिन्दू-विश्वविद्यालय बनारस तक में स्त्री और शूद्रों के लिये वेद पढ़ने का अधिकार नहीं। उन्होंने वेद पर से स्वर ही हटा दिया। वे कहते हैं कि वेद विना स्वर के पढ़ लो, स्वर हम नहीं पढ़ायेंगे। स्वरसहित ही वेद होगा, स्वररहित तो पाठमात्र है। भला इस मूर्खता का भी कोई ठिकाना है। ऐसी अवस्था में संसार को ऋषि दयानन्द की अपूर्व मेधा और तपश्चर्या का लोहा मानना पड़ता है। अब भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर यह वेदध्वनि जब तक भारत के ग्राम-ग्राम में एक-एक पुत्र और पुत्री के मुख से न निकले, तब तक आर्यसमाज की आवश्यकता बनी रहेगी। इसको कौन करेगा? क्या सैक्यूलर-धर्मनिरपेक्ष, नहीं-नहीं, धर्मविरोधी यह कांग्रेस का राज्य! छिः छि.!!

यह करेगा तो आर्यसमाज ही करेगा। कौन कहता है कि आर्यसमाज की आवश्यकता नहीं? आर्यसमाज प्रकाशस्तम्भ के रूप में भारत में सदा जीवित रहेगा। हमें अपनी कमियों को पूर्ण करना है और अपने कर्त्तव्य पर कटिबद्ध हो जाना है। वैसे यही एक मुख्य समस्या है।

सर्वसाधारण की वेद के प्रति आस्था हम तभी पैदा कर सकते हैं, जब हम अपने में, कार्यकर्त्ताओं में वेद के प्रति उत्कृष्ट भावनायें पूर्ण रीति से भरें। हम अपने में भरेंगे, तभी दूसरों में भर सकेंगे।

वेदाध्ययन की परम्परा

अब इस बात पर विचार करना चाहिए कि सृष्टि के आदि से जब वेद चला आ रहा है, तो इसकी अध्ययन-परम्परा तो अवश्य चलती आयी होगी, क्योंकि यदि ऐसा नहीं होता तो वेद हम तक पहुंच ही न पाता। अविच्छिन्न परम्परा द्वारा ही वेद हम तक पहुंचा है, यह बात सभी मानते हैं। रामायण-काल में वेदाध्ययन अच्छी स्थिति में था। वाल्मीकि रामायण में लिखा है—

न ऋग्वेदाविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं प्रभाषितुम्॥—किष्किन्धाकाण्ड

राम ने हनुमान् की योग्यता के विषय में लक्ष्मण से कहा था—बिना, ऋक्, यजुः और सामवेद के जाने कोई इस प्रकार की बात नहीं कह सकता। रामायण बालकाण्ड सर्ग १८ में—

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे लोकहिते रताः ॥२४॥
ते चापि मनुजव्याघ्रा वैदिकाध्ययने रताः ॥२५॥

इत्यादि वचनों से स्पष्ट है कि उस समय वेदाध्ययन की परम्परा सर्वसाधारण में भी थी। महाभारत शान्तिपर्व अ० २३२।२४ में—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

सृष्टि के आरम्भ में स्वयंभू परमात्मा से ऐसी वाणी (वेद) का प्रादुर्भाव हुआ, जो नित्य है, जिसका कभी नाश नहीं होता। जो दिव्य है। उसी से संसार में सब प्रवृत्तियां चलती हैं।

महाभारतकाल में भी वेदसम्बन्धी यह धारणा विद्यमान थी। द्रोण-पर्व ७१।१ में—**'वेदषडङ्गं वेदाहं'**— **'योऽधीते चतुरो वेदान्'** वनपर्व ५८।७० इत्यादि वचनों से इतना स्पष्ट है कि उस काल में वेदाध्ययन की परम्परा विद्यमान थी।

यह भी मानना पड़ता है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि के समय में **'वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति'** वेद का केवल या तो मन्त्रपाठ मात्र अथवा साधारण अध्ययन करके ही विद्वान् समझे जाने लगे थे। उधर निरुक्त के काल में 'अनर्थका हि मन्त्राः' मन्त्र के अर्थ की उपेक्षा का वाद भी कुछ न कुछ रहा होगा, क्योंकि उसमें 'कुत्स' का नाम दिया है। इस काल तक **'इत्यधिदैवतम्, इत्यध्यात्मम्'** आदि निर्देशों से यह ज्ञात हो जाता है कि जैसे महाभाष्यकार ने सूत्रों में प्रबल पूर्वपक्ष उठा-उठाकर उत्तरपक्ष का प्रतिपादन किया है, इसी प्रकार निरुक्तकार ने भी वेद के विषय में प्रबल पूर्वपक्ष उठाकर उनका सम्भव उत्तरपक्ष दर्शाया है। इस काल के पश्चात् बौद्धकाल में तो हिंसायुक्त यज्ञों आदि के कारण व दूसरे शब्दों में वेद अर्थज्ञान से शून्य केवल यज्ञों में विनियोग का साधनमात्र ही रह गया। यही कारण भारत में जैन और बौद्ध मत की उत्पत्ति का हुआ। उस समय भी जनता में जिन्हें प्राचीन वैदिक धर्म के अहिंसादि यज्ञों में आस्था थी, वे हिंसापरक यज्ञों से ऊबकर, वेद का यथार्थ ज्ञान न मिलने पर बौद्ध धर्म में चले गये। शङ्कर काल में भी यह

सब कुछ रहा और कह सकते हैं यह ढङ्ग ऋग्वेद के उपलब्ध होनेवाले प्रथम वेदभाष्यकार आचार्य स्कन्द स्वामी (६३० ईस्वी) तक भी रहा, और आगे सायणाचार्य के काल तक भी रहा। ये सबके सब वेदार्थ विषय में याज्ञिकप्रक्रिया से पराभूत रहे, यह तो स्पष्ट है।

इसमें इतना ही विशेष है कि स्कन्दस्वामी के लेख से स्पष्ट विदित होता है कि उसके काल में 'मन्त्रों के आध्यात्मिक, आधिदैविक और अधियज्ञ तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ होते हैं' यह परम्परा विदित थी, इसका निरूपण हम आगे करेंगे। उस समय में याज्ञिक पद्धति का ही बोलबाला था, या क्या कारण हुआ कि स्कन्द ने मन्त्रों का अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में नहीं किया। आचार्य स्कन्द स्वामी वेद के सब मन्त्रों के अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में होते हैं, यह केवल स्वयं ही मानता हो सो बात नहीं, अपितु वह लिखता है कि निरुक्तकार यास्क के मत में भी प्रत्येक मन्त्र का अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में होता है। देखो निरुक्त स्कन्दटीका भाग ३, पृष्ठ ३५।

हमारा कहना है कि वेदमन्त्रों के यज्ञपरक अर्थ की ही धारणा ऋषि दयानन्द के समय तक बराबर रही। इसी के कारण वेद के प्रति सर्व-साधारण की तो क्या, विद्वानों को भी अनास्था हो गई और वे वेदों को व्यर्थ की चीज बताने लगे।

इस लम्बे काल में वेद का अध्ययन कहां तक था, यद्यपि इस बात का पूरा निर्देश तो नहीं मिलता, पुनरपि जितना कुछ भी जाना जा सकता है, उसके आधार पर यही पता लगता है कि यज्ञ-यागादि के करने के लिए ही वेदाध्ययन की परम्परा चलती रही। अर्थशून्य इस यज्ञ-यागादि के कारण धीरे-धीरे लोगों में यही विश्वास बैठ गया कि वेद केवल संस्कारों व यज्ञ-यागादि के लिए ही हैं। जब विद्वानों में यह धारणा बैठ गई, तो सर्वसाधारण का तो कहना ही क्या।

सायणाचार्य के काल तक वेदाध्ययन की यही प्रक्रिया चलती रही, उसका भाष्य इस प्रक्रिया का परम पोषक बना। सायण के भाष्य से वेदार्थ की प्रक्रिया एक प्रकार से लुप्तप्राय: हो गई, ऐसा ही कहना पड़ता है। वेदों के अर्थों का पठन-पाठन भारत के किन्हीं स्थानविशेषों में रहा हो, यह हम नहीं कह सकते। इतना कह सकते हैं कि पिछले डेढ़ सौ वर्षों में वेद का अर्थपूर्वक अध्ययन बहुत ही कम रहा। इसके लिये

साक्षी यह है कि गवर्नमेंट संस्कृत कालेज बनारस की जब स्थापना हुई, उसके कुछ वर्षों के पश्चात् जब वेदाध्ययन की गद्दी नियत हुई तो कुछ वर्ष तक वहां कोई पढ़ने ही नहीं जाता था। इसलिए वह गद्दी ही तोड़ देनी पड़ी। अन्त में सन् १९२२ में वेद का विषय परीक्षा में पुनः रक्खा गया। बीच में लगभग १०० वर्ष वेद की परीक्षाएं लुप्त ही रहीं। इस समय भी यह हाल है कि सन् १९५१ का सरकारी गजट हमारे सामने है, जिसमें समस्त भारत के ५२ केन्द्रों में लगभग १०००० हजार छात्रों ने परीक्षा दी है। उसमें वेद विषय में आचार्य परीक्षा में कुल तीन छात्र उत्तीर्ण हुए हैं, मध्यमा शास्त्री तथा आचार्य के सब खण्डों के सब प्रान्तों के सब छात्रों को यदि जोड़ लिया जावे तो उनकी कुल संख्या २७ है। और ये सब शुक्लयजुर्वेद के परीक्षार्थी हैं। ऋग्वेद और कृष्णयजुर्वेद की परीक्षाओं में कोई बैठा ही नहीं। सामवेद और अथर्ववेद की तो परीक्षाएं ही नहीं होतीं, अतः उन परीक्षाओं के विषय में तो लिखना ही व्यर्थ है। अब रह गई आर्यसमाजिक संस्थाओं की बात। उनमें सबसे पुरानी और प्रतिष्ठित संस्था गुरुकुल कांगड़ी, वृन्दावन और ज्वालापुर हैं। उनमें वेद विषय के पढ़नेवाले छात्रों की संख्या बहुत ही कम है। वहां भी आयुर्वेद पढ़नेवाले छात्रों की संख्या का ही बाहुल्य है। यह हमारी वर्तमान वेदाध्ययन की प्रवृत्ति है, जो लज्जास्पद है।

वेद और उसकी शाखायें

शाखायें वेद के व्याख्यानग्रन्थ हैं, ऐसा महर्षि दयानन्द का मन्तव्य है (देखो ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० २९१), अर्थात् चार वेद मूल हैं और ११२७ उनकी शाखायें हैं, दूसरों शब्दों में उनके व्याख्यानग्रन्थ हैं।

शाखाओं की आनुपूर्वी अनित्य है, **'या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या'** (अ० ४।३।१०१ महाभाष्य) यह महाभाष्यकार का मत है, और इसमें उदाहरण 'काठकम्, कालापकम्, मौदकम्, पैप्पलादकम्' ये दिये हैं, जो स्पष्टतया शाखाग्रन्थ हैं। वेद की आनुपूर्वी को पतञ्जलि मुनि नित्य मानते हैं—**'स्वरो नियत आम्नाये अस्यवामशब्दस्य, वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता'** (अ० ५।२।५९ महाभाष्ये)। इन दोनों प्रमाणों से वेद और शाखा ग्रन्थों का भेद भी भगवान् पतञ्जलि के मत में सूर्य के प्रकाश की भांति स्पष्ट सिद्ध है।

निरुक्त के **'पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे'** (निरु० १।१) तथा **'नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति'** (निरु० १।१६)

इन वचनों से भी वेद की आनुपूर्वी नित्य है, ऐसा यास्क का सिद्धान्त है, यह अवश्य मानना पड़ेगा। यद्यपि शाखा के विषय में यास्क ने स्पष्टतया नहीं लिखा, तथापि **'यदरुदत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकम्, यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकम्'** (निरु० १०।५)। इन उदाहरणों से व्यक्त होता है कि यहां अर्थ की समानता होने पर भी शाखाओं की वर्णानुपूर्वी का भेद दर्शाने के लिये ही इन्हें लिखा है। इनकी व्याख्या करता हुआ दुर्गाचार्य लिखता है—**'स एवार्थः, केवलं शाखान्तरमन्यत्'**। अर्थात्—अर्थ समान है, केवल शाखाभेद से वर्णानुपूर्वी का भेद है। निरुक्त के इस स्थल की यदि महाभाष्यकार के **'योऽसावर्थः स नित्यः, या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या'** के साथ तुलना की जाय तो यास्क का अभिप्राय भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि यास्क भी मूल वेदों की आनुपूर्वी को नित्य और शाखाओं की आनुपूर्वी को अनित्य मानता है।

शाखायें ऋषि-प्रोक्त हैं और उनकी आनुपूर्वी अनित्य है, इसको स्पष्ट करने के लिये एक और प्रमाण देते हैं—

महाभाष्यकार पतञ्जलि **'अनुवादे चरणानाम्'** (अ० २।४।३) के भाष्य में लिखते हैं—**'अनुवदते कठः कलापस्य'** अर्थात् कठ कलाप के प्रवचन का अनुवाद करता है। इससे व्यक्त है कि कठादि शाखायें ऋषियों के प्रवचन हैं और उनमें किन्हीं-किन्हीं शाखाओं की परस्पर पर्याप्त समानता है।

इन प्रमाणों से शाखा ग्रन्थों की आनुपूर्वी के अनित्य होने में यत्किञ्चित् भी सन्देह नहीं रह जाता, यही हम कहना चाहते हैं। शाखाओं का स्वरूप भी हमारे इस कथन से बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है।

अब रह जाती है यह बात कि शाखा व्याख्यानरूप ग्रन्थ हैं, यह कैसे जानें। इसका उत्तर तो यही है कि जब सूक्ष्म दृष्टि से हम इन शाखा-ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं, तो इनके भिन्न-भिन्न पाठों से यह बात बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है। इसके अनेक उदाहरण हैं। अब हम उपर्युक्त **'तेन प्रोक्तम्'** (अ० ४।३।१०१) पाणिनि के इस सूत्र का न्यासकार का अर्थ दर्शाते हैं। वह लिखता है—

'तेन व्याख्यातं तदध्यापितं वा प्रोक्तमित्युच्यते।'
(अ० ४।३।१०१। न्यास पृ० १००५)

जिसका स्पष्ट अर्थ यही होता है कि ये कठ, कलाप, पैप्पलाद आदि शाखायें वेदों के व्याख्यानरूप ग्रन्थ ही हैं। प्रोक्त ग्रन्थ वह है, जो व्याख्यानरूप हो या पढ़ाया गया हो। प्रवचन और व्याख्यान समानार्थक शब्द हैं, ऐसा न्यासकार का कहना है।

कहने का तात्पर्य यह है कि ऋग् यजुः साम और अथर्व ये चार वेद स्वतःप्रमाण हैं, और शाखायें प्रोक्त होने से परतःप्रमाण हैं। इन शाखा-ग्रन्थों की कोटि (दर्जा) वह नहीं, जो वेद की है। यह है भेद वेद और शाखाग्रन्थों का, जिनको संहिता के नाम से कहा जा रहा है।

इतना ही नहीं अपितु कठसंहिता के प्रवचनकर्त्ता के मत में ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा थे और वह मन्त्र की प्रतीक देकर इस सूक्त का ऋषि वामदेव है, ऐसा कहते हैं—जैसा कि—

'वामदेवस्यैतद् पञ्चदशं रक्षोघ्नं सामिधेन्यो भवन्ति ···स वामदेव उख्यमग्निमविभक्तमवैक्षत स एतत्सूक्तमपश्यद् कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथिवीमिति।' (का० सं० १०।५)।

अर्थात् 'कृणुष्व पाजः०' इस सूक्त का द्रष्टा वामदेव ऋषि है। जो स्वयं वेद की प्रतीक देकर उसका ऋषि बताता है, वह ग्रन्थ स्वयं वेद कैसे हो सकता है? यह बात साधारण बुद्धिवाले भी तत्काल समझ सकते हैं।

अब प्रसङ्गात् यहां एक और आवश्यक शङ्का पर विचार कर लेना भी समुचित होगा। वह यह है कि गोपथब्राह्मण (पूर्वार्ध १।२९) में अथर्ववेद का आरम्भ 'शन्नो देवी०' इस मन्त्र से होता है, ऐसा माना गया है। जब ऋग् यजुः साम के आरम्भिक मन्त्रों का पाठ वैसा का वैसा हमें वर्त्तमान में भी उपलब्ध हो रहा है, तो अथर्ववेद का प्रथम मन्त्र 'शन्नो देवी०' क्यों न माना जावे। इतना ही नहीं महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने भी महाभाष्य के आरम्भ में लौकिक-वैदिक शब्दों का भेद दर्शाते हुए जहां ऋग् यजुः साम के आरम्भ के मन्त्रों का पाठ वही दिया है, जो वर्तमान में मिलता है, वहां चतुर्थ वेद का पाठ उन्होंने 'शन्नो देवी' ही दिया है। इससे पता लगता है कि अथर्ववेद का आरम्भ 'शन्नो देवी' से ही होना चाहिये।

वादी की यह शङ्का पर्याप्त बलवती है, परन्तु थोड़ा विचार करने से यह स्वयं दूर हो जाती है। **'तेन प्रोक्तम्'** (अ० ४।३।१०१) सूत्र के भाष्य में लिखा है—

'या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकम्, कालापकम्, मौदकम्, पैप्पलादकमिति।

महाभाष्यकार के इस वचन से स्पष्ट सिद्ध है—

(क) काठक, कालापक, पैप्पलादि प्रोक्त हैं, अर्थात् ऋषियों द्वारा प्रवचन किए हुए वा ऋषिकृत हैं।

(ख) ये काठक पैप्पलादादि शाखाग्रन्थ हैं, वेद नहीं, क्योंकि महाभाष्यकार इनकी आनुपूर्वी (पाठचक्रम) को अनित्य मानते हैं।

(ग) ऋग् यजुः साम और अथर्व की आनुपूर्वी को 'स्वरो नियत आम्नायेऽस्यवामशब्दस्य। वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता' (अ० ५।२।५ महाभाष्य) इस प्रमाण से महाभाष्यकार नित्य ही मानते हैं, अनित्य कदापि नहीं, यही कहना पड़ेगा।

(घ) प्रोक्त, प्रवचन और व्याख्यान पर्यायवाची शब्द हैं, यह न्यासकार का मत हम पूर्व दर्शा चुके हैं।

इन सब से यह सिद्ध है कि पतञ्जलि मुनि पैप्पलाद को शाखा मानते हैं, उसकी आनुपूर्वी को अनित्य मानते हैं, उसे वेद नहीं मानते।

अब रही 'शन्नो देवी०' के आरम्भ में आने की बात, सो महाभाष्य के आरम्भ में वैदिक शब्दों का उदाहरणमात्र देना अभिप्रेत है। वहां वेदों की आरम्भिक प्रतीक दर्शाना मुख्य नहीं। यदि वह वेद की आरम्भिक प्रतीक मानी जावें तो पतञ्जलि भगवान् के स्ववचनों में ही परस्पर विरोध आवेगा। अतः लौकिक-वैदिक शब्दों का भेदमात्र दर्शाना यहां अभिप्रेत है, यही मानना होगा।

अब रही गोपथब्राह्मण में आये 'शन्नो देवी०' इस पाठ की बात। सो यह 'शन्नो देवी०' पाठ पैप्पलादसंहिता का है, यह छान्दोग्यमन्त्रभाष्य के कर्त्ता गुणविष्णु ने माना है (६।४८, पृ० ११७)। पैप्पलाद शाखा महाभाष्यकार के मत से ऋषिप्रोक्त है, उसकी आनुपूर्वी अनित्य है, यह भली-भांति सिद्ध हो चुका। अतः गोपथब्राह्मण में 'शन्नो देवी०' से अथर्ववेद का आरम्भ उसको पैप्पलाद शाखा का ब्राह्मण होने से, वा किसी अवान्तर शाखा का आरम्भिक पाठ होने से है, ऐसा ही मानना पड़ेगा।

यहां यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि 'ये त्रिषप्ताः०' आदि

अथर्ववेद के आरम्भ की प्रतीकें हमें श्रौत, गृह्य तथा अन्य अनेक स्थानों में मिलती हैं।

अभी-अभी अरविन्दाश्रम पाण्डिचेरी से श्री एम. पी. पण्डित कृत ऋग्वेदभाष्य का प्रथम खण्ड प्रकाशित हुआ है। उसके अवलोकन से ज्ञात होता है कि उन्हें भी महाभाष्यकार पतञ्जलि के **'यद्यप्यर्थो नित्यः या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकं कालापकम् मौदकं पैप्पलादकम्'** इस वचन के समझने में भ्रान्ति हुई है। वे महाभाष्य के इस वचन को उद्धृत करके लिखते हैं—

'वेदशब्दार्थनित्यत्वमभ्युपगच्छन् भगवान् पतञ्जलिः पदवर्णवाक्यबन्धव्यवस्थानित्यतां नाङ्गीचकार। सा च व्यवस्था प्रकाशनरूपा ऋषिकर्तृका। एवं वेदानां कृतकत्वाकृतकत्वयोरुपपत्तिर्द्रष्टव्या।

अर्थात् 'वेद के शब्दार्थ को नित्य मानकर भी पतञ्जलि ने वेद के पद वर्ण वाक्य आदि व्यवस्था की नित्यता को स्वीकार नहीं किया। वह पद वर्ण वाक्य व्यवस्था प्रवचनरूप ऋषियों की है। इस प्रकार वेद का अपौरुषेयत्व और ऋषिकर्तृकत्व दोनों की संगति समझ लेनी चाहिये।'

वस्तुतः श्री पण्डित का उपर्युक्त लेख अयुक्त है। क्योंकि उन्होंने पतञ्जलि के एक वचन को ही उद्धृत करके पतञ्जलि के मत में वेद की वर्णानुपूर्वी की अनित्यता को दर्शाया है। पतञ्जलि का दूसरा वचन जिसमें स्पष्टरूप से पतञ्जलि ने वेद की वर्णानुपूर्वी को नित्य माना है— **स्वरो नियत आम्नायेऽस्यवामशब्दस्य। वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता।'** को छूआ तक नहीं। सम्भव है उन्हें इस वचन का ज्ञान ही न रहा हो। अस्तु।

पतञ्जलि के उपर्युक्त दोनों वचनों में विरोध स्पष्ट भासता है। उस का परिहार करना आवश्यक है, अन्यथा पतञ्जलि का लेख उन्मत्त-प्रलापवत् मानना होगा। इस विरोध का परिहार हमारी ऊपर दर्शायी सङ्गति के अनुसार ही हो सकता है अर्थात् पतञ्जलि के मत में पैप्पलाद आदि शाखाएं ऋषिप्रोक्त हैं। अतः वे उनकी वर्णानुपूर्वी को अनित्य मानते हैं, और वेद को अपौरुषेय होने से वे उसकी वर्णानुपूर्वी को नित्य मानते हैं, यह उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है।

शाखाएं प्रोक्त हैं, वेद का व्याख्यान हैं, यह हम ऊपर भली प्रकार दर्शा चुके। अब यहां हम एक और प्रबल शङ्का का समाधान कर देना भी आवश्यक समझते हैं, जो बहुत से विद्वानों के मन में भी यत्र-तत्र देखी जाती है।

महर्षि दयानन्द स्वीकृत शाखा के स्वरूप पर उठाई गई शंका का समाधान

ऐतरयालोचन पृ० १२७ पर श्री पं० सत्यव्रत सामश्रमी जी ने श्री स्वामीजी के 'शाखा वेदव्याख्यान हैं' इस मत का खण्डन करते हुए लिखा है—

'हन्त का नाम संहिता शाखेति व्यपदेशशून्या तेन महात्मनोररीकृता, यस्या मूलवेदत्वं गत्वा शाखेतिप्रसिद्धानामन्यासां तद्व्याख्यानग्रन्थत्वं मन्तव्यं भवेदिति त्वस्माकमज्ञेयमेव।'

अर्थात् स्वामी दयानन्द ने किसको मूलवेद माना है, जिसमें कि शाखा शब्द का व्यवहार न होता हो, और जिसको मूल जानकर अन्य शाखाओं को उनका व्याख्यानरूप ग्रन्थ माना जा सके।

इस आक्षेप के दो भाग हैं। एक तो यह कि मूलवेद कोई नहीं। दूसरा कोई ऐसी संहिता नहीं, जिसका कि शाखा शब्द से व्यवहार न हो।

अब हम इन दोनों आक्षेपों का उत्तर क्रमशः देते हैं—

(क) शतपथब्राह्मण का कर्त्ता याज्ञवल्क्य लिखता है—

'तदु हैकेऽन्वाहुः। होता यो विश्ववेदस इति। नेदरमित्यात्मानं ब्रवाणीति तदु तथा न ब्रूयान्मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति। व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद् व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्माद् यथैवर्चानूक्तमेवमेवानुब्रूयाद्धोतारं विश्ववेदसमिति' (शत० १।४।१।३५)। (तु०—काण्व शत० २।३।४।२५)।

इसका भाव यह है कि किसी शाखावाले 'होता यो विश्ववेदसः' ऐसा पाठ पढ़ते हैं। सो ऐसा पढ़ना ठीक नहीं। यह मनुष्यकृत पाठ है। वे यज्ञ में मानुषपाठ करते हैं। यज्ञ में मानुषपाठ पढ़ना यज्ञ की हीनता है। यज्ञ में हीनता न हो, इसलिए जैसा ऋचा का पाठ है, वैसा ही बोले 'होतारं विश्ववेदसम्' (ऋ० १।१२।१)।

इस प्रमाण से दो बातें सिद्ध होती हैं, प्रथम—शाखाएं जितनी हैं, वे

सब मानुष (मनुष्यप्रोक्त वा मनुष्य सम्बन्ध से युक्त) हैं। दूसरा—कोई ऋक् पाठ ऐसा है, जिसमें मनुष्य का कोई सम्बन्ध नहीं, और वही मनुष्य सम्बन्ध से रहित मूलवेद है।

शतपथ के इस स्थल के व्याख्यान में—

'होता य इति पाठविपरिणामस्य मनुष्यबुद्धिप्रभवतया मानुषत्वम्। यथैव वेदे पठितं तथैवानुवक्तव्यमित्युपसंहरति तस्मादिति। कीदृग्विधं तर्हि वेदे पठितमिति तदाह होतारमिति।'

(शतपथ१।४।१।३५ सा० भा० पृ० १४४)।

सायण भी 'होता यो विश्ववेदसः' शाखान्तर के इस पाठ को मानुष मानता है। और 'होतारं विश्ववेदसम्' को वेद का पाठ मानता है।

(ख) शतपथब्राह्मण का सबसे प्राचीन भाष्यकार हरिस्वामी (सन् ६३९ ई०) जो कि स्कन्द स्वामी का शिष्य था, शतपथ-ब्राह्मण-भाष्य के उपोद्घात के प्रारम्भ में लिखता है—

'वेदस्यापौरुषेयत्वेन स्वतःप्रामाण्ये सिद्धे तच्छाखानामपि तद्धेतुत्वात् प्रामाण्यमिति बादरायणादिभिः प्रतिपादितम्'

(शतपथहरिस्वामी भाष्य हस्तलेख पृ० २)।

अर्थात् 'वेदों के अपौरुषेय होने से ही उनका स्वतःप्रामाण्य सिद्ध है। उनकी शाखाओं का भी प्रामाण्य तद्हेतुता से अर्थात् वेद के अनुकूल होने से बादरायणादि ने स्वीकार किया है।' हरिस्वामी के इस वचन से दो बातें स्पष्ट सिद्ध होती हैं, एक तो यह है कि कोई अपौरुषेय वेद अपनी पृथक् सत्ता रखता है, और शाखायें उनसे भिन्न हैं। दूसरे उन शाखाओं का प्रामाण्य भी वेदानुकूल होने से ही स्वीकार किया जाता है।

हमारे उपयुक्त दोनों प्रमाणों से सूर्य के प्रकाश की भांति यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है कि शतपथकार तथा हरिस्वामी के मत में शाखाओं से अतिरिक्त मूल वेद अवश्य थे।

अब सत्यव्रत सामश्रमीजी के दूसरे आक्षेप का उत्तर लिखते हैं—वैदिक साहित्य में 'शाखा' शब्द का व्यवहार दो कारणों से होता है। एक तो पाठभेदादि करके जो अपूर्व प्रवचन किया जाता है, वह शाखा का रूप धारण कर लेता है, जैसे तैत्तिरीयसंहिता, काठकसंहिता, मैत्रायणीसंहिता तथा काण्वसंहितादि। दूसरा शाखा शब्द का व्यवहार

मूल ग्रन्थों में बिना किसी परिवर्तन या परिवर्द्धन के उसके पदपाठ कर देने मात्र से भी पदकार का नाम उस संहिता के साथ में संयुक्त हो जाता है। इसका उदाहरण ऋग्वेद की शाकलसंहिता है, शाकल्य ने संहिता पाठ में कोई परिवर्तन वा परिवर्द्धन किया हो, ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। हां निरुक्त अ० ६।२८ के 'वा इति च य इति च चकार शाकल्यः' इस पाठ से ऋग्वेद के पदपाठ का कर्तृत्व शाकल्य का सिद्ध होता है। पुराणों में भी इस शाकल्य को 'पदवित्तम' नाम से पुकारा गया है। पदपाठ का कर्त्ता होने मात्र से ऋक्संहिता के साथ शाकल्य का नाम जोड़ दिया गया और उसका शाकलसंहिता या शाकलशाखा के नाम से व्यवहार होने लगा। (कई लोगों ने शाकल को शाकलसंहिता का प्रवचनकर्त्ता माना है, वह प्रमाणाभाव से चिन्त्य है) किसी संहिता का पदपाठ मात्र कर देने से भी उसमें शाखा शब्द का व्यवहार होता है, इसके लिये हम एक स्पष्ट प्रमाण उपस्थित करते हैं—

> उखः शाखामिमां प्राह आत्रेयाय यशस्विने।
> तेन शाखा प्रणीतेयमात्रेयीति च सोच्यते॥
> यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः।
> तां विद्वांसो महाभागां भद्रमश्नुवते महत्॥
>
> तैत्तिरीय काण्डानुक्रम पृष्ठ ६, श्लोक २६, २७।

अर्थात् तित्तिरि ने इस तैत्तिरीयसंहिता को उख को पढ़ाया। उसने इस शाखा को आत्रेय को पढ़ाया। आत्रेय द्वारा बनाई हुई यह शाखा आत्रेयी कहलाती है, जिसका पदकार आत्रेय है, और वृत्तिकार कुण्डिन है। इस प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि आत्रेय के द्वारा पदपाठ कर देने मात्र से यह तैत्तिरीयसंहिता 'आत्रेयी' संहिता के नाम से भी व्यवहृत होने लगी। ठीक वैसी ही दशा शाकलसंहिता की भी समझनी चाहिये।

वेद और ब्राह्मण

ब्राह्मणग्रन्थ वेद के व्याख्यान ग्रन्थ हैं। उनमें मन्त्रों की प्रतीकें दे कर उनका अभिप्राय स्पष्ट किया गया है। इतना होने पर भी किसी भी ब्राह्मणग्रन्थ में किसी भी वेद के सब मन्त्रों का अर्थ नहीं दर्शाया गया। शतपथब्राह्मण ही केवल एक ऐसा ब्राह्मण है, जिसमें यजुर्वेद के लगभग अठारह अध्यायों के मन्त्रों का व्याख्यान उपलब्ध होता है। दूसरों में तो इतने मन्त्रों का भी व्याख्यान नहीं है, इसलिये हम इन्हें वेदों का भाष्य

नहीं कह सकते। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि इनमें केवल याज्ञिक प्रक्रिया का प्रतिपादन है या विनियोगमात्र ही दर्शाया गया है। यह कहना इनके गौरव को कम करना है। ब्राह्मणग्रन्थों का यज्ञ शब्द व्यापक अर्थों को लिये हुए है। जिसमें ज्ञान-विज्ञान तथा अन्य सभी उपयोगी बातों का समावेश हो जाता है। इस प्रकार जहां ब्राह्मणग्रन्थों से सृष्टि के अनेक विषयों का ज्ञान होता है, वहां वेद के शब्दों की अनेकार्थता का भी प्रतिभान होता है। ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार वेदों का अर्थ संकुचित नहीं है। वे किस मन्त्र से किस यज्ञ कर्म का अनुष्ठान करना चाहिये, उसका तथा उसके पात्र का वर्णन करते हैं। साथ में उस क्रिया का लाभ बताते हुए प्रतिज्ञात मन्त्र के अर्थ की याज्ञिक प्रक्रिया से सङ्गति भी दर्शाते हैं। इस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थ वेद के मन्त्रों का अर्थ अवश्य दर्शाते हैं। यही भाव महर्षि दयानन्द जी का ब्राह्मणग्रन्थों को वेद के व्याख्यान-ग्रन्थ कहने का है। इसकी पुष्टि निरुक्त से भी होती है। यास्क मुनि वेद-मन्त्रों के स्वीय अर्थों की पुष्टि में प्रायः करके **'इति च ब्राह्मणम्'** कहकर ब्राह्मणपाठ को उद्धृत करते हैं।

वेद और आरण्यक तथा उपनिषद्

आरण्यक वस्तुतः ब्राह्मणग्रन्थों के ही शेष भाग हैं। इनमें प्रधानतया वानप्रस्थ-आश्रमवासियों के करने योग्य यज्ञादि कर्मों का विधान है। उपनिषदें प्रायः इन्हीं आरण्यक ग्रन्थों के वे भाग हैं, जिनमें प्रधानतया आत्मा और परमात्मा सम्बन्धी ज्ञान का प्रतिपादन है। इस प्रकार ये स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं हैं। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों के कर्त्ता प्रायः एक ही हैं। अतः यह कहना कि ब्राह्मणकाल में केवल याज्ञिक प्रक्रिया का ही बोलबाला था, आत्मतत्त्व विचार का आरम्भ उपनिषद् काल में हुआ, सर्वथा मिथ्या भ्रान्ति है। वस्तुतः ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञ शब्द का अर्थ व्यापक है, अतः आत्मतत्त्व विचार भी उसका एक अंश ही है। आरण्यक और उपनिषदों में भी वेदमन्त्रों के आधार पर ही समस्त क्रिया-कलाप तथा ज्ञान-विज्ञान का प्रतिपादन है। इस प्रकार आरण्यक तथा उपनिषदें भी वेद के व्याख्यान ग्रन्थ ही हैं।

वेदार्थ की परम्परा

आरम्भ में वेद का अर्थ वेदमन्त्रों से ही समझ लिया जाता था। मन्त्रद्रष्टा ऋषि न जाने कितने रहे होंगे। बुद्धि, शक्ति आदि के ह्रास के

कारण जब केवल मन्त्रों के आधार पर वेदार्थ का समझना दुष्कर हो गया, तब ऋषियों ने अङ्ग और उपाङ्ग ग्रन्थों की रचना की और सामान्य जनों को उनका अभ्यास करा कर वेदार्थ ज्ञान कराने का मार्ग निकाला। यही बात यास्क ने कही है—

'उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च।' (निरुक्त १।२०)

उसी समय शाकल्यादि ऋषियों ने वेद का पदपाठ रचकर उसमें प्रकृति प्रत्यय तथा पूर्वोत्तर पद आदि का भेद दर्शाकर वेदार्थ समझाने का प्रयत्न किया। यह सब होते हुए भी हम इन्हें वेद का साक्षात् भाष्यकार नहीं कह सकते। वास्तव में उपलब्ध वेदार्थप्रकाशकों में केवल यास्क ही ऐसा है, जिसे हम वेदभाष्यकार कह सकते हैं। यद्यपि उसने भी किसी पूरे वेद का या उसके किसी भाग का आनुपूर्वी से भाष्य नहीं किया, तथापि उसने वेदार्थप्रक्रिया पर इतना विस्तृत प्रकाश डाला है कि उसे वेदभाष्यकार कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है। इस प्रकार सर्गारम्भ से लेकर यास्क तक वेदार्थ की परम्परा कैसे रही, इसका विशद वर्णन करना तो दुष्कर है, तथापि उन सब परम्पराओं का जो विकसित रूप है, वह यास्क के निरुक्त ग्रन्थ से भली प्रकार जाना जा सकता है। इसलिए यास्क का ग्रन्थ अपने विषय का अन्तिम आर्ष ग्रन्थ होने पर भी अत्यन्त उपयोगी और प्रमाणीभूत है। ऐसे प्रमाणीभूत आचार्य का वेद और वेदार्थ के विषय में क्या मन्तव्य है, यह जानना आवश्यक है।

यास्क और वेद, तथा उसका अर्थ

(१) यास्क के मत में वेद अपौरुषेय है। जैसे—

'पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे।' निरु० १।२॥

तथा—

'नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति'। निरु० १।१५॥

(२) ऋषि मन्त्रद्रष्टा थे, न कि कर्त्ता **'ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः'।** निरु० २।११॥

(३) प्रत्येक मन्त्र का अर्थ तीन प्रकार का अर्थात् आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधियज्ञिक, इन तीनों प्रक्रियाओं में होता है। इस विषय में उपलब्ध होनेवाले वर्तमान वेदभाष्यकारों में सब से प्रथम वेदभाष्य-

कार आचार्य स्कन्द स्वामी ने लिखा है कि यास्क के मत में हर एक मन्त्र का तीन प्रकार का अर्थ होता है। तद्यथा—

"सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' (निरु० १।२०) इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्।"

निरुक्त स्कन्दटीका भा० ३, पृ० ३६, ३७॥

(४) यास्क अनित्य अर्थात् व्यक्तिविशेषों का इतिहास नहीं मानता। 'उपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति' (निरु० २।१६) तथा 'ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता' (निरु० १०।१०,४६) मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषियों की आख्यान के रूप में कहने की प्रीति होती है, न कि कोई इतिहास वेद में है।

यही मत हमें निरुक्त स्कन्दटीका भा० २ पृ० ७८ में तथा दुर्ग टीका में प्रायः मिलता है।

(५) यास्क अर्थ के पीछे विभक्ति वा स्वर को मानता है 'अर्थो नित्यः परीक्षेत' 'यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्' (निरु० २।१)। निरु० ५।२३ में 'कथमनुदात्तप्रकृतिर्नाम स्याद्, दृष्टव्ययं तु भवति' स्पष्ट स्वर का व्यत्यय माना है।

(६) यास्क पदपाठ के पीछे अर्थ को नहीं बान्धता, जैसे कि कई एक विद्वानों की धारणा है। मासकृत् और मा सकृत् (निरु० ५।२१) आदि हमारी धारणा में प्रमाण हैं।

(७) यास्क मन्त्र के अर्थों में व्यत्यय को स्पष्ट मानता है, जैसे 'यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्' (निरु० २।१) अर्थात् अर्थ के अनुकूल विभक्ति का परिवर्तन सदा करना चाहिये। तथा निरु० ६।१ में 'आशुशुक्षणिः' पद को प्रथमान्त होते हुए यास्क ने 'पञ्चम्यर्थे वा प्रथमा' यह कह कर मनसा ही नहीं, अपितु कर्मणा (Practically) भी व्यत्यय को स्वीकार किया है। इस व्यत्यय पर हमारे कई एक मित्र ऋषि दयानन्द पर आक्षेप करनेवाले अनार्ष ग्रन्थों के पृष्ठपोषक इतना घबराते हैं कि जिसका कोई ठिकाना नहीं। कोई 'बाऊला छन्दसि' बन जाता है, तो कोई 'बहुलं छन्दसि' विषय के उदाहरणों के परिगणन करने का अभिमान दर्शाने लगते हैं, जिसमें वे कभी सफल नहीं हो सकते, चाहे सारी आयु लगे रहें, तो भी अन्त नहीं पा सकते।

वेदार्थ की प्रक्रिया का यथार्थबोध न होने से वे सब अज्ञान में घुसे हैं। आर्षज्ञान तथा गुरु परम्परा से पढ़े बिना यथार्थज्ञान हो भी कैसे सकता है ?

ये नये विद्वान् कहलाने वाले कहते हैं कि यहां स्वर ऐसा है, इसलिये अर्थ ऐसा ही होगा। भला ये क्या जाने ऋषियों के अभिप्राय को। जिस बात को पाणिनि, पतञ्जलि, यास्क जैसे वेदपारदर्शी आप्त ऋषि-मुनि कहें, वह बात कैसे अमाननीय हो सकती है। जब इन लोगों के सामने स्पष्ट प्रमाण आ जाते हैं, जिनका कि इनके पास कोई उत्तर नहीं होता तो फिर ये कहने लगते हैं कि यास्क भी तो हमारे ही जैसा था, उसके चार आंखें तो थीं नहीं, न चार हाथ थे। पर वे लोग यह भूल जाते हैं कि ऋषि निर्मलमस्तिष्क होते हैं। कहां साक्षात्कृतधर्मा ऋषि लोग, कहां साधारण बुद्धि के ये लोग, जिन्हें महाभाष्य के सूत्र का अभिप्राय समझाने से भी समझ में नहीं आवे। अभिमान की यह चरम सीमा है। कहां ऋषि कहां मनुष्य !!!

(८) यास्क मन्त्र में आये पद को ही देवता नहीं मानते, अपितु मन्त्र में आये पद के अर्थ को भी देवता मानते हैं। देखो निरु० ८।१७ में 'वनस्पति' के अर्थ 'यूप' और 'अग्नि' को देवता माना है। ऋक्सर्वानुक्रमणी में भी 'वनस्पति' के अर्थ 'यूप' को देवता माना है। यास्क केवल लिङ्ग अर्थात् चिह्न से देवता नहीं मानता। देखो निरु० १।१७॥

(९) यास्क यौगिकवाद का परमपोषक है। यास्क के समस्त निर्वचन इसी के प्रमाण हैं। 'अयमपीतरत् शिर एतस्मादेव' इत्यादि वचनों का क्या अभिप्राय है ?

(१०) विनियोग को भी निरुक्तकार अर्थानुसारी मानता है। जिस मन्त्र का जो अर्थ होगा, तदनुसार ही वह मन्त्र विनियुक्त (applied) होगा, वैसे ही नहीं। देखो निरु० १।१६॥

इन उपर्युक्त प्रमाणों द्वारा हमने वेद तथा वेदार्थ के मौलिक सिद्धान्तों के विषय में यास्क के मत का निर्देश किया है। वेद और वेदार्थ के सम्बन्ध में ठीक यही सिद्धान्त दयानन्द का है और ठीक इसके विपरीत आजकल के अंग्रेजी ढङ्ग के वेद के विद्वान् कहे जानेवालों का है। यास्क के इतने प्रमाण देने का हमारा अभिप्राय यह है कि प्रथम

वेदभाष्यकार यास्क ने वेद के अर्थ को जैसा समझा, वैसा उसके बाद के भाष्यकार नहीं समझ सके।

यास्क के पीछे के वेदभाष्यकार

यह विदित रहे कि अब तक स्कन्द-उद्गीथ-वेङ्कट-आत्मानन्द-आनन्दतीर्थ-जयतीर्थ-भरत-स्वामी-उवट-गुणविष्णु आदि सायण से प्राचीन वेदभाष्यकारों के भाष्य उपलब्ध हो रहे हैं। नारायण-हस्तामलक-लक्ष्मण-धानुष्कयज्वा-देवस्वामी-हरिस्वामी आदि अनेक भाष्यकारों का हमें पता लग रहा है। सायण से अर्वाचीन मुद्गल-भवदेव-आनन्दबोध-अनन्ताचार्य-देवयाज्ञिक-मुरारिमिश्र-देवपाल आदि भिन्न-भिन्न वेदभाष्यकारों के विषय में पता लग रहा है और इनके कुछ एक भाष्य मिलते भी हैं। इन भाष्यों के विषय में हम कुछ लिखते पर अल्प समय होने से छोड़ते हैं।

मोक्षमूलर-विल्सन-ग्रिफिथ-ह्विटने आदि योरूपीय स्कालरों ने जो वेदों के अनुवाद किये और भी जिन-जिन महानुभावों ने वेद-विषय में कुछ लिखा, उन सबका विवरण हम यहां इस समय नहीं दे रहे।

सायणभाष्य की आलोचना भी हम इस समय समयाभाव से नहीं करेंगे, केवल इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि सायणाचार्य का समस्त वेद का भाष्य याज्ञिक प्रक्रियापरक ही है, सायण ने यज्ञप्रक्रिया को भी ठीक-ठीक नहीं समझा है। अभ्युपगमवाद से मान भी लिया जावे कि सायण ने यज्ञप्रक्रिया को ठीक समझा है और तदनुसार ही भाष्य किया है, तो भी सायण का समस्त भाष्य वेद के एक तिहाई अर्थ को दर्शाता है। सायण के किये हुए सारे अर्थ से दुगुना आध्यात्मिक तथा आधिदैविक अर्थ और शेष है, जो उसको समझ में नहीं आया, न उसने दर्शाया।

सायण ने जिन आध्यात्मिक तथा आधिदैविक प्रक्रियाओं की उपेक्षा की, उनका निदर्शन केवल ऋषि दयानन्द का भाष्य करता है, क्योंकि वह याज्ञिक अर्थ को मानता और दर्शाता हुआ आध्यात्मिक और आधिदैविक अर्थों को बराबर देता है।

अब आप महानुभाव स्वयं सोच सकते हैं कि सायण के पीछे चलनेवाले अङ्ग्रेजी वा अन्य भाषा-सम्बन्धी अनुवादों की तो कोई स्थिति ही नहीं रह जाती। वे सब के सब हमारी दर्शाई यास्क की **वेदार्थप्रक्रिया के सर्वथा विपरीत होने से हेय अर्थात् त्यागने के योग्य हैं।**

एक बात इस विषय में और जान लेनी आवश्यक है, वह यह कि जो कहते हैं हम तो सत्य के उपासक हैं 'सा नः सत्योक्तिः परिपातु सर्वतः' की झूठी रट लगाते हैं कि हम तो वेद का अनुवाद जो शब्द कहेगा वही करते चले जायेंगे, अर्थात् शब्द पर शब्द रखते चले जायेंगे, उन्हें पता होना चाहिये कि भला वेद का अर्थ ऐसे कभी हो सकता है ? लीजिये मैं आपके सामने दो-तीन वाक्य रखता हूं, कोई भी महानुभाव इन वाक्यों का (literal) अर्थात् शब्द पर शब्द अनुवाद (Translation) अङ्गरेजी में करके दिखावे—

में पेशाब करना चाहता हूं (I want to answer the call of Nature), उसने मेरे दो रुपये मार लिये तुम्हारा क्या गया (He killed my two Rupees what went of yours).

मैं वाग में गया और मेरा दिल बाग-बाग हो गया (I went into the gerden and my heart became garden and geıden)

पहिले वाक्य में call of nature का परस्पर क्या सम्बन्ध ? Call of nature छींक भी हो सकती है। आगे के दोनों वाक्यों का अनुवाद अङ्गरेजी Translation के साथ मखौल है। भला बताइये जब इन वाक्यों का Literal (शब्द पर शब्द) मक्खी पर मक्खी मारने से अनुवाद नहीं हो सकता, तो वेद जैसे गम्भीर मन्त्रों का literal अनुवाद कभी हो सकता है ? Griffith के अंग्रेजी अनुवाद की नकल मारकर उसको वेदभाष्य का नाम देना, वेदभाष्य की मट्टी पलीद करना नहीं तो और क्या है ? आक्षेप उठाना दयानन्दभाष्य पर !!!

ऋषि दयानन्द कृत वेदभाष्य की विशेषतायें

हम ऊपर संक्षेप से कह चुके कि वेद और वेदार्थ के विषय में यास्क की जो धारणा है, वही ऋषि दयानन्द की भी है। अब हम ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य की कुछ मौलिक विशेषताओं का वर्णन करते हैं—

१—ऋषि दयानन्द का वेदभाष्य वेदापौरुषेयत्ववाद पर आधारित है, इसलिए इसमें कहीं भी इस धारणा के विरुद्ध इतिहासादि तथा अज्ञानमूलक जादू-टोने आदि की गन्ध भी उपलब्ध नहीं होती। यद्यपि सायण ने भी तत्तद् वेदभाष्य की भूमिका में वेदापौरुषेयत्ववाद का समर्थन किया है, तथापि वह उसको निभाने में सर्वथा असमर्थ रहा है, यह उस के वेदभाष्य से हस्तामलकवत् स्पष्ट है।

२—वेद के समस्त सुबन्त पदों को धातुज मानकर (जैसा कि यास्क और पतञ्जलि का सिद्धान्त है) प्रकरणादि के अनुसार उनके सभी सम्भव अर्थों का निरूपण किया है। इसलिए निर्वचनभेद से होनेवाले विभिन्न अर्थों का भी इसमें निरूपण मिलता है।

३—धातुओं के अनेकार्थत्व के सिद्धान्त को (जो सभी वैयाकरणों तथा भाष्यकारों का मुख्य सिद्धान्त है) मानकर नाम आख्यात पदों के प्रकरणानुकूल अनेकार्थ दर्शाए हैं।

४—वेद के अनेक पदों का अर्थ वेदमन्त्रों के आधार पर भी दर्शाया है। यथा यजु. १।१३।

५—अग्नि शब्द से केवल भौतिक अग्नि का ही ग्रहण नहीं होता, अपितु उसके निर्वचन के आधार पर आध्यात्मिक आधिदैविक आदि प्रक्रियाओं में परमेश्वर-विद्वान्-राजा-सभाध्यक्ष-नेता-विद्युत्-प्रकाशक-जठराग्नि तथा भौतिकाग्नि आदि अनेक अर्थ होते हैं। इसी प्रकार वायु-इन्द्र-आदित्य-यम-रुद्र आदि सभी पदों के विषय में समझना चाहिये। यहां यह भी ध्यान रखना चाहिये कि ये इन्द्र-अग्नि-मरुत्-वायु-मित्रादि शब्द जहां भौतिक पदार्थों के वाचक हैं, वहां मुख्यवृत्ति से ये ईश्वर के ही वाचक हैं। यह इस भाष्य की सबसे बड़ी विशेषता है, इसी के आधार पर इस भाष्य का वास्तविक रहस्य समझा जा सकता है।

ऋषि दयानन्द की इस प्रक्रिया पर उनके समकालिक अनेक पण्डितों ने आक्षेप किये थे। उनका संक्षिप्त तथा सारगर्भित उत्तर ऋषि दयानन्द ने अपने 'भ्रान्तिनिवारण' नामक लघु ग्रन्थ में दिया है। वेदार्थ-जिज्ञासुओं के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

६—इस भाष्य में **'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'** (वै० ६।१।१) सिद्धान्त को मानकर मन्त्रार्थ दर्शाया गया है, अतः इसमें कोई ऐसी ऊटपटांग बात नहीं है, जो अज्ञानमूलक हो।

७—वेद सर्वज्ञ कवि का काव्य है, अतः उसमें काव्य के अङ्गभूत अलङ्कारों का होना आवश्यक है। वेदभाष्यकारों में सर्वप्रथम आचार्य दयानन्द ने ही श्लेषादि अलङ्कारों का आश्रय करके वेदार्थ में बहुविध वैचित्र्य दर्शाया है।

८—**'सर्वज्ञानमयो हि सः'** (मनु० २।७) के सिद्धान्त को मानकर वेद

में सभी विद्याओं के मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन केवल इसी भाष्य में उपलब्ध होता है।

९—किसी भी भाष्यकार ने वेदमन्त्रों के षड्जादि स्वरों का अर्थात् किस मन्त्र का किस स्वर में गान करना चाहिये, इसका उल्लेख नहीं किया। पिङ्गल के आधार पर इनका निदर्शन सर्वप्रथम ऋषि दयानन्द ने ही अपने भाष्य में किया है।

१०—ऋषि दयानन्द ने मन्त्रों के पदार्थ को अन्वय से सर्वथा पृथक् रखकर और पदार्थ में समस्त प्रक्रियाओं में सङ्गत होनेवाले विविध निर्वचनों का निदर्शन कराकर वेदार्थ को सीमित नहीं किया। यह इस भाष्य की एक बड़ी विशेषता है। साथ ही उनके पदार्थ में ऐसे अनेक पदों के निर्वचन मिलते हैं, जिनके निर्वचन ब्राह्मण तथा निरुक्तादि ग्रन्थों में भी नहीं मिलते।

इत्यादि ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य की अनेक विशेषतायें हैं, जिन का हम यहां पूर्णतया उल्लेख नहीं कर सकते।

वेदभाष्यों की बाढ़

आज कल जो उठता है वह सीधा वेद के ऊपर ही कलम उठाता है। आर्यसमाज में तो इसकी अति हो गई है। वेदभाष्य करने के लिये कितने ज्ञान की आवश्यकता है या दूसरे शब्दों में वेदभाष्यकार बनने के लिये किन गुणों का होना आवश्यक है, इसका बहुत उत्तम विवेचन सायण से पूर्ववर्ती वेङ्कटमाधव अपने ऋग्वेदभाष्य में लिखता है—

न शक्यतेऽनृषिभिर्वक्तुम् ऋगर्थ इति निश्चयः।
शाकल्यः पाणिनिर्यास्क इत्यृगर्थपरास्त्रयः।
यथा शक्त्यनुधावन्ति न सर्वं कथयन्त्यमी॥
संहितायास्तुरीयांशं विजानन्त्यधुनातनाः।
निरुक्तव्याकरणयोरासीद् येषां परिश्रमः॥
ताण्डके शाट्यायनके श्रमः शतपथेऽपि च।
कौषीतके काठके च स्याद् यस्येह स पण्डितः॥
ऐतरेयकमस्माकं पैप्पलादमथर्वणाम्।
तृतीयं तित्तिरिप्रोक्तं जानन् वृद्ध इहोच्यते॥

अर्थात् निश्चय ही अनृषि=ऋषिभिन्न साधारण व्यक्ति वेदार्थ को नहीं समझ सकता। शाकल्य पाणिनि और यास्क ये तीन ऋगर्थ के

जाननेवाले हैं। उन्होंने भी यथाशक्ति ही वेदार्थ को दर्शाया है। आजकल के विद्वान् जिन्होंने केवल निरुक्त और व्याकरण में परिश्रम किया है, वेद का चतुर्थांश जानते हैं। ताण्ड्य, शाट्यायन, शतपथ, कौषीतकि, काठक, ऐतरेय, पैप्पलाद तथा तैत्तिरीय ब्राह्मणों को जो जानता है, वह पण्डित कहाने योग्य होता है।

यह आज से लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व की उस समय की बात है, जब ब्राह्मणों के परिवारों में अनवच्छिन्न परम्परा से वेदाध्ययन होता था अर्थात् उस समय में जो इतने महान् ग्रन्थों को जानता था, वह भी वेद का केवल चतुर्थांश मात्र का ज्ञाता समझा जाता था। उसके सामने आज-कल के अल्प तथा संस्कृत भाषा को भी भले प्रकार न जाननेवाले वेदभाष्यकारों के विषय में क्या कहा जाय !

स्वामी दयानन्द का वैदिक तथा इतर विषयों में कितना अधिक पाण्डित्य था, इस बात को भली प्रकार वही समझ सकता है, जिसने श्रद्धापूर्वक ऋषि के समस्त ग्रन्थों को पढ़ा हो और उनका मनन किया हो। ऋषि दयानन्द ने अपने भ्रान्तिनिवारण ग्रन्थ में लिखा है कि **मैं परीक्षा करके तीन हजार ग्रन्थों को प्रमाण मानता हूं।** उन्होंने कितने हजार ग्रन्थ पढ़े होंगे, इसका अनुभव सहज लगाया जा सकता है। यही कारण है कि जैसा वेद का भाष्य ऋषि दयानन्द ने किया, सैकड़ों वर्षों में और कोई वेदभाष्य नहीं कर सका।

इसके साथ ही यह ध्यान रखना चाहिये कि जिस व्यक्ति के जन्म-जन्मान्तरों के जैसे संस्कार होंगे, उसे वैसे ही अर्थ का प्रतिभान होगा। यही कारण है कि ऋषि दयानन्द को वेद के सभी मन्त्रों में आध्यात्मिक अर्थ दिखाई पड़ता है। सायणादि को कहीं सूझता भी नहीं। स्कन्द स्वामी ने अपने निरुक्तभाष्य में किन व्यक्तियों को कैसे अर्थ स्फुटित होते हैं, इसका विस्तृत विवेचन करते हुए आध्यात्मिकार्थद्रष्टाओं के विषय में लिखा है—

'तत्राध्यात्मविदस्तावत् सन्मात्रनिबद्धबुद्धयः शिथिलीभूतकर्मग्रह-ग्रन्थयो भिन्नविषयभवसंक्रमस्थानवैराग्याभ्यासवशात् समासादितस्थिर-समाधयो निरस्तसमस्ताधयो निरस्तबाह्यविषयैषणा निरुद्धान्तःकरण-वृत्तयो निष्कम्पदीपकल्पाः क्षेत्रज्ञज्ञानमननाः '

निरु० स्कन्दटीका भा० ३ पृ० ३६।

अर्थात् जो आत्मवित् आत्मदर्शी होते हैं, जिनकी बुद्धियां सन्मार्गानु-

गामिनी होती हैं, जिन की कर्मों की ग्रन्थियां शिथिल हो चुकी हों, जिन्होंने विषयवासनारूपी संसारचक्र से वैराग्यवान् होते हुए अभ्यास द्वारा समाधि की स्थिरता उपलब्ध कर ली है, जिनकी अन्तःकरण की वृत्तियां निरुद्ध हो चुकी हैं, कम्पादि से रहित दीप के समान अचल क्षेत्रज्ञ, जीवसम्बन्धी ज्ञान से भरपूर ··· ।

ऐसे गुणोंवाले ही वेदभाष्य करने के अधिकारी हैं। ये गुण हमारे वेदभाष्यकारों में कहां तक हैं, सो स्वयं सोचने की बात है।

वेदभाष्यों की जितनी बाढ़ इस समय संसार में आ रही है और विशेषकर आर्यसमाज में, उतनी संभव है, कभी नहीं आई होगी। वेङ्कट-माधव अपने ऋग्वेदभाष्य में अपने समय के वेदभाष्यकारों के विषय में लिखता है—

> भाषमाणास्तमेवार्थमथ सम्प्रति मानवाः।
> मायाविनो लिखन्त्यन्ये व्याख्यानानि गृहे-गृहे ॥

इससे प्रतीत होता है कि उसके समय में भी अनेक अनधिकारी वेद पर कलम चलाने में ही अपना पाण्डित्य समझते थे। अस्तु आर्यसमाज के अधिकारियों और नेताओं को इस विषय में विशेष ध्यान देना चाहिये।

वेदपरिषदों की आवश्यकता

इन उपर्युक्त दोषों के निवारण के लिए परमावश्यक है कि आर्य-समाज वेदपरिषदों की योजना बनावे, जिसमें वे विद्वान् हों जो आर्य-समाज के दस नियमों और ५१ सिद्धान्तों को मनसा वाचा कर्मणा ठीक मानते हों और उनमें पूर्ण निष्ठा रखनेवाले हों। उनको जो भी शङ्कायें हों,वे सब वेदपरिषदों में उपस्थित की जावें। वेदार्थ के विषय में शङ्कायें उपस्थित करनेवाले की भूरि-भूरि प्रशंसा की जावे, उनके प्रति दुर्भावना वा द्वेषबुद्धि रखनेवाले व्यक्ति घृणित समझे जावें। हां! उन शङ्का उपस्थित करनेवाले महानुभावों का भी कर्त्तव्य होना चाहिये 'न बुद्धि-भेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्' साधारण जनता में इन बातों को, स्कूल वा कालेजों में वेद पढ़ाते हुए छात्रों को वेद में इतिहास पढ़ाना किसी प्रकार भी उचित नहीं कहा जा सकता। जो वेदपरिषदों में अपनी शंकायें न रखकर इधर-उधर भ्रान्ति फैलावें, उन्हें घृणित समझा जावे और आर्यसमाज से पृथक् कर दिया जावे। तात्पर्य यह है कि सब एक सिद्धान्त अर्थात् आर्यसमाज के सिद्धान्त को लेकर उपस्थित हों। ये वेद-

परिषदें पहिले बड़े-बड़े शहरों की समाजों में हों, जहां बड़े-बड़े पुस्तकालय हों, फिर प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओं में बनें। अन्त में सारे आर्यसमाज की एक मुख्य वेद-परिषद् हो। इनमें उपर्युक्त विद्वानों का ही समावेश रहना चाहिये। वर्ष में कम से कम दो बार इन वेदपरिषदों का अधिवेशन हो। उनमें सम्मिलित होनेवाले आर्य-विद्वानों का सब व्यय दिया जावे। छः मास पूर्व एक ही विषय की शङ्काओं की सूचना तथा उत्तर-पक्ष का सक्षेप सबके पास पहुंच जावे। उस पर सब तय्यारी करके आवें। ऊहापोह द्वारा अन्त में जो सिद्धान्त ठीक बैठे, उसको प्रकाशित कर दिया जावे, उसी का प्रचार हो, अपने-अपने मत का नहीं।

भला यह कौन कह सकता है कि स्वाध्याय करनेवाले को शङ्कायें ही पैदा नहीं होतीं। शङ्का पैदा होना ही स्वाध्याय अर्थात् गम्भीर अनुशीलन का परिचायक है।

जब वेदपरिषदों में हम एक-दूसरे की योग्यता बढ़ाने में सहायक होते हुए गम्भीर स्वाध्याय और योग्यता द्वारा सिद्धान्तपोषक बन जावेंगे, तो निश्चय समझें कि इन विदेशीय स्कालरों तथा उसके अनुवर्त्ती भारतीय स्कालरों के समाधान का कार्य बहुत सुगम हो जायगा। वे सब अन्त में हमारे साथ होंगे, क्योंकि अन्त में सत्य की विजय अवश्य होती है। जब हम अपनी धारणाओं और सिद्धान्तों को शुद्ध भावना से, विना किसी छल कपट के रखेंगे, तो हर कोई हमारी बात मानेगा। पहिले हम अपने घर (अर्थात् आर्यसमाज) में वेदपरिषदों का स्वरूप ठीक बना लेंगे तो आर्यसमाज से बाहर भारतीय विद्वानों से इसी प्रकार वेदपरिषदों द्वारा विचार-विनिमय होकर वहुत लाभ हो सकता है। पीछे संसार भर के विद्वानों से भी विचार होना सम्भव है, जैसा कि इङ्गलैण्ड के प्रसिद्ध विद्वान् कीथ ने मुझे एक पत्र लिखते हुए इच्छा प्रकट की थी।

सबसे पहले आर्यसमाज में इन वेदपरिषदों का होना आवश्यक है। इनके सुस्थिर हुए विना आगे बढ़ने से कुछ लाभ नहीं हो सकता।

वेद-सम्मेलन कैसे होने चाहियें

इन वेदसम्मेलनों के तत्त्वावधान में आर्यविद्वानों द्वारा वेद के भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों पर गवेषणापूर्ण भाषण वा निबन्ध उपस्थित किये जाने चाहिये, जिनसे आर्य जनता में वेद के प्रति अपूर्व श्रद्धा-भक्ति उत्पन्न हो और वैदिक धर्म का मुख उज्ज्वल हो। कम से कम तीन मास पहिले

निश्चित विषयों की सूचना विद्वानों तथा आर्य जनता में भी प्रकाशित कर दी जाया करे। समय विचार का आज की भांति २-३ घण्टे का नहीं अपितु कम से कम एक सप्ताह भर का हो, जिससे सब विद्वान् अपने-अपने विचार उत्तम रीति से शान्तिपूर्वक उपस्थित कर सकें। आवश्यकतानुसार समय न्यूनाधिक भी हो सकता है। 'वेद ईश्वरकृत हैं' 'वेद में इतिहास नहीं' आदि-आदि विषयों पर प्रौढ ग्रन्थ वा निबन्ध लिखनेवालों को पारितोषिक दिये जावें। जो वेद-विषयों पर प्रौढ़ पुस्तक लिखें, उन्हें पारितोषिक दिये जावें।

आर्यसमाज में इस समय मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक के समान दो पारितोषिकों की व्यवस्था हो चुकी है। एक है श्री ठाकुरदत्त अमृतधारा ट्रस्ट की ओर से ५००) का, और दूसरा श्रीमती आर्यसार्वदेशिक सभा की ओर से १५००) रुपये का। यदि इन दोनों पारितोषिकों का विचार-पूर्वक अच्छे प्रकार उपयोग हुआ, तो निश्चय ही इससे आर्य विद्वानों को प्रौढ ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा मिलेगी और उनसे आर्यसमाज के साहित्य की वृद्धि होगी। आर्यसमाज में इस प्रकार के अनेक पारितोषिकों की आवश्यकता है।

इन वेदसम्मेलनों या वेदपरिषदों में विना किसी भेद-भाव के उन सभी योग्य विद्वानों को बुलाया जावे, जो आर्यसमाज के १० नियमों तथा ५१ सिद्धान्तों को मनसा, वाचा, कर्मणा ठीक मानते हों। इन सम्मेलनों में बुलाये गये आर्यविद्वानों का सब व्यय दिया जावे। एक ही सज्जन इस वेदसम्मेलन या वेदपरिषद् का व्यय दे सकता है। हजार डेढ़ हजार रुपया तो कुछ भी बात नहीं है।

इस प्रकार वेदसम्मेलनों वा वेदपरिषदों में विचार किया जावे कि साधारण जनता में वेद के विषय में श्रद्धा, भक्ति, स्वाध्याय की वृद्धि किन-किन उपायों से हो सकती है। वेद के प्रौढ़ विद्वान् किस तरह पैदा हो सकते हैं, ऋषिदयानन्द-प्रदर्शित आर्ष पाठविधि कैसे सर्वत्र गुरुकुलों में कार्यरूप में परिणत की जावे। ये परिषदें बतावें कि किस प्रकार हमारे गुरुकुल और कालेज इङ्गलैण्ड और जर्मनी की बड़ी-बड़ी यूनिवर्सिटियों का स्थान लेवें अर्थात् डी० ए० वी० कालेजों और गुरुकुलों में वेदविषय की बड़ी-बड़ी गद्दियां अर्थात् chairs हों, जहां वेद-वेदाङ्ग-उपाङ्गों के एक-एक प्रौढ़ विद्वान् बैठे हों। वहां अमेरिका-जापान-इङ्गलैण्ड-जर्मनी

आदि संसार के सभी देशों से संस्कृत का अध्ययन करने के लिए बड़े-बड़े विद्वान् आवें, न कि यहां के विद्वान् संस्कृत की योग्यता की मोहर लगवाने के लिए योरोप या अमेरिका आदि जावें। जब ऐसा होगा तभी हमारे गुरुकुल और कालेज सार्थक होंगे।

अन्त में एक बात और कहना चाहता हूं—आर्यसमाज में स्वाध्याय की रुचि उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि समस्त प्रान्तों के बड़े-बड़े नगरों की प्रमुख समाजों में एक-एक उत्तम पुस्तकालय हो, जिनसे स्वाध्यायशील व्यक्तियों को पूरा-पूरा लाभ उठाने की सुविधा दी जाये। हमें अनेक व्यक्ति ऐसे भी मिलते हैं जो स्वाध्याय की रुचि रखते हैं, परन्तु उनकी अपनी आर्थिक परिस्थिति ऐसी नहीं होती कि वे पुस्तकों का संग्रह कर सकें, और उनको अपने नगरों की समाजों के पुस्तकालयों में भी स्वाध्यायोपयोगी पुस्तकें नहीं मिलतीं, वे चाहते हुए भी निराश हो जाते हैं। प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओं के तत्त्वावधान में विशाल पुस्तकालय होने चाहिये, जिनसे न केवल आर्यसमाजिक व्यक्ति ही अपितु दूसरे भी लाभ उठा सकें। आर्यसार्वदेशिक सभा के आधीन इतना बड़ा पुस्तकालय होना चाहिए, जिसमें न केवल सब प्रकार की छपी हुई ही पुस्तकें हों, अपितु दुर्लभ हस्तलिखित ग्रन्थों का भी संग्रह हो। ऐसा ही एक महान् पुस्तकालय श्रीमती परोपकारिणी सभा को बनाना चाहिए। इन्हीं बृहत् पुस्तकालयों में बैठकर आर्यसमाज के विद्वान् वैदिक साहित्य और सिद्धान्तों पर अन्वेषण करें, सभी प्रान्तीय प्रतिनिधि सभायें आर्यसार्वदेशिक सभा और परोपकारिणी सभायें मिलाकर ऐसी योजना बनावें, जिससे वैदिक साहित्य, भारतीय इतिहास आर्यसंस्कृति आदि विषयों पर उच्च कोटि का प्रौढ़ साहित्य लिखवावें और साथ में उपर्युक्त कार्य के साधनभूत सभी प्राचीन आर्षग्रन्थों तथा अत्यन्त उपयोगी अन्य ग्रन्थों के प्रकाशन, उनके आर्यभाषा में अनुवाद की व्यवस्था करें। तभी आर्यसमाज के विद्वानों की प्रतिष्ठा, उच्च, प्रौढ़ साहित्य का सृजन, ऋषि दयानन्द के उद्देश्य के क्रियात्मक रूप की पुष्टि तथा आर्यसमाज का मुख उज्ज्वल होगा और भारत सन्तान का उत्थान वा संसार का कल्याण होगा। ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

[—वेदवाणी, वर्ष ४, अङ्क २, ४]

—:०:—
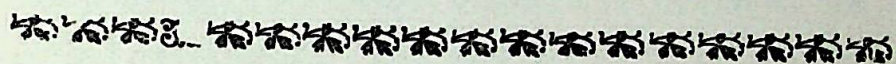
वेदवाणी में निबन्ध
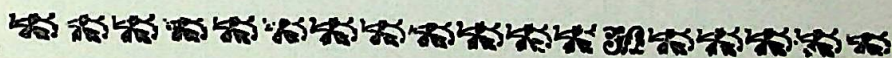
सायणाचार्य का वेदार्थ

सायणाचार्य से पूर्व उपलब्ध होनेवाले स्कन्द, दुर्ग आदि के वेदभाष्यों तथा सायणाचार्य के भाष्य में बहुत अधिक भेद नहीं, किन्तु सायण से पूर्ववर्ती भाष्यकारों तक वेदार्थ की त्रिविध (आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधियज्ञ) प्रक्रिया पर्याप्त मात्रा में रही। याज्ञिक प्रक्रिया का शुद्ध स्वरूप बना रहता, तब तो कुछ भी हानि नहीं थी; त्रिविध प्रक्रिया में याज्ञिक प्रक्रिया भी एक है ही, तदनुसार भी मन्त्र का अर्थ होना ही चाहिए। पर सायणाचार्य ने तो अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों की प्रक्रिया को न जाने कैसे छोड़कर केवल याज्ञिक प्रक्रियापरक ही वेदमन्त्रों का अर्थ किया और वह भी अधूरा। अधूरा इसलिए कि सायण का वेदभाष्य केवल श्रौतयज्ञों की प्रक्रिया को लक्ष्य में रखकर ही किया हुआ है। गृह्य सूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों के विषय में सायण का भाष्य कुछ एक स्थलों को छोड़कर प्रायः कुछ भी नहीं कहता। गृह्य अर्थात् स्मार्त्त प्रक्रिया में भी तो वेदमन्त्रों का अर्थ होना ही चाहिये। इस प्रक्रिया के लिए हमें गृह्य सूत्रों के भाष्यकारों के किये वेदार्थ से वेदमन्त्रों के अर्थ देखने होंगे। ऐसी दशा में सायण भाष्य को याज्ञिक प्रक्रिया में अधूरा ही कहेंगे। इतना ही नहीं, श्रौतप्रक्रिया के विषय में भी सायण कहां तक प्रामाणिक है, यह अभी साध्यकोटि में ही है। श्रौत विषय में भी सायण की अनेक भूलें हैं, जो कालान्तर में दिखाई जा सकती हैं।

इसमें तो कुछ भी सन्देह नहीं कि सायणाचार्य ने अपने समय में वैदिक साहित्य में महान् प्रयास किया। वेदों के भाष्य तथा ब्राह्मणग्रन्थों और आरण्यकों के भाष्य बनाए। अन्य अनेक विषयों में भी बहुत से प्रौढ़तापूर्ण ग्रन्थ लिखे, चाहे वे सब उनकी अपनी कृति न हों, उनके संरक्षण में बने हों, पर उनका उत्तरदायित्व तो उन पर ही है। सायणाचार्य के इस प्रयास के लिए प्रत्येक वेद प्रेमी को उनका अनुगृहीत होना चाहिए। उनके वेदभाष्य में व्याकरण और निरुक्तादि का प्रयोग भी हमें पर्याप्त मात्रा में मिलता है। परन्तु मूलभूत धारणा के अनिश्चित वा भ्रान्त होने के कारण उनका मूल्य कुछ भी नहीं है और कई स्थानों में विरुद्ध भी है।

जब सायणाचार्य के मन में यह मिथ्या धारणा निश्चित हो चुकी थी

कि वेदमन्त्र यज्ञप्रक्रिया का ही, प्रतिपादन करते हैं, ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक ही था कि वह अपना समस्त यत्न वा प्रमाणादि सामग्री यज्ञप्रक्रिया के लिए ही समर्पित करते। जब ऐनक ही हरी पहन ली तो सब पदार्थ हरे दिखाई देने में आश्चर्य ही क्या हो सकता है ? उपर्युक्त धारणा के कारण उसका वेदार्थ में अनेक अनावश्यक और आधाररहित सिद्धान्तों तथा परिणामों पर पहुंचना अनिवार्य था। उदाहरणार्थ पाठक देखें :—

सायण के वेदभाष्य में प्रायः सर्वत्र जहां-जहां मूलमन्त्र में जन, मनुष्य, जन्तु, नर, विट्, मर्त्त आदि सामान्य मनुष्यवाचक शब्द आये हैं, वहां सर्वत्र निर्वचन के आधार को छोड़कर, वाच्यवाचक सम्बन्ध के सामान्य नियम की अवहेलना करके सामान्य 'मनुष्य' अर्थ न करके 'यजमानादि' ही किया है। जैसा कि ऋग्वेद १।६०।४ में **'मानुषेषु यजमानेषु'**। ऋ० १।६८।४ में **'मनोरपत्ये यजमानरूपायां प्रजायाम्'**। ऋ० १।१२८।१ में **'मनुषः मनुष्यस्याध्वर्योः'**। ऋ० १।१४०।१२ में **'जनान् यजमानान्'** आदि। भला बताइये इन मनुष्य, जन्तु,जन आदि शब्दों के अर्थ 'यजमान' ही हों, इसमें क्या नियामक है ? कारण क्या ? कारण यही कि यज्ञप्रक्रिया की ऐनक चढ़ी है। प्रत्येक मनुष्य यजमान या ऋत्विक् ही दिखाई दे रहा है। भला नेता या मननशील जो कोई भी हो, यह अर्थ क्यों नहीं लेते ? सायण होते तो उनसे पूछा जाता।

सब मन्त्रों का तीन प्रकार का अर्थ होता है। इतने से ही सायण का सारा वेदार्थ तीसरा भाग रह जाता है। शेष दो भाग (आध्यात्मिक तथा आधिदैविक) में उसकी अनभिज्ञता वा अपूर्णता स्पष्ट सिद्ध है।

त्रिविध प्रक्रिया की अवहेलना ही वेदार्थ में एक ऐसी हिमालय जैसी भूल है, जो कदापि क्षन्तव्य नहीं हो सकती। सायण की भूल की समाप्ति यहीं पर ही नहीं हो गई। उनकी अन्य मौलिक भूलों का भी निर्देश करना हम आवश्यक समझते हैं।

(१) यज्ञ में अध्वर्यु आदि के कर्मों को बताने के लिए ही वेदभाष्य करता हूं, ऐसा सायण ने कहा है। (देखो सायण के ऋग्वेदभाष्य के उपोद्घात के प्रारम्भ में)।

(२) सायण सामवेद-भाष्य-भूमिका के प्रारम्भ में—

यज्ञो ब्रह्म च वेदेषु द्वावर्थौ काण्डयोर्द्वयोः ।
अध्वर्युमुख्यैर्ऋत्विग्भिश्चतुर्भिर्यज्ञसम्पदः ॥६॥

इसमें वेद के मन्त्रों का अर्थ यज्ञपरक तथा ब्रह्मपरक माना । हमें तो सायण के इस लेख से अति प्रसन्नता हुई कि चलो ब्रह्मपरक अर्थ नहीं किया तो न सही, ब्रह्मपरक अर्थ का निर्देश तो कर ही दिया है । पर हमारी यह प्रसन्नता अधिक देर न रह सकी, जब हमने काण्व-संहिता-भाष्य की भूमिका में सायण का यह लेख देखा—

'तस्मिश्च वेदे द्वौ काण्डौ कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च । बृहदारण्यकाख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डस्तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोर्ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वम्, तत्रोभयत्राधानाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपाद्यत्वात्' ।

यहां पर सायण शतपथब्राह्मण ही नहीं अपितु 'संहिता' में भी 'दर्शपूर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपाद्यत्वात्' इस वचन से केवल दर्श पूर्णमासादि यज्ञकर्मों का ही प्रतिपादनमात्र मानता है । पाठक विचार करें कि स्कन्द स्वामी की त्रिविध प्रक्रिया, जिसे वह यास्काभिमत मानता है, उपस्थित होने पर भी, सायण 'न हि स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति' वा 'पश्यन्नपि न पश्यति' देखता हुआ भी नहीं देखता, यही तो कहना पड़ेगा । क्या सायण ने स्कन्द स्वामी का भाष्य देखा ही नहीं होगा, यह कभी हो सकता है ? जब कि इस समय भी सैकड़ों वर्ष पीछे सायण की जन्मभूमि दक्षिण प्रान्त में ही स्कन्द की निरुक्तटीका मिली है।

कुछ भी सही, सायण वेदार्थ की दीवार बन गया । इतनी ऊंची और इतनी दृढ़ कि किसी को लांघने का साहस नहीं होता था । पर प्रभु की असीम कृपा से आचार्य दयानन्द उस दीवार को लांघ गए और उनकी कृपा से आज हम शास्त्र के आधार पर लांघ रहे हैं ।

(३) सायण ने ऋग्भूमिका में मीमांसा के सिद्धान्तानुसार वेद में अनित्य इतिहास का—व्यक्तिविशेषों के इतिहास का निषेध मान कर वा निषेध करके भी अपने वेदभाष्य में यत्र तत्र सर्वत्र अनित्य व्यक्तियों का इतिहास स्पष्ट दर्शाया है ।

(४) देखिए सायण ऋग्भूमिका में—

(क) 'शतं हिमा इत्येतद् व्याख्येयमन्त्रस्य प्रतीकम्, अविशिष्टं तु तस्य तात्पर्यव्याख्यानम् ।'

(ख) 'शतपथब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वाद् व्याख्येयमन्त्रप्रतिपादकः संहिताग्रन्थः पूर्वभावित्वात् प्रथमो भवति ।।' (सायणकाण्व भूमिका)

इन दोनों स्थलों में शतपथ को मन्त्र का व्याख्यान मान कर भी 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (ऋगादिभाष्यभूमिका) की ही रट लगाई है।

इतिहास तथा वेदलक्षण विषय के परस्पर विरोध को देखकर भला कौन थोड़ा-सा ज्ञान रखनेवाला भी सायण की विद्वत्ता का प्रशंसक हो सकता है? इन विषयों में वास्तव में सायण के मन में सन्देह ही बना रहा, आध्यात्मिक भावना भी नहीं; नहीं तो आचार्य दयानन्द की भांति १८-१८ घण्टे समाधि द्वारा वेदार्थ के इन परमावश्यक मौलिक सिद्धान्तों का निर्णय आत्मा में करता तब लिखता तो ठीक था।

यदि अनिश्चयात्मकता सायण के हृदय में न होती, यथावत् व्यवसायात्मक बुद्धि से वेदभाष्य करता तो संसार का महान् उपकार होता। इस अनिश्चयात्मकता के कारण ही उसके 'तस्मात् सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते। यद्यपि इन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणावस्थानात्' ...... सायण ऋग्भाष्यभूमिका। अर्थात् परमेश्वर के ही इन्द्रादि रूप में होने से यह सब ईश्वर की ही स्तुति है। सायणाचार्य अपनी इस बात पर भी दृढ़ न रह सका। यह बात हम आचार्य दयानन्द में ही पाते हैं। जो बात लिखी निश्चयात्मकता से लिखी। संसार को सन्देह में नहीं डाल गए। किसी विषय पर न लिखा हो यह दूसरी बात है।

इस प्रकार की अन्य भी अनेक बातें दर्शाई जा सकती हैं, जिनसे प्रत्येक निष्पक्ष विद्वान् को इसी परिणाम पर पहुंचना होगा और हम इस विवेचना से इसी परिणाम पर पहुंचे हैं कि सायण वेद के मौलिक अर्थों तक नहीं पहुंच सका। सायण की हिमालय जैसी ये मौलिक भूलें कदापि क्षन्तव्य नहीं हो सकतीं।

सायण की भूल के दुष्परिणाम

यह भूल सायण तक ही रह जाती या शताब्दियों तक भारत तक ही

यह भूल रह गई होती तब भी कोई बात नहीं थी। इसके परिणाम बड़े भयङ्कर हुए। यह ठीक है कि महात्मा बुद्ध के काल में भी यज्ञयागादि की इस प्रधानता ने ही बुद्ध जैसे महापुरुष तथा उनके अनुयायियों को यह कहने पर वाधित कर दिया था कि हम ऐसे वेदों को मानने को तत्पर नहीं, जिनमें पशु-हिंसा का विधान हो।

विदेशीय राज्य की रक्षा को लक्ष्य में रखकर या पीछे से भाषा-विज्ञान में विशेष जानकारी प्राप्त करने के विचार से संस्कृत भाषा में सामान्यतया और वेद-विषय में विशेषतया लगनेवाले योरूप, अमेरिकादि देशों के अनेक विद्वानों को भी (अन्य कोई वेदार्थ उपलब्ध न होने से) सायण का ही अनुगामी बनना पड़ा और जो-जो सायण के भाष्य में पुरानी मिथ्या बातों वा मिथ्या धारणाओं पर प्रामाणिकता की मोहर लग चुकी थी, उसी के पीछे विदेशी विद्वानों का समूह चला। ऐतिहासिक वाद के विषय में सायण से पूर्व आचार्य स्कन्दस्वामी का 'एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या। औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयः' यह सिद्धान्त चला आता था। प्रत्येक मन्त्र का तीन प्रकार का अर्थ होता है, यह धारणा परम्परा से स्कन्द के काल तक चली आई थी। सायण ने उनका उल्लेख भी अपने भाष्य में किया होता, तब भी वेदार्थ की मौलिक धारणायें किसी प्रकार जीवित रह जातीं। तब इन विदेशीय स्कालरों को भी वेदार्थ के विषय में सोचने का अवसर होता कि 'आध्यात्मिक और आधिदैविक अर्थ तो अभी शेष है; सायण के भाष्य में ही वेदार्थ की परिसमाप्ति नहीं हो जाती और इतिहास का सारा वर्णन औपचारिक के रूप में है, न कि वास्तविक घटना' तब महान् उपकार होता। विदेशीय विद्वान् हमारी सारी संस्कृति, सभ्यता और साहित्य को उलटे रूप में सबके सामने न रख सकते।

मैं तो कहता हूं कि यदि सायणभाष्य का ही हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू वा अन्य जिस किसी भाषा में अनुवाद करके किन्हीं शिक्षणालयों में रख दिया जावे तो निश्चय ही समझना चाहिये कि कुछ श्रद्धालुओं को छोड़ कर सबकी एक ध्वनि उठेगी कि ये वेद जङ्गलियों की यों ही बड़बड़ाहट या अण्ट-सण्ट कृतियां हैं, जिनसे मानव-समाज को कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। पञ्जाब यूनिवर्सिटी की शास्त्री परीक्षा में जितना अंश सायण

भाष्य का है उससे, सायण की छाप के कारण, शास्त्री प्रायः वेद से विमुख ही हो जाते हैं। क्योंकि उन्हें वेद के वास्तविक स्वरूप का तो दर्शन भी नहीं हो पाता। इस सारे अनर्थ का मूल सायणाचार्य का वेदार्थ ही है। यहां हम यह भी कह देना चाहते हैं कि 'मुख्येन व्यपदेशः' नियमानुसार यदि सेना जा रही हो तो भी मुख्यता से यही कहा जाता है कि 'राजा जा रहा है।' इसी प्रकार याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार भाष्य करनेवाले अन्य सभी भाष्यकार इसी कोटि में आ जाते हैं। उनके पृथक् निर्देश की यहाँ आवश्यकता नहीं। सब 'यथा हरिस्तथा हरः' के अनुसार ही समझने चाहिये। सायण का नाम इसलिए भी बार-बार आता है कि वेदों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों पर सबसे अधिक भाष्य सायणाचार्य के ही हैं, जिनको लेकर आगे लोगों ने अनुवाद किये। सायण के भाष्य को पढ़कर कोई भी समझदार वेद के उस स्वरूप तक नहीं पहुंच सकता, जो ऋषि मुनि मानते हैं:—

'स सर्वोऽभिहितो वेदे, सर्वज्ञानमयो हि सः'

(मनु० २।७४)

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ।।

महाभारत शान्तिपर्व अ० २४।२३२।।

वेद समस्त विद्याओं का स्रोत है, सम्पूर्ण ज्ञान वेद से ही मानवसमाज को प्राप्त हुआ। सार्वभौमिक नियमों का प्रतिपादन वेद में है, इत्यादि सब बातें सायणभाष्य को पढ़कर कभी मन में नहीं बैठ सकतीं।

सायण और विदेशीय विद्वान्

विदेशीय विद्वानों को वेदविषय में सायणभाष्य ही एकमात्र आश्रय मिला। वह उनके अनुकूल निकला, क्योंकि वे तो चाहते ही थे कि भारतीयों को अपनी प्राचीन संस्कृति, सभ्यता और साहित्य के प्रति जितनी अश्रद्धा पैदा करने में हम सफल हो जायेंगे, उतना ही हमारा राज्य भारत में स्थायी दृढ़ होता जायगा। उन्होंने वेद के जो अनुवाद अंग्रेजी में किये, वे सब के सब सायण की छाया से ही किये। यह ठीक है कि इन विदेशीय विद्वानों ने भारतीय न होते हुए भी हमारे संस्कृत साहित्य में, विशेषकर वैदिक साहित्य में, अनुपम प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय उद्योग किया। इसके लिये हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। निस्सन्देह

उन्होंने वैदिक साहित्य में खोज का उपक्रम करके हम भारतीयों के सामने अपने साहित्य की रक्षा का उत्तम मार्ग दर्शा दिया। जिस-जिस ग्रन्थ का भी किसी विदेशी ने सम्पादन किया है, सर्वसाधारण की दृष्टि से निस्सन्देह वह उनके अत्यन्त परिश्रम और निरन्तर धैर्य तथा गम्भीर विवेचना का परिचय देता है। यह दूसरी वात है कि उनका ज्ञान शास्त्र विषय में गहरा नहीं, अपितु वहुत थोड़ा है। अतः जिस विषय में उनका ज्ञान नहीं, उसमें उनसे भूलें रह जाना स्वाभाविक ही है। पर उन जैसा परिश्रम इस पराधीन देश के विद्वानों ने प्रायः नहीं किया वा उनके गुण की ओर ध्यान नहीं दिया, यही कहना पड़ता है। देश की पराधीनता के बन्धन ढीले होने पर आर्यों (हिन्दुओं) को वा कांग्रेस को समझ आ गई तो सम्भव है हमारी वैदिक साहित्य की यह अमूल्य सम्पत्ति फिर से पहले उच्च शिखर पर पहुंच जावे। (पर यह बात अभी कुछ कठिन प्रतीत होती है। प्रायः सव लोग विदेशी संस्कृति, सभ्यता और साहित्य के उपासक हो रहे हैं। यह विष भारत से न जाने कितने लम्बे काल के पश्चात् निकल सकेगा।)

यह सब होते हुए भी हम यह कहे विना नहीं रह सकते कि उनकी भावना अच्छी नहीं थी, जिससे प्रेरित होकर वे हमारे साहित्य की खोज में लगे। अपने इस विचार की पुष्टि में विचारशील महानुभावों के सामने एक ही उदाहरण उपस्थित करना पर्याप्त होगा। मोनियर विलियम्स अपने कोश की भूमिका में लिखता है कि यह संस्कृत-अंग्रेजी डिक्शनरी या संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद का कार्य, जो मि० बौडन के ट्रस्ट द्वारा हो रहा है, वह सब भारतीयों को ईसाई वनाने में अपने देश (इङ्गलैण्ड) वासियों को सहायता पहुंचाने के लिये है!!! इतने से ही विचारशील महानुभाव समझ सकते हैं कि विदेशियों ने किस ध्येय को लक्ष्य में रखकर हमारे वैदिक साहित्य तथा अन्य संस्कृत साहित्य में इतना घोर परिश्रम किया। सब योरूपीय तथा अन्य देशीय विद्वान् प्रायः इसी धारणा और भावना को लेकर 'हमारे सारे साहित्य की खोज में लगे, हमारे कल्याण के लिये नहीं, यह दुःख से कहना पड़ता है।

हमें तो यहां यह बतलाना है कि सायण की वेदार्थविषय की मिथ्या धारणा का कितना दुष्परिणाम हुआ। सोचने की बात है कि इन विदेशी विद्वानों को यदि सायण की अपेक्षा वेद का उत्तम भाष्य मिला होता, तो

निश्चय ही इनके अंग्रेजी वा अन्य योरोपियन भाषाओं में किये अनुवाद अवश्य ही भिन्न होते। अब तो वे सब के सब सायण से आगे नहीं जा सके। एक आध ने थोड़ा बहुत यत्न किया, पर धारणा सुदृढ़ न होने तथा प्रमाण न मिलने से रह गये। कर ही क्या सकते थे? यदि सायण की मिथ्या धारणा और उसके आधार पर किया वेदार्थ अर्थात् वेदभाष्य न होता तो मैक्समूलर का ऋग्वेदभाष्य पर का लेख तथा ग्रिफिथ के ऋग्,यजुः, साम और अथर्व के अनुवाद, विलसन का ऋग्वेद का अंग्रेजी अनुवाद, लुड्विग का ऋग्वेद का जर्मनानुवाद तथा ह्विटनी का अथर्ववेद का अंग्रेजी अनुवाद, वैनफी का सामवेद का जर्मनानुवाद, कीथ का तै० संहिता, ऐतरेय और कौषीतकी ब्राह्मण का अनुवाद, हाग का ऐतरेय ब्राह्मण का अनुवाद, ऐगलिङ्ग का शतपथब्राह्मण का अनुवाद—इन सब का स्वरूप अवश्य ही वह न होता, जो अब है। सायण के वेदार्थ ने इन की आंखों पर भी पट्टी बांध दी।

इनसे अतिरिक्त ओल्डनबर्ग ब्लूमफील्ड, आफ्रैक्ट मैकडानल, बोटलिङ्क आदि ने जो वैदिक साहित्य के भिन्न-भिन्न विषयों पर घोर परिश्रम किया, इसका स्वरूप भी अवश्य ही भिन्न होता। इसी प्रकार काएजी,क्रिस्ते, रियूटर, सोलोमन्स, बर्नेल, नेगलीन आदि श्रौत और गृह्यसूत्र आदि पर परिश्रम करनेवाले विद्वानों का दृष्टिकोण भी अवश्य ही भिन्न होता। इनमें जिनका स्वार्थ इसी बात में था कि भारत की संस्कृति, सभ्यता का निम्नतम स्वरूप ही संसार के सामने आवे और जिन्हें भारतवासियों को भी उनके वास्तविक स्वरूप से अपरिचित रखना ही अभिप्रेत था, उनको छोड़कर बहुत से विद्वान् वेदार्थ के शुद्ध स्वरूप को जान कर अवश्य प्रसन्न होते और भारत के सदा ऋणी रहते!!!

वेदार्थ का सच्चा स्वरूप कभी भी सामने नहीं आ सकता, जब तक सायण के वेदार्थ की भित्ति (दीवार) बीच में खड़ी रहेगी। जो व्यक्ति उस दीवार को लांघ जाएगा, वही सच्चे वेदार्थ का दर्शन कर सकता है, दूसरा नहीं। यहां इस विषय के हमारे सारे कथन का सार यही है कि अन्य सामग्री के अभाव में सायण के कन्धे पर चढ़कर पूर्वोक्त धारणाओं के आश्रय से (उसकी मिथ्या धारणाओं को छोड़कर) हमें दूर की वस्तु देखने में कुछ सहायता भले ही मिले, परन्तु हमें वेदार्थ के लिये सायण से आगे चलना होगा। [वेदवाणी, वर्ष १, अङ्क १, २]

महर्षि दयानन्द के भाष्य की विशेषतायें

परमपिता परमात्मा की असीम कृपा से महापुरुष दयानन्द का प्रादुर्भाव हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि जगन्नियन्ता अन्तर्यामी जगदीश्वर पर पूर्ण निष्ठावान् होने के कारण ही उनको दैवी अन्त प्रेरणा हुई कि तुम वेद और वेदार्थ के सच्चे स्वरूप को संसार के सामने रक्खो, जिससे शताब्दियों से इस विषय की फैली हुई भ्रान्ति दूर होकर विश्व का कल्याण हो।

दयानन्द ने घोषणा की -

वेद प्रभु की पवित्र वाणी है, जो सृष्टि के आदि में जीवों के कल्याणार्थ संसार के अन्य योग्य पदार्थों की भांति कर्मों की यथार्थ व्यवस्था के ज्ञानार्थ तदनुसार आचरण करने के लिए परम पवित्र ऋषियों द्वारा प्रदान की गई है। भावी कल्प-कल्पान्तरों में भी यह वाणी इसी प्रकार प्रादुर्भूत होगी। यह किसी व्यक्ति या व्यक्तिविशेषों की कृति नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व के रचयिता परमपिता परमात्मा की ही रचना है। इसमें किसी प्रकार की न्यूनाधिकता कल्प-कल्पान्तरों में नहीं होती।

धाता यथापूर्वमकल्पयत्। ऋग्। १०।१९०॥

समस्त संसार तथा तत्वसम्बन्धी ज्ञान, यह सब विधाता की यथापूर्व कृति है।

यह है वेद के सम्बन्ध में वैदिकधर्मियों की धारणा। यथार्थता की कसौटी पर ठीक उतरने से वैदिकधर्मियों ने इस धारणा को अङ्गीकार किया है और उसके पुनरुद्धार का भार अपने ऊपर लिया है। वेद के इस स्वरूप को निर्धारित करने में वीतराग तपस्वी दयानन्द को कहां तक परिश्रम करना पड़ा, वह भी उस अवस्था में जबकि वेदों का पठन-पाठन लुप्त प्राय ही हो रहा था, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। शास्त्र-सम्बन्धी विविध रूढ़ियों, प्रचलित रीतियों और शास्त्रकारों के कहे जानेवाले परस्पर विरोध की काली घटाओं, विविधवादों तथा मत-

मतान्तरों के तूफान (झंझा) में दयानन्द चट्टान की तरह अविचल रहे। हम तो जब उस भयङ्कर तूफान का ध्यान करते हैं, स्तब्ध हो जाते हैं। उस तूफान में दयानन्द डिगे नहीं, अपने आपको दृढ़ता से सम्भाले रहे। इतना ही नहीं, अपितु उन्होंने एकदम इन सब परस्पर विरुद्ध रूढ़ियों और वादों के विरुद्ध घोषणा कर दी कि 'वेद प्रभु की वाणी है, नित्य स्वतःप्रमाण है, इसमें किसी का इतिहास नहीं, अन्य सब शास्त्र वेदानुकूलतया ही प्रमाण हैं।' कल्पनामात्र से नहीं, अपितु प्रमाण और तर्क के आधार पर।

ऋषि दयानन्द की इन धारणाओं का विशद निरूपण हमें उनकी 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका' में बहुत उत्तम रीति से मिलता है। वेदविषय का यह एक अपूर्व ग्रन्थ है, जिसमें वेदविषय की सभी आवश्यक बातों का समावेश है, जो कि वेद का स्वाध्याय करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को जाननी चाहिये। उसको पढ़ने के पश्चात् ही उनके वेदभाष्य की प्रक्रिया ठीक तरह समझ में आ सकती है। यद्यपि इस वेदभाष्य का वास्तविक स्वरूप स्वयं पढ़ने पर ही बुद्धिगत होगा तथापि हम ऋषि दयानन्दकृत भाष्य की कुछ विशेषताएं दर्शाते हैं, जिससे पाठकों को इस विषय का ज्ञान सुगमता से हो सके।

दयानन्द-भाष्य की विशेषतायें

(१) यह वेद-भाष्य वेदापौरुषेयत्वाद की धारणा के आधार पर है। इस वेदभाष्य में कहीं पर भी इस धारणा के विरुद्ध कुछ नहीं मिलेगा। वेद पूर्ण ब्रह्म जगदीश्वर द्वारा प्रदत्त होने से पूर्ण ज्ञान है। इसमें अज्ञान का लेश भी नहीं।

(२) इसमें लौकिक और वैदिक शब्दों के भेद को ध्यान में रखकर यास्क-पाणिनि-पतञ्जलि आदि ऋषि-मुनियों के आधार पर वेद के शब्दों के लिए समस्त वैदिक नियमों का आश्रयण किया गया है।

(३) वेद में आए नाम शब्दों को धातुज [यौगिक] मानकर [जैसा कि यास्क और पतञ्जलि का सिद्धान्त है] प्रकरणादि के आधार पर उन के सभी सम्भव अर्थों का निरूपण किया गया है। निर्वचन भेद से भिन्न-भिन्न अर्थों का निरूपण भी इसमें मिलता है।

(४) धातुओं के अनेकार्थत्व का सिद्धान्त जो सभी वैयाकरणों का मुख्य सिद्धान्त है, जिसको प्रायः सब वेदभाष्यकारों ने अपने भाष्यों में

माना है, उसके आधार पर मन्त्रों के अर्थ किये गये हैं।

(५) आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधियज्ञादि तीनों प्रक्रियाओं के आधार पर वेदमन्त्रों के अर्थ होते हैं, इस सिद्धान्त के अनुसार दयानन्दभाष्य के संस्कृत पदार्थ में प्रायः सभी प्रक्रियाओं में अर्थ दर्शाया गया है।

(६) अनेक स्थानों में वैदिक पदों के अर्थ वेदमन्त्रों के आधार पर किये गये हैं। जैसे यजुर्वेद अध्याय १ मन्त्र १३ को देखिये।

(७) अग्नि शब्द से केवल भौतिक अग्नि का ही ग्रहण नहीं होता, अपितु 'अग्नि' शब्द के निर्वचन के आधार पर आध्यात्मिक, आधिदैविक प्रक्रिया में परमेश्वर, विद्वान्, राजा, सभाध्यक्ष, नेता आदि तथा विद्युत्प्रकाश, जठराग्नि आदि का भी ग्रहण होता है। इसी प्रकार वायु, आदित्य, इन्द्र, यम, रुद्र आदि शब्दों के विषय में भी समझना चाहिये। और ये इन्द्र, वरुण, मरुत्, अग्नि, वायु, मित्र आदि शब्द जहां भौतिक पदार्थों के नाम हैं, वहां मुख्य वृत्ति से ईश्वर के वाची हैं। यह प्रक्रिया सारे भाष्य में बराबर मिलेगी। सबसे बड़ा मौलिक भेद दूसरे भाष्यों से इस भाष्य में यही है। यही इसका मूलाधारभूत वाद वा सिद्धान्त है, जिसको लक्ष्य में रखकर इस भाष्य की रचना हुई है।

(८) इसमें **'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'** (वैशेषिकदर्शन ६।१।१) अर्थात् 'वेद में कोई बात तर्क के विरुद्ध नहीं है' इस सिद्धान्त के अनुसार वेदमन्त्रों का अर्थ किया गया है।

(९) यास्क, पाणिनि, पतञ्जलि आदि के दर्शाये नियमानुसार अनेक स्थानों में प्राचीन कहे जानेवाले पदपाठों से भिन्न पद विभाग भी इस वेदभाष्य में दर्शाये गए हैं। **'यथाभिमतदृष्टयो व्याख्यातॄणाम्'** अर्थात् व्याख्या करनेवालों की भिन्न-भिन्न दृष्टियां होती हैं। **'न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्'** (महाभाष्य ३।१।१०९) अर्थात् पदकारों के पीछे सूत्रकार नहीं चलेंगे, अपितु पदकारों को व्याकरण के पीछे चलना होगा। अतः इस भाष्य में व्याकरणानुसार पदकारों से भिन्न पद-विभाग भी माना गया है। वेद में अर्थ के पीछे स्वर है न कि स्वर के पीछे अर्थ। स्वर के अनुसार ही अर्थ हो, इसमें वेद बंधा हुआ नहीं, अपितु अर्थ के अनुसार भी स्वर वेद में हो सकता है, यह नियम है।

(१०) काव्य के अङ्गभूत श्लेष आदि अलङ्कारों का उपययोग इस वैदिक काव्य में सर्वप्रथम आचार्य दयानन्द ने ही किया है, और उन अलङ्कारों के द्वारा अर्थों में बहुविध वैचित्र्य दर्शाया है।

(११) वेद में अनित्य (अर्थात् व्यक्ति, जाति, देशविशेषों का) इतिहास नहीं, अपितु उसमें प्रकृति के औपचारिक वा आलङ्कारिक वर्णन है, ऐसा निरूपण किया गया है, जिसमें आज तक की परम्परा साक्षी है। तदनुसार इन्द्र, कण्व, अङ्गिरा आदि किन्हीं व्यक्ति-विशेषों के नाम नहीं हैं।

(१२) इस भाष्य में 'देवता' को मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय माना है तथा इन्द्र, मित्र, वरुण, प्रभृति सब देवतावाची शब्द उसी एक महान् आत्मा परब्रह्म जगदीश्वर की विभूतियों के वाचक हैं; (जैसा निरु० ७।४ में माना है)।—ऐसा मानकर यौगिकवाद के आधार पर अनेक अर्थ दर्शाये गए हैं। सर्वानुक्रमणी से भिन्न कहीं-कहीं वाच्यार्थ को देवता मान कर मन्त्रों की व्याख्या की गई है।

(१३) इस भाष्य में मन्त्रों के छन्द भी प्रायः अनुक्रमणी में कहे गये छन्दों से भिन्न दर्शाये हैं। यह छन्दोभेद भी प्राचीन आर्षपद्धति के मौलिक सिद्धान्त के अनुसार है।

(१४) 'व्यत्यय' [काल, वचन, पुरुष, विभक्ति आदि में परिवर्तन] के सिद्धान्त को मानकर ही वेद के विषय में '**सर्वज्ञानमयो हि सः**' यह बात ठीक-ठीक प्रमाणित हो सकती है, अन्यथा नहीं। यह सिद्धान्त मानकर अनेक स्थानों में व्याख्या की गई है।

(१५) 'वाक्यं हि वक्तुराधीनम्' [वाक्य का अर्थ बोलनेवाले की इच्छा के आधीन है] के अनुसार मन्त्र के पदों को अन्वय में सम्बद्ध करके अर्थ किया गया है।

(१६) 'यज्ञ' आदि शब्दों से त्रिविध—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक यज्ञों का अर्थ लिया गया है। केवल भौतिक यज्ञों को लेकर आचार्य दयानन्द का भाष्य समझ में ही नहीं आ सकता। दूसरे शब्दों में समस्त शुभ कर्मों का नाम यज्ञ है—'**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**' [शतपथब्राह्मण १।७।१।५], न कि हवन कुण्ड में आहुति डाल देने मात्र का काम, यह बात समझकर ही इस भाष्य को पढ़ना होगा।

(१७) पिङ्गलछन्दःसूत्रानुसार प्रत्येक मन्त्र के षड्ज आदि स्वर

भी इस भाष्य में दर्शाये गये हैं।

(१८) वेद सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् सार्वभौमिक नियमों का प्रतिपादन करता है, यह बात इस भाष्य से स्पष्ट विदित होती हैं।

(१९) दयानन्द-भाष्य में नैरुक्त शैली के अनुसार अनेक ऐसे शब्दों के निर्वचन मिलते हैं, जिनके निर्वचन निरुक्त और ब्राह्मणादि ग्रन्थों में भी उपलब्ध नहीं होते।

(२०) सबसे बड़ी और अन्तिम विशेषता दयानन्द के भाष्य की यह है कि उसमें नैरुक्त शैली के अनुसार संस्कृतपदार्थ मन्त्रगत पदों के क्रम से रक्खा गया है और उसमें जहां-तहां मन्त्रों के तीनों प्रकार के अर्थों को लक्ष्य में रखकर निर्वचन तथा अर्थ दर्शाया गया है, जो अन्वय में नहीं हो सकता था। अन्वय को संस्कृतपदार्थ का एक अंश समझना चाहिये, और इस संस्कृत अन्वय का ही भाषार्थ हिन्दी अनुवाद किया गया है, जो भाषा करनेवालों से ठीक-ठीक पूरा हो भी नहीं सकता। इस वेद-भाष्य की इस विशेषता को न समझकर बहुत से सज्जन घबराने लगते हैं। इस का प्रकार समझ लेने से फिर कोई कठिनाई नहीं रहती।

यहां पर हम यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि जितना भी कोई विद्वान् विद्या के भिन्न-भिन्न अङ्गों का ज्ञाता तथा योगादि दिव्य शक्तियों से सम्पन्न होगा, उतना ही उसको वेदार्थ का भान अधिक होगा।

[वेदवाणी, वर्ष १, अङ्क ७]

वेदों का प्रादुर्भाव

सर्गारम्भ में परमपिता परमात्मा ने जीवों के कल्याणार्थ जहां अनेकविध पदार्थों की रचना की; पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाशादि पदार्थों का निर्माण किया, वृक्ष, औषधि, वनस्पति, लता, गुल्म, मूल, पुष्प, फलादि, गुहा, वन, पर्वतादि, मेघ, स्रोत, नदी, समुद्रादि, लौह, ताम्र, रजत, सुवर्णादि धातु तथा अन्य असंख्य पदार्थ संसार में उत्पन्न किये, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के शरीरों की रचना की, अर्थात् समस्त स्थावर जङ्गम जगत् का निर्माण किया, वहां उस सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सर्वनियन्ता जगदीश्वर ने जीवों के अभ्युदय और निःश्रेयसार्थ संसार में समस्त कायकलाप के निर्वाहार्थ परमानुकम्पा से उपर्युक्त सब पदार्थों से यथावत् लाभ प्राप्त करने के निमित्त ज्ञान का प्रकाश भी किया, जिससे मनुष्य अपने जीवन को सफल कर सकें। इसी को समस्त प्राचीन ऋषि मुनियों एवं शास्त्रों की परिभाषा में 'ईश्वरीय ज्ञान वेद' कहा जाता है।

इस ईश्वरीय ज्ञान का स्वरूप कैसा होता है, व कैसा होना चाहिए —इस विषय में स्वयं वेद ही बतलाता है—

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥

ऋ० १०।७१।१॥

हे विद्वन् ! सृष्टि के आदि में समस्त वाणियों की मूलरूप (सृष्टिगत पदार्थों के) नामों को धारण करनेवाली, जिस वाणी को (विद्वान् लोग) उच्चारण करते हैं, जो इन सब में श्रेष्ठ सब के लिए समान होती है, वह वाणी [ऋषियों की] गुहा [बुद्धि] में धारण की हुई [ईश्वर की] प्रेरणा से प्रकाशित होती है।

इस मन्त्र में निम्न सात बातों के लिए वेद का प्रमाण मिल जाता है, दूसरे शब्दों में इस मन्त्र में ईश्वरीय ज्ञान की सात विशेषतायें वा कसौटियां वर्णित हैं—

१—जो सृष्टि के आदि में होनेवाली वाणी हो, इसलिए मन्त्र में कहा 'प्रथमम्'।

२—इस समय संसार में जितनी मानव-वाणियां हैं, उन सब का आदि स्रोत अर्थात् मूल हो। वेदवाणी से ही सब भाषायें निकली हैं। वेदवाणी का भी मूल 'ओम्' है, इसलिए कहा 'वाचो अग्रम्'।

३—जो सृष्टि के समस्त पदार्थों का नाम धारण करती हो। आदि सृष्टि में जब पदार्थों के नाम धारण की आवश्यकता होती है, तब यह वाणी सहायक होती है। इससे ही सृष्टि के पदार्थों की संज्ञा तथा कर्मों का निर्धारण होता है, इसलिए कहा 'नामधेयं दधानाः'।[1]

४—जो सर्वश्रेष्ठ, बड़ी विस्तृत और विशाल हो, केवल मानव बुद्धि में आनेवाले व्याकरण के संकुचित नियमों में न बंधी हुई, उससे कहीं परे दिव्य रूप में उपस्थित हो, इसलिए कहा 'श्रेष्ठम्'।

५—जो दोष-रहित हो, सब संसार के लिए एक सी, किसी देश-विशेष की भाषा में न हो, इसलिए कहा 'अरिप्रम्'।

६—जो गुहा (बुद्धि) में निहित हो, इसलिये कहा 'निहितं गुहा'।

७—जो अनेक जन्म-जन्मान्तरों में परमात्मा से प्रेम करते हैं, उनके द्वारा भगवान् की प्रेरणा से प्रकाशित होती है, उन जीवों की बनाई नहीं, इसलिये कहा 'प्रेणा आविः'।

ये सब कसौटियां वेद पर ही सर्वांश में चरितार्थ होती हैं। किंच—

---

१. क– मनु १।१२ –'उसने सब के नामों तथा कर्मों को और संस्थाओं को पृथक्-पृथक् सृष्टि के आदि में वेद के शब्दों से ही निर्मित किया।

ख—कुमारिलभट्टकृत तन्त्रवार्तिक, पृष्ठ २०६—

वेद एव हि सर्वेषामादर्शः सर्वदा स्थितः।
शब्दानां तत उद्धृत्य प्रयोगः सम्भविष्यति ॥

अर्थात् वेद से लेकर ही शब्दों का प्रयोग होगा। और—

ग—महाभारत शान्तिपर्व, अ० २३२।२५,२६—

ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु सृष्टयः।
नानारूपञ्च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम् ॥
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः।

अर्थात् परमेश्वर सृष्टि के आदि में ऋषियों के नाम आदि वेद के शब्दों से ही बनाता है।

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् ॥
ऋ० १०।७१।३॥

सृष्टि के आदि में यज्ञ अर्थात् परमात्मा के द्वारा वाणी की प्राप्ति के योग्य हुए ऋषियों में प्रविष्ट हुई वेदवाणी को मनुष्य पीछे प्राप्त करते हैं, अर्थात् वेदवाणी का प्रकाश सृष्टि के आदि में पहले ऋषियों के अन्तः-करण में परमात्मा प्रकाशित करता है।

इन दोनों मन्त्रों से स्पष्ट है कि ईश्वरीय ज्ञान कैसा होना चाहिये, ये सब बातें वेद में ही चरितार्थ होती हैं।

'सर्गारम्भ में सूर्य के प्रकाश की भांति पूर्व सृष्टि के समान वेदज्ञान का प्रकाश हुआ। प्रलय के पश्चात् अमैथुनी सृष्टि के आरम्भ में युवा अर्थात् प्रौढ़ युगल (जोड़ा) उत्पन्न हुए, क्योंकि माता-पिता की सत्ता तो थी नहीं। सुप्त-प्रबुद्ध न्याय से कार्यजगत् की प्रलयावस्था में जिस-जिस स्थिति में देहधारी अपने कारण में लीन हुए, उसी-उसी अवस्था में उन का सब खेल पुनः वैसा का वैसा चल पड़ा। जीव अपने पूर्ववर्ती कर्मों तथा संस्कारों के अनुरूप ही शरीर बुद्धि आदि से युक्त होते हुए कार्यों में प्रवृत्त हुए'। उस समय के मनुष्यवर्ग में सबसे उत्कृष्ट, श्रेष्ठ विमलमेधा

---

१. क—युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ॥

अर्थात् महर्षियों ने प्रलय के समय अन्तर्हित वेदों को इतिहास के साथ परमेश्वर से प्राप्त किया।

ख—पूर्वकल्प में जो वेद थे, वे ही सर्वज्ञ ब्रह्म की स्मृति में आरूढ़ थे, उन्हीं को कल्प के आदि में ऋषियों ने प्राप्त किया। —मनु॰ कूल्लूकटीका।

ग—'आसीदिदं……प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥' मनु० १।५ (सृष्टि से पहले सब सोए हुये से थे)।

घ—अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

अर्थात् ब्रह्मदिन के आरम्भ होने पर सब व्यक्ति प्रकट और ब्रह्मरात्रि (प्रलय) के आगमन पर सब विलीन हो जाते हैं।

२. रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्।
ऋग्वेद १०।१२९।५॥

रेतोधाः=कर्म से युक्त, महिमानः=मुक्त

ग्रहण तथा धारणा में समर्थ चारों ऋषियों ने प्रभु के वेदज्ञान को साकल्येन हृदय में धारण किया। उनके नाम अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध हैं। उनके हृदय में वेद का समस्त ज्ञान नित्य नियतानुपूर्वी द्वारा आदि से अन्त तक एक ही साथ अर्थात् युगपत्[1] अक्रमारूढ दे दिया। अतः इसमें कितना समय लगा, यह कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि काल का व्यवहार अनित्यों में होता है। जहां क्रम होगा, वहां काल होगा। परमात्मा का आदि ज्ञान एकरस है। पद, पदार्थ, गायत्र्यादि छन्द तथा मन्त्रादि के विभाग का ज्ञान इस वेदज्ञान में ही निहित था।

अन्य सब लोक-लोकान्तरों में भी इसी वेदज्ञान को यह जगदीश्वर सदैव प्रदान करता है। जितना ज्ञान विश्व में वर्तमान है, वह सब परम पिता परमात्मा के इस वेदज्ञान द्वारा ही प्रवृत्त होता है[2]। आकृतियों में भेद होते हुए भी उत्पत्ति-प्रकार में कोई भेद नहीं होता। मनुष्य जहां-जहां होगा, वहाँ-वहां इसका प्रकाश अवश्य होगा। चाहे किसी प्रकार भी हो।

यह है वैदिकधर्मियों की धारणा वेद के सम्बन्ध में, जो परम्परा द्वारा प्राप्त हो रही है। इसे ही समस्त ऋषि-मुनियों की धारणा होने से वर्तमान युग के महापुरुष परमयोगी महर्षि दयानन्द ने स्वीकार किया और अपने ग्रन्थों में उसका प्रतिपादन किया, तथा उसी धारणा को लेकर वेद का भाष्य किया।

[वेदवाणी, वर्ष १, अङ्क १२]

१. समाधिस्थ लोगों के लिए एक साथ ही ज्ञान हो जाता है। (देखो योगशास्त्र ३।४९)

२. चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति॥ मनु० १२।९७॥

ऋषि दयानन्दकृत वेदभाष्य के सम्बन्ध में मेरी धारणा

पिछले कई मास से 'आर्य्यमित्र' में ऋषि दयानन्दकृत वेदभाष्य के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की वाञ्छनीय और अवाञ्छनीय चर्चायें चलती रहती हैं।

कई सज्जनों ने मिलने पर तथा समाचार पत्रों द्वारा उत्तर देने के लिये मुझे आह्वान ही नहीं किया, अपितु बाधित भी किया। इतने पर भी मैं अभी तक चुप रहा। मेरी चुप्पी से अनेक व्यक्तियों ने अनुचित लाभ उठाने की चेष्टा की और मेरे सम्बन्ध में ऐसी अनेक असत्य अनर्गल और निराधार बातें फैलाईं, जो समय-समय पर मेरे सामने आईं और जिनकी मुझे स्वयं भी सम्भावना नहीं थी; यह सब चाहे किसी उद्देश्य से किया गया हो, या किया जा रहा हो, मुझे दृढ़ विश्वास है कि इस सारे बवण्डर चर्चा आदि से अन्त में लाभ ही होगा। आर्यसमाज की एक गम्भीर समस्या ही सम्भवत: सदा के लिये हल हो जायगी। यह बात इससे भी प्रमाणित हो जाती है कि आर्यसमाज के जिस किसी भी विद्वान् ने मेरे सास इस विषय में चर्चा की या बातचीत हुई, ५ मिनट बात करने पर ही उक्त महानुभाव ने झट कहना आरम्भ कर दिया कि 'यह तो बात ही और है। हमें तो कई बातें एक दम उलटी बताई गई थीं। हमारी शङ्का दूर हो गई। आपकी बात सर्वथा ठीक है।' कई महानुभावों ने तो यहां तक कहा और लिखा कि 'हमें कुछ का कुछ बताकर हमारे हस्ताक्षर कराये गये। अब हमने आपकी बात सुन ली हैं, उस पर हस्ताक्षर करने को तैयार हैं।'

मैं अब तक चुप क्यों रहा ?

विद्वानों द्वारा विचार हो इस प्रतीक्षा में रहना, अनेक यत्न करने पर भी इस विषय के लेख अप्रैल मास तक यथावत् संग्रह न हो सकना, पाकिस्तान के अनन्तर अपने नाममात्र केन्द्र काशी में पिछले कई मासों से प्रतिमास ४, ५ दिन से अधिक कभी न ठहर सकना अर्थात् गाड़ियों

वा लारियों के चक्र में ही रहना—यह सब कारण हुये अब तक लेख न लिख सकने के। मैंने इस बात की प्रतीक्षा भी की कि जिन महानुभावों ने इस विषय में जो वा जितना भी लिखना है, पहिले लिख लें मैं तभी उत्तर आरम्भ करूं।

'वेदवाणी' का सम्पादक होने के नाते अपने ऊपर किये गये आक्षेपों के उत्तर में लिखे हुए लेख को भी 'वेदवाणी' में नहीं छपने दिया और वही लेख 'आर्यमित्र' (१६ फर्वरी १९५०) में छप गया।

अब मैं नम्रता तथा प्रेमपूर्वक आर्य विद्वानों तथा आर्यजनता के समक्ष अपने विचार उपस्थित करता हूं। पहिले मैं इस लेख में रामानन्द ब्रह्मचारी के विषय में लिखूंगा। दूसरे लेख में मेरे द्वारा सम्पादित यजुर्वेदभाष्य विवरण पर किये गये आक्षेपों का उत्तर दिया जायगा।

मेरी मान्यता

उपर्युक्त चर्चा के सम्बन्ध में मेरी मान्यता यह है: –

(१) यजुर्वेद भाष्य सम्पूर्ण ४० अध्याय तथा ऋग्वेदभाष्य ७ मण्डल ६२ सूक्त २ मन्त्र तक, जितना कि छपा प्राप्य है और जिसके हस्तलेख अजमेर में हैं, वह ऋषि दयानन्द का ही रचा है, इसे किसी अन्य पण्डित या पण्डितों का रचा कहना सर्वथा मिथ्या है।

(२) इस वेदभाष्य के हस्तलेखों की पूरी (पूर्वोक्तानुसार) दो कापी हैं। एक रफ कापी और दूसरी प्रेस कापी। 'रफकापी' वह है जिसे ऋषि दयानन्द बोलते जाते थे और लेखक पण्डित लिखते जाते थे, और पीछे से श्री स्वामी जी महाराज यथासम्भव उसे देख लेते थे।

प्रेसकापी' वह है जो पूर्वोक्त रफकापी के आधार पर लिखी जाकर छपने के लिये प्रेस में भेजी जाती थी। इस प्रेसकापी का जितना भाग ऋषि के जीवन-काल में तैयार हुआ, उतने पर ही ऋषि ने पुनः देखकर उसका संशोधन किया, अर्थात् मेरा यह कहना है कि ऋग्वेदभाष्य तथा यजुर्वेदभाष्य की प्रेसकापी ऋषि के जीवनकाल में पूरी तैयार नहीं हो पाई थी।

(३) ऋग्वेदभाष्य तथा यजुर्वेदभाष्य दोनों की हिन्दी ऋषि के जीवनकाल में पूरी नहीं बन पाई थी, पीछे पण्डित बनाते रहे, और प्रेसकापी बनकर छपती रही। (देखो-रामानन्द ब्रह्मचारी का पूर्व-

प्रकाशित पत्र तथा ८ दिसम्बर १८८३ का परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित आवेदनपत्र और सन् १८८५ की परोपकारिणी सभा की कार्यवाही, जिन्हें हम आगे इसी लेख में उद्धृत करेंगे।)

(४) 'मैं ऋषि दयानन्दकृत वेदभाष्य को अशुद्ध बताता हूं, अर्थात् वह भाष्य गलत है'—यह सर्वथा निराधार कल्पना वा मिथ्या प्रचार है।

(५) ऋषिदयानन्दकृत वेदभाष्य जो वैदिक यन्त्रालय अजमेर में छपा है, उसमें छापे, प्रूफरीडर और प्रतिलिपिकर्त्ताओं आदि की अनेक अशुद्धियां हैं, ऐसा मैं मानता हूं, **जिन्हें मैं ऋषि दयानन्द की अशुद्धियां नहीं मानता** और इनमें बहुत-सी के विषय में यह भी सिद्ध करने को तैयार हूं कि ये अशुद्धियां हुई कैसे, और ये अशुद्धियां श्री स्वामी जी महाराज की कैसे नहीं।

लिपिकर्त्ता संशोधकादि की अशुद्धियों की विवेचना

जैसा कि हम ऊपर लिख चुके, हम तो ऋषि दयानन्द की विद्वत्ता की किसी न्यूनता के कारण कोई भी अशुद्धि उनके वेदभाष्य वा किसी भी ग्रन्थ में नहीं मानते। परन्तु इतना अवश्य मानना पड़ता है कि जो ग्रन्थ इस समय परोपकारिणी सभा की ओर से प्रकाशित हैं, उनमें कई स्थानों पर अशुद्धियां हैं। हमारा निश्चित मत है कि वे अशुद्धियां प्रतिलिपि करनेवालों, प्रेसकर्मचारियों तथा संशोधकों की अनवधानता आदि से हुई हैं। इस प्रकार की अशुद्धियां अपने ग्रन्थों में विद्यमान रहना ऋषि दयानन्द ने भी अपने अनेक पत्रों में स्वीकार किया है। उनमें से कुछ उपयोगी अंश हम नीचे देते हैं, जिनसे हमारी ऊपर कही बात अधिक स्पष्ट हो जायगी (ये सब उद्धरण 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' श्री पं० भगवद्दत्त जी द्वारा सम्पादित—रामलाल कपूर ट्रस्ट लाहौर द्वारा प्रकाशित संस्करण के हैं) रेखाङ्कित चिह्न हमारा है—

(१) पं० ज्वालादत्त के नाम १७ जून १८८१: 'विदित हो कि तुमने यजुर्वेद अष्टमाध्याय के पत्र भेजे सो पहुंचे, परन्तु वे किसी काम के नहीं। क्यों, उनमें भाषा बहुत कांट फांट रखी है, और तुम्हारे संकेत हैं —...तुम्हारे २४ पृष्ठ में ५९ अशुद्धियां हैं और इन अशुद्धियों में भाषा की कम और संस्कृत की अधिक हैं·· आगे से हम सब पुस्तक देखा करेंगे और अपना लिखवाया और तुम्हारा शोधा पुस्तक भी मंगा लिया

करेंगे। और आज से हम वेदभाष्य भी देखेंगे कि कितनी अशुद्धि हैं··· जो ऐसी अशुद्धियां होंगी तो सब पुस्तक में अशुद्धिपत्र ही भरा करेंगे' (पृ० २७०, २७१)।

(२) लाला शादीराम के नाम—'ऋग्वेद का अङ्क भी देखा। उसमें भी गलती बरआमद होती है। उसको (ज्वालादत्त को) ताकीद कर दो कि प्रूफ को चार-पांच बार देखा करे ··· अगर वह जियादह शुद्ध न करे तो अशुद्ध भी न करना चाहिये। उसकी नजर संशोधन में बहुत मोटी है। ऋग्वेद वा नामिक की शुद्धि अशुद्धि नमूने के तौर पर लिखकर रवाने करते हैं, ज्वालादत्त को दे देना और तुम भी देखना किस कदर गलती निकलती है' (पृ० २७८)॥

(३) मुंशी समर्थदान के नाम—'जो कहीं (वेदभाष्य में) पद छूट जाता है, यह भाषा बनानेवाले और शुद्ध लिखनेवाले की भूल है, हम प्राय: इस बात में ध्यान नहीं देते, क्योंकि यह सहज बात है' (पृ० ३७४)।

(४) मुंशी समर्थदान के नाम लिखते हैं—'भीमसेन को तुमने जैसा वृत्ति समझा है, वैसा ही हम बकवृत्ति और मार्जारलिङ्गी समझते हैं। वैसा ही उससे विलक्षण दम्भी क्रोधी हठी और स्वार्थसाधन तत्पर ज्वालादत्त भी है, उसको निकाल देना वा न निकाल देना ······ मेरी समझ में भीमसेन का छोटा भाई ज्वालादत्त है ·· अब उसने उदयपुर में जो भाषा बनाई है, शोधी गई तो कई एक के अर्थ में पदार्थ छोड़ दिये। कई एक पद अन्वय के छोड़ दिये। कई एक बाद आगे पीछे भी कर दिये हैं॥ (पृ० ४०५, ४०६)

(५) मुंशी समर्थदान के नाम—'ज्वालादत्त जो भाषा बनाता है, ऐसा नहीं हो कि कहीं पोपलीला घुसेड़ डाले। जैसी हमारी संस्कृत है, उसके अनुकूल (करे) और कुछ न करे। (पृ० ४५७, ४५८)।

(६) बा० विश्वेश्वरसिंह के नाम—' ····और समर्थदान ने लिखा है कि कुछ ज्वालादत्त नई भाषा बनाता है। यदि वह हमारे अभिप्राय के अनुकूल हो तो ठीक है। नहीं तो जो पोपलीला की भाषा बनाकर वहां ही छपवा दे, और हमको मालूम न हो, पश्चात् प्रसिद्ध होने से कोलाहल होगा तो क्या होगा—जो कुछ वह बनावे उसको समर्थदान

देख ले। जैसा कि अब की भाषा में एक गोलमाल शब्द (देवता) लिख दिया था, सो यह हमारे दृष्टिगोचर होने से शुद्ध हो गई। यदि वहां ऐसी छप गई (होती) तो बड़ी हानि का काम है।' (पृ० ४६०)

(७) मुंशी समर्थदान के नाम—' ···ज्वालादत्त···पत्र क्यों नहीं भेजता। और अब यह भाषा भी अच्छी नहीं बनाता, जैसा कि पहिले बनाता था। जैसा कि प्रतिदिन उन्नति करनी चाहिये, यह प्रति (दिन) गिरता जाता है। अब के भाषा में कई पद छोड़ दिये हैं। कहीं अपनी ग्रामणी भाषा लिख देता है। और (च) का अर्थ भी और करना चाहिये यह (भी) कर देता है' ···· (पृ० ४८४)

(८) मुंशी समर्थदान के नाम—'······तुम थोड़ी सी भाषा देख लिया करो। यह ज्वालादत्त तो विक्षिप्त पुरुष है। इसका ध्यान सदा मासिक बढ़ाने पर रहता है, काम बढ़ाने पर नहीं ··· और अब यह भाषा भी अच्छी नहीं बनाता, किन्तु घास सी काटता है। इसके नमूने के लिये एक पत्र भेजते हैं जिसकी इसने भाषा बनाई है और बड़ी भूल करी है कि जिसका पदार्थ है कुछ और भाषा कुछ बनाई है। और भावार्थ संस्कृत के अनुसार और पूरी भाषा भी नहीं बनाई है'। (पृ० ४६५)

(६) मुंशी समर्थदान के नाम—'और उसके पद की गणना रामानन्द तथा दूसरे पण्डित के हाथ गिणवाये थे, कोई पद रह गया होगा। अब हम अपने सामने पद गिन और गिनवा लेंगे' (पृ० ४०४)।

(१०) यजुर्वेद भाष्य अध्याय ८ मन्त्र १४ की हस्तलिखित प्रेसकापी के पृष्ठ १०२ में मार्जन पर श्री स्वामी जी महाराज के हाथ का लेख निम्न प्रकार है—

'सर्वत्र त्वष्टा ही है। इसी को मन्त्र और पद में 'त्वष्ट्रा' ही को शोध के 'त्वष्टा बना ही दिया है, जिसको हम करते हैं वह तो ठीक होता है, जो दूसरे से कराते हैं वही गड़बड़ होता है। हमने मन्त्र पद शोधवाया था, सो शुद्ध है और बाकी पण्डित से शोधवाया, वही अशुद्ध रहा'।

ऋषि दयानन्द के उपर्युक्त पत्रादि के उद्धरण इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि उनके मुद्रित वेदभाष्यादि ग्रन्थों में लेखकादि की अनेक अशुद्धियां हुई हैं। अब हम उनके वेदभाष्य में लेखकादि के प्रमाद से हुई अशुद्धियों के कुछ उदाहरण नीचे उपस्थित करते हैं—

(१) यजुर्वेदभाष्य अध्याय ५ मन्त्र ८ में—

मन्त्र के १५ शब्द पदपाठ में छोड़ दिये। संस्कृत पदार्थ में १५ शब्द और उनके अर्थ छोड़ दिये। संस्कृत अन्वय में भी वही १५ शब्द और उनके अर्थ छोड़ दिये। इसी प्रकार हिन्दी भाषार्थ में भी १५ शब्द और उनके अर्थ छोड़ दिये। इस प्रकार एक ही मन्त्र के भाष्य में लगभग १५-२० पङ्क्तियां छूट गईं। यह तो एक ही उदाहरण है जिसमें मन्त्र का एक बड़ा भाग छूट गया। अनेक स्थल ऐसे हैं जिनमें इसी प्रकार की भूल हुई है।

(२) ऋग्वेदभाष्य मण्डल १ सूक्त ३१ मन्त्र ११ में—

संस्कृत अन्वय में मन्त्रगत कई पद और उनके अर्थ में 'यथा त्वं ... तथा त्वामायुं प्रथमं विश्पति' इतना पाठ छूट गया है। साथ ही हिन्दी पदार्थ में भी 'वैसे (त्वाम्) तुझको (आयुम्) न्याय से प्रजा को प्राप्त होनेवाले (प्रथमम्) सबके अग्रगन्ता (विश्पतिम्) प्रजापालक किया' इतना लम्बा पाठ प्रेस कापी में होते हुए भी छपने में न जाने कैसे रह गया।

(३) ऋग्वेदभाष्य मण्डल १ सूक्त ३१ मन्त्र ४ में—

संस्कृत पदार्थ में '(अनयन्) प्रापयन्ति, अत्र वर्त्तमाने लङ् (आ) समन्तात् (अपरम्) जन्ममरणादिदोषात् पृथग् वर्त्तमानमस्मिन् जन्मनि वा प्राप्तदेहम्' लगभग दो पंक्ति का यह पाठ छोड़ दिया गया है। हस्तलिखित प्रेस कापी में यह पाठ मौजूद है।

(४) ऋग्वेदभाष्य मण्डल १ सूक्त ३१ म० १० - संस्कृत पदार्थ में— '(सम्) सम्यगर्थे (सहस्रिणः) सहस्रमसंख्याताः प्रशंसिता विद्या कर्माणि वा यस्य तम्'। इतना लम्बा पाठ छपने में छूटा है जो प्रेसकापी में है।

(५) ऋग्वेदभाष्य १।३।११ में—संस्कृत पदार्थ में मन्त्रगत सरस्वती पद और इसका अर्थ छोड़ दिया।

(६) यजुर्वेदभाष्य अध्याय १ मन्त्र २८ में—

अन्वय में 'नित्यं यजन्ते यथा चन्द्रमस्यानन्देन वर्त्तमाना धीरास यां जीवदानुं पृथिवीमनुदिश्य' इतना पाठ छपने में सब संस्करणों में छूटता चला आ रहा है। इतना पाठ क. ख. अर्थात् पहिली और दूसरी दोनों हस्तलिखित कापियों में तो वर्त्तमान है। ग अर्थात् प्रेस कापी में लिखने वाले की भूल से छूट गया। अतः छपने में भी अभी तक सब संस्करणों में अशुद्ध ही छपता चला जा रहा है।

(७) यजुर्वेदभाष्य अ० १ मं० २९ में—अन्वय में लगभग २, २॥ पंक्ति का निम्नाङ्कित पाठ छूटा है—'एवं यया सपत्नक्षिताऽनिशितया क्रियया प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयो भवन्ति तां वाजिनं वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि तथैव भवन्तोऽप्येनं एतां च सम्मार्जन्तु'। इतना पाठ छूट गया। विचित्रता यह है कि यह पाठ 'क' अर्थात् पहिली हस्तलिखित कापी में है। आगे की 'ख' और 'ग' हस्तलिखित कापियों में प्रतिलिपि करने से रह गया है, इसी कारण छपने से तो रह ही जाना है। सो अजमेर के तीनों संस्करणों में छपने से रह गया।

(८) ऋग्वेदभाष्य १।१।२—इस मंत्र में संस्कृत अन्वय और भाषा-पदार्थान्वय दोनों सर्वथा भिन्न हैं। पाठक इस स्थल को वेदभाष्य में से निकाल कर स्वयं देखें। लम्बा होने से यह उद्धरण नहीं दिया। इस भेद का कारण यह है कि हिन्दी पदार्थ उस संस्कृत का अनुवाद है जिसे श्री स्वामी जी महाराज ने काटकर बदल दिया। जब संस्कृत को श्री स्वामी जी महाराज ने स्वयं वदल दिया ऐसी अवस्था में हिन्दीवाले को भी तो हिन्दी अनुवाद बदलना चाहिये था, अर्थात् वह उस हिन्दी को संशोधित संस्कृत के अनुसार पुनः ठीक करता। सो की नहीं, इसलिए संस्कृत और हिन्दी में भेद है।

उपर्युक्त अशुद्धियां हमने जो दर्शाई हैं, वे सब निश्चय ही ऋषि दयानन्द की नहीं कही जा सकतीं, वे सब प्रतिलिपिकर्त्ता, अनुवादक, प्रूफरीडर तथा मुद्रक की ही हैं।

अब हम दूसरे प्रकार की अशुद्धियों का दिग्दर्शन कराते हैं, जो पूर्ववत् निश्चय ही ऋषि दयानन्द की नहीं हैं—

(१) यजु० अध्याय १ मं० ५ में—मुद्रित में संस्कृत अन्वय तथा भाषा पदार्थ भिन्न है, परस्पर मेल नहीं खाता। इसमें दो कारण हैं। प्रथम वर्त्तमान हिन्दी पदार्थ पहिली संस्कृत की हिन्दी है, जिसेपी छे बदल दिया गया है, पर हिन्दी बदलने से रह गई है।

दूसरी भारी भूल लेखक की यह हुई है कि 'ख' हस्तलिखित कापी में—

'हे व्रतपते अग्ने सत्यधर्मेश्वर यदिदमनृतात् पृथग् वर्त्तमानं सत्यं

२ २ १
व्रतमाचरिष्यामि तन्मे भवता स्वकृपया राध्यतां संसेध्यतां यदुपैमि
१
प्राप्नोमि यच्चानुष्ठातुं शकेयं तदपि राध्यताम् ।'

ऐसा पाठ था। नम्बर २ तथा १ देने का यही अभिप्राय था, कि पहिलेवाला नं० २ का पाठ आगे ले जाना है, और पीछेवाला नं० १ का पाठ पहिले ले आना है। नम्बर देनेवाले लेखक ने तो अशुद्ध लिखे पर नम्बर देकर अपनी जान बचाई। पर उस कापी से प्रतिलिपि करनेवाले मूर्ख लेखक ने नं० २ तथा नं० १ देने के अभिप्राय को न समझ कर, पीछे आगे न करके, वैसी ही नकल कर दी, और नम्बर हटा दिये। सो इस प्रेस कापी के अनुसार छपने में भी भूल होनी ही थी, विचित्र यह है कि सबसे पहिली अर्थात् 'क' हस्तलिखित कापी में वैसा का वैसा शुद्ध पाठ वर्त्तमान है, जैसा कि होना चाहिये। यह स्थल लेखक-प्रमाद वा अज्ञान को कितना स्पष्ट बतलाता है।

(२) यजुर्वेदभाष्य अध्याय १ मंत्र २५, २६ में—'परमस्याम्' इस एक पद को पदपाठ, संस्कृत पदार्थ, अन्वय, भाषापदार्थ सभी में 'परम' और 'अस्याम्' दो पद छापा गया है। ऋषि दयानन्द ने मुद्रित यजुर्वेद भाष्य के कुछ भाग का एक संशोधन पत्र अपने हाथ से लिखकर तय्यार किया था, जो परोपकारिणी सभा के संग्रह में सुरक्षित है, जिसका अभिप्राय यह था कि अगला संस्करण छापते समय इस संशोधन पत्र के अनुसार प्रथम संस्करण में छपी हुई अशुद्धियों को ठीक कर दिया जावे। परन्तु उसके पीछे दो संस्करण प्रकाशित हुए। इनमें वे भूलें अब तक विद्यमान हैं। उपर्युक्त अशुद्ध पाठ का संशोधन इस पूर्वोक्त संशोधन पत्र में किया हुआ है। जैसा कि हमारे संस्करण में छपा है।

यहां यह भी ध्यान रहे कि श्री पं० जयदेवजी ने मेरे द्वारा सम्पादित यजुर्वेदभाष्य की समालोचना में हमारे द्वारा उक्त संशोधन पत्र के अनुसार छापे हुए शुद्ध पाठ का परिवर्तन के उदाहरणों में उपस्थित किया है। हमें ऐसे समालोचकों की बुद्धि पर अत्यन्त आश्चर्य्य होता है कि इस पाठ पर दी गई हमारी निम्न टिप्पणी को भी उन्होंने नहीं देखा या जानबूझ कर छिपाया। हमारी टिप्पणी निम्न प्रकार छपी है:—

'अत्र मुद्रिते तु'—(परम्) शत्रुम् (अस्याम्) प्रत्यक्षायाम्' इति पाठः। स च हस्तलेखसंशोधनपत्रानुसारमस्माभिः संशोधितः। अस्मिन् (२५) अग्रिमे (२६) मन्त्रे पदपाठे पदार्थे अन्वये भाषापदार्थे च सर्वत्र मुद्रिते 'परम्+अस्याम्' इति पदद्वयमुपलभ्यते। तच्च मन्त्रद्वयेऽपि सर्वमस्माभिर्हस्तलेखसंशोधनपत्रानुसारमेव संशोधितमिति ध्येयम्' (य० १।२५ विवरण पृ० ११४)

टिप्पणी का भाषार्थ—अजमेर मुद्रित में '(परम्) शत्रुम् (अस्याम्) प्रत्यक्षायाम्' पाठ छपा है, उसे हमने हस्तलिखित संशोधनपत्र के अनुसार शोधा है। इस २५ वें और अगले २६ वें मन्त्र के पदपाठ, पदार्थ, अन्वय, भाषार्थ में सर्वत्र 'परम्। अस्याम्' दो पद मुद्रित उपलब्ध होते हैं। हमने दोनों मन्त्रों के पदपाठादि में हस्तलिखित संशोधनपत्र के अनुसार ही शोधा है, यह ध्यान रहे।

(३) यजुर्वेद अ० १ मं० १७ के भावार्थ में 'सर्वशक्तिमतेनेश्वरेण' ऐसा पाठ छपा है। यह पाठ बहुत विचित्र है। यह क. ख. ग. तीनों हस्तलेखप्रतियों में नहीं है। तीनों में 'सर्वशक्तिमतेश्वरेण' ऐसा शुद्ध पाठ ही है। पर तीसरी 'ग' हस्तलेख अर्थात् प्रेस कापी में लाल स्याही से बीच में चिह्न देकर ऊपर 'ने' बढ़ाकर 'सर्वशक्तिमतेनेश्वरेण' पाठ किसी संशोधक के हाथ का बनाया हुआ है। यह इतनी साधारण भूल है कि थोड़ी संस्कृत पढ़ा हुआ संशोधक भी इसे प्रथम संस्करण में ही शुद्ध कर सकता था, या 'ने' ही अधिक न लगाता। प्रथम संस्करण में अशुद्ध छप जाने पर ऋषि ने पूर्वोल्लिखित संशोधनपत्र में इसे ठीक कर दिया, परन्तु परोपकारिणी सभा के द्वारा प्रकाशित अगले संस्करणों में भी यह अशुद्धि अभी तक चली आ रही है।

(४) ऋषि दयानन्दकृत यजुर्वेदभाष्य अ० ८ मं० १४ की प्रेस कापी पर 'त्वष्टा' पद के सम्बन्ध में ऋषि के अपने हाथ का लेख हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं, परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि उस लेख की प्रेस कापी पर विद्यमान होने पर भी प्रथम संस्करण में संस्कृत पदार्थगत 'त्वष्ट्रा' को त्वष्टा शुद्ध करके भी संस्कृत पदार्थ में 'तनुकर्त्री' तृतीयान्त रूप छपा और अगले संस्करणों में भी यही अशुद्ध पाठ छप रहा है।

(५) ऋषि दयानन्दकृत ऋग्वेदभाष्य के प्रारम्भ में मन्त्रों की जो

संख्या दी गई है, उसमें ८वें मण्डल के २०वें सूक्त में ३६ मन्त्र संख्या छपी है। मन्त्र केवल २६ ही हैं। इस कारण १० की भूल मण्डल के सारे जोड़ में पड़ गई। आगे नवम मंडल में मन्त्रों की जो संख्या दी गई है, उसमें जोड़ ही ११०८ आता है, पर छपी हुई संख्या १०९७ है। ११ की भूल केवल जोड़ की है।

विदित रहे कि सन् १८८६ में मैकडानल ने ऋक्सर्वानुक्रमणी की भूमिका पृ० १७, १८ में उपर्युक्त दोनों संख्याओं की अशुद्धि दर्शाई थी। परन्तु अजमेर में अभी तक वैसा ही अशुद्ध छपता चला जा रहा है। परोपकारिणी सभा और नहीं तो नीचे फुटनोट में ठीक संख्या तो दे सकती थी।

(६) संस्कृतवाक्यप्रबोध के संस्कृत और हिन्दी में निम्नाङ्कित लेख १० संस्करणों तक बराबर छपता चला आ रहा है। शरीरावयवप्रकरण पृ० ३१ (दशमवार का छपा) 'मुष्टिवन्धने सत्येकत्राङ्गुष्ठ एकत्र पञ्चाङ्गुलयो भवन्ति=मूठी बांधने पर एक ओर अंगूठा और एक ओर पांच अङ्गुली होती हैं'।

यह ऐसी अशुद्धि है कि इसको हर कोई तत्काल समझ सकता है कि एक ओर अंगूठे की गणना कर लेने पर दूसरी ओर चार अङ्गुलियां ही बचेंगी, पांच कैसे होंगी!!! देखिये इस अशुद्धि के विषय में ऋषि दयानन्द क्या लिखते हैं—

'संस्कृतवाक्यप्रबोध के विषय में तुमने लिखा सो छापेवालों की भूल से छप गया है। वहां (एकत्रैकाङ्गुष्ठं एकत्र चतुरङ्गुलयो भवन्ति) ऐसा चाहिये। सो सुधार लीजिये'। (ऋषि के पत्र और विज्ञापन पृ० ४०९)।

आश्चर्य है सभा के अधिकारियों और सभा के संशोधकों की बुद्धि पर, जो दस संस्करणों तक अशुद्ध ही छापते रहे।

(७) 'संस्कृतवाक्यप्रबोध' तथा 'व्यवहारभानु' ये दोनों पुस्तक श्री स्वामीजी महाराज के ही बनाये हैं। इनके मुख पृष्ठ [टाइटल] पर प्रथम संस्करण में ऐसा छपा है—

(!) अथ वेदाङ्गप्रकाशः

। संस्कृतवाक्यप्रबोधः ।

।। पाणिनि मुनि प्रणीता ।।

श्रीमत्स्वामि दयानन्द सरस्वतीकृत व्याख्या सहिता ।

(!!) अथ वेदाङ्गप्रकाशः

व्यवहारभानुः

।। पाणिनि मुनि प्रणीता ।।

श्रीमत्स्वामि दयानन्द सरस्वतीकृत व्याख्या सहिता ।।

पाठक वृन्द ! देखें छापेवालों की भूल का यह ज्वलन्त उदाहरण है !!! 'संस्कृतवाक्यप्रबोध और व्यवहारभानु' दोनों को पाणिनि मुनि प्रणीत बता दिया। इस भूल का इतिहास सुनकर भी सज्जन हँस पड़ेंगे। उपर्युक्त संस्कृतवाक्यप्रबोध और व्यवहारभानु इन दोनों पुस्तकों के छपने से पहिले 'वर्णोच्चारणशिक्षा' छपी थी। जिसके टाइटिल पेज पर निम्नलेख था—

अथ वेदाङ्गप्रकाशः

वर्णोच्चारणशिक्षा ।

।। पाणिनिमुनि प्रणीता ।।

।। श्री मत्स्वामि दयानन्द सरस्वतीकृत व्याख्या सहिता ।।

यह मैटर 'वर्णोच्चारण शिक्षा' के साथ में तो ठीक ही था। यही का यही मैटर कम्पोजीटर ने ग्रन्थ का नाम मात्र बदलकर दोनों पुस्तकों पर भी छाप दिया। सज्जनों के प्रमोदार्थ हमने भूलें किस प्रकार से होती हैं यह दर्शाने के लिए ही यह स्थल उपस्थित किया है।

(८) यजुर्वेदभाष्य अ० १२ मं० ३८ में—संस्कृत भावार्थ में निम्न प्रकार छपा है—'हे जीवा भवन्तो यदा शरीरं त्यजत तदैवैतद् भस्मीभूतं सत् पृथिव्यादिना सह संयुनक्तु'—थोड़ी सी संस्कृत जाननेवाले सज्जन वा संस्कृत के प्रारम्भिक विद्यार्थी भी समझ सकते हैं कि 'भवन्तो यदा शरीरं त्यजत' यह पाठ सर्वथा अशुद्ध है, भवन्तो यदा शरीरं त्यजन्तु अथवा यूयं यदा शरीरं त्यजत ऐसा हो तो ठीक है। यह पाठ लेखक की भूल से ही अस्त व्यस्त हुआ है। ऐसी अशुद्धि तो बहुत थोड़ी संस्कृत पढ़ा लिखा विद्यार्थी भी नहीं कर सकता। अजमेर के छपे वेदभाष्य में

छापे की भी अशुद्धि नहीं—यह लिखना कितनी आत्मप्रवञ्चना है। यह दर्शाने के लिये यदि अन्य उदाहरण छोड़ भी दिये जावें तो यही एक उदाहरण पर्य्याप्त है।

वैदिक यन्त्रालय में ऋषि के ग्रन्थ छपने का नमूना

छपी हुई पुस्तकों पर से पुस्तकें छापने के काम में भी ऋषि दयानन्द के अपने प्रेस वैदिक यन्त्रालय अजमेर में ऋषि की अपनी पुस्तकों की क्या गति होती है, इसके लिये हम एक ही उदाहरण उपस्थित करना पर्याप्त समझते हैं—

यजुर्वेदभाष्य अध्याय २ मन्त्र १० में—प्रथम, संस्करण के पृ० १२० पर अन्तिम पङ्क्ति में:—

पदार्थः—(मयि) आत्मनि (इदम्) यच्छुद्धज्ञानयुक्तं साधु—इतना पाठ छपा है। द्वितीय संस्करण में पृ० १२० वाली यह उपर्युक्त पङ्क्ति कम्पोज होने से छूट गई और १२१ वें पृष्ठ पर—

'कारि प्रत्यक्षं तत्'—से पाठ प्रथम संस्करण के समीप आरम्भ हो गया। संशोधकों ने यह भी देखने का कष्ट नहीं किया कि 'कारि प्रत्यक्षं तत्' यह पाठ तो असम्बद्ध सा दीख पड़ता है। पहिले संस्करण की छपी कापी पर से ही दूसरा संस्करण छपा, उसको ही देख लिया होता, तो यह भूल कि पङ्क्ति ही छूट गई, न हुई होती।

अब आगे चलिये। जब तीसरा संस्करण छपा तो संशोधक ने इतना तो देख लिया कि 'कारि प्रत्यक्षं तत्' यह पाठ तो असम्बद्ध सा प्रतीत होता है, यदि वह संशोधक उस समय भी छपे हुए पहिले संस्करण को देख लेता तो भी यह पाठ जो दूसरे संस्करण में अशुद्ध हो गया था, ठीक हो जाता। पर उसने दूसरी मूर्खता यह की कि तीसरे संस्करण में दूसरे संस्करण की छूटी हुई एक पंक्ति तो छूट ही गई, और उन्नति (सम्भवतः विकासवादी होगा!) यह की कि उस भलेमानस ने 'कारि प्रत्यक्षं तत्' इतना पाठ और निकाल दिया!!!

यह है नमूना परोपकारिणी सभा के द्वारा छापे गये वेदभाष्य का!!!

इस सारे प्रकरण से हमारा कहना यह है कि हमारी दर्शाई उपर्युक्त अशुद्धियां छपे हुए वेदभाष्य में उपलब्ध होती हैं, यह बात तो प्रत्येक सज्जन को माननी ही पड़ेगी। ये अशुद्धियां निश्चय ही प्रतिलिपिकर्त्ता

(लेखक), प्रूफरीडर (संशोधक) तथा मुद्रणादि के प्रमाद से ही हुई है। इस प्रकार की अशुद्धियों को हम ऋषि दयानन्द की अशुद्धियां नहीं मानते, और ऐसी अशुद्धियों का संशोधन होना हर प्रकार उचित है।

इतना होने पर भी जो लोग ऋषि के छपे हुए ग्रन्थों में छापे आदि की अशुद्धियां भी मानने को तैयार नहीं और लिखते हैं—

'मुझे आश्चर्य है कि पं० जी ने किसी दूसरे का लेख देखा होगा, जहां यह लिखा होगा कि अशुद्धियां है। मेरे सारे लेख में अशुद्धि शब्द तक का प्रयोग नहीं है। आपने अपने लेख में वेदभाष्य में प्रेस की अशुद्धियां स्वीकार की है। मैंने तो अपने किसी भी लेख में 'प्रेस की अशुद्धियां हैं' ऐसा भी कभी नहीं लिखा और न लिखूंगा।'

('आर्यमित्र' १७ नवम्बर १९४९, लेखक श्री पं० विश्वश्रवा: जी)।

ऐसे लेख वा लेखकों का क्या अभिप्राय हो सकता है, पाठक यह स्वयं विचारें। हो सकता है कि ऐसे लिखनेवालों ने सम्भवत: ऋषि के वेदभाष्य और पत्र-व्यवहार आदि पर गम्भीरतापूर्वक मनन ही न किया हो।

अशुद्ध संस्कृत का अभिप्राय रफ कापी

रामानन्द ब्रह्मचारी के पत्र में जो लिखा है कि—

ऋग्वेदभाष्य	यजुर्वेदभाष्य
'११ मण्डल के १४४वें सूक्त में ७ मण्डल के ६२ वें सूक्त २ मन्त्र तक का भाष्य अशुद्ध संस्कृत में बना हुआ है'	'२७ वें अध्याय के आरम्भ से ४०वें अध्याय की समाप्तिपर्य्यन्त का अशुद्ध संस्कृतभाष्य बना हुआ है अर्थात् विना शुधी संस्कृत है।'

इस लेख का ठीक अभिप्राय न लेकर कुछ की कुछ कल्पनायें की गई हैं। कहीं तो कहा गया है कि रामानन्द ब्रह्मचारी के पत्र के अनुसार 'ऋषि दयानन्द का भाष्य अशुद्ध है', और कहीं 'ऋषि दयानन्द की संस्कृत अशुद्ध है' इत्यादि। सो अब हम इस विषय में अपने विचार उपस्थित करते हैं। हमारा विचार है कि रामानन्द ब्रह्मचारी के द्वारा प्रयुक्त 'अशुद्ध संस्कृत' शब्द का अर्थ न तो 'ऋषि दयानन्द का भाष्य अशुद्ध है' यही है, और नहीं 'ऋषि दयानन्द अशुद्ध संस्कृत लिखाते थे' यही है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि ऋषि दयानन्द ने जो कापी

लिखवाई वह उसी रूप में प्रेस में भेजने योग्य नहीं थी, अर्थात् वह 'रफ कापी' थी।

रामानन्द ब्रह्मचारी के पत्र का ऊपरवाला उद्धरण, जैसे बीच में रेखा डालकर आमने-सामने पहिले ऋग्वेदभाष्य का, आगे यजुर्वेदभाष्य का विवरण लिखा हुआ है, सारे विवरण का लेख इसी ढंग से लिखा हुआ है। मेरे द्वारा भेजे लेख में यह पत्र आमने-सामने छपने के स्थान में ऊपर-नीचे ही छपा है। पहिले ऋग्वेदभाष्य का सारा विवरण छपा है, नीचे यजुर्वेदभाष्य का विवरण छपा है। आमने-सामने छपता तो सम्भव है इतनी भ्रान्ति न होती। अस्तु।

रामानन्द ने 'अशुद्ध संस्कृत' शब्द के ठीक सामने यजुर्वेदभाष्य के विवरण में 'अशुद्ध संस्कृतभाष्य बना हुआ है अर्थात् विना शुधी संस्कृत है' लिखकर अपने 'अशुद्ध संस्कृत' का अर्थ 'विना शुधी संस्कृत' कर दिया। यदि उसने अर्थात् 'विना शुधी संस्कृत' न लिखा होता, तो न जाने क्या का क्या बवण्डर खड़ा किया जाता।

जो भी सज्जन छपने-छपाने के काम से परिचित हैं, वे भली प्रकार जानते हैं कि लेखक के द्वारा रफ कापी लिखी वा लिखायी जाने पर अन्त में वह उसे छपने के लिये प्रेसकापी तैयार करता है अर्थात् अपनी रफ कापी को शुद्ध करके स्वयं लिखता है या दूसरे से लिखवाकर अन्त में फिर उसे एक वार स्वयं भी पढ़ता है और शुद्ध करता है।

यहां अशुद्धि या विना शुधी संस्कृत का अर्थ यही है कि ऋषिदयानन्द के जीवनकाल में उनके द्वारा बनी रफ कापी की पूरी प्रैसकापी तैयार नहीं हो पाई, और वह उसे दूसरी वार न देख सके।

अशुद्ध संस्कृत शब्द के अर्थ का स्पष्टीकरण रामानन्द ब्रह्मचारी द्वारा लिखे दोनों वेदभाष्यों के विवरण में अन्तिम वाक्यों से भी होता है, वे वाक्य ये हैं—

(१) 'ऋग्वेदभाष्य में १ मण्डल के ६१ वें सूक्त के ५ वें मन्त्र से १ मण्डल के ११४ वें सूक्त के ५ वें मन्त्र तक के ऋग्वेदभाष्य के रद्दी पत्रे हैं, अर्थात् शुद्ध प्रति हो गई।'

(२) यजुर्वेदभाष्य में—'१३ वें अध्याय के २१ वें मन्त्र से २३ वें अध्याय के ४९ वें मन्त्र तक के रद्दी पत्रे हैं, अर्थात् शुद्ध प्रति हो गई।'

स्पष्ट ही यहां शुद्ध प्रति का अर्थ प्रेसकापी है और रद्दी पत्रे का अर्थ रफ कापी है।

मेरी मान्यता इस विषय में यही है कि उतने भाग की केवल रफ कापी है, ऋषि के जीवनकाल में उसकी प्रेसकापी नहीं बन सकी। इतने भाग की प्रेसकापी पीछे बनकर छपती रही, यही इस पत्र का आशय है।

'ऋषि दयानन्द का भाष्य अशुद्ध है' या 'उनकी संस्कृत अशुद्ध है' उपर्युक्त वाक्यों का ऐसा अर्थ निकालना वा लोगों में बताना सर्वथा मिथ्या व्यवहार है, और अत्यन्त अनुचित है। कई सज्जनों को समाचार-पत्रों में उक्त लेख के आगे-पीछे छप जाने के कारण भी भ्रान्ति हो जाना सम्भव है। वह भाष्य पण्डितों का बनाया है, ऋषि का बनाया नहीं, ऐसा कहना भी सर्वथा अनर्गल प्रलाप वा मिथ्या प्रचार ही कहा जा सकता है।

इसी अर्थ में 'अशुद्ध संस्कृत' शब्द का परोपकारिणी सभा द्वारा प्रयोग

रामानन्द ब्रह्मचारी के पत्र के जिस 'अशुद्ध संस्कृत' शब्द का उचित तात्पर्य न लेकर जो मिथ्या भ्रम फैलाया गया है, उसके विषय में हम यह और स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यह 'अशुद्ध संस्कृत' शब्द, जिसका अर्थ रफ कापी के लेख से ही है, परोपकारिणी सभा द्वारा सन् १८८५ में प्रकाशित पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या द्वारा उपस्थापित 'आवेदन पत्र' में ऋषिदयानन्दकृत ऋग्वेदभाष्य और यजुर्वेदभाष्य के विवरण में भी प्रयुक्त हुआ है। २८ दिसम्बर सन् १८८३ ई० को परोपकारिणी सभा का सर्वप्रथम अधिवेशन अजमेर में मेयो कालेजस्थ श्री मेवाड़ दरबार की कोठी में हुआ। जिसमें निश्चय सं० ७ निम्न प्रकार है—

'(७) सबकी सम्मति से स्वीकार हुआ कि पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या सब पुस्तकें, कागज और हिसाब आदि को सम्भाल लें और शोधन करके पीछे एक यादि प्रस्तुत करें कि स्वामीजी का क्या लेना-देना है।'

तदनुसार मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्याजी ने २८, २९ दिसम्बर १८८५ ई० को परोपकारिणी सभा के द्वितीय अधिवेशन में उक्त यादि अर्थात् 'आवेदन पत्र' उपस्थित किया। उक्त सभा के निश्चय नं० २ में निम्न प्रकार लेख है—

'(२) पढ़ी गई—अगली सभा में जो बातें नियत हुई थीं, वे कहां तक प्रयोग में आईं, इस विषय की एक रिपोर्ट अर्थात् आवेदन पत्र उपमन्त्री की निवेदन की हुई लिखी, ता० ६ दिसम्बर सन् १८८५ की।

निश्चय हुआ ·····

(ग) स्वामीजी की पुस्तकें जो उपमन्त्री के पास हैं, और जो वैदिक यन्त्रालय प्रयाग में हों, उन सबको उपमन्त्री एकत्र करके अपने पास रक्खें और उनको आश्रमान्तर्गत दयानन्द पुस्तकालय में प्रवेश करें ········।'

पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या जी के द्वारा जो 'आवेदन पत्र' परोपकारिणी के अधिवेशन में उपस्थित किया गया, उस आवेदन पत्र के मुख पृष्ठ पर निम्न प्रकार छपा है—

'वार्षिक आवेदन
पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या
उपमन्त्री श्री परोपकारिणी सभा निवेदित
वैदिक यन्त्रालय प्रयाग में मुद्रित हुआ
श्रीमद्दयानन्द सरस्वती स्वामीकृत स्वीकारपत्र सम्बन्धी
श्रीमती परोपकारिणी सभा कार्यालय उदयपुर
ता० ६ दिसम्बर सन् १८८५ ई०'

ऊपर हमने इस आवेदन पत्र की प्रामाणिकता और महत्त्व को दिखाया। अब हम प्रकृत में उपस्थित 'अशुद्ध संस्कृत' शब्द का प्रयोग परोपकारिणी सभा द्वारा स्वीकृत इस आवेदन पत्र में हुआ है, यह दर्शाते हैं।

इस वार्षिक आवेदन पत्र के पृ० ७ से १९ तक ऋषि दयानन्द के संग्रह में विद्यमान लिखित तथा मुद्रित ग्रन्थों की सूची छपी है। उसके विषय में परोपकारिणी सभा के उपमन्त्री पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने उक्त आवेदन पत्र के पृ० २ पर इस प्रकार लिखा है—

'पुस्तकों की एक फैहरिस्त इसके साथ पेश करता हूं कि जिस पर (क) चिह्न है यह सब पुस्तक मेरे पास उदयपुर में धरी हैं। और उसी के साथ दूसरी पुस्तकों की एक फैहरिस्त (ख) चिह्न की जो मुंशी समर्थदानजी ने मेरे पास भेजी है, पेश करता हूं, उसमें लिखी सब पुस्तकें वैदिक यन्त्रालय प्रयाग में है।'

उक्त 'आवेदन पत्र' में ऋषि दयानन्दकृत ग्रन्थों के हस्तलेखों का जो उल्लेख मिलता है, वह निम्न प्रकार है—

'वेष्टन नं० १८—श्री० स्वामी जी कृत ऋग्वेद और यजुर्वेदभाष्य का अशुद्ध लेख अर्थात् संस्कृत शोधकर भाषा बनाने का।

वेष्टन नं० १९—श्री० स्वामी जी कृत ऋग्वेद और यजुर्वेदभाष्य का शुद्ध लेख भाषासहित जो छापने योग्य।

वेष्टन नं० २०—श्री स्वामी जी कृत ऋग्वेद-भाष्य भाषा सहित, इसकी शुद्ध प्रति लिखी जाकर वेष्टन नं० १९ में रखनी, और इसी में संस्कारविधि के पत्रे हैं अर्थात् उनकी शुद्ध प्रति करके छपवानी होगी।

वेष्टन नं० २१—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सौवर, पारिभाषिक, उणादि, कुछेक अष्टाध्यायी की संख्या और संस्कारविधि के रद्दी कागज।'

इस 'आवेदनपत्र' के उपर्युक्त उद्धरण से भी यह स्पष्ट सिद्ध है कि 'अशुद्ध संस्कृत' शब्द का अथ 'रफ कापी का लेख ही है, और शोधी हुई से अभिप्राय उसकी 'प्रेस कापी' से ही है। तथा इससे यह भी स्पष्ट है कि उस समय तक ऋग्वेदभाष्य और यजुर्वेदभाष्य के समस्त भागों की न तो प्रेस कापी ही बनी थी, न ही हिन्दी भाषार्थ हो पाया था। इस आवेदन पत्र से यह भी सिद्ध है कि 'रद्दी कागज' वा 'रद्दी पत्रे' (जैसा कि रामानन्द ब्रह्मचारी के पत्र में है) का अर्थ भी इस 'रफ कापी' से है जिसकी 'प्रेस कापी' बन चुकी है।

अतः 'अशुद्ध संस्कृत' शब्द का यह अर्थ लेना कि 'श्री स्वामी महाराज का वेदभाष्य अशुद्ध है' वा 'उनकी संस्कृत अशुद्ध है' या 'वह अशुद्ध संस्कृत लिखाते थे' यह सब मिथ्या प्रचार मात्र है।

आक्षेपों के उत्तर

ब्रह्मचारी रामानन्द के पत्र को लेकर श्री पं० विश्वश्रवाः जी के लेख 'आर्यमित्र' (२४ नवम्बर १९४९, ५ जनवरी तथा २ फर्वरी १९५०) के तीन अङ्कों में प्रकाशित हुए हैं। उनमें उन्होंने अनेक मिथ्या बातें लिखी हैं, उन पर प्रकाश डालना भी आवश्यक है। अतः संक्षेप से उनके लेखों का उत्तर दिया जाता है।

पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या

रामानन्द ब्रह्मचारी का पत्र पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या के नाम होने से कुछ थोड़ासा उनके विषय में लिख देना अनुचित न होगा।

पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या उस समय श्रीमती परोपकारिणी सभा के उपमन्त्री थे। मन्त्री श्री कविराज श्यामलालजी थे, परन्तु पण्ड्याजी श्री स्वामी जी महाराज के निरन्तर लगभग २० वर्ष से परिचित ('पण्ड्या जी को देखकर दयानन्द ने उनसे दण्डी जी की कुशल पूछी' महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र देवेन्द्रबाबूकृत भाग १ पृ० ७२ पं० २) और विश्वासपात्र व्यक्ति थे। इनमें ऋषि के प्रति अत्यन्त भक्ति और श्रद्धा थी। इसलिए परोपकारिणी सभा का कार्यभार उपमन्त्री होते हुए इन्हें ही करना पड़ता था। ऋषि के निर्वाण समय में भी यही उदयपुर से अजमेर पहुंचे थे (देखो जीवन चरित देवेन्द्रबाबू पृ० ७१७) इन कारणों से ऋषि के वेदभाष्य के हस्तलेख (चूंकि वेदभाष्य उस समय छप रहा था, वह बन्द न हो जावे) सम्भालने का आदेश पण्ड्या जी ने रामानन्द ब्रह्मचारी को दिया, जो कई वर्षों से न केवल ऋषि के साथ लेखक का ही कार्य करता था, अपितु उनका प्रिय और विश्वासपात्र व्यक्ति था, और उस समय अजमेर में विद्यमान था। उस समय उसको स्वभावतः ऋषि के हस्तलेखों की जानकारी सम्भवतः सब से अधिक थी।

पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या जी ने उपमन्त्री होते हुए सभा का कार्य कितनी लग्न से किया, इसके प्रमाण में परोपकारिणी सभा के अधिवेशन का एक उद्धरण हम नीचे देते हैं—

'उपसभापति और विद्यमान सभापति ने खड़े होकर कहा……मेरे मित्र मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या भी धन्यवाद दिये जाने के पात्र हैं, क्योंकि उनके जैसा इस समय सभा के कार्यवाह में दत्तचित्त पुरुष मिलना कठिन है……उन्होंने सभा के कार्यनिर्वाह की सेवा करना स्वीकार किया, इस से सबको प्रसन्नता हुई और उनको उनकी कार्यकुशलता का सम्मान करके मन्त्रीपद प्रदान किया। इसी के साथ समस्त आर्यसमाजों तक को एक बड़ी प्रसन्नता उनके एक इस बात से हुई कि उन्होंने श्री स्वामी महाराज के जीवन चरित्र लिखने का भार स्वीकार किया है। ……(देखो कार्यवाही द्वितीयाधिवेशन २८-२९ दिसम्बर सन् १८८५ ई० परोपकारिणी सभा रिपोर्ट संग्रह पृ० ३०, ३१—यही विषय पृ० २६, २७ में भी है)।

इसलिये पं० जी का यह दर्शाना कि पण्ड्या जी उस समय मंत्री नहीं थे……रामानन्द ब्रह्मचारी को ऋषि के वेदभाष्य के हस्तलेख सम्भालने

का आदेश कैसे दिया, यह बात उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाती है। हां, मेरे लेख में पण्ड्या जी के लिये 'मंत्री' भूल से लिखा गया, वहां उपमन्त्री ही चाहिये।

अब हम रामानन्द ब्रह्मचारी के सम्बन्ध में प्रकृत में कुछ उपर्युक्त विवरण लिखते हैं।

रामानन्द ब्रह्मचारी का परोपकारिणी सभा से सम्बन्ध

(१) पं० जी लिखते हैं—

'दूसरी बात विचारणीय यह है कि ऋषि की मृत्यु के पश्चात् रामानन्द ब्रह्मचारी का परोपकारिणी सभा से क्या सम्बन्ध था ·· ··जो ऋषि के वेदभाष्य के हस्तलेख रामानन्द ब्रह्मचारी को दिये गये, (आर्यमित्र ५ जनवरी तथा २ फरवरी १९५०)।

पं० जी ने ऋषि के निधन के पश्चात् रामानन्द ब्रह्मचारी का परोपकारिणी सभा के साथ क्या सम्बन्ध रहा, इसकी जिज्ञासा के लिये सभा के वर्त्तमान मन्त्री दीवान बहादुर बा० हरविलास जी शारदा को पत्र लिखा। उनका आया हुआ उत्तर पं० जी ने निम्न प्रकार प्रकाशित किया है—

'महाऋषि की मृत्यु के पश्चात् या पहले रामानन्द का परोपकारिणी सभा से कोई सम्बन्ध हो, ऐसा मालूम नहीं होता।' हमारा इस विषय में यह उत्तर है कि रामानन्द ब्रह्मचारी का श्री स्वामीजी महाराज के साथ कई वर्षों से सम्बन्ध था, और वह ऋषि का इतना प्रिय और विश्वासपात्र हो गया था कि ऋषि ने उसके साथ अपनी फोटो तक खिचवाई थी। ये दोनों बातें ऋषि के पत्र-व्यवहार से स्पष्ट हैं। यह था कारण जिसलिए पण्ड्या जी की दृष्टि में रामानन्द ब्रह्मचारी से अधिक उपयुक्त विश्वासपात्र उस समय और नहीं था, इसलिये उन्होंने रामानन्द ब्रह्मचारी को ही इस कार्य के लिये नियुक्त किया।

अब रहा निधन के पश्चात् रामानन्द ब्रह्मचारी का परोपकारिणी सभा के साथ सम्बन्ध का प्रश्न। हमें मंत्रीजी के पत्र से अत्यन्त आश्चर्य होता है कि उन्होंने न केवल निधन के पश्चात् के सम्बन्ध का ही निषेध किया, अपितु पूर्व सम्बन्ध का भी निषेध कर दिया। क्या मन्त्रीजी को जिन्होंने स्वयं ऋषि का जीवन चरित्र अंग्रेजी में लिखा है, इतना भी ज्ञात नहीं? अब हम परोपकारिणी सभा की रिपोर्टों के उन अंशों को

उद्धृत करते हैं, जिनसे ऋषि के निधन के पश्चात् रामानन्द ब्रह्मचारी और परोपकारिणी सभा के सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है—

(१) '... रामानन्द ब्रह्मचारी के विषय में यह निश्चय हुआ कि उसे ४) मासिक मिला करे।' (देखो परोपकारिणी सभा की कार्यवाही प्रथमाधिवेशन २८ दिसम्बर सन् १८८३ पृ० ५)।

(२) 'स्वामीजी के शिष्य वर्ग में से रामानन्द ब्रह्मचारी को जो रु० ४) मासिक सन् १८८५ तक दिये गये हैं वह तो ठीक, परन्तु अब आगे उसे वह नहीं दिये जावें, क्योंकि अभी सभा को विदित हुआ है कि उसने पं० युगलकिशोर के पास पढ़ना छोड़ दिया है और किसी संन्यासी से संन्यास ले लिया है .....रामानन्द ब्रह्मचारी के ५००) जो स्वामी जी महाराज के साथ रहने और शिष्य होने के कारण महाराज साहब बहादुर ने दिये थे, वे उदयपुर में राज की दुकान पर जमा हैं, उन्हें वह मांगता है, वह उसे उपमन्त्री दिला दें। और रसीद लिखवा देवें।' (कार्यवाही अधिवेशन २८-२९ दिसम्बर १८८५ ई० पृ० २१-२२)।

हमारे ऊपर के दर्शाए दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि महर्षि के निधन के पश्चात् भी अधिक नहीं तो सन् १८८५ ई० तक ब्रह्मचारी रामानन्द का सम्बन्ध परोपकारिणी सभा से अवश्य रहा। चाहे वह सम्बन्ध किसी भी रूप में था। श्री स्वामीजी महाराज का शिष्य होने के नाते ही उसको सहायता दी गई।

हमारे उपर्युक्त लेख से यह बात और भी स्पष्ट विदित हो जाती है कि उस समय परोपकारिणी सभा का मुख्य कार्यकर्त्ता होने के कारण पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्डया ने ब्रह्मचारी रामानन्द को श्री स्वामी जी महाराज के हस्तलेखों का विवरण देने के लिये नियुक्त किया। क्योंकि वह श्री स्वामी जी महाराज के साथ रहने और उनके वेदभाष्य के उन भागों के जो उनके निधन के समय तक तैयार हो पाये थे, और ब्रह्मचारी रामानन्द के हाथ के लिखे थे, विषय में सबसे अधिक जानकार होने से सबसे अधिक प्रिय और विश्वासपत्र था, यह था कारण जो ऋषि के वेदभाष्य के हस्तलेख रामानन्द ब्रह्मचारी को दिये गये।

अब हम एक और आवश्यक बात पाठकों के समक्ष रखते हैं। हमारा अनुमान है कि रामानन्द ब्रह्मचारी का यह पत्र परोपकारिणी सभा के

अधिवेशन में पढ़ा गया। प्रथम अधिवेशन की कार्यवाही में निम्नाङ्कित शब्द ध्यान देने योग्य हैं—

(१) 'एक पत्र इस विषय पर पढ़ा गया कि स्वर्गवासी स्वामीजी ऋग् और यजुर्वेदभाष्य का कौन-कौन-सा भाग समाप्त और असमाप्त छोड़ गये हैं।

प्रतीत होता है कि समग्र यजुर्वेद का भाष्य स्वामीजी पूर्णकर गये हैं। परन्तु बहुत थोड़ा भाग उसका अब तक मुद्रित हुआ है, और ऋग्वेद का – सप्तम मंडल तक।

सबकी सम्मति से यह स्वीकृत हुआ कि पण्डित भीमसेन तथा ज्वालादत्त प्रूफ के संशोधने और संस्कृत भाष्य का हिन्दी में अनुवाद करने के कार्य पर नियत किये जायें और प्रति व्यक्ति को २५) मुद्रा मासिक वेतन मिले……।'

(प्रथमाधिवेशन २८ दिसम्बर १८८३ रिपोर्ट संग्रह पृ० ३)॥

इसमें 'एक पत्र इस विषय पर पढ़ा गया…' यह संकेत रामानन्द ब्रह्मचारी के पत्र की ओर है। उपर्युक्त अधिवेशन की कार्यवाही से यह भी सिद्ध है कि आगे की भाषा बनाने वाले पं० भीमसेन और ज्वालादत्त जी थे। भाषा श्री स्वामीजी महाराज के निधन के पश्चात् बनती रही।

(२) पं० जी लिखते हैं—'रामानन्द ब्रह्मचारी के हस्ताक्षर नहीं·· हस्ताक्षर बाद में भी बनाये जा सकते हैं' (आर्यमित्र २ फरवरी १९५०)।

यह बात भी सर्वथा मिथ्या है। पत्र के अन्त में 'शुभचिन्तक रामानन्द ब्रह्मचारी' ऐसा हस्ताक्षर लिखा है।

मेरे द्वारा इस पत्र की जो प्रतिलिपि छपी, उसमें प्रतिलिपि-कर्त्ता विद्यार्थी ने ब्रह्मचारी के स्थान में सरस्वती भूल से लिख दिया, और मैं उसे भूल पत्र से न मिला सका। इसलिये यह अशुद्धि हो गई, पाठक इसे ठीक कर लें।

(३) पं० जी लिखते हैं—

'पं० ब्रह्मदत्तजी कहते हैं कि यह पत्र ऋषि की मृत्यु के दो मास पश्चात् रामानन्द ब्रह्मचारी ने पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या मंत्री

परोपकारिणी सभा अजमेर को लिखा है'। (आर्यमित्र ५ जनवरी १९५० तथा २४ नवम्बर १९४९)

रामानन्द ब्रह्मचारी के पत्र पर 'मिति पौष कृष्ण ३ रात्रि सम्वत् १९४०' लिखा है, जो कि ऋषि के निधन के पश्चात् लगभग १ मास १८ दिन होते हैं। यह तिथि उक्त पत्र पर छपी है। क्या पं० जी ने आर्यमित्र में वह तिथि नहीं देखी जो इसका भार भी मुझपर डाल रहे हैं ?

अब हम अन्य आक्षेपों की ओर आते हैं—

(४) पं० जी कहते हैं—(!) 'ऋषि का वेदभाष्य स्वामीजी के जीवन में कितना छपा, और मृत्यु के पश्चात् कितना छपा, यह बात परोपकारिणी सभा जान सकती है।' (आर्य्यमित्र २४ नवम्बर १९४९ तथा ५ जनवरी १९५०)

(!!) रामानन्द के पत्र के अनुसार ऋग्वेद और यजुर्वेद के ५०+५१ अङ्क ही ऋषि के जीवन में छपे थे। शेष सारा वेदभाष्य ऋषि की मृत्यु के बाद ही छपा है, यह बात परोपकारिणी सभा के कागजात से मालूम करनी चाहिये कि यह बात कहां तक सत्य है।'

(आर्य्यमित्र २ फरवरी १९५० पृ० ५)

बलिहारी है इस हाई रिसर्च स्कालरी के !!! इस बात को एक साधारण पढ़ा लिखा भी जान सकता है। क्योंकि जब पहिली बार के अङ्कों में छपे हुए ऋग्वेदभाष्य और यजुर्वेदभाष्य के प्रत्येक अङ्क के मुख पृष्ठ (टाइटिल) पर उसके छपने का काल बराबर छपा हुआ है, और अङ्कों में प्रथम बार का छपा यह वेदभाष्य केवल परोपकारिणी सभा के संग्रह में ही तो विद्यमान नहीं, जो यह बात देखने के लिये उसके ही द्वार खटखटाने पड़ें। प्रथम बार अङ्कों में छपा यह वेदभाष्य तो अनेक पुरानी आर्य्यसमाजों और पुराने आर्य्यपरिवारों के घरों में विद्यमान है। पं०जी यत्र-तत्र समाजों में भ्रमण करते ही रहते हैं। क्या अङ्कोंवाला प्रथम बार का छपा यह वेदभाष्य उनको किसी आर्य्यसमाज में देखने को ही नहीं मिला ? मिले तब जब कि जानने की इच्छा हो। आक्षेप करना सरल है। काम करना कठिन है।

अब हम पाठकों की जानकारी के लिये दोनों भाष्यों के ५१वें तथा ५२वें अङ्कों पर छपा हुआ मुद्रण काल नीचे लिखते हैं—

[१] (!) ऋग्वेदभाष्य अङ्क (५०, ५१)
सम्वत् १९४० आषाढ़ कृष्णपक्ष
(!!) यजुर्वेदभाष्य अङ्क (५०, ५१)
सम्वत् १९४० श्रावण कृष्ण पक्ष

इन दोनों अङ्कों के नीचे निम्न सूचना छपी है—

'विदित हो कि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी इन दिनों में मारवाड़ देश के जोधपुर नगर में विराजमान हैं।'

[२] (!) ऋग्वेदभाष्य अङ्क (५२, ५३)
सम्वत् १९४० चैत्र कृष्ण पक्ष
(!!) यजुर्वेदभाष्य अङ्क (५२, ५३)
सम्वत् १९४१ चैत्र शुक्ल पक्ष

इन दोनों अङ्कों के मुख पृष्ठ (टाइटिल) के अन्दरवाले पृष्ठ पर एक विज्ञापन छपा है, जिसमें श्री स्वामी जी महाराज के परमपद प्राप्त होने का शोक समाचार छपा है, तथा उसी में दोनों वेदों का कितना भाष्य कर गये हैं, इसका भी उल्लेख है।

पाठकों को ध्यान रहे कि ऋषि-निर्वाण कार्तिक अमावस्या सम्वत् १९४० को हुआ था।

अब पाठक महानुभाव स्वयं देख लें कि ऋग्वेद और यजुर्वेदभाष्य के कितने अङ्क ऋषि के जीवन काल में छप चुके थे। यहां यह भी ध्यान रहे कि ऋग्वेदभाष्य के ५१ अङ्कों में प्रथम मण्डल के ८६वें सूक्त के ५वें मन्त्र तक का भाष्य हुआ था। इसी प्रकार यजुर्वेदभाष्य के ५१ अङ्कों में १५वें अध्याय के ११वें मन्त्र तक का भाष्य छपा था। अब पाठक महानुभाव इसकी तुलना रामानन्द ब्रह्मचारी के पत्र में लिखे हुए विवरण से करें तो उन्हें स्वयं विदित हो जायगा कि रामानन्द ब्रह्मचारी का लेख सत्य है वा असत्य।

(५) पं० जी लिखते हैं—

'जिज्ञासुजी ने इस बात पर विचार नहीं किया कि उन ऋषिदयानन्द के जीवनकाल में छपे वेदभाष्य के अङ्कों पर निरन्तर यह छप रहा है कि—इस भाष्य की भाषा को पण्डितों ने बनाई और संस्कृत को भी उन्होंने शोधा है, तब क्या इसको ऋषि ने नहीं देखा था कि वेदभाष्य के अकों पर क्या छप रहा है।'

(आर्यमित्र ५ जनवरी १९५०)

पं० जी का ऐसा लिखना कि 'इस भाष्य की भाषा को पण्डितों ने बनाई और संस्कृत को भी उन्होंने शोधा है' यह वाक्य ऋषि के जीवन काल में प्रत्येक अङ्क पर निरन्तर छपता रहा, सर्वथा मिथ्या है। जीवन काल में तो क्या, उनके निधन के पश्चात् भी वर्षों तक नहीं छपा। परोपकारिणी सभा की पुरानी रिपोर्टों के पढ़ने से प्रतीत होता है कि यह वाक्य ऋषि के निधन के सम्भवतः ८ वर्ष पश्चात् वेदभाष्य पर छपना प्रारम्भ हुआ। समझ में नहीं आता पं० जी ने इतना महान् असत्य-लेख विना पुस्तक देखे लिखने का कैसे दु:साहस किया। सच है जोश में होश कहां !! जो यह भी सोचा जा सके कि क्या लिख रहा हूं, जो लिख रहा हूं, वह ठीक भी है कि नहीं !!! अस्तु !!

(६) पं० जी लिखते हैं—

'एक पत्र परोपकारिणी सभा अजमेर को लिखा था, उसका उत्तर श्री० बा० हरविलास जी शारदा ने यह दिया है—'क्योंकि पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने स्वामीजी के वेदभाष्य में कुछ परिवर्त्तन किये हैं, अतः परोपकारिणी सभा पं० ब्रह्मदत्त जी से नाराज है। अब हस्तलेखों को नहीं दिखावेगी।'

यह मेरे व्यक्तित्व के प्रति मिथ्या प्रचार है। परोपकारिणी सभा ने ऐसा कोई प्रस्ताव मेरे विषय में पास नहीं किया है। ३ मार्च सन् १९४६ को परोपकारिणी सभा के अधिवेशन में मेरे सम्बन्ध में जो प्रस्ताव पास किया है, वह निम्न प्रकार है—

'श्री पण्डित ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु का पत्र तथा उसके सम्बन्ध में श्री राजाधिराज प्रधान सभा तथा सर बख्शी टेकचन्द के पत्र पढ़े गये, निश्चय हुआ कि महर्षि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी के हस्तलिखित वेदभाष्य के अनुसार लिखा, वेदभाष्य श्रीमती परोपकारिणी सभा की ओर से ही प्रकाशित होना चाहिये। इससे श्रीमती सभा के उद्देश्यों में से मुख्य उद्देश्य की पूर्ति तथा उसका आर्थिक हित होगा। श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु को कहा गया कि क्या यह सम्भव है कि बाकी यजुर्वेदभाष्य उनकी टिप्पणीसहित श्रीमतीपरोपकारिणीसभा की ओर से ही प्रकाशित कराया जावे, और उनको इस कार्य में पूर्ण सहायता सर्व प्रकार से दी जावे। परन्तु इसको 'उन्होंने स्वीकार करने में असमर्थता प्रकट की। ऐसी अवस्था में इस सभा की सम्मति में श्री पण्डित जिज्ञासुजी को

स्वामीजी की हस्तलिखित कापी से मिलान करने की स्वीकृति नहीं देनी चाहिये।

[गङ्गा प्रसाद नाट वोटिंग]' (अंग्रेजी में)

मैंने परोपकारिणी सभा का कार्य करना क्यों स्वीकार न किया, इस का कारण यह था कि चूंकि मुझसे कहा गया था कि आप रामलाल कपूर ट्रस्ट का सम्बन्ध छोड़कर परोपकारिणी सभा के आधीन कार्य करें तो यह सब कार्य आपके द्वारा हो। यतः मैंने इस अनुचित प्रस्ताव को स्वीकृत नहीं किया और उसी समय कह दिया कि मैं रामलाल कपूर ट्रस्ट का कार्य करते हुए जिस प्रकार अब तक पर्याप्त समय लगाकर परोपकारिणी सभा का कार्य करता रहा, उसी प्रकार कर सकता हूं। यह कभी नहीं हो सकता कि मैं रामलाल कपूर ट्रस्ट के कार्य को सर्वथा छोड़ दूं। दूसरी आपत्ति आधीनता पर थी। कोई चाहे हजार रुपया मासिक दे, मैं उन सभा सोसाइटियों के आधीन कार्य नहीं कर सकता, जिनके अधिकारी इन कार्यों के महत्त्व को नहीं समझते, और इन विषयों का ज्ञान कुछ भी न रखते हुए इन कार्यों के निर्णायक स्वयं बनना चाहते हैं। इसकी अपेक्षा मधुकरी मांग कर काम करना अच्छा समझता हूं। इस पर ही उपर्युक्त प्रस्ताव पास हुआ था।

यह भी ध्यान रहे कि इस मीटिङ्ग में मेरे अतिरिक्त अजमेर से बाहिर के माननीय श्री पं० गङ्गाप्रसादजी चीफ जज ही उपस्थित थे। शेष सब सभासद् अजमेर के ही थे। श्री गङ्गाप्रसादजी चीफ जज ही सामयिक सभापति थे। उन्होंने इस प्रस्ताव के पक्ष में अपना वोट नहीं दिया।

अब सज्जन स्वयं विचार करें कि श्री० दीवान बहादुर बाबू हर-विलास जी शारदा का उपर्युक्त लेख कहां तक सत्य है और उन्होंने सभा के निश्चय के विपरीत उपर्युक्त बात कैसे लिख दी, यह वही जानें।

श्री दीवान बहादुर बा० हरविलासजी शारदा का यह लिखना कि मैंने श्री स्वामीजी महाराज के भाष्य में परिवर्त्तन किया, यह बात भी मिथ्या है। हमने संशोधन किया है, न कि परिवर्त्तन। परिवर्त्तन और संशोधन में बड़ा भेद है। जो हम आगे दर्शाते हैं—

परिवर्तन और संशोधन में भेद

जिन लोगों ने प्राचीन हस्तलेखों के आधार पर ग्रन्थों के सम्पादन का कार्य नहीं किया, वे संशोधन और परिवर्तन शब्दों का ठीक अर्थ नहीं समझ सकते। यही कारण है जो कई सज्जन संशोधन और परिवर्तन शब्दों का ठीक अर्थ नहीं समझ सकते। यही कारण है जो कई सज्जन संशोधन और परिवर्तन में भेद न समझ कर इन शब्दों का अन्यथा प्रयोग किया करते हैं।

संशोधन परिवर्तन में निम्न भेद है—

१. संशोधन –

ग्रन्थ के असली अशुद्ध पाठ को ऊपर या नीचे टिप्पणी आदि में दर्शा-कर सम्पादक जो उचित पाठ का निर्देश करता है, वह संशोधन कहाता है।

२. परिवर्तन—

ग्रन्थ के असली अशुद्ध पाठ को छिपाकर अर्थात् उसे कहीं पर भी बिना दर्शाये जो अदला बदली की जाती है वह परिवर्त्तन कहाता है।

ग्रन्थ-सम्पादन-कला अभिज्ञ विद्वानों द्वारा स्वीकृत संशोधन और परिवर्त्तन की ये दो सर्वसम्मत परिभाषायें हैं अतः तदनुसार हमने यजुर्वेदभाष्य विवरण में संस्कृत भाग के प्रायः वे सब पाठ, जिन्हें हमने अशुद्ध समझा, उन्हें हमने नीचे टिप्पणी में दर्शा दिया है। इसलिये उक्त परिभाषाओं के अनुसार हमारा कार्य संशोधन की सीमा में है, परिवर्त्तन की सीमा में प्रविष्ट नहीं होता। यदि कोई भूल-चूक रही होगी, तो हम उसे अगले संस्करण में ठीक कर देंगे।

इससे स्पष्ट है कि जो व्यक्ति ऐसा कहते हैं या प्रचार करते हैं, कि ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने ऋषि दयानन्दकृत वेदभाष्य में परिवर्त्तन किये हैं, वे या तो स्वयं भ्रान्ति में हैं, या भ्रान्ति में डाले गये हैं, अथवा वे लोग हैं जो जानते बूझते भी किसी कारणवश मिथ्या प्रचार करते हैं। विद्वानों की सभा में हम इस पर विचार करने के लिये सदा तैयार हैं, और प्रमादवश यदि वस्तुतः कोई ऐसी भूल हुई है, उसे मानने को सदा तैयार हैं। इसीलिये हमने आर्यसमाज के अनेक विद्वानों को अपने यजु-र्वेद भाष्य विवरण का प्रथम अध्याय छपते ही भेज दिया था, और उनसे अपनी कार्य-पद्धति के विषय में निर्देश मांगे थे। जिनमें एक श्री पं० विश्वश्रवा जी भी हैं।

नमूने के रूप में प्रथम अध्याय भेजने के कई वर्ष पीछे हमारा यजुर्वेद भाष्य विवरण का प्रथम भाग छपकर प्रकाशित हुआ, किन्तु इस सुदीर्घ काल में न तो पं० विश्वश्रवाः जी ने ही कोई निर्देश दिये और न ही किसी अन्य महानुभाव से हमें इस विषय में कोई सहयोग प्राप्त हुआ। इसी प्रकार दशाध्यायात्मक प्रथम भाग के प्रकाशित होने पर पुनः प्रायः बड़े-बड़े विद्वानों को २५-३० प्रतियां भेंट की गईं। जिनमें श्री पं० जयदेव जी विद्यालङ्कार भी हैं। जिन्होंने इसी प्रयोजन से पुस्तक देने पर भी हमें भूल-चूक दर्शाने का कष्ट न किया, और ३००) तीन सौ रुपये पारिश्रमिक पाने पर परोपकारिणी सभा को एक लम्बा असम्बद्ध खर्रा लिखकर दिया, जिसकी विवेचना हम उनके लेख के उत्तर में करेंगे। क्या विद्वानों का यही कर्तव्य है कि ग्रन्थकार से पूछने पर न कहना, और जनता में मिथ्या प्रचार करना।

(७) पं० जी लिखते हैं—

(!) 'यह [रामानन्द ब्रह्मचारी का] पत्र पं० भगवद्दत्त जी द्वारा सम्पादित ग्रन्थों में नहीं छपा ···श्री जिज्ञासु जी का कर्तव्य था कि इस सम्बन्ध में पहिले अपने साथियों से विचार लेते कि कहीं यह पत्र जाली तो नहीं।' —आर्यमित्र, २४ नवम्बर १९४९

(!!) 'यह एक ही पत्र जिज्ञासु जी के पास कैसे पहुंचा, जिज्ञासु जी ने अपनी रक्षार्थ इसका प्रयोग किया।'

—आर्यमित्र, ५ जनवरी १९५०, पृ० ६।

(१) श्रीमान् जी! रामानन्द ब्रह्मचारी का पत्र 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' नामक ग्रन्थ में भला छपता ही कैसे!! जोश में लिखते जाना कहां तक ठीक है। इस ग्रन्थ में तो वही पत्र और विज्ञापन छापे गये हैं, जो ऋषि ने अपने हाथ से वा आज्ञा देकर लिखाये थे। रामानन्द ब्रह्मचारी का पत्र हम दूसरे भाग में छापते।

(२) एक ही पत्र मेरे पास नहीं आया। अपितु जब मैंने यत्न करके श्री० महा० मामराजजी को रायपुर (सी० पी०) से लाहौर बुलाया और उन्हें वहां कुछ मास रहकर 'ऋषि के पत्र और विज्ञापन' अपने ट्रस्ट की ओर से छापने के लिये तैयार किया तो वह अपनी पुरानी सब सामग्री, न जाने कब-कब की जमा की हुई लेकर लाहौर आ गये और श्री पं० भगवद्दत्तजी के आदेशानुसार कार्य करते रहे। उसी काल में म०

मामराज जी ने अपनी संगृहीत सामग्री का एक ट्रङ्क मेरे पास रखा, जिसमें कि रामानन्द ब्रह्मचारी के लिखे अनेक पत्रों के साथ यह पत्र भी था।

२४ अगस्त सन् १९४७ को पाकिस्तान की भयङ्कर परिस्थितियों में महा० मामराजजी की अमानतरूप अत्यन्त महत्त्वपूर्ण इस सामग्री के ट्रङ्क को मैं किस प्रकार बचाकर लाया, इसको में ही जानता हूं, या वे लोग जान सकते हैं, जिन्हें पाकिस्तान में ऐसी भयङ्कर परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। पत्रव्यवहार का दूसरा भाग (जिसमें ऋषि के नाम अनेक नये अप्रकाशित पत्र थे), जो बहुत सा तैयार हो चुका था, माडल टाउन लाहौर में ही रह गया, और सदा के लिये नष्ट हो गया।

पाकिस्तान से सुरक्षित आ जाने पर भी कहीं यह पत्र पुनः किसी प्रकार नष्ट न हो जावे, इस वात को सोचकर प्रकाशित करना मैंने उचित समझा।

अब रही यह वात कि मैंने अपने मित्रों को क्यों न दिखाया। सो श्री पं० भगवद्दत्त जी आदि कई महानुभावों को तो मैं यह पत्र दिखा चुका था। केवल आप रह जाते हैं। सो आप उन दिनों में लाहौर छोड़ चुके थे। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण वात यह है कि मैं इस पत्र की प्रतिलिपि अपने १७ मई सन् १९४७ ई० के पत्र के साथ श्री मन्त्री परोपकारिणी सभा अजमेर को भेज चुका था जिसकी प्रतिलिपि हमारी फाइल में सुरक्षित है, क्योंकि इस पत्र का सम्बन्ध परोपकारिणी सभा के साथ ही था।

रामानन्द ब्रह्मचारी के पत्र का हौआ

इस पत्र का हौआ दिखाकर जो सामान्य जनता को बहकाया और भड़काया जाता है, यह सब व्यर्थ और अनुचित है। इस पत्र में लिखे विवरण को पहिले हस्तलेखों से मिलाया तो जावे। यदि इसमें कुछ न्यून अधिक प्रतीत हो, तब उस पर विचार किया जा सकता है। विचार करने में कोई हानि नहीं, सन् १९३१ के हमारे नोटों के आधार पर यजुर्वेदभाष्य के २२ अध्याय से आगे प्रेस कापी पर ऋषि के हाथ के संशोधन नहीं हैं।

ऋषि के जीवनकाल में वेदभाष्य कहां तक छपा, इस विषय का रामानन्द ब्रह्मचारी के पत्र में विवरण वेदभाष्य के छपे अङ्कों से सर्वथा

मिलता ही है। भाषा पीछे बनती रही, और प्रेस कापी बनकर छपती रही, इतना परोपकारिणी सभा की रिपोर्टों से ही सिद्ध है, जैसा कि हम ऊपर उद्धरण दे चुके हैं। इसके अतिरिक्त यही बात रह जाती है, कि ऋषि के जीवनकाल में दोनों वेदभाष्यों की प्रेस कापी कहां तक बन चुकी थी, सो इसका भी जानकार योग्य विद्वानों द्वारा निश्चय कराया जा सकता है।

यदि रामानन्द ब्रह्मचारी के पत्र में लिखा विवरण ठीक है (जिसका अधिक अंश तो उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर निश्चय ही सत्य है) तब मेरी समझ में नहीं आता, कौन सी भारी आपत्ति आ पड़ती है। इतना ही तो कि देश तथा संसार के दुर्भाग्य से ऋषि द्वारा चारों वेदों का अपूर्व भाष्य, जो अनेक शताब्दियों के पश्चात् बनना आरम्भ हुआ था, वह पूरा न हो पाया, और उसमें भी यह जितना तैयार हो चुका था, उस सारे की भी प्रेस कापी अपने सामने तैयार न कर पाये।

ऐसा होने में (जो वस्तु-स्थिति है) हम पर कोई आपत्ति नहीं आती। मैं तो रामानन्द ब्रह्मचारी के पत्र को रत्ती भर हौआ नहीं समझता, जिससे कि हमें यत्किञ्चित् भी भय करने की आवश्यकता हो।

समाचारपत्रादि में मेरे सम्बन्ध में घोषणायें

समाचारपत्रों में यदा-कदा श्री० पं० विश्वश्रवाः जी मेरे सम्बन्ध में अनेक प्रकार की बातें लिखते रहते हैं। उन घोषणाओं से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। यदि किसी महानुभाव को उन विषयों में वस्तुस्थिति जाननी हो तो वह सीधा मेरे साथ पत्रव्यवहार करने का कष्ट करें।

[वेदवाणी, वर्ष २, अङ्क १०, ११]

ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित यजुर्वेदभाष्य-विवरण और परोपकारिणी सभा

१४ जनवरी १९५१ के 'आर्यमार्तण्ड' में 'जिज्ञासु जी का वेदभाष्य अप्रामाणिक' शीर्षक लेख छपा है। यह लेख परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशनार्थ भेजा गया या आर्यमार्तण्ड के संवाददाता द्वारा प्राप्त हुआ, अथवा सम्पादक महोदय ने ही अपनी ओर से लिखा है; यह बात लेख से स्पष्ट विदित नहीं होती। इस लेख को देखकर मुझे बहुत हंसी आई और पीछे दुःख भी हुआ कि जिम्मेदार आर्य समाचारपत्रों में भी कभी-कभी कहां तक असत्य लेख प्रकाशित होते हैं। और मिथ्या प्रोपेगण्डा के लिये कैसे-कैसे हथकण्डे बर्ते जाते हैं। तभी तो हम वैदिक धर्मियों के प्रति साधारण जनता में घृणा के भाव उत्पन्न होने लगते हैं।

आर्यमार्तण्ड के माननीय सम्पादक, जो परोपकारिणी सभा के माननीय सदस्य हैं, वे गत अधिवेशन में उपस्थित थे। अतः सभा की कार्यवाही से पूर्णतया परिचित होने के नाते उनका कर्तव्य था कि अपने पत्र में इस प्रकार की तोड़ी-मरोड़ी रिपोर्ट प्रकाशित न करते, अपितु यदि मेरे द्वारा प्रकाशित वेदभाष्य-विवरण के विरुद्ध कोई सूचना प्रकाशित करनी थी, तो कम से कम परोपकारिणी सभा में स्वीकृत किया गया पूर्ण प्रस्ताव देकर और कुछ छापते। जिससे व्यर्थ आर्य जनता में भ्रान्ति नहीं फैलती और मुझे यह लेख भी लिखना न पड़ता। अस्तु।

परोपकारिणी सभा के प्रस्ताव की निस्सारता

आर्यमार्तण्ड का शीर्षक है, 'जिज्ञासुजी का वेदभाष्य अप्रामाणिक'। मेरा तो कोई वेदभाष्य है ही नहीं और न मैंने कोई वेदभाष्य किया है। हां ऋषिदयानन्दकृत यजुर्वेदभाष्य के १० अध्याय पर मेरा किया विवरण

वैदिक यन्त्रालय अजमेर में मन्त्री परोपकारिणी सभा के अनुरोध पर छपा है। यदि वह विवरण अप्रामाणिक घोषित किया जा रहा है, तो उसकी कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि वह मेरा लिखा हुआ है। किसी भी पण्डित के लिखे हुये ग्रन्थ को आर्यसमाज पूर्णतया प्रमाण कोटि में नहीं मान सकता। यदि उसका यह अभिप्राय है कि विवरण के साथ मैंने ऋषिदयानन्द के वेदभाष्य का, ऋषिदयानन्द के हस्तलेखों के आधार पर जो संशोधन तथा सम्पादन किया है, वह प्रामाणिक नहीं, तब भी उसमें कितना अंश उचित है, कितना अनुचित है; इसकी समालोचना छापकर व्यवस्था देते, तब तो व्यबस्था देना उचित था। ऐसा न करके जो व्यवस्था दी गई है, वह सर्वथा अनुचित है। क्या जो अजमेर के छपे हुए यजुर्वेदभाष्य में त्रुटित पाठों और छापे की अशुद्धियों का केवल हस्तलेखों के पाठों से पूर्ति वा संशोधन मेरे द्वारा किया गया है, वह भी अप्रामाणिक है ? क्या इसका यह अर्थ नहीं कि आप अजमेर के टूटे-फूटे, भ्रष्ट पाठों को भी अक्षर-अक्षर ऋषि दयानन्द का समझकर प्रमाण मान बैठे हैं, और उन्हीं के हस्तलेख जो परोपकारिणी सभा में अभी तक सुरक्षित पड़े हैं, वे अप्रमाण हो गये, कुछ तो सोचा होता कि लिखा क्या जा रहा है !! यही हाल परोपकारिणी सभा का है और विद्वानों की उपसमिति का है, जिन्होंने न हस्तलेखों से मेरे द्वारा सम्पादित ग्रन्थ का मिलान किया या करवाया और नहीं किसी एक पाठ के भी औचित्य या अनौचित्य पर विचार किया। क्या ऐसा बिना किए 'अप्रामाणिक' घोषित करना अन्यायपूर्ण नहीं है ?

आर्यमार्तण्ड में छपे लेख का तो हाल ऐसा है, जैसे किसी ने कहा 'देवदत्त चोर है, यदि इसने चोरी की है।' दूसरा तो चाहता था कि जैसे भी हो देवदत्त को वदनाम किया जावे। वह झट 'यदि इसने चोरी की है' इस वाक्य को छोड़कर 'देवदत्त चोर है' 'देवदत्त चोर है' इतने अंश को ले उड़ा। और सब जगह यही फैलाना आरम्भ किया कि 'देवदत्त चोर है।'

अब हम उक्त प्रस्ताव की पूर्ण प्रतिलिपि अक्षरशः उपस्थित करते हैं, जो परोपकारिणीसभा द्वारा रामलालकपूरट्रस्ट से प्रकाशित यजुर्वेदभाष्य-विवरण को अप्रामाणिक घोषित करान के लिये वनाई गई विद्वानों की उपसमिति में बहुमत (चार पक्ष और तीन विपक्ष में, मेरी सम्मिति

सम्मिलित नहीं) से पास हुआ, और जिसे परोपकारिणी सभा ने स्वीकार किया —

प्रस्ताव (क) यह परोपकारिणी सभा की ओर से प्रकट किया गया है कि सभा ने पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु को श्री स्वामी दयानन्द जी कृत यजुर्वेद भाष्य के सम्पादन करने का कोई अधिकार नहीं दिया और न इस कार्य के विषय में किसी प्रकार के निर्देश ही दिये, परन्तु श्री जिज्ञासु जी ने अपने इच्छानुसार जो विवरण के साथ यजुर्वेद के १० अध्यायों का भाष्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती के नाम से रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित कराया और जिसके प्रकाशित होने से आर्य सामाजिक जगत् में अनेक प्रकार के सन्देह व भ्रम उत्पन्न हुये प्रतीत होते हैं, अतः इस समिति का यह निश्चित मत है कि जिज्ञासु जी के द्वारा प्रकाशित विवरण सहित यजुर्वेद भाष्य व्यक्तिगत उत्तरदायित्व-पूर्ण है अत एव अप्रामाणिक घोषित किया जावे।

(ख) परोपकारिणी सभा ही अपने वैधानिक नियमानुसार श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वतीकृत ग्रन्थों के सम्पादन, मुद्रण और प्रकाशन कार्य में अधिकृत है अन्य कोई व्यक्ति या संस्था नहीं।

(ग) यह समिति परोपकारिणी सभा को परामर्श देती है कि वह श्री स्वामीजी के ग्रन्थों का सम्पादन, मुद्रण और प्रकाशन कार्य को ऋषि दयानन्द सरस्वती के गौरवानुरूप करावें।

इस प्रस्ताव के प्रथम भाग का ही मेरे द्वारा सम्पादित यजुर्वेदभाष्य के साथ सम्बन्ध है।

पृथिवी गोल है चूंकि बुढ़िया का चर्खा गोल है

उक्त प्रस्ताव में मेरे द्वारा सम्पादित यजुर्वेदभाष्य को अप्रामाणिक सिद्ध करने के लिए जो हेतु दिये हैं, वे ऐसे हैं, जैसा कि किसी व्यक्ति से किसी ने पूछा कि पृथिवी गोल क्यों है? उसने पास बैठी चर्खा कातती हुई बुढ़िया की ओर संकेत कर के कहा कि चूंकि बुढ़िया का चर्खा गोल है, इसलिए पृथिवी भी गोल है।

पाठक महानुभाव प्रस्ताव के हेतुओं पर किञ्चित् ध्यान दें तो उन्हें प्रस्ताव में दिये गये हेतुओं की निस्सारता स्वयं स्पष्ट प्रतीत हो जायेगी। प्रस्ताव में दिये गये हेतु इस प्रकार है —

'सभा ने पं० ब्रह्मदत जिज्ञासु को श्री स्वामी दयानन्दकृत वेदभाष्य के सम्पादन करने का कोई अधिकार नहीं दिया और न इस कार्य के विषय में किसी प्रकार के निर्देश ही दिये ......अतः इस समिति का यह निश्चित मत है कि जिज्ञासु जी के द्वारा प्रकाशित विवरण सहित यजुर्वेद भाष्य व्यक्तिगत उत्तरदायित्वपूर्ण है, अत एव अप्रामाणिक घोषित किया जावे।'

इसमें अप्रामाणिक सिद्ध करने के लिए दो हेतु दिये हैं—

(१) परोपकारिणी सभा ने ब्रह्मदत्त जिज्ञासु को कोई अधिकार तथा निर्देश नहीं दिये।

(२) उनका कार्य व्यक्तिगत उत्तरदायित्वपूर्ण है।

क्या किसी ग्रन्थ के सम्पादन की अप्रामाणिकता में भला ये हेतु किसी प्रकार संगत हो सकते हैं। कदापि नहीं। परोपकारिणी सभा ने श्री स्वामीजी महाराज के निधन के १६ वर्ष के पश्चात् मूल ऋग्वेद का प्रथम संस्करण मैक्समूलर द्वारा सम्पादित ऋग्वेद के संस्करण से छापा। (वह कापी वैदिक पुस्तकालय अजमेर में अभी तक सुरक्षित पड़ी है, हर कोई देख सकता है) अर्थात् मैक्समूलर के संस्करण को परोपकारिणी सभा ने प्रामाणिक माना। उस संस्करण को प्रायः सभी विद्वान् प्रामाणिक मान रहे हैं (यद्यपि उसमें कुछ भूले हैं)। क्या परोपकारिणी सभा ने मैक्समूलर को इसके लिए अधिकार या निर्देश दिया था, जिससे परोपकारिणी सभा ने मैक्समूलर द्वारा सम्पादित संस्करण को माना था। क्या मैक्समूलर का संस्करण व्यक्तिगत उत्तरदायित्वपूर्ण नहीं था? वस्तुतः किसी भी संस्करण की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता किसी सभा विशेष के अधिकार देने या न देने या व्यक्तिगत कार्य होने पर निर्भर नहीं है; अपितु कार्य की श्रेष्ठता या हीनता के ऊपर निर्भर है।

परोपकारिणी सभा अजमेर द्वारा प्रकाशित ऋषि दयानन्दकृत यजुर्वेदभाष्य के अ० ५, मन्त्र ८ के 'या ते अग्ने हरिशया' आदि का, पदपाठ, संस्कृत पदार्थ अन्वय और भाषापदार्थ का पाठ परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित यजुर्वेदभाष्य के सब संस्करणों में नहीं छपा (जो हस्तलेखों में विद्यमान है)। वह छूटा पाठ निम्न प्रकार है—

(१) संस्कृत पदार्थ में—'(या) (ते) (अग्ने) इत्युक्तार्थः (हरिशया)

हरिषु सूर्यादिश्वश्वादिषु वा शेते सा (तनूः) (वर्षिष्ठा) (गह्वरेष्ठा) इत्युक्तार्थः (उग्रं) तीव्रम् (वचः) वचनम् (अप) (अवधीत्) (त्वेषम्) प्रकाशम् (वचः) शब्दनम् (अप) (अवधीत्) (स्वाहा) स्वा स्वकीया वागाहेति"।

(२) अन्वय में—'या तेऽग्नेऽस्या विद्युतो वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा हरिशया तनूरुग्रं वचोऽपावधीत् त्वेषं वचः स्वाहा स्वां वाचं चापावधीत् हन्ति ।'

(१) भाषापदार्थ में—'(या) जो (ते) इस (अग्ने) बिजलीरूप अग्नि का (वर्षिष्ठा) अत्यन्त विस्तीर्ण (गह्वरेष्ठा) आभ्यन्तर में स्थित होने (हरिशया) सूर्य और अश्वादि में शयन करनेवाला (तनूः) शरीर (उग्रम्) क्रूर (वचः) वचन को (अपावधीत्) नष्ट करता और (त्वेषं) प्रकाशयुक्त (वचः) कथन का (स्वाहा) अपनी वाणी को (अपावधीत्) नष्ट करता है'।

क्या एक ही मन्त्र में भाष्य का इतना लम्बा पाठ त्रुटित होने पर भी परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित त्रुटित पाठ इसलिए प्रामाणिक हो जायेगा, क्योंकि वह परोपकारिणी सभा की ओर से छपा है। मैंने मन्त्र का उक्त छूटा अंश संस्कृत पदार्थ, अन्वय और हिन्दी भावार्थ में हस्तलेखों से लेकर छापा है, वह इसलिए अप्रामाणिक हो गया कि परोपकारिणी सभा ने मुझे कोई अधिकार वा निर्देश नहीं दिया और यह मेरा व्यक्तिगत कार्य है। विदित रहे कि इस प्रकार के सैकड़ों त्रुटित पाठों की पूर्ति हमने हस्तलेखों से की है।

यजुर्वेदभाष्य के अ० २ मन्त्र २६ का संस्कृत तथा हिन्दी का सिद्धांत विरुद्ध भावार्थ, जो परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण में छपा है, वह तीनों हस्तलेखों में से किसी में भी नहीं है। इसी प्रकार इस मन्त्र के संस्कृत पदार्थ, अन्वय तथा भाषा पदार्थ का जो पाठ छपा है वह हस्तलेख में कुछ भिन्न रूप से है। यह सिद्धान्तविरुद्ध भावार्थ आर्य-समाज को इसलिए प्रामाणिक मानना पड़ेगा कि ऋषि दयानन्दकृत हस्तलेखों में न होते हुए भी परोपकारिणी सभा ने छापा है और हस्त-लेखों के अनुसार अक्षरशः छापा हुआ हमारा पाठ इसलिए अप्रामाणिक हो जायेगा कि परोपकारिणी सभा ने हमें छापने का कोई अधिकार वा निर्देश नहीं दिया था, और वह मेरा व्यक्तिगत कार्य है!!

आर्याभिविनय के अजमेर में छपे हुए ७वें संस्करण से लेकर, जितने

संस्करण मिलते हैं, उनमें अनेक स्थानों पर पङ्क्तियां की पङ्क्तियां छूटी हुई हैं, जो लगभग २५, ३० होंगी। प्रथम प्रकाश के ४२वें मन्त्र में एक ही स्थान में १२ पंक्तियां छूटी हैं। (जो प्रथम और द्वितीय संस्करण में हैं)। इसी प्रकार आर्याभिविनय के अजमेर मुद्रित संस्करण में अनेक स्थानों पर प्रथम और द्वितीय संस्करण की अपेक्षा पाठ बदला हुआ मिलता है (यह कैसे हुआ, हम नहीं कह सकते)। वे संस्करण इसलिए प्रामाणिक माने जायेंगे क्योंकि वे परोपकारिणी सभा की तरफ से छपे हैं। और लाहौर से प्रकाशित श्री पं० वाचस्पति जी एम० ए० द्वारा सम्पादित आर्याभिविनय के संस्करण, जिनमें अजमेर संस्करण की त्रुटियां प्रथम और द्वितीय संस्करण के आधार पर दूर की हैं, इसलिए कि श्री पं० वाचस्पतिजी एम० ए० को परोपकारिणी सभा ने अधिकार या निर्देश नहीं दिये, और वह उनका व्यक्तिगत कार्य अप्रामाणिक हो जायेगा !!!

बलिहारी है प्रस्ताव में दिये गये हेतुओं की !!!

सन्तः परीक्ष्य सुतरां भजन्ते।
मूढः परप्रत्ययनेवबुद्धिः ॥

विद्वानों का कर्त्तव्य था कि वे मेरे द्वारा प्रकाशित यजुर्वेदभाष्य को हस्तलेखों से मिलाते। अजमेर और लाहौर के संस्करणों में जहां-जहां पाठ की भिन्नता है, एक-एक को लेकर उनपर गम्भीरतापूर्वक विचार करते और उचित व्यवस्था देते। यदि दूसरे के कार्य पर ही विश्वास करके व्यवस्था देनी थी, तो परोपकारिणी सभा द्वारा श्री पं० जयदेवजी विद्यालङ्कार से काराया हुआ तुलना कार्य, जो सभा के सामने विद्यमान था, उसके आधार पर ही व्यवस्था दी होती, जिसमें उन्होंने ऋषि के मूल लेख अर्थात् संस्कृत भाग में हमारे सम्पादन कार्य को विना हस्तलेख और प्रथम संस्करण से मिलाये ७५% प्रतिशत उचित माना। ऐसी अवस्था में विद्वानों का कर्त्तव्य था कि वे स्पष्ट घोषणा करते कि परोपकारिणी सभा द्वारा पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु को अधिकार और निर्देश न देने और उनका व्यक्तिगत उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य होने पर भी, परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित कार्य से अधिकांश में अच्छा है। चाहे हम उनके कार्य से पूर्णतया सहमत नहीं हैं।

वस्तुतः पण्डित महानुभाव भी परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

ऋषि दयानन्दकृत ग्रन्थों के संस्करणों से असन्तुष्ट थे। इसीलिए उन्होंने उक्त प्रस्ताव के 'ग' अंश में यह भी जोड़ा—

'यह समिति परोपकारिणी सभा को परामर्श देती है कि वह स्वामी जी के ग्रन्थों का सम्पादन, मुद्रण और प्रकाशन कार्य को ऋषि दयानन्द सरस्वतीजी के गौरवानुरूप करावे।'

इससे स्पष्ट है कि विद्वन्महानुभाव परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों को पूर्णतया प्रामाणिक नहीं मानते।

अब रह जाता है प्रस्ताव का 'ख' भाग जिसमें लिखा है—

'परोपकारिणी सभा ही अपने वैधानिक नियमानुसार श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत ग्रन्थों के सम्पादन मुद्रण और प्रकाशन कार्य में अधिकृत है, अन्य कोई व्यक्ति या संस्था नहीं।'

यह अधिकार का प्रश्न भी दो प्रकार का है। एक राजकीय नियमाश्रित और दूसरा धार्मिक। राजकीय नियम का बन्धन तो श्री स्वमी जी महाराज के निधन के ५० वर्ष के पश्चात् स्वयं ही टूट गया। यही कारण है कि परोकारिणी सभा अन्यों द्वारा ऋषि के ग्रन्थों के प्रकाशित हो जाने पर कुछ नहीं कर सकती। रहा धार्मिक बन्धन, सो यदि परोपकारिणी सभा ऋषि के स्वीकारपत्र के अनुसार उनके ग्रन्थों को शुद्ध, सुन्दर और सस्ता प्रकाशित करती तो किसी को क्या आवश्यकता पड़ी थी कि वह श्री स्वामी जी महाराज के ग्रन्थों को छापता। गोविन्दराम हासानन्द जी, आर्य साहित्य मण्डल आदि ने सत्यार्थप्रकाश उस समय छापा, जब परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण का मूल्य अत्यधिक था और इन्होंने स्वल्प मूल्य में जनता को दिया।

रामलाल कपूर ट्रस्ट ने जो भी ग्रन्थ छापे हैं, वे इसलिये छापे कि परोपकारिणी सभा द्वारा छापे गये ग्रन्थ, टाइप, कागज और छपाई की दृष्टि से खराब और अशुद्धिपूर्ण थे। दूसरा कारण यह था कि ट्रस्ट अधिक से अधिक प्रचार के लिये उन ग्रन्थों को टाइप, कागज और मुद्रणादि की श्रेष्ठता के साथ-साथ लागत से भी कम मूल्य पर जनता को पहुंचाना चाहता था। यजुर्वेदभाष्य के प्रकाशित करने में पूर्वोक्त कारणों के साथ-साथ एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था और है कि ऋषिदयानन्द कृत वेदभाष्य विद्वानों की दृष्टि में प्रामाणिक समझा जावे, स्वाध्यायशील व्यक्तियों द्वारा ऋषि दयानन्द के भाष्य में उठनेवाली शङ्काओं का

यथासम्भव समाधान हो। इस दृष्टि से इसे टीका-टिप्पणी (विवरण) के साथ छपवाने की योजना बनाई गई।

यदि ये सारी बातें परोपकारिणी सभा द्वारा पहले ही यथोचित रूप से व्यवहृत होतीं, तो किसी भी प्रकाशक को इन ग्रन्थों के प्रकाशन करने की आवश्यकता न पड़ती। यदि परोपकारिणी सभा वस्तुतः यह चाहती है कि ऋषिकृत ग्रन्थों को कोई और व्यक्ति या संस्था प्रकाशित न करे, तो उसे चाहिये कि अन्य व्यक्तियों वा संस्थाओं ने जिन कारणों से स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित किये हैं, उन कारणों को ध्यान में रखते हुए उचित व्यवस्था करे।

इसलिए परोपकारिणी सभा द्वारा ऋषिकृत ग्रन्थों को उचित रूप से प्रकाशित न करने के कारण प्रत्येक आर्य पर यह धार्मिक बन्धन उपस्थित होता है कि वह अपनी पूरी शक्ति से ऋषि के ग्रन्थों को सुन्दर, शुद्ध और सस्ता प्रकाशित करे, जिससे ऋषि के भावों का जगत् में अधिक से अधिक प्रचार हो।

खोदा पहाड़ और निकली चुहिया

हमारी सदा से धारणा रही है कि आर्यसमाज में जो भी वेदभाष्य ऋषिदयानन्द के पीछे बने, वे सब व्यक्तिगत परिश्रम के परिणाम हैं, और सभी प्रशंसा के योग्य हैं। परन्तु उनका उत्तरदायित्व उन-उन विद्वानों पर ही है। आर्यसमाज सामूहिक दृष्टि से उनकी प्रामाणिकता का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लेता। यह एक सुगम और श्रेयस्कर मार्ग है, जिससे आर्यसमाज इन वेदभाष्यों का ग्रन्थों से पूरा लाभ उठा सकता है, और इनके उत्तरदायित्व से बच जाता है।

हमारे सामने आर्यसमाज पहले है, व्यक्ति चाहे कोई भी हो, पीछे है। समाज व्यवस्था में सदा से यह नियम रहा है कि समाज पहले, व्यक्ति पीछे। ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज के नियम भी इसी ढंग पर बनाये हैं।

इसी सुवर्णमय नियम के आधार पर मैं सदा व्यक्तिगतरूप से तथा परोपकारिणी सभा में भी स्पष्ट कहता रहा कि यजुर्वेदभाष्य के सम्पादन में मैंने जो कुछ किया है, यद्यपि वह सब ऋषि दयानन्दकृत वेदभाष्य के हस्तलेखादि के आधार है उसमें छापे, संशोधक और प्रतिलिपिकर्त्ता

आदि की भूलों को ठीक किया गया है, जिसके महत्त्व को प्रायः सभी विद्वान् मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं, तथापि इन सब का उत्तरदायित्व मुझ पर है वा श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट पर है, न कि परोपकारिणी सभा पर। मैं सदा ऐसा मानता और कहता रहा।

परोपकारिणी सभा के अधिकारियों की सेवा में मैं सदा प्रेमपूर्वक कहता रहा कि आप महानुभाव खुली घोषणा कर दें कि:—

'श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित यजुर्वेदभाष्य विवरण प्रथम भाग के लिए परोपकारिणी सभा उत्तरदायी (जिम्मेदार) नहीं है। इसका उत्तरदायित्व ट्रस्ट या ब्रह्मदत्त जिज्ञासु पर है।'

यदि सद्भावना से इस बात को मान लिया जाता तो मैं स्वयं अपनी ओर से इस प्रस्ताव को परोपकारिणी सभा में उपस्थित करता। मेरी इस बात को न माना गया और समाचार पत्रों में व्यर्थ का बवण्डर खड़ा किया गया और कराया गया। इस कार्य में परोपकारिणी सभा का सैकड़ों रुपया व्यर्थ व्यय हुआ, सब का समय नष्ट हुआ, वेदभाष्य जैसे पवित्र कार्य में बाधा हुई और मेरे किये कार्य को अप्रामाणिक सिद्ध करना चाहते थे, सो भी न हुआ। अन्त में परोपकारिणी सभा इस को प्रामाणिक नहीं मानती, यही निश्चित हुआ। परोपकारिणी सभा प्रामाणिक माने या न माने, हमने उसके प्रामाणिक या अप्रामाणिक मानने को उसे कभी कहा हो तब तो। अतः यही कहना पड़ता है कि खोदा पहाड़ निकली चुहिया। यह आगे अधिक स्पष्ट होगा।

विद्वानों की परिषद् और उसका वास्तविक स्वरूप

प्रस्ताव की निस्सारता तो पाठक महानुभाव ऊपर देख चुके। अब हम यह भी स्पष्ट करना चाहते हैं कि विद्वानों की यह उपसभा कैसे बनाई गई और कैसे और किस परिस्थिति में विद्वानों ने उक्त प्रस्ताव स्वीकृत किया।

परोपकारिणी सभा ने ट्रस्ट के कार्य को आर्यसमाज की दृष्टि में गिराने के लिये ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित यजुर्वेदभाष्य के विरुद्ध सन् १६४६ के अगस्त मास में ट्रैक्ट छपवाकर यत्र-तत्र भेजना आरम्भ किया। इस कार्य में इन्हें सहायक (चाहे जैसे भी) मिल गये।

अपने उत्तरदायित्व का भार हलका करने के लिये सभा ने कुछ

विद्वानों की उपसमिति बना दी। विद्वानों की इस नियुक्ति में भी सद्भावना का परिचय न दिया गया। मुझे कहने का अवसर तक न दिया गया। १२ विद्वानों में केवल दो नाम (वह भी बड़ी कठिनाई से) मेरे द्वारा उपस्थित किये स्वीकार किये गये। शेष सब नाम विरोधिभावना वालों के द्वारा तथा विरुद्धभावना से उपस्थित किये स्वीकार किये गये। इस उपसमिति के विद्वान् मेरे द्वारा सम्पादित तथा परोपकारिणी सभा द्वारा मुद्रित दोनों वेदभाष्यों के पाठभेदों पर कुछ तो गम्भीरता से विचार करेंगे और सम्भव है, इस बुराई में भी इतनी भलाई ही निकल आवे, यह सोचकर मैंने भी अन्त में आपत्ति न उठाई।

विद्वानों की उपसमिति की बैठक १३-१४ अगस्त १९५० को अजमेर में हुई। अधिवेशन के समय केवल ९ महानुभाव सम्मिलित हुए। जिनमें से एक महानुभाव पहले ही दिन वापस लौट गये। और दूसरे दिन केवल ८ विद्वान् रह गये। संयोजक के नाते मन्त्री परोपकारिणी सभा इस उपसभा के सभापति बने। उपसभा का अधिवेशन आरम्भ होने के समय परोपकारिणी सभा की ओर से अजमेर तथा लाहौर के प्रकाशित यजुर्वेद भाष्य के संस्करणों में संशोधन, त्रुटित पाठों की पूर्ति, अनुवाददोष-निवारणादि के कारण जो परस्पर भेद था, उसकी एक तुलनात्मक छपी हुई सूची उपस्थित की गयी। विद्वानों ने दोनों संस्करणों के पाठों की भिन्नता पर उचित रीति से विचार करने के लिए यजुर्वेदभाष्य के हस्तलेखों के देखने की मांग की। यतः परोपकारिणी सभा का इस उपसभा को बुलाने का उद्देश्य येन-केन प्रकारेण रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित ऋषिकृत यजुर्वेदभाष्य को अप्रामाणिक घोषित करना था। अतः उन्होंने विद्वानों की इस उचित मांग को भी स्वीकार नहीं किया, अपितु इस बात पर जोर दिया कि दोनों संस्करणों की पाठ की भिन्नता सामने है, हस्तलेखों से मिलाने की क्या आवश्यकता है। स्थानापन्न संयोजक ने विद्वानों से यह मांग की—

'यह पण्डित सभा इसीलिए बुलाई है कि (अजमेर) मुद्रित वेदभाष्य को प्रामाणिक समझते हुए जिज्ञासुजी द्वारा सम्पादित वेदभाष्य की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में आप की क्या सम्मति है?' (परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट पृष्ठ ३)

इस पर भी विद्वानों ने हस्तलेखों से मिलान की मांग पर बल दिया

और वेदभाष्य आदि ग्रन्थों के सम्पादन के मूलभूत नियमों के ऊपर इस दृष्टि से विचार भी किया, जिनके निश्चय हो जाने से दोनों संस्करणों की प्रमाणिकता वा अप्रामाणिकता पर यथोचित विचार होकर यथार्थ निर्णय हो सके। किन्तु ये सब प्रयत्न विफल रहे। अन्त में प्रथम दिन निम्नलिखित प्रस्ताव सर्व सम्मति से स्वीकृत हुआ—

'विषय संख्या १ पर प्रामाणिकरूप से सम्मति प्रकट करने की अवस्था में आने के लिए यह आवश्यक है कि यजुर्वेदभाष्य के मूल तीनों हस्तलेख, स्वामीजी का प्रकाशित भाष्य और जिज्ञासुजी के सम्पादित भाष्य के विवादग्रस्त, स्थलों को मिलाकर देखा जावे'। (उक्त रिपोर्ट पृष्ठ ५,६)

दूसरे दिन उपसभा की मीटिंग के आरम्भ में यह विचार उपस्थित हुआ कि कल के प्रस्ताव के अनुसार यदि आज कार्यवाही शुरू की जावे, तो समय और परिश्रम की विशेष आवश्यकता होगी। यतः कोई भी व्यक्ति समय देने के लिये उद्यत नहीं था, जिससे विवादग्रस्त स्थलों पर उचित विचार किया जा सकता, इसलिए कुछ महानुभावों ने लेख के आरम्भ में उद्धृत प्रस्ताव पास करके उपसभा की मीटिंग समाप्त करने का प्रयत्न किया। प्रस्ताव हम ऊपर पूर्णतया दे चुके हैं। इसी प्रस्ताव को परोपकारिणी सभा ने ८ जनवरी १९५१ के अधिवेशन में स्वीकृत किया।

'जिज्ञासुजी के द्वारा प्रकाशित यजुर्वेदभाष्य व्यक्तिगत उत्तरदायित्व पूर्ण है, अतएव अप्रामाणिक घोषित किया जावे।' यह घोषणा तथा 'सभा ने पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु को कोई अधिकार तथा निर्देश नहीं दिये'; ये हेतु कितने निस्सार हैं, यह हम ऊपर दर्शा चुके हैं। यहां अप्रामाणिक शब्द का अर्थ 'परोपकारिणी सभा पर इसका उत्तरदायित्व नहीं', या 'परोपकारिणी सभा इसे प्रामाणिक नहीं मान सकती', बस इतना ही है। वेदभाष्य वस्तुतः अप्रामाणिक है, सो बात नहीं।

इस प्रस्ताव के पक्ष में सम्मति देने वाले विद्वानों ने भी प्रस्ताव में आये 'अप्रामाणिक' शब्द का यही अर्थ लिया था। जैसा कि इस प्रस्ताव के प्रस्तावक महोदय ने अपने ५-१२-५० के पत्र में लिखा है—

'अप्रामाणिक पद का अर्थ मैंने तो यही लिया था कि उसके प्रामाण्य का उत्तरदायित्व परोपकारिणी सभा का नहीं, केवल आपका है।'

यहां यह भी ध्यान रहे कि उक्त प्रस्ताव पर ८ में से ४ पक्ष में थे और ३ विरोध में थे, आठवां मैं था, जिसकी सम्मति नहीं ली जा सकती थी। उपसभा की दोनों दिन की कार्यवाही (जो सभा के द्वारा प्रकाशित हुई है। जिसमें अनेक बातें अन्यथा लिखी गयी हैं, जिस पर विद्वानों के हस्ताक्षर नहीं, जिसकी मांग भी की गयी थी, और न उस पर सभापति आदि का कोई हस्ताक्षर है) से स्पष्ट है कि अजमेर तथा लाहौर के प्रकाशित वेदभाष्यों के संस्करणों में जहां-जहां पाठ की भिन्नता है, उसमें से किसी एक भी स्थलपर उक्त उपसभा में कोई विचार नहीं हुआ। बिना विचार किये इस प्रकार का प्रस्ताव पास कर देना कहां तक उचित है, यह विचारशील सज्जन स्वयं सोच सकते हैं।

परोपकारिणी सभा ने हमारे ७५ प्रतिशत संशोधन माने

यह भी विदित रहे कि परोपकारिणी सभा ने श्री पं० जयदेवजी विद्यालङ्कार को यजुर्वेदभाष्य के दोनों संस्करणों के पाठ की तुलना करने का कार्यभार सौंपा था। उक्त कार्य करते हुए उन्होंने प्रत्येक पाठ की तुलना पर अपनी टिप्पणियां दी थीं। वह टिप्पणी सहित दस-दस अध्याय की पूरी तुलना परोपकारिणी सभा ने छपवाकर प्रकाशित की है। श्री पं० जयदेवजी द्वारा उक्त तुलना में हस्तलेखों का किञ्चिन्मात्र भी उपयोग नहीं किया गया। इतना ही नहीं, अपितु वैदिक यन्त्रालय अजमेर के छपे हुए प्रथम संस्करण से भी मिलान नहीं किया गया। इतना होने पर भी उन्होंने संस्कृत भाग में हमारे संशोधन तथा त्रुटित पाठों की पूर्ति आदि को ७५ प्रतिशत स्वीकार किया है अर्थात् इतने संशोधनों को सर्वथा उचित माना है। यह उक्त तुलना की टिप्पणी से स्पष्ट है। यदि पं० जयदेवजी हस्तलेखों से तथा प्रथम संस्करण से मिलान कर लेते तो निश्चय ही उनकी स्वीकृति कम से कम १० प्रतिशत और बढ़ जाती (हमने उन स्थलों को मिलान करके देख लिया है)। इसी प्रकार भाषार्थ के संशोधन, तथा त्रुटित पाठों की पूर्ति आदि में भी अधिकांश में वह सहमत हैं। इस विवेचना द्वारा स्पष्ट है कि रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित यजुर्वेदभाष्य का संस्करण परोपकारिणी सभा अजमेर द्वारा प्रकाशित संस्करण से ७५ प्रतिशत शुद्ध है। और अजमेर का उक्त स्थलों में ७५ प्रतिशत अशुद्ध है।

परोपकारिणी सभा ट्रस्ट के प्रकाशन को क्यों नहीं चाहती ? प्रश्न आर्थिक है

इस सारी विषमता के मूल में जो भाव काम कर रहा है (जैसा कि हमने ऊपर भी संकेत किया है) वह केवल आर्थिक प्रश्न है, न कि प्रामाणिकता वा अप्रामाणिकता का। यह बात हम परोपकारिणी सभा की पिछली छपी रिपोर्टों के आधार पर स्पष्ट करते हैं।

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित ऋषि दयानन्दकृत ग्रन्थों के संस्करण पाठ की शुद्धि, कागज़ की श्रेष्ठता, टाईप की सुन्दरता, छपाई की उत्कृष्टता और मूल्य की अत्यल्पता के कारण आर्यजगत् द्वारा विशेष रूप से सम्मानित हुए। प्रत्येक विद्वान् ने इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। इन संस्करणों की मांग इतनी बढ़ी कि युद्धकाल में कागजादि की दुर्लभता के कारण ट्रस्ट जनता की मांग को पूरा करने में असमर्थ रहा। इसका प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप से परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों की बिक्री पर थोड़ा बहुत पड़ा, जो पड़ना स्वाभाविक ही था। परोपकारिणी सभा ने इस बात पर विचार नहीं किया, या ध्यान नहीं दिया, कि श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों को आर्यजनता क्यों पसन्द करती है। यदि इस पर ध्यान दिया होता, तो परोपकारिणी सभा, जिसके पास लाखों की सम्पत्ति है, और जिसका राजपूताने भर में सबसे बड़ा और श्रेष्ठ यन्त्रालय है, ऋषि दयानन्दकृत ग्रन्थों के सुन्दरतम संस्करण प्रकाशित करके क्रान्तिकारी परिवर्तन कर सकती थी। किन्तु उसके ऐसा न करके ट्रस्ट को कोसना आरम्भ किया। सन् १६३६ ई० की मीटिंग में वैदिक पुस्तकालय रिपोर्ट में पृ० १४ पर छपा है—

'वैदिक पुस्तकालय में बराबर तीन वर्ष से घाटा हो रहा है…… इसकी वजह यह है कि श्री स्वामीजी महाराज के कोपी राइट का समय गुजर जाने से कई दुकानदारों ने पुस्तकें छाप ली हैं। आर्य साहित्य मण्डल ने सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, वेदभाष्य भूमिका, गोकरुणानिधि, आर्योद्देश्यरत्नमाला, पञ्चमहायज्ञविधि, व्यवहारभानु और यजुर्वेदमूल छाप लिये हैं। सार्वदेशिकसभा ने सत्यार्थप्रकाश छापा है। रामलालकपूर ट्रस्ट ने पञ्चमहायज्ञविधि तथा आर्याभिविनय छाप ली है और अब यजुर्वेदभाष्य भी छाप रहे हैं। प्रतिनिधि सभा पंजाब, यू०

पी० अलहेदा-अलहेदा पुस्तक तथा भाष्य छाप रहे हैं।' इसी प्रकार सन् १९४०, ४१ की रिपोर्टों में छपा है।

इसके पश्चात् ट्रस्ट के द्वारा ऋषिदयानन्दकृत यजुर्वेदभाष्य का विवरण सहित प्रथम भाग प्रकाशित हुआ (जो कि परोपकारिणी सभा के पूर्ण सहयोग से वैदिक यन्त्रालय अजमेर में छपा)। आर्य जनता और विद्वानों ने इसका इतना मान किया कि एक वर्ष के भीतर ही उसकी लगभग ६००-७०० छ:-सात सौ प्रतियां बिक गईं। इस कारण सभा के अधिकारियों की आंखें एक दम चौंधिया गयीं, और उन्होंने समझा कि यदि श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट का प्रकाशन इसी प्रकार बढ़ता और लोकप्रिय होता गया, तो परोपकारिणी सभा का काम सर्वथा ठप हो जायेगा। इसलिये उन्होंने यजुर्वेदभाष्यविवरण के पवित्र कार्य में बाधा डालनी आरम्भ की। अगले भाग के सम्पादन के लिये हस्तलेख देने को मना कर दिया।

२ मार्च १९४६ की मीटिङ्ग में परोपकारिणी सभा के उपस्थित सदस्यों ने परोपकारिणी सभा की ओर से ही यजुर्वेदभाष्य सम्पादन का कार्य करने की मुझसे प्रार्थना की। मैंने उन्हें सुझाव दिया कि यतः यजुर्वेदभाष्य का प्रथम भाग श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट की ओर से प्रकाशित हो चुका है, इसलिये शेष भाग भी उक्त ट्रस्ट की ओर से प्रकाशित होने दें। और यह भी विश्वास दिलाया कि ट्रस्ट केवल एक ही संस्करण प्रकाशित करेगा। उसके द्वारा किये हुए कार्य को आप महानुभाव उपयोग में ले लें। इस प्रकार परोपकारिणी सभा एक बड़े खर्चे से बच जायगी और उसे किया कराया कार्य मिल जायेगा। इसके साथ ही मैं ऋग्वेदभाष्य के सम्पादन का कार्य परोपकारिणी सभा के लिये करने को तैयार हूं।

किन्तु उपस्थित सदस्यों को यह प्रस्ताव स्वीकृत न हुआ। रामलाल कपूर ट्रस्ट के कार्य को सर्वथा छोड़ कर मैं परोपकारिणी सभा का ही कार्य करूं, यह मुझको भी स्वीकृत नहीं हुआ। क्योंकि मैं उससे पहले परोपकारिणी सभा द्वारा अष्टाध्यायीभाष्य, ऋग्वेदभाष्य, वेदों के मूल संस्करणादि के सम्पादन कार्य में अपना पर्याप्त समय लगाकर देख चुका था कि सभा के अधिकारी उचित रूप से कार्य न करने देकर बीच में अपने अड़ंगे लगाते रहते थे, जिससे कार्य में हानि पहुंचती थी। जिसके

परिणामस्वरूप उक्त कार्यों को मुझे बीच में ही छोड़ देना पड़ा। इस अनुभव के कारण सभा के कार्य पर मुझे पूर्ण विश्वास न था कि यह कार्य ठीक रीति से हो सकेगा।

इस पर परोपकारिणी सभा ने जो प्रस्ताव पास किया, वह निम्न प्रकार है—देखो कार्यवाही परोपकारिणी सभा, दो मार्च १९४६ पृ० ६, ७ निश्चय नं० ३—

"श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु का पत्र तथा उसके सम्बन्ध में श्री राजाधिराज प्रधान सभा, तथा सर बख्शी टेकचन्द जी के पत्र पढ़े गये, निश्चय हुआ कि महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी महाराज के हस्त-लिखित वेदभाष्य के अनुसार लिखा वेदभाष्य श्रीमती परोपकारिणी सभा की ओर से ही प्रकाशित होना चाहिये। इससे श्रीमती सभा के उद्देश्यों में से मुख्य उद्देश्य की पूर्ति तथा उसका आर्थिक हित होगा। **श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु को कहा गया कि क्या यह सम्भव है कि बाकी यजुर्वेदभाष्य उनकी टिप्पणी सहित श्रीमती परोपकारिणी सभा की ओर से ही प्रकाशित कराया जावे** और उनको इस कार्य में पूर्ण सहायता सर्व प्रकार से दी जावे परन्तु इसको उन्होंने स्वीकार करने में असमर्थता प्रकट की। ऐसी अवस्था में इस सभा की सम्मति में श्री पं० जिज्ञासु जी को स्वामी जी की हस्तलिखित कापी से मिलान करने की स्वीकृति नहीं दी जानी चाहिये। (Ganga Prasad not Voting)"

जब इतने से भी ट्रस्ट के कार्य में विशेष बाधा न हुई, तब उन्होंने ट्रस्ट के कार्य को आर्यजनता की दृष्टि में गिराने के लिए उसके द्वारा प्रकाशित यजुर्वेदभाष्य के विरुद्ध अखबारों द्वारा प्रोपेगण्डा आरम्भ किया और दूसरे के द्वारा कराया। यदि प्रारम्भ में ही यजुर्वेदभाष्य के स्थलों पर विद्वानों द्वारा निश्चय कराया जाता, तो कुछ भी विषमता उत्पन्न न होती। अस्तु।

अब विचारशील पाठक स्वयं विचारें कि परोपकारिणी सभा का प्रस्ताव निस्सार है या नहीं? वेदभाष्य के किसी एक स्थल पर भी सदस्यों वा विद्वानों द्वारा विचार न करके वा कराके मिथ्या हेतु देना कि 'सभा ने कोई अधिकार वा निर्देश नहीं दिये, ब्रह्मदत्त जिज्ञासु का यह कार्य व्यक्तिगत उत्तरदायित्वपूर्ण है, अतएव अप्रामाणिक है', यह कहना कहां तक उचित है और इसका क्या मूल्य है? जबकि उक्त प्रस्ताव

के प्रस्तावक महोदय ने भी अप्रामाणिक शब्द का अर्थ 'उसके प्रामाण्य का उत्तरदायित्व परोपकारिणी सभा का नहीं' केवल इतना माना है। तब 'आर्यमार्तण्ड' की उक्त घोषणा का भी क्या मूल्य है, इसे पाठक ही स्वयं विचारें, (जिसके कारण मुझे भी लिखना पड़ा)। हमें आशा ही नहीं, अपितु पूर्ण विश्वास है, कि आर्य जनता ऐसे भ्रमपूर्ण लेखों पर कुछ ध्यान नहीं देगी। जिन महानुभावों को इस विषय में कुछ प्रष्टव्य हो, वे मुझ से पूछ सकते हैं।

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित यजुर्वेदभाष्य की पाठशुद्धि छपाई और कागजादि की श्रेष्ठता और उस पर लिखे गये विवरण की उत्तमता की आर्यसमाज के उच्च कोटि के विद्वानों तथा आर्यसमाज से इतर योग्य विद्वानों ने कहां तक सराहना की है, इसके लिये यथासम्भव 'वेदवाणी' के अगले अङ्क में कुछ सम्मतिपत्र प्रकाशित करेंगे।

[वेदवाणी, वर्ष ३, अङ्क ४]

भारत की अपूर्व सम्पत्ति वेद

वेद प्रभु की पवित्र वाणी है, जो आदि सृष्टि में जीवों के कल्याणार्थ परम पिता परमात्मा ने ऋषियों द्वारा प्रदान की। समस्त विद्याओं का उद्भवस्थान, सार्वकालिक और सार्वभौमिक नियमों का प्रदर्शक, मानव समाज सम्बन्धी सब क्रियाकलापों का विज्ञापक, सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का आगार होने से वेद प्रत्येक देश-जाति-समाज और व्यक्ति के लिए सदैव उपादेय है।

समस्त ऋषि-मुनि भी वेद को **'सर्वज्ञानमयो हि सः' 'प्रमाणं परमं श्रुतिः'** अखिल ज्ञान का स्रोत तथा परम प्रमाण मानते और बताते चले आये। **'निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'** विना कुछ विचार किये परम कर्त्तव्य समझते हुए इस वेद को छओं अङ्गों सहित पढ़ने का आदेश करते चले आए। इसी से यह वेद इस समय तक हमारे पूर्वजों के पुण्यप्रताप से कुलपरम्पराओं द्वारा सुरक्षित रहता आया, अन्यथा भू-मण्डल भर में खोजने पर इसका चिह्न तक भी न मिलता, जैसा कि अनेक जातियां अपने साहित्य सहित इस भूमण्डल से सदा के लिए मिट गईं।

परम कारुणिक परमदेव परमात्मा की अपार कृपा से इस भारतभूमि पर भगवान् दयानन्द का प्रादुर्भाव हुवा, जिसने हमें वेद के इस शुद्ध स्वरूप का पुनः दर्शन कराया। नहीं तो अवस्था यह थी कि वेद एक राशि(ढेर)में पड़ा था,जिसमें संस्कृत में लिखी प्रत्येक पुस्तक चाहे वह कल की भी लिखी हो, सब एक समान स्थिति में पड़ी थीं। जैसे विना लेबुल के औषध की सहस्रों शीशियां एक ढेर में पड़ी हों, उन के तारतम्य का किसी को कुछ भी ज्ञान न हो। वेद और आर्षग्रन्थरूपी अमृत को उस ढेर में से पृथक् कर ऋषि दयानन्द ने संसार का महान् उपकार किया। वेद के स्वतःप्रमाण और ऋषिग्रन्थों के परतः प्रमाण होने का नाद बजाया। अपनी ही कल्पना से नहीं, अपितु ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त समस्त ऋषियों के आधार पर।

वेद और उसकी शाखायें

ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज का यह सिद्धान्त है कि चार वेद

ईश्वरकृत हैं, तथा शेष उनकी ११२७ शाखाएं वेद के व्याख्यानरूप ग्रन्थ हैं। अगाधबुद्धि महामुनि पाणिनि तथा भगवान् पतञ्जलि दोनों ने अष्टाध्यायी और महाभाष्य में **'तेन प्रोक्तम्'** सूत्र तथा उसके भाष्य में **'काठकम्, कालापकम्'** ये उदाहरण देते हुए मैत्रायणी और काठक (संहिता कही जानेवाली) दोनों को ऋषिप्रोक्त अर्थात् ऋषियों की बनाई माना है। निरुक्त के टीकाकार दुर्ग और स्कन्द ने भी तैत्तिरीय संहिता के उद्धरण देते हुए उन्हें स्पष्ट 'ब्राह्मण' शब्द से व्यवहृत किया है (देखो दुर्ग पृ० १४७, स्कन्द टी० पृ० ९६ भा० २)

इन प्रोक्त ग्रन्थों अर्थात् काठक, मैत्रायणी आदि की आनुपूर्वी को महाभाष्यकार ने अनित्य माना है, जैसा कि—

'या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकं कालापकं पैप्पलादकञ्चेति ॥ (महाभाष्य अ० ४।३।१०४)।

यहां पैप्पलाद की वर्णानुपूर्वी को भगवान् पतञ्जलि अनित्य मानते हैं। यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है।

वही भगवान् पतञ्जलि वेद की आनुपूर्वी =शब्द-वर्ण-मात्रा-स्वर को नित्य मानते हैं, तद्यथा —

'स्वरो नियत आम्नाये अस्यवामशब्दस्य। वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता अस्यवामशब्दस्य।' —महाभा० अ० ५।२।५॥

इसी प्रकार महामुनि यास्क भी वेद की आनुपूर्वी को नित्य मानते हैं। जैसे—

'पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे।' —निरु० १।२॥

'नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति' (निरु० १।१५) ॥

यही बात जैमिनि अपने मीमांसाशास्त्र के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद में बतलाते हैं।

इन सब प्रमाणों से सिद्ध है कि शाखाग्रन्थों को पाणिनि, पतञ्जलि, यास्क और जैमिनि - ये ऋषि लोग अनित्य वा मनुष्यकृत मानते हैं और वेद को ईश्वरकृत। ऋग्-यजुः-साम का स्वरूप गोपथब्राह्मण के काल तक ऐसा ही था, जैसा कि हमें इस समय उपलब्ध होता है। (देखो गोपथ-ब्राह्मण, पृ० १२)।

अथर्ववेद के विषय में **'शन्नो देवी०'** से आरम्भ होता है, यह गोपथ-

ब्राह्मण तथा महाभाष्य के आरम्भ में माना है, ऐसा कोई-कोई सज्जन कहते हैं। हम उन महानुभावों की सेवा में नम्रतापूर्वक निवेदन करेंगे कि पतञ्जलि ने '**तेन प्रोक्तम्**' में 'पैप्पलादकम्' उदाहरण देकर पैप्पलाद को भी शाखा मानकर उसकी वर्णानुपूर्वी को अनित्य माना है, अर्थात् पैप्पलाद को ऋषिकृत माना है। 'शन्नो देवी०' पैप्पलाद का प्रथम मन्त्र है, ऐसा गुणविष्णु ने छान्दोग्यमन्त्रभाष्य में लिखा है। गोपथब्राह्मण के इस स्थल के विषय में यह भी कहा जा सकता है कि सम्भव है गोपथ हो ही पैप्पलाद का, या तत्सम्बन्धी किसी अन्य अवान्तर शाखा का। यह बात विचारकोटि में है, अभी हम निश्चित नहीं कह सकते। पर पैप्पलाद ऋषिकृत है, यह तो निश्चित ही है।

'**ये त्रिषप्ताः०**' आदि अथर्ववेद के प्रारम्भ की प्रतीकें हमें श्रौत, गृह्य तथा अनेक स्थलों में मिलती हैं।

हमारा कहने का तात्पर्य यह है कि ऋग्-यजुः-साम और अथर्व --ये चार मूल वेद स्वतः प्रमाण हैं और शाखाग्रन्थ परतःप्रमाण। इन शाखा-ग्रन्थों की कोटि (दर्जा) वह नहीं, जो वेद की है। यह है भेद वेद और शाखाग्रन्थों का, जिनको संहिता के नाम से कहा जा रहा है।

हरिस्वामी (सन् ६३८) शतपथब्राह्मण के आरम्भ में लिखता है—

'वेदस्यापौरुषेयत्वात् स्वतःप्रामाण्ये सिद्धे तद्धेतुत्वात् तच्छाखाना-मपि प्रामाण्यं प्रतिपादितं बादरायणादिभिः।'

इसका यह अभिप्राय है कि हरिस्वामी मूलवेद को शाखाओं से भिन्न मानता है।

वेद और ब्राह्मणग्रन्थ

ब्राह्मणग्रन्थ मूल वेद के मन्त्रों की प्रतीक (अर्थात् उद्धरण) देकर उनका विनियोग (application) मात्र बताते हैं कि इस मन्त्र को बोल कर अमुक क्रिया करना। इससे स्पष्ट है कि ये ब्राह्मणग्रन्थ वेदों के व्याख्यानरूप ग्रन्थ हैं। मैं पूछता हूं भला शतपथब्राह्मण का प्रारम्भ यजुर्वेद के पहिले मन्त्र 'इषे त्वोर्जे' से न करके 'अग्ने व्रतपते' से ही क्यों किया ? (इस विषय में देखो 'वेदवाणी' वर्ष ३ अङ्क १ में 'यजुर्वेद का ऐतिहासिक सिंहावलोकन' लेख)। और किसी-किसी मन्त्र का इसमें

विनियोग ही नहीं तथा कई मन्त्रों का विनियोग शतपथ में है तो कात्यायन श्रौतसूत्र में नहीं, कात्यायन में है तो शतपथ में नहीं। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणग्रन्थ तो वेद के व्याख्यानरूप ग्रन्थ हैं। उनको वेद कहना वा लिखना किसी प्रकार भी उचित नहीं।

'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः' इत्यादि (निरु० १।२०) से स्पष्ट है कि साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों द्वारा वेदाङ्गों का प्रवचन हुआ। यास्क ने **'पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे'** पुरुष का ज्ञान अनित्य मानकर वेद नित्य है, ऐसा माना है। यास्क ने ही अपने निरुक्त (२। ११) में औपमन्यव आचार्य का मत दर्शाते हुये **'ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः'** तथा **'कर्त्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः'** (निरु० ३।११) इन दोनों स्थलों में कर्त्ता और द्रष्टा पदों को एकार्थक दर्शाते हुए ऋषियों को मन्त्रों का द्रष्टा कहा है। ऐसे ही अन्य ऋषि-मुनियों ने अपने-अपने वेदाङ्गों और उपाङ्गों में ऋषियों को वेद का द्रष्टा माना है, विस्तर-भिया हम यहां प्रमाण उपस्थित नहीं करते। विचारशील महानुभाव स्वयं देख सकते हैं। समस्त ऋषि-मुनि वेद को ईश्वरकृत मानते हैं यही हमारा कहना है। इसीलिए अर्थात् आप्त प्रमाण होने से आर्यसमाज वेद को स्वतःप्रमाण मानता है, शाखा और ब्राह्मणग्रन्थों को ऋषिप्रोक्त होने से परतः प्रमाण।

वेद और विदेशी राज्य का प्रभाव

दुर्भाग्यवश हमारे देश में वेद के विषय में एक दूसरा ही प्रवाह चल पड़ा है, अर्थात् वेद को गड़रियों के गीत वा मनुष्यकृत कहा जाने लगा है। यह विदेशी राज्य की देन है। अर्थात् हम भारतीयों के हृदयों में अपनी ज्ञानसम्पत्ति वेद और ऋषि मुनि प्रणीत शास्त्रों के प्रति अश्रद्धा, नहीं-नहीं आशातीत अत्यन्त घृणा का भाव उत्पन्न करा दिया गया है। पिछले डेढ़ शताब्दी के ब्रिटिश शासन ने हमारी प्राचीन शिक्षा, दीक्षा, संस्कृति, सभ्यता के विकास के साधन उपस्थित करना तो कहां रहा, ह्रास और वह भी चरम सीमा तक ह्रास की परिस्थिति उत्पन्न कर दी है, शासित (आधीन) राष्ट्र वा जातियों की यही गति होती है। शिक्षा के सञ्चालन सूत्र को अपने हाथ में रखने में ही शासकवर्ग का हित निहित होता है। जिसके द्वारा शासकवर्ग नई पीढ़ी को अपनी इच्छा और आवश्यकता के अनुरूप बनाने में सफल हो जाता है। जिससे उसे

उस राष्ट्र पर नैतिक विजय प्राप्त हो जाती है, जो तलवार की विजय से कहीं अधिक प्रभावशाली हुवा करती है। परिणामस्वरूप शासकजाति के कवि, लेखक और शिक्षक पराजित जाति के हृदय, मस्तिष्क और देह में संक्रामक कीटाणुओं की भांति घुसकर उनकी अपनी संस्कृति, आत्माभिमान और उनकी आत्मा का हनन कर, उसे निर्जीव निस्तेज और पंगु वना देते हैं। शासित जाति के लोग उनके गुणगान करते हुए नहीं थकते। शासक जाति को विना पैसे बने बनाये गुलाम (दास) मिल जाते हैं। इससे अधिक शासक जाति की सफलता भला क्या हो सकती है? शासित जाति के अन्दर जितने ही ये विचार प्रवल होते जाते हैं, जाति की परतन्त्रता के वन्धन उतने ही दृढ़ होते जाते हैं। भारत की भी सर्वथा यही अवस्था रही है। भारत के स्वतंत्र होने पर भी विदेशीय शिक्षा दीक्षा में पले हुए नेताओं के हाथ में देश की वागडोर होने के कारण विजातीय भावना के इस विष को भारत के अभागे पुत्र और पुत्रियां आज भी उसी प्रकार पी रहे हैं। यहां तक ही नहीं उस विष को अमृत समझकर वड़े उत्साह और परस्पर स्पर्धा से पी रहे हैं और अपनी प्राचीन संस्कृति को हीन समझ रहे हैं !!

ऐसी अवस्था में विचारशील महानुभाव स्वयं समझ सकते हैं कि वेदशास्त्र, प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के लिए भारतीयों के हृदय में अश्रद्धा घृणा उत्पन्न कर देना कोई वड़ी बात नहीं है, अहो दुःखम् !!!

वेद को गड़रियों के गीत और ऋषिप्रणीत ग्रन्थों को निरर्थक बतानेवाले विदेशी-विद्वानों से शिक्षा-दीक्षा प्राप्त किए हुए भारतीय विद्वानों का एक टोले का टोला अब वेद को मनुष्यकृत ही नहीं मानता, अपितु निरर्थक तथा इतिहास का ग्रंथ बतलाता दिखाई दे रहा है। ऋषिकृत ग्रन्थों को तो वह कुछ भी नहीं समझता।

यह भी विदित रहे कि कतिपय विदेशीय विद्वानों ने वेदों तथा अन्य शास्त्रों के विषय में जो अत्यन्त उत्कृष्ट अनुकरणीय प्रयत्न किया है, उसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं और हर एक को होना चाहिये। ब्लूमफील्ड की वैदिक उद्धरणों की सूची (Vedic concordance) मोनियर विलियम का बृहत् संस्कृत अंग्रेजी कोश, मोक्षमूलर राथ ह्विटने लिण्डनो आदि महानुभावों का मूल वेदों के शुद्ध मुद्रण में घोर प्रयत्न इसी प्रकार भिन्न-भिन्न विषयों में भिन्न-भिन्न विद्वानों के भारतीय साहित्य के लिए किये गये परिश्रम को हम अतीव प्रशंसा और

आदर की दृष्टि से देखते हैं, और उन्हें श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं।

भारतीयों की अपेक्षा हमारे साहित्य में उन्होंने बहुत प्रयत्न किया है। यह सब होते हुए भी हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि उनकी भावना अच्छी नहीं थी; जिससे प्रेरित होकर वे हमारे साहित्य की खोज में लगे। इस विचार की पुष्टि में विचारशील महानुभावों के सामने हमारा एक ही उदाहरण उपस्थित करना पर्याप्त होगा। मोनियर विलियम कोष की भूमिका में लिखा है --

'That the special object of his munificent bequest was to Promote the translation of the scriptures into Sanskrit, so as 'to enable his country men to proceed in the conversion of the natives of India to the Christian Religion. ॥'

इसका भाव यह है कि डिक्शनरी या संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद का कार्य जो मि० बोडन के ट्रस्ट द्वारा हो रहा है, वह सब भारतीयों को ईसाई बनाने में अपने देश (इङ्गलैंड) वासियों को सहायता पहुंचाने के लिए है।

इतने से ही विचारशील महानुभाव समझ सकते हैं कि विदेशियों ने किस ध्येय को सामने रखकर हमारे वैदिक वा अन्य संस्कृत साहित्य में इतना घोर परिश्रम किया है। सब योरुपीय तथा अन्य देशीय विद्वान् प्रायः इसी धारणा और भावना को लेकर हमारे सारे साहित्य की खोज में लगे, हमारे कल्याण के लिए नहीं, यह दुःख से कहना पड़ता है।

भला हमारे पतन का भी कोई ठिकाना है कि संस्कृत की शिक्षा-दीक्षा की मोहर हमारे देशवासियों को भी इङ्गलैंडादि से प्राप्त करनी पड़ती है। वहां का पढ़ा ही किसी संस्कृत ओरियण्टल संस्था का प्रिंसिपल हो सकता है। चाहे वह संस्कृत के एक ग्रन्थ को भी न पढ़ा सकता हो, पर दो-दो अढ़ाई-अढ़ाई हजार रुपया मासिक पा सकता है। भला ऐसी अवस्था में हमारे ये भारतीय स्कालर अपने उन योरुपीय गुरुओं का गुणगान और वेद के विषय में उन गुरुओं की ही हां में हां मिलाने में कैसे पीछे रह सकते हैं। 'जिनका खाना, उनका गाना' 'बद्धोऽस्मि अर्थेन कौरवैः' 'गुरु जिन्हां दे टप्पणे, चेले जाण छड़प्प' यह स्वाभाविक है। स्वामी के नमक के प्रभाव से भीष्म जैसे न बच सके, इनकी तो बात ही क्या!!!

ये सब आर्यसमाज के विपक्षी (अर्थात् पूर्वपक्षी) हैं। हां! जिनके हृदय में भारतीय साहित्य, संस्कृति और सभ्यता के प्रति अपने पूर्वजों की सम्पत्ति होने से प्रेम है, वे उतने अंश में प्रशंसा के योग्य हैं, जो विदेशी शिक्षा-दीक्षा पाकर भी उनमें अपने देश का प्रेम विद्यमान है। जो अपनी पूर्णसामर्थ्य से विदेशी भावनाओं के प्रति घृणा का भाव रखते हुए अपनी भारतीय संस्कृति और साहित्य की रक्षा में हृदय से तत्पर हैं, उनके द्वारा बहुत कुछ हो सकता है। परन्तु मानते वे भी अधिक से अधिक इतना ही हैं कि संसार की लाइब्रेरी में वेद सबसे पुरानी पुस्तक हैं। मानो इसका परमात्मा से कोई सम्बन्ध ही नहीं!! ऋषियों की बनाई होने पर भी हमारे पूर्वजों की देन है, इसलिए हमें इसमें यत्न करना चाहिये ऐसा ये मानते हैं।

ऐसे विचारवालों की संख्या भारत में अत्यधिक हो रही है और अङ्गरेजी ढंग से संस्कृत पढ़नेवाले तो प्रायः इसी विचार के पाये जाते हैं। अनार्षविधि से पढ़नेवाले शास्त्री आदिकों को निरुक्तादि का ठीक ज्ञान न होने से वेद में उल्टी अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है।

पहिले तो विदेशी राज्य था हम परतन्त्र थे। भारतीय भावनाओं पर कुठाराघात हमारी परतन्त्रता के कारण किया जाता था। अब जब कि हम स्वतन्त्र हैं, अपने पूर्वजों की सम्पत्ति वेद और शास्त्रों के हम ही उत्तराधिकारी हैं, इन की रक्षा तथा विस्तार का भार भारत और आर्य जाति पर ही है। संसार का अन्य कोई देश वा जाति इस कार्य को करना अपना कर्त्तव्य नहीं समझता। ऐसी अवस्था में स्वतन्त्र भारत अपनी मूल सम्पत्ति को ही खो बैठे, इस से अधिक लज्जा और दुःख की बात ही क्या हो सकती है। विदेशी चले गये, पर विदेशीयता भारत में अभी तक गहरी जड़ पकड़े हुये दृष्टिगोचर होती है। जब तक विदेशीय भावनायें भारत में विद्यमान हैं तब तक विदेशी विद्यमान हैं, ऐसा ही समझना चाहिये। जब तक विदेशी शिक्षा-दीक्षा रहन-सहन वा भावनाओं को घोर धक्का न लगेगा तब तक भारतीयता पनप नहीं सकती। जब तक वेद-उपनिषद् गीता और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका प्रत्येक भारतीय नर-नारी के प्रतिदिन के स्वाध्याय का स्थान नहीं लेते तब तक भारतीयता के सच्चे स्वरूप का दर्शन होना दुर्लभ है। वेद और शास्त्र ही भारतीय संस्कृति की सच्ची प्रतीक हैं, उन से विमुख होकर

भारतीय संस्कृति का उपासक नहीं हो सकता। जब तक विदेशी भावनाओं वा विदेशी शिक्षा-दीक्षा के प्रसारार्थ विदेशी ढङ्ग के स्कूल और कालेजों से विमुख नहीं होते, भारत का कल्याण कदापि नहीं हो सकता। पुत्र और पुत्रियों के स्कूल और कालेजों में वेद-उपनिषद् आदि उपर्युक्त पवित्र ग्रन्थों की शिक्षा ही जाति में भारतीयता का पुनरुद्धार कर सकती है। इस के विरुद्ध संस्थाओं पर संस्थायें खोलते चले जाने-वाले, चाहे वे कोई हों, भारत माता की भारतीयता को नाश करनेवाले ही समझे जायेंगे, ऐसा समय भी अवश्य आयेगा। यह है अन्तर्वेदना, जिस के दूर होने पर ही भारत से भ्रष्टाचारादि दूर हो सकते हैं।

पश्य देवस्य काव्यं, न ममार, न जीर्यति, !!!
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय !!!

[वेदवाणी, वर्ष ३, अङ्क ३]

वेदार्थ का महान् पुनरुद्धारक ऋषि दयानन्द

वेदों में आस्था रखनेवाला, वेदों का अभ्यासी, उनका स्वाध्याय वा अनुशीलन करनेवाला, चाहे वह महाविद्वान् हो वा वेद का विद्यार्थी हो, भारतीय हो वा अभारतीय, वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानता हो या न मानता हो, वेद का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि में मानता हो वा किसी समय में भी मानता हो, यह बात प्रत्येक व्यक्ति मानता है, वा प्रत्येक को माननी पड़ती है कि आज से लगभग १३०० वर्ष से पहिले का वेदों का अर्थ लुप्त है,कोई भी भाष्य इससे पहले का नहीं मिलता। सबसे पहिला वेदभाष्यकार सातवीं शताब्दी (संवत् ६८७) का आचार्य स्कन्द स्वामी है, जिसका ऋग्वेद पर भाष्य मिला है, जो अपूर्ण है। महाभारत से पहिले तथा पीछे भी स्कन्द स्वामी के समय तक वेदार्थ रहा अवश्य होगा। महाभारत से पूर्व वा पश्चात् के ऋषियों के जितने भी ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे हैं, वे प्रायः सभी वेदों के अर्थों के विषय में भिन्न-भिन्न रीति से निरूपण करते हैं, उन्हें हम वेद के भाष्य नहीं कह सकते। अधिक नहीं तो महाभारत से लेकर विक्रम की ६ शताब्दी तक अर्थात् लगभग ३५०० साढ़े तीन हजार वर्ष का वेदार्थ तो लुप्त ही कहा जायेगा। आर्य सनातन वैदिक धर्मी की दृष्टि से तो वेद की उत्पत्ति सृष्टि के आदि में हुई, तदनन्तर वेद का अर्थ प्रादुर्भूत हुआ। इस समय जो कुछ भी अधूरा वेदार्थ उपलब्ध हो रहा है, वह भी आज से १३०० वर्ष पूर्व तक का है। पहिले का वेदार्थ लुप्त है, यह बात सर्वसम्मत है।

वेदार्थ का संक्षिप्त इतिहास

वेदार्थ के नियमों के प्रतिपादक निरुक्तकार यास्क मुनि को वेदार्थ का निर्देशक माना जा सकता है, वेदभाष्यकार नहीं कहा जा सकता। वेद-भाष्य करने के सिद्धान्तों वा नियमों का मार्गप्रदर्शक होने के नाते निरुक्त को वेदभाष्यकारों का निर्देशक माना जा सकता है, जिसका स्थान निश्चय ही वेदभाष्यकारों से ऊपर माना जायगा। उपलब्ध होनेवाले

वेदभाष्यों में हमें सातवीं शताब्दी में होनेवाले आचार्य स्कन्दस्वामी का अपूर्ण वेदभाष्य मिलता है, जिसका प्रथम अष्टक छप भी चुका है। यह भाष्य उसने नारायण और उद्गीथ के साथ मिलकर किया था, जिसमें नारायण का भाष्य तो सर्वथा नहीं मिलता, उद्गीथ भाष्य दशम मण्डल पर कुछ थोड़ा सा मिला है। स्कन्द से लेकर सायणाचार्य (संवत् १३७२-१४४४) तक लगभग सात सौ ७०० वर्षों में १६-१७ वेदभाष्यकारों का किया वेदार्थ हमें सम्प्रति मिल रहा है जैसा कि --स्कन्द-उद्गीथ (संवत् ६८७), दुर्ग (निरुक्त टीका में), हरिस्वामी (संवत् ६९५ शतपथ-ब्राह्मणभाष्य में), उवट (संवत् ११००, यजुर्वेदभाष्य), वररुचि (निरुक्त समुच्चय), भट्टभास्कर (तै० संहिता, तै० ब्राह्मण, तै० आरण्यक में), वेङ्कटमाधव (ऋग्भाष्य), आत्मानन्द (अस्वमामीय), आनन्दतीर्थ (ऋग्वेद ४० सूक्त का), माध्वभाष्य(जयतीर्थ तथा नृसिंहयति की छलारी टीका सहित), गुणविष्णु (छान्दोग्यमन्त्रभाष्य), माधव(सामवेदभाष्य), भरत स्वामी(सामवेदभाष्य), देवपाल(लौगाक्षिगृह्यभाष्य), आनन्दबोध (काण्वभाष्य), सायणाचार्य (ऋक् साम अथर्व तथा काण्वभाष्य) ये १७ वेदभाष्य हमें पूर्ण अपूर्ण अवस्था में इस समय मिल रहे हैं। इनसे अतिरिक्त अनन्ताचार्य-मुद्गल-यजुर्मञ्जरीकार, पारस्करमन्त्रभाष्य, वेङ्कटेश का तै० सं० भाष्य, षडङ्गरुद्रभाष्य, जैमिनीयगृह्यमन्त्रवृत्ति आदि सायण के पश्चाद्वर्त्ती भाष्य (वेदमन्त्रों के अर्थ प्रतिपादक ग्रन्थ) इतने सामान्य हैं कि इन पर अधिक लिखने की भी आवश्यकता नहीं।

अब तक के शेष वेदभाष्य वा वेदार्थप्रतिपादक ग्रन्थ, जो उपलब्ध हो रहे हैं, इनमें द्याद्विवेदी (संवत् १५०० नीतिमञ्जरी), महीधर (संवत् १६४५ सम्पूर्ण यजुर्वेदभाष्य), शत्रघ्न (संवत् १५८५ मन्त्रार्थदीपिका) आदि वेदार्थप्रतिपादक ग्रन्थ हैं।

अब हम आचार्य दयानन्द के समय तथा उनके पीछे के वेदार्थ (विदेशीय भाषाओं में तथा आर्यभाषाभाष्यों) का भी संक्षिप्त परिचय देते हैं। ऋग्वेद पर विलसन, ग्रिफिथ, ग्रासमैन के अङ्गरेजी अनुवाद—लुडविग तथा ओल्डन वर्ग के जर्मनानुवाद, ऋग्वेद के कुछ सूक्तों पर फ्रेंच तथा अङ्गरेजी में कई एक अनुवाद हैं। राथ ह्विटनी का अथर्ववेद का अङ्गरेजी अनुवाद, बैनफी का सामवेद का जर्मन अनुवाद, कीथ का तैत्तिरीयसंहिता, ऐतरेय तथा कौषीतकीब्राह्मण का, हाग का ऐतरेय ब्राह्मण का, एगलिङ्ग का शतपथब्राह्मण का, ये सब अङ्गरेजी तथा

जर्मनादि में अनुवाद हैं। आर्यभाषाभाष्यों में ऋग्वेद के कुछ अंशों पर परलोकगत पं० शिवशङ्कर काव्यतीर्थ, महामहोपाध्याय पं० आर्यमुनिजी, पं० जयदेवजी विद्यालङ्कार, पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी – पं० तुलसीराम जी ने अपने भाष्य इस आधुनिक काल में लिखे। इनका महत्त्व आचार्य दयानन्दकृत भाष्य की दृष्टि से यद्यपि बहुत ही थोड़ा है, पर आचार्य दयानन्द के किये वेदभाष्य से बचे हुए भाग पर करने के कारण इनका महत्त्व भी अङ्गरेजी के अनुवादों की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ जाता है। चाहे इनमें अर्थ की प्रौढ़ता कितनी भी कम हो। ये सब भाष्य भारतीयों के लिये उपादेय हैं। अब हम वेदार्थ की प्रक्रिया पर विचार आरम्भ करते हैं।

यास्क के वेद तथा वेदार्थ का स्वरूप

यद्यपि यास्कमुनि ने किसी भी वेद का भाष्य नहीं किया, पर उन्होंने वेद के अर्थ करने की शैली अत्यन्त ही उत्कृष्ट रीति से दर्शाई है। तभी निरुक्त वेद का अङ्ग बना। निरुक्तकार की वेदविषयक निम्नाङ्कित धारणाएं मुख्य हैं—

(१) **'पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे'** (निरु० १।२) अर्थात् मनुष्य की विद्या अनित्य है, तभी वेद में कर्मों की सम्पूर्णता का प्रतिपादन है, यह कहकर यास्क मुनि वेद को मनुष्य की कृति नहीं मानते।

(२) **'नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति'** (निरु० १।१५) अर्थात् वेद की आनुपूर्वी नित्य है, जैसा कि महामुनि पतञ्जलि ने भी महाभाष्य में वेद की आनुपूर्वी को नित्य माना है। तद्यथा—**'स्वरो नियत आम्नायेऽस्यवामशब्दस्य। वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता'** (महाभाष्य ५।२।५९)।

(३) **'ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः'** (निरु० २।११) इस में स्पष्ट ही ऋषियों को यास्कमुनि ने वेदमन्त्रों का द्रष्टा माना है, मन्त्रों के कर्त्ता (बनानेवाले) नहीं माना है।

(४) यास्क मुनि वेद के सब मन्त्रों का अर्थ तीन प्रकार - आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधियाज्ञिक मानते हैं। इस विषय में इस समय तक उपलब्ध होनेवाले वेदभाष्यकारों में सर्वप्रथम वेदभाष्यकार आचार्य स्कन्द स्वामी का उद्धरण उपस्थित करना ही पर्याप्त होगा—

"सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः । कुतः ? स्वयमेव भाष्यकारेण (निघण्टुभाष्यकारेण यास्कमुनिनेति लेखकः) त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' (निरु० १।२०) इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्" (स्कन्द निरु० टी० ७।५। पृ० ३६) ।

इस वचन से सिद्ध है कि जो भाष्य वेदमन्त्रों के तीनों प्रकार के अर्थ नहीं बताता, वह वेदभाष्य नहीं हो सकता ।

(५) 'अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते' (निरु० १।१५) निरुक्त अर्थात् निर्वचन के बिना वेदमन्त्रों का अर्थ कदापि ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता ।

निरु० १।१२ में सब नाम शब्दों को धातुज मानकर निरु० १०।१६, १०।१६, और १०।२३ में धातुपाठ में कहे धात्वर्थ से भिन्न धातुओं के अर्थ मानकर महाभाष्यकार महामुनि पतञ्जलि के—'बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति' के सिद्धान्त को यास्कमुनि ने माना है ।

(६) 'ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता' (निरु० १०।१०,४६) में यास्क ने व्यक्तिविशेषों के इतिहासवाद का खण्डन कर उस का शुद्ध स्वरूप वर्णित कर दिया है, अर्थात् मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषियों की आख्यान (कहानी) के रूप में कहने की प्रीति होती है, न कि वेद में व्यक्तिविशेषों का कोई इतिहास है। औपचारिक वा आलङ्कारिक वर्णन वेदों में है, ऐसा यास्क महर्षि मानते हैं ।

(७) इसीलिये निरुक्त के टीकाकार आचार्य स्कन्द स्वामी ने वेद में इतिहासवाद का सर्वथा खण्डन किया है, जैसा कि—

'एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या' एष शास्त्रे सिद्धान्तः ।...... औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यान-समयः, परमार्थेन तु नित्यपक्ष इति सिद्धम् ।'

(निरु० स्कन्द टी० भा० २ पृ० ७८) ।।

इसी प्रकार वररुचि के 'निरुक्तसमुच्चय' पृ० ७१ में कहा है—

'औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयो नित्यत्वविरोधात्। परमार्थेन तु नित्यपक्ष एवेति नैरुक्तानां सिद्धान्तः ।।'

इन दोनों उद्धरणों में अपूर्व समानता है और दोनों का यही अर्थ है कि मन्त्रों में व्यक्तिविशेषों का इतिहास नहीं, औपचारिक या आलङ्कारिक वर्णन है। वेदों का नित्यपक्ष ही नैरुक्ताचार्यों का सिद्धान्त है ।

(८) अर्थ की प्रधानता ('अर्थनित्यः परीक्षेत' निरु० २।१), अर्थ के पीछे पदपाठ-स्वर-विनियोग-विभक्ति का विपरिणाम आदि यास्क तथा उनके टीकाकारों को अभिमत है। जिनका विशद विवरण यहां करना कठिन ही है।

ये हैं मौलिक सिद्धान्त, जिनके आधार पर वेदार्थ का यथार्थस्वरूप समझा जा सकता है, अथवा जिनके ठीक-ठीक न समझने के कारण वेद के विषय में अर्थ का अनर्थ शताब्दियों से होता रहा और अभी तक हो रहा है। शताब्दियों से सामान्य जनता में ही वेदार्थ के विषय में भ्रान्ति रही, सो बात नहीं। दुर्भाग्यवश जो दूसरों को वेदार्थविषय में बोध करानेवाले वेदभाष्यकार हुये, वह भी भ्रान्ति में (जानकर वा न जान कर) पड़े रहे।

सायणाचार्य वेदार्थ तक नहीं पहुंचे

ऐसी भ्रान्ति में पड़नेवालों में, जिनके कारण सैकड़ों वर्षों तक संसार वेदविषय में घोर अन्धकार में रहा, श्री सायणाचार्य मुख्य कहे जा सकते हैं।

जब सायणाचार्य से भी लगभग ७०० सात सौ वर्ष पूर्व वेदार्थप्रक्रिया की परम्परा यह रही कि वेद के सब मन्त्रों के अर्थ तीनों आध्यात्मिक-आधिदैविक और आधियाज्ञिक प्रक्रियाओं में होने चाहियें, जो निरुक्त-कार का सिद्धान्त है, और जिसे सायणाचार्य से सात सौ वर्ष पूर्ववर्त्ती ऋग्वेद का भाष्यकार आचार्य स्कन्द स्वामी अपनी निरुक्तटीका में सुस्पष्ट लिखता है, ऐसी अवस्था में भी श्री सायणाचार्य ऐसा लिखें कि ब्राह्मण और संहिता में केवल कर्मकाण्ड का ही प्रतिपादन है, तो यही कहना पड़ेगा कि वेदार्थ की त्रिविध प्रक्रिया की परम्परा जो निरन्तर चली आ रही थी, उसे या तो सायणाचार्य ने जानबूझकर नष्ट कर दिया या उनमें इसके समझने वा भाष्य करने की योग्यता ही न थी।

विज्ञपाठकों के समक्ष हम इस विषय में श्री सायणाचार्यजी का लेख ही उपस्थित करते हैं—

(१) सायणाचार्यकृत सामवेदभाष्यभूमिका के प्रारम्भ में—

'यज्ञो ब्रह्म च वेदेषु द्वावर्थौ काण्डयोर्द्वयोः।
अध्वर्युमुख्यैर्ऋत्विग्भिश्चतुर्भिर्यज्ञसम्पदः ॥६॥'

इसमें स्पष्ट कहा गया है कि 'वेदों में यज्ञकाण्ड और ब्रह्मकाण्डरूप दोनों प्रकार के अर्थ हैं।...'

(२) सायणाचार्यकृत काण्वसंहिताभाष्यभूमिका में—

'तस्मिंश्च वेदे द्वौ काण्डौ कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्यकाख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डस्तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोः कर्मकाण्डत्वम्। तत्रोभयत्राधानाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपादितत्वात्।'

यहां पर सायणाचार्य शतपथब्राह्मण ही नहीं, संहिता में भी **'दर्शपूर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपादितत्वात्'** इस वचन में दर्शपूर्णमासादि यज्ञकर्मों का ही प्रतिपादन है, ऐसा मानते हैं।

पाठक विचार करें कि आचार्य स्कन्दस्वामी की त्रिविध प्रक्रिया, जिसे वह यास्काभिमत लिखते हैं, उपस्थित होने पर भी, श्री सायणाचार्य को—

'नहि स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति' 'पश्यन्नपि न पश्यति' देखता हुआ भी नहीं देखता, यही तो कहना पड़ेगा। क्या सायण ने स्कन्दभाष्य देखा ही नहीं होगा, यह कभी नहीं हो सकता है, जब कि इस समय भी सैंकड़ों वर्षों के पीछे सायणाचार्य की जन्मभूमि दक्षिण भारत में ही स्कन्द की निरुक्तटीका मिली है, जिसमें त्रिविध प्रक्रिया का उल्लेख स्पष्ट है। इसीलिये हम यह कहने में कुछ भी संकोच करने को तय्यार नहीं, कि सायणाचार्य वेदार्थ तक नहीं पहुंचे। कुछ भी कारण रहा हो, सायणाचार्य वेदार्थ तक पहुंचने में आगे आनेवालों के लिए बीच में भित्ति (दीवार अर्थात् बाधक) बन गये। सो भी इतनी ऊंची और इतनी दृढ़ कि किसी को लांघने का साहस नहीं होता था। प्रभु की असीम कृपा से आचार्य दयानन्द उस दीवार को लांघ गये, उनकी कृपा से आज हम भी शास्त्र के आधार पर लांघ रहे हैं।

वेदार्थ-निर्वचन

उपर्युक्त धारणाओं तथा सिद्धान्तों को अधिक स्पष्ट करने के लिये हम कुछ मन्त्रों को उदाहरणरूपेण विज्ञ पाठकों के समक्ष रखना चाहते थे, पर इस लघुकाय लेख में यह होना असम्भव हैं, अतः हम यहां केवल ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र को ही उदाहरणरूप में उपस्थित करते हैं—

सायण तथा दयानन्दकृत भाष्य में भेद

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ॥

(१) यह ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त का प्रथम मन्त्र है। इस मन्त्र का अर्थ श्री सायणाचार्य (संवत् १३७२ से १४४४) ने केवल यज्ञपरक ही किया है। आचार्य दयानन्द ने इस मन्त्र के अर्थ आध्यात्मिक तथा आधिकभौतिक दोनों किये हैं (किसी-किसी मन्त्र का तीनों प्रक्रियाओं में भी अर्थ किया है)।[1] 'अग्नि' शब्द से आचार्य दयानन्द ने इस मन्त्र के भाष्य में '(अग्नि) परमेश्वरं भौतिकं वा' ऐसा अर्थ किया है। अर्थात् एक पक्ष में अग्नि शब्द से परमेश्वर का और दूसरे पक्ष में 'भौतिक अग्नि' का ग्रहण किया है, और इन दोनों अर्थों में अनेक प्रमाण इसी मन्त्र के भाष्य में तथा संवत् १९३३ लाजरस प्रैस काशी के छपे ऋग्वेदभाष्य के 'नमूने का अङ्क' में दर्शाये हैं, जो प्रत्येक वेदाभ्यासी के देखने और मनन करने योग्य हैं। यह विदित रहे कि आचार्य दयानन्द ने अपने ऋग्वेदभाष्य का प्रारम्भ मार्गशीर्ष शुक्ल ६ भौमवार संवत् १९३४ को किया था। और 'नमूने का अङ्क' पौष संवत् १९३३ में लाजरस प्रैस काशी में छपा था। 'अग्नि' का अर्थ चूल्हे वा पाक 'अग्नि=आग' ही हो सकता हैं, यह भ्रान्ति आचार्य दयानन्द से पूर्व तो सब को थी ही, जिन्होंने उनके भाष्य को नहीं पढ़ा, उनको अब तक भी यह भ्रान्ति रह रही है। साधारण संस्कृत पढ़ों को ही यह भ्रान्ति हो, सो बात नहीं, यह भ्रान्ति बड़े-बड़े विद्वानों को आचार्य दयानन्द के जीवनकाल में रही और अब तक भी लगभग वैसी ही है।

पं० महेशचन्द्र तथा अन्य विद्वानों की महाभ्रान्ति

कलकत्ता विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष श्री पं० महेशचन्द्रजी न्यायरत्न ने जो 'वेदभाष्यपरत्व प्रश्न पुस्तक' छपाई थी, उसके पूर्वपक्ष आचार्य दयानन्द ने अपनी 'भ्रान्तिनिवारण' पुस्तक में लिखे हैं, उनमें से कुछ उद्धरण हम विज्ञ पाठकों के समक्ष रखते हैं:—

(१) '(अग्निमीडे पुरोहितम्) इसके भाष्य में स्वामीजी ने अग्नि शब्द से ईश्वर का ग्रहण किया है। जब कि प्रसिद्ध अर्थ अग्नि शब्द के

---

१. देखो यजुर्वेद अ० १ मन्त्र ११ का अर्थ, यहां आचार्य दयानन्द ने तीन प्रकार का अर्थ किया है।

सिवाय आग के दूसरे कोई नहीं ले सकता। तथा सायणाचार्य वेद के भाष्यकार की इसी विषय में साक्षी वर्त्तमान है।'

भ्रान्तिनिवारण संस्करण ४ पृ० ६।

(२) 'निरुक्तकार कहता है कि वह भौतिक के लिये आया है। कोई सूर्य को बताते हैं। खैर कुछ भी हो, परन्तु अग्नि से ईश्वर कभी नहीं लिया जा सकता' (भ्रान्तिनिवा० पृ० २०)।

(३) 'सिवाय भौतिक के दूसरा अर्थ नहीं हो सकता।' (भ्रा० नि० पृ० १२)।

अब यदि यह सिद्ध हो जाये कि 'अग्नि' 'वायु' आदि शब्दों का अर्थ सिवाय भौतिक 'आग' 'हवा' के कुछ नहीं हो सकता, तब तो आचार्य दयानन्द का सम्पूर्ण वेदभाष्य कुछ भी नहीं रह जाता, सर्वथा अग्राह्य हो जाता है। यदि हर एक मन्त्र का अर्थ आध्यात्मिक-आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रक्रिया में होता है, यह सिद्ध हो जाता है, जैसा कि हम पूर्व प्रमाण (आज से १३०० वर्ष पूर्व का) उपस्थित कर चुके हैं, ऐसी अवस्था में सायणाचार्य और उसके अनुगामी चाहे वे भारतीय हों, या अभारतीय, सब के सब वेदार्थ से अनभिज्ञ वा भ्रान्त ही कहे जायेंगे। सायणाचार्य का अर्थ केवल यज्ञपरक है, दुर्जनसन्तोषन्याय से वह सब ठीक भी मान लिया जावे, तो भी वह वेदार्थ तृतीयांश ही कहा जायगा, उससे द्विगुणा शेष वेदार्थ तो लुप्त है, यही मानना पड़ेगा। वेदार्थ के प्रत्यक्ष तथा गम्भीर विवेचन के लिये हम ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र का सब आचार्यों का उपलभ्यमान अर्थ अतिसंक्षेप से उपस्थित करते हैं, जिस से वेदार्थप्रक्रिया पर सुगमता से विचार हो सके—

ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र का सायणभाष्य

'[अग्निं] अग्निनामकं देवम् ईडे स्तौमि··· यज्ञस्य पुरोहितं यथा राज्ञः पुरोहितस्तदभीष्टं सम्पादयति, तथाग्निरपि यज्ञस्यापेक्षितं होमं सम्पादयति। यद्वा यज्ञस्य सम्बन्धिनि पूर्वभागे आहवनीयरूपेणावस्थितं। पुनः कीदृशम्। देवं दानादिगुणयुक्तं होतारं ऋत्विजं देवानां यज्ञेषु होतृनामक ऋत्विगग्निरेव।—पुनः कीदृशं रत्नधातमं यज्ञफलरूपाणां रत्नानामतिशयेन धारयितारं पोषयितारं वा॥'

भाषार्थः—"(अग्निम्) अग्नि नामवाले (यज्ञस्य पुरोहितम्) यज्ञ के

पुरोहित अर्थात् जैसे राजा का पुरोहित उसके अभीष्ट को सिद्ध करता है, उसी प्रकार अग्नि भी यज्ञ द्वारा अपेक्षित होम को सिद्ध करता है, अथवा यज्ञसम्बन्धी (वेदि) के पूर्व भाग में स्थित आहवनीय (कुण्ड) में रहने वाली (अग्नि को), पुनः कैसी (देवम्) अनादि गुणयुक्त (होतारम्, ऋत्विजम्) देवों के यज्ञ में 'होता' नाम का ऋत्विक् 'अग्नि' ही है। पुनः वह अग्नि कैसा है (रत्नधातमम्) यागफलरूप रत्नों का सबसे अधिक धारण वा पोषण करनेवाला है।"

पाठक देखें सायणाचार्य इस मन्त्र का अर्थ 'यज्ञ की अग्नि की मैं स्तुति करता हूं' केवल यज्ञपरक ही अर्थ करते हैं, मन्त्र में आये सब पदों का अर्थ यज्ञाग्नि के विशेषणरूप में ही किया है।

आचार्य दयानन्द का अर्थ

अथ प्रथमोऽर्थः

'अहं (यज्ञस्य) इज्यतेऽसौ यज्ञस्तस्य महिम्नः कर्मणो विदुषां सत्कारस्य संगतस्य सत्सङ्गत्योत्पन्नस्य विद्यादिदानस्य (पुरोहितम्) सर्वस्य जगतः स्वभक्तानां च धर्मात्मनां भक्तेरम्भत् पुरोहितः परमात्माग्निः (ऋत्विजम्) य ऋतौ-ऋतौ प्रत्युत्पत्तिकालं संसारं यजति संगतं करोति, सर्वेषु ऋतुषु यजनीयस्तम् (होतारम्) दातारमादातारं वा, सर्वजगते सर्वपदार्थानां दातारम्। मोक्षसमये प्राप्तमोक्षाणां जनाना-मादातारं ग्रहीतारं, वर्त्तमानप्रलययोः समये सर्वस्य जगत आदातारं ग्रहीतारमाधारभूतं होतारम् (रत्नधातमम्) रत्नानि सर्वजनै रमणीयानि प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तानि ज्ञानहीरकसुवर्णादीनि च, जीवेभ्यो दानार्थं दधा-तीति रत्नधाः, अतिशयेन रत्नधाः स रत्नधातमस्तं रत्नधातमम् (देवम्) दातारं, हर्षकरं विजेतारं, द्योतकं वा (अग्निम्) परमेश्वरं (ईडे) स्तौमि।

अथ द्वितीयोऽर्थः

(अग्नि) रूपगुणं दाहकमूर्ध्वगामिनं भौतिकमग्निम् (ईडे) अधीच्छामि, प्रेरयामि वा, तस्य गुणानामन्वेषणं कुर्वे, कीदृशमग्नि, (पुरोहितम्) पुरस्ताद् विमान-कलाकौशल-क्रियाप्रचालनादिगुणमेनं शिल्पविद्यामयं दधातीति पुरोहितस्तम् (यज्ञस्य) विविधक्रियाजातस्य शिल्पविद्यावि-क्रियाजन्यबोधसंगतस्य (देवम्) व्यावहारिकविद्याप्रकाशकम् (ऋत्विजम्)

सर्वशिल्पादिव्यवहारविद्याद्योतनार्हम् (होतारम्) तद्विद्यादिगुणानां दातारमादातारं च (रत्नधातमम्) तद्विद्यानिष्ठानां शिल्पिनां रत्नैरतिशयेन पोषकम्, तद् विद्याधारकं वा'।

भाषार्थः—(१) "मैं (यज्ञस्य) अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त विविध क्रियाओं से जो सिद्ध होता है, और जो वायु और वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा सब जगत् को सुख देनेवाला है, उसका नाम यज्ञ है। परमेश्वर से लेके पृथिवीपर्यन्त कार्य कारण सङ्गति से उत्पन्न हुआ जो जगत् रूप यज्ञ है, अथवा सत्यशास्त्र सत्यधर्माचरण सत्यपुरुषों के सङ्ग से जो उत्पन्न होता है, जिसका नाम विद्या, ज्ञान और योग है, उसका भी नाम यज्ञ है, इन तीनों प्रकार के यज्ञों का जो (देवम्) देव है, जो सब सुखों का देने वाला, जो सब जगत् का प्रकाश करनेवाला है, जो सब भक्तों का आनन्द करानेवाला, जो अधर्म अन्यायकारी शत्रुओं का और काम क्रोधादि शत्रुओं का विजिगीषक नाम जीतने की इच्छा पूर्ण करनेवाला है, इससे ईश्वर का नाम देव है। (ऋत्विजम्) जो सब ऋतुओं में पूजने के योग्य है, जो सब जगत् का रचनेवाला, अनादियज्ञ की सिद्धि का करनेवाला है। (होतारम्) जो सब जगत् के जीवों को सब पदार्थों का देनेवाला है। जो मोक्षसमय में मोक्ष को प्राप्त हुए जीवों का ग्रहण धारण करनेवाला है, (रत्नधातमम्) जिनमें रमण करना योग्य है, जो प्रकृत्यादि पृथिवी पर्यन्त रत्न तथा विज्ञान हीरादि रत्न और सुवर्णादि हैं, जिनके यथायोग्य उपयोग करने से आनन्द होता है, उन रत्नों का सब जीवों के दान के लिये जो धारण करता है, वह रत्नधा कहाता है और जो अतिशय से पूर्वोक्त रत्नों का धारण करनेवाला है, इससे परमेश्वर का नाम रत्नधातम है। इन गुणों वाले (अग्निम्) सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी आदि गुणवाले परमेश्वर की मैं (ईडे) स्तुति करता हूं।"

(ऋग्वेदाङ्क पृ० ५, ६)

(२)

"(अग्निमीडे) अब दूसरा अर्थ। व्यवहारविद्या के अभिप्राय से ..... इस अर्थ में अग्नि शब्द से, भौतिक अग्नि जो यह जलाने और ऊपर चलानेवाला है, तथा सब पदार्थों को अलग-अलग करने और बल देने वाला, तथा जिसका रूप गुण है और मूर्तिमान् द्रव्यों का जो प्रकाशक है, ज्वालारूप, उसका ग्रहण किया जाता है। मैं उस अग्नि की स्तुति करता

हूं। अग्नि में कौन-कौन गुण हैं······(पुरोहितम्) विमान-कला कौशल क्रिया चालनादि गुणों का धारण करने वाला है और सब विद्याओं का प्रथम हेतु होने से अग्नि का नाम पुरोहित है (यज्ञस्य देवम्) यज्ञ का देव अर्थात् विविध क्रियाओं से जो शिल्पविद्या बनती है, उस विद्या का जो प्रकाश करनेवाला है, सो देव है। (ऋत्विजम्) जो शिल्पादि सब व्यवहारों की सिद्धि करनेवाला है (होतारम्) जो उस विद्या के दिव्य गुणों को देने और धारण करनेवाला है (रत्नधातमम्) जो उस शिल्पविद्या के जाननेवाले मनुष्यों को रत्नों से अत्यन्त सुख देनेवाला है, उसी को हम लोग शिल्पविद्या की सिद्धि के लिये ग्रहण करें।" (ऋग्वेदभाष्य के नमूने का अङ्क पृ० ९) ॥

दोनों प्रकार की विचारधारा का इस मन्त्र का अर्थ हमने जानकर ही कुछ विस्तार से पाठकों के सामने रखा है, जिससे साधारण पाठक भी भली प्रकार समझ सकता है कि सायण और दयानन्द के अर्थों में कितना स्पष्ट भेद है। जहां सायणाचार्य केवल भौतिक यज्ञ की अग्नि का ही वर्णन करते हैं, वहां आचार्य दयानन्द इस मन्त्र में सच्चिदानन्दादि गुण विशिष्ट परमेश्वर का प्रतिपादन करके भौतिक अग्नि का भी कितना सुन्दर निरूपण करते हैं, जिससे वेद का गौरव प्रत्येक पाठक के अन्तःपटल पर अङ्कित होता है। उधर सायणाचार्य का अर्थ केवल भौतिक अग्निपरक ही होने से वेद के प्रति प्रत्येक पाठक के हृदय में कुछ भी श्रद्धा उत्पन्न करने में असफल ही नहीं, अपितु अश्रद्धा उत्पन्न कर लोगों को यह कहने का अवसर दे रहा है कि वेद गड़रियों के गीत हैं।

विस्तरभय से अब हम भिन्न-भिन्न वेदभाष्यकारों का इस मन्त्र का अर्थ अति संक्षेप से दर्शा देना चाहते हैं, जिससे आगे विचार करने में सुविधा हो सके—

अन्य भाष्यकारों का इस मन्त्र का अर्थ

(३) माधवः (i) 'अग्निमीडे अग्निं स्तौमि यदि वा याचे। पुरोहितं आहवनीयं, स हि पुरस्तान्नि...प्रणेतारं, तं हि पुरस्कुर्वन्ति। यज्ञस्य देवं यज्ञस्य स्वामिनम्। यज्ञो यजतेस्तर्पणार्थात्। दिवेर्दानार्थाद् द्योतनार्थाद् वा। ऋत्विजं यष्टारम् होतारं ह्वातारं देवानाम् रत्नधातमं रत्नानामतिशयेन पातारम्।'

वेङ्कटमाधवः संवत् (११००-१२००) (ii) अग्निं स्तौमि। पुरो-

निहितमुत्तरवेद्यां यज्ञस्य द्युस्थाने स्वे स्वे काले देवानां यष्टारं ह्वातारं देवानां रमणीयानां धनानां दातृतमम् ।'

(४) सायणः तै० संहिताभाष्ये –'इममग्निमीडे अग्निं स्तौमि, कीदृशं पुरोहितं पुरोदेश आहवनीये स्थापितं, यज्ञस्यानुष्ठीयमानस्य कर्मण ऋत्विजं ऋत्विक्त्वनिष्पादकं, देवं द्योतमानं, होतारं देवानामाह्वातारं, रत्नधातममतिशयेन रत्नानां मणिमुक्ताप्रभृतीनां सम्पादकम् ।' तै० सं० ४।३।१३।३ पृ० २१४४ आनन्दाश्रम सं० ॥

(५) यास्को निरुक्तकारः—'अग्निमीडेऽग्निं याचामि ईडिरध्येषणा-कर्मा, पूजाकर्मा वा, पुरोहितो व्याख्यातः (निरु० २।१२) [पुर एनं दधतीति] यज्ञश्च (निरु० ३।१९) [प्रख्यातं यजतिकर्मा], देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा, द्युस्थानो भवतीति वा···होतारं ह्वातारं जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभः, रत्नधातमं रमणीयानां धनानां दातृतमम् ।'

(६) दुर्गाचार्यः (निरु० टी०)—'यः अग्निः देवपुरोहितः पाकयज्ञे, अस्माकं यज्ञे यश्च ऋत्विक्, होता यज्ञस्य, रत्नधातमश्च दातृतमो रत्नानां, तमहं रत्नानि याचे इति समस्तार्थः ।'(दुर्गटी० वेङ्कटेश्वर सं० पृ० ५९३) ।

(७) आचार्य स्कन्दस्वामी (निरु० टी०) —

'मधुच्छन्दसः परा च । अग्नीमीडे ईड स्तुतौ याच्ञायां वा यद्वा अध्येषणायां स्तौमि याचे । पूजाकर्मा वा । कीदृशम् । पुरोहितं शान्तिकपौष्टिकाभिचारिकैः कर्मभी राजानं सर्वापद्भ्यस्त्रायते यः स पुरोहित उच्यते, तत्स्थानीयम् । कस्य । यज्ञस्य आपदामपहर्त्तारमित्यर्थः । देवं देवेभ्यो मनुष्येभ्यश्चाग्निर्ददाति तदायत्तत्वात्तस्य दीपयति च । न च यज्ञस्य देवमेव केवलम् । किन्तर्हि । ऋत्विजश्च । कतमम् । होतारं आह्वातारं कस्य । सामर्थ्याद् देवानाम् ।···रत्नधातमम् रत्नानामतिशयेन दातारम् ।' स्कन्द निरु० टी० भाग ३ पृ० ७६ ।

(८) स्कन्दः (ऋग्वेदभाष्य) प्रायः पूर्ववदेव सर्वोऽप्यर्थः ।

(९) आनन्दतीर्थः (मध्व ऋग्भाष्य ४० सूक्त) —

(ii) जयतीर्थटीका—'तथात्वं चेश्वरस्याग्निशब्दो वक्ति ।···अनेनाभिप्रायेणाग्निशब्दमादि कृत्वा भगवान् बादरायणः सर्वशब्दानामीश्वर-परतया निर्वक्ति निर्वचनमाह । ऋगर्थश्च त्रिविधो भवति, एकस्तावद्

प्रसिद्धाग्न्यादिरूपः, अपरस्तदन्तर्गतेश्वरलक्षणः, अन्योऽध्यात्मरूपः। तत् त्रितयपरं चैतद् भाष्यम्। तत्राग्निमीड इत्याद्यामृचं व्याचक्षाणोऽग्निशब्दार्थं तावन्निर्वक्ति। अग्निशब्दोऽयमिति। अयमादितः प्रयुक्तोऽग्निशब्दोऽग्नेस्तदन्तर्गतहरेश्च बाह्ययज्ञे, अध्यात्मं च हरेर्ज्ञानयज्ञे मुख्यामुख्यत्वाभ्यामग्र एवाशेषपूज्येभ्यः पूर्वमेवाभिपूज्यताम्भिपूज्यत्वम् आहेति सम्बन्धः।…अग्निमीडे तं स्तौमीति।…पुरोहितं पुरः पूर्वमेवानादित एव हिते…अशेषस्य, यज्ञस्य ऋत्विज यज्ञानां बाह्यानामाध्यात्मिकानां च ऋत्विजं…देवं द्योतनाद् विजयात् कान्त्या व्यवहृतेरपि गत्या रत्या च, होतारं होतृसंस्थं—एवं विष्णौ होतृशब्दं व्याख्यायाग्नौ व्याख्याति… अध्यात्मं होतृशब्दं व्याख्याति तत्तदिन्द्रियविषयलक्षणानां हविषां होता हरिः—रत्नधातमं—रत्नं रतिं धत्त इति रत्नधा…अतिशयेन रत्नधातमः। (जयतीर्थ टीका पृ० ३, ४)

(१०) नरसिंहयतिः (छलारी टीका) --पृ० ७ से ९, पूर्वोक्तजयतीर्थटीकाया एव व्याख्याने तत एव द्रष्टव्यम्।

(११) राघवेन्द्रयतिः (मन्त्रार्थमञ्जरी) —

'वेदा विष्णुपराः। विष्णुपरोंकारव्याख्यानत्वात्।—शास्त्रैकसमधिगम्यपुरुषज्ञानस्य च वेदैरेवोत्पाद्यत्वाद् वेदानां विष्णवर्थत्वसिद्धिः……… हन्तैतमेव पुरुषं सर्वाणि नामान्यभिवदन्ति।' (उपोद्घात पृ० २,३)।

(ii) पृ० ८—'विनियोगो विष्णुप्रीतिद्वारा मोक्षे………अग्निमीड इत्यारभ्य पुरोहितं अनादितः सर्वप्राणिनामनुकूलम्, उदात्तस्योच्चार्थता इत्युक्तेरुदात्तस्वरेणोच्चत्वलाभात् प्रभुम्। यज्ञस्य ऋत्विजं जातावेकवचनं ज्योतिष्टोमादीनां कर्तृतया—ऋत्विङ्नामकम्……होतारं होतृनामकमृत्विजम्……देवं क्रीडादिकर्तारं……अग्निं सर्वपूज्येभ्यः प्रथमपूज्यम्……अग्निनामकं विष्णुं तदधिष्ठानं प्रसिद्धाग्निं वा। ईडे स्तौमि। (मन्त्रार्थमञ्जरी पृ० ७ ८)।

(iii) 'अध्यात्मपरत्वे त्वयमर्थः—पुरोहितम् अनादितः सर्वानुकूलम्। यज्ञस्य ज्ञानयज्ञस्य, ऋत्विजम् - ऋत्विग्भूतेन्द्रियाभिमानिनियामकतया तत्र स्थितत्वेन ऋत्विङ्नियामकम्। होतारम् इन्द्रियाख्याग्निषु विषयलक्षणहविषां—…दातारं, अग्निं…—सर्वशरीरप्रवर्तकम्, ईडे इति। अत्राध्यात्मं सर्वत्र मोक्षसाधको यः कश्चित् सात्त्विक एव यजमानो ज्ञेयः। शिष्टं प्राग्वद् व्याख्येयम्।' (मन्त्रार्थमञ्जरी पृ० ९)।

(१२) द्याद्विवेदी (नीतिमञ्जरी)—'अस्या ऋचोऽर्थः—अहम् अग्निं देवमीडे स्तौमि याचामि। ईडे स्तुत्यर्थो धातुः। डकारस्य लत्वं वैदिकलक्षणे शौनकेनोक्तम् - द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य सम्पद्यते स डकारो लकार इति·····कीदृशमग्निं पुरोहितं देवानां पौरोहित्येन वर्तमानम्। ···पुनः कथम्भूतं यज्ञस्य देवं दीपकं द्योतकं वा। अग्निं विना यज्ञो न विद्योतते ·· होतारम् ऋत्विजं देवानां यज्ञेषु होतृनामक ऋत्विगग्निरेव।··· · रत्नधातमं रमणीयानां धनानां धारयितारं दातृतममिति।' (नीतिमञ्जरी पृ० ६, ७)।

(१३) दुर्गादास लाहिड़ी ऋग्वेदसंहिता मर्मानुसारिणी व्याख्या—कलकत्ता—पृ० ११६—

'अग्निं ज्ञानदेवं ज्ञानमित्यर्थः, ईडे स्तौमि, हृदि उद्दीपयामि इत्यर्थः, ज्ञानमेव पुरोहितं लोकानां हितसाधकम्, यज्ञस्य देवं सत्कर्मणः प्रत्यक्षफलम्, ऋत्विजं सत्कर्मप्रवर्तकम्, होतारं सद्भाववर्धकम्, रत्नधातमं धर्मार्थकाममोक्षरूपस्य श्रेष्ठरत्नस्याधारम्। मन्त्रोऽयम् आत्मोद्बोधकः। भावार्थः—ज्ञानार्जनाय प्रयत्नं प्रयोजनम्। ज्ञानं हि सकलश्रेयःसाधकम्।'

अथवा

" 'यज्ञस्य' (यागादिसत्कर्मणः) 'पुरोहितं' (पूरकं, याज्ञिकानामभीष्टसाधकं इत्यर्थः) 'होतारं' (देवानामाह्वातारं), 'ऋत्विजं' (सङ्कल्पितफलसाधकं), रत्नधातमं (यागफलप्रदातारं) 'देवं' (दीप्तिदानादिगुणयुक्तं) 'अग्निं' तेजोमयं चैतन्यस्वरूपं भगवन्तं इत्यर्थः) 'ईडे' (स्तौमि हृदि उद्बोधयामि इति भावः)। अयं भावः—परमार्थलाभाय चैतन्यस्वरूपं भगवन्तं हृदि प्रतिष्ठापयामि—इत्येवं सङ्कल्पमूलकोऽयं मन्त्रः।"

(१४) कपालिशास्त्री-सिद्धाञ्जनव्याख्या (संवत् २००८) (श्री अरविन्द आश्रम पाण्डीचेरी)—'अग्निं अग्निनामकं (देवं) ईडे अध्येषणीयत्वेन स्तौमि। कीदृशम्? पुरोहितं पुरस्तात् निहितं कार्यनिर्वाहाय। पुनः कीदृशम्? यज्ञस्य देवं ऋत्विजं देवता सम्भावनार्थं अनुष्ठीयमानस्य निर्वर्त्तते यो देव एव ऋत्विग्भूतः तम्। पुनश्च कीदृशम्। होतारं ह्वातारं सामर्थ्याद् देवानाम्। पुनरपि कथम्भूतम्? रत्नधातमम् रमणीयानां रत्नीनां अतिशयेन धारकम्।'

अग्निपदं बहुधा निर्ब्रुवते नैरुक्ताः। येषां निर्वचनानां परीक्षणे स्पष्ट-

मिदमवगम्यते, यत् ब्राह्मणवाक्यबलात् कयाचिद्विधया अग्निस्वरूपमाकलय्य निर्वचनानि विकल्पतो दत्तानीति। 'स वा एषोऽग्रे देवतानामजायत तस्मादग्निर्नाम' इत्यादि ब्राह्मणवाक्यानि 'अग्रणीः' इत्यादिनिर्वचनस्य मूलमिति ज्ञायते। वैयाकरणपक्षे अङ्गतेर्धातोर्निष्पन्नं अग्निपदम्। 'अङ्गेर्नलोपश्च' इत्युणादिसूत्रमुदाहरन्ति। अङ्गति गच्छति ऊर्ध्वं, हविः स्वर्गं नेतुमिति वा व्युत्पत्तिमाचक्षते। प्राचीन-आर्य-भाषाशाखीयानां अन्यर्थकधातूनां परीक्षणे बलवद्दीप्तिमद्गतिरवयवार्थो भवति। एवं च सङ्गच्छन्ते अग्निधर्मप्रतिपादकाः शब्दा इति बोध्यम्।

ईडे—स्तौमीति सायणः, याचामीति यास्कः। धातूनां बह्वर्थत्वे न विवादः। ईडतिर्याच्ञाकर्मा अध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वेति यास्कः। अग्निस्वरूप-तदधिकार-तन्निर्वाहापेक्षया अध्येषणाकर्मेत्युपपन्नतमम्। अध्येषणा अधिका एषणा प्रेरणा भवति। पूज्यस्य पुरोहितस्य अग्नेर्देवस्य वा सत्कारपूर्वकं कर्त्तव्यविशेषेषु नियोजनं अध्येषणेति उच्यते। ईडे अध्येषे।

पुरोहितम्—यजनकर्म-निर्वाहाय यजमानस्य पुरस्तादग्रे निहितः अग्निः। अत एव तं ऋषिरन्तर्यागे, यजमानो बहिर्यागे अध्येषते। एवं चोपपद्यते ईडतिरध्येषणार्थः। पुरोहितम्—'पुर एनं दधते' इत्याम्नायश्च सङ्गच्छते। 'यज्ञस्य पुरोहितम्' 'होतारं देवम् ऋत्विजम्' 'रत्नधातमम्' इति व्याख्यातणामन्वयः नावश्यकः न च समीचीन इति द्रष्टव्यम्। पादशः अन्वयस्य सम्भवे सति, पादान्तरस्थपदैः पादान्तरस्थपदानां योजना न ऋज्वी। तस्माद् 'यज्ञस्य देवं ऋत्विजं' इति पादो व्याख्यातः।

होतारम्—स्वयं देवः सन् अन्यान् यज्ञे समुपस्थितान् कर्तुं आह्वयति एवं आह्वानप्रभुरग्निः।

रत्नधातमम् रमेर्धातोः औणादिक-क्न-प्रत्ययान्तं रत्नपदमिति सर्वेषामभिमतम्। 'रत्नं सुखं धत्त इति रत्नधा अतिशयेन रत्नधास्तम्' इति मन्त्रार्थमञ्जरीनिर्वचनं अन्तर्यागपराणां नः सम्मतम्। अन्तर्यजने प्रवृत्तस्य ऋषेर्यजमानस्य अर्षणानां फलभूताः रत्नपदवाच्या या रतयः तासां धारकः प्रतिष्ठापकः अग्निरेव भवतीत्यन्तरर्थः। बहिर्यागात् नान्यदस्तीति वादिनां पक्षे, रत्नं धनं यागफलभूतं गवाश्वादिकं तस्यातिशयेन दाता अग्निः तं, इति॥

इदं च ऋचस्तात्पर्यं भवति--'यो यज्ञस्य निर्वोढा अग्रणीः पुरोहितः, यश्च काले कर्तव्यस्य यज्ञस्य कर्त्ता कारयिता च ऋत्विग्भूतो देवः, यो देवान् यज्ञे सन्निधापयितुं प्रभवन् तेषामाह्वाता, यः पुनर्यजमाने प्रहर्षातिशयानां आधायकः तमग्निं अध्येषणीयं अभिकाङ्क्षामि इति ॥

(१५) स्वामी शङ्कराचार्य जी ने अपने वेदान्तभाष्य में निरुक्त के 'अग्निः कस्माद् अग्रणीर्भवति' प्रमाण के आश्रय से अग्नि शब्द का परमात्मा अर्थ किया है। उनका लेख इस प्रकार है—

'अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयेण परमात्मविषय एव भविष्यति'
—वेदान्त शांकरभाष्य १।२।२९॥

स्वामी शङ्कराचार्य जी महाराज निरुक्त के भिन्न-भिन्न निर्वचनों से आध्यात्मिक आदि प्रक्रियाओं में वेदमन्त्रों के अर्थ होते हैं ऐसा मानते हैं, यह भी इस वचन से सिद्ध हो रहा है। यहां अग्नि का परमात्मा अर्थ माना है ।

इस मन्त्र के अङ्गरेजी अनुवाद

(16) Hermann oldenberg 1' 88 Berlin - ओल्डन बर्ग का Hymen des Rigveda ऋग्वेद का जर्मनानुवाद —1. 1. 1.

'A laud Agni, the great high priest, god, minister of sacrifice. The herald lavishest of wealth.'

(17) Ralf T. H. Griffith—(Rigveda Sanhita)—1.1 1.

'I magnify Agni, the purohita, the divine ministerant of the sacrifice, the Holi priest the greatest bestower of treasures.'

(18) H. H. Wilson (Rigveda Sanhita vo 1)—I. I. I.

'I glorify Agni, the high priest of the sacrifice, the divine, the ministrant who presents the oblation, (to the gods), and is the possessor of great wealth.'

(19) A. A. Macdonell (A Vedic Reader oxford 1917) पृ० ३.

'I magnify Agni, the domestic priest, the divine

ministrant of the sacrifice, the invoker, best bestower of treasure.'

(20) Prof. max Muller—

'I magnify Agni, the Purohita, the divine ministrant of the sacrifice, the Hotri (होतृ) priest, the greatest bestower of treasures.'

इनसे अतिरिक्त अंग्रेजी फ्रेंच जर्मन भाषाओं में इस मन्त्र के अनुवाद कुछ अन्य विद्वानों के किये हुए भी हैं, उन्हें हम छोड़ते हैं।

पूर्वोक्त मन्त्र का अर्थ-विवेचन

ऋग्वेद के इस प्रथम मन्त्र के २० भाष्यकारों का अर्थ हमने ऊपर दिखाया है। इनमें से प्रकृत विचार में मुख्य होने के कारण दो सायणाचार्य और आचार्य दयानन्द के किये अर्थ को हमने आर्यभाषा में भी दर्शा दिया है। शेष इन दोनों में गतार्थ हो जाते हैं, इनका भाषार्थ नहीं दिया। अब हम उक्त २० भाष्यों में किये अर्थ का विवेचन अति संक्षेप से करेंगे।

सर्वप्रथम हम यास्क के अर्थ को लेते हैं। निर्वचन पर आश्रित होने से यह अर्थ अधियज्ञ तथा आध्यात्मिक—इन दोनों अर्थों में सङ्गत हो रहा है। यदि वेदमन्त्रों का अर्थ यज्ञपरक ही होता तो अनेकविध निर्वचनों की आवश्यकता नहीं थी। अनेक निर्वचन याज्ञिक अर्थ में घट ही नहीं सकते।

भाष्यकारों में से वेङ्कट-माधव-सायण (तै० सं०) दुर्ग (निरु० टी०) स्कन्द (निरु० टी०)-स्कन्द ऋग्भाष्य-द्या द्विवेदी-ओल्डन वर्ग-ग्रिफिथ-मैकडानल और विलसन—ये ११ भाष्यकार तथा अनुवादकर्त्ता प्रायः सायणाचार्य के ही अनुगामी हैं या सायणाचार्य इनका साथी है। ये सब इस मन्त्र का अर्थ प्रायः यज्ञपरक ही करते हैं। सायण का अर्थ पढ़ लेने से ही ये सब गतार्थ हो जाते हैं। सबका भावार्थ यही है कि—

'जो (भौतिक)अग्नि पाकयज्ञ में देवों का पुरोहित है, और जो हमारे यज्ञ में ऋत्विग्रूप है और यज्ञ का होता है और रत्नों का देनेवाला है, उस अग्नि से मैं रत्न मांगता हूं। या ऐसे अग्नि की मैं स्तुति करता हूं।' यज्ञ का अग्निपरक ही सबने अर्थ किया है। सब का अर्थ प्रायः समान ही है।

अब आध्यात्मिक प्रक्रिया में इस मन्त्र का अत्यन्त सारगर्भित जीवन को प्रेरणा देने—युक्ति और प्रमाणसङ्गत अर्थ (१) ऋषिदयानन्दकृत है, जो हम ऊपर दर्शा चुके हैं।

इनसे अतिरिक्त (२) जयतीर्थ ने 'अग्नि' शब्द से 'ईश्वर' का ग्रहण किया है। पृ० ३। 'पुरोहित' का अर्थ अनादिकाल से सबका हितकारी, आध्यात्मिकयज्ञ का ऋत्विक् तथा होता, देव, द्योतन, विजय, कान्तियुक्त दिव्य स्वरूप, अत्यन्त रमणीय ईश्वर की मैं स्तुति करता हूं। (३) नृसिंहयति ने छलारी टीका में इसी अर्थ की पुष्टि की है। (४) राघवेन्द्रयति ने मन्त्रार्थमञ्जरी में पृ० २ 'शास्त्रों द्वारा जाने जानेवाले परम पुरुष विष्णु का ज्ञान वेदों के द्वारा ही जाना जा सकता है, अतः वेद के सब मन्त्र विष्णुपरक हैं' तथा 'परम विष्णु को ही सब नाम कहते हैं' इत्यादि लिखते हुए आगे इस मन्त्र का अर्थ विष्णुपरक किया है। जैसे कि पृ० ८, ९ पर—'पुरोहित अनादि से सर्वानुकूल, ज्ञानयज्ञ के ऋत्विक् ऋत्विग्भूत इन्द्रियाभिमानी सर्वशरीर प्रवर्तक अग्नि की, ईडे स्तुति करता हूं।' (५) दुर्गादास लाहिड़ी ने यद्यपि सायण का यज्ञपरक अर्थ भी दिया है, स्वयं भी यज्ञपरक अर्थ किया है। आध्यात्मिक अर्थ में उसने 'ज्ञानदाता, लोकों का हितसाधक, सत्कर्म सद्भावों के वर्धक, धर्मार्थकाममोक्षरूप श्रेष्ठ रत्नों के धारक अग्नि सर्वज्ञ की मैं स्तुति करता हूं' यह अर्थ करके इस मन्त्र को आत्मबोधपरक माना है। (६) कपाली स्वामी (अरविन्द आश्रम पाण्डीचेरी) चाहे वेद को उस रूप में ईश्वरीय नहीं मानते, जिस रूप में आचार्य दयानन्द ने माना है, तथापि इनका अर्थ बहुत अच्छा है, दयानन्द के (अन्यों की अपेक्षा) सबसे अधिक अनुकूल है। यह है सार ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र के सब भाष्यकारों के अर्थों का।

स्कन्दस्वामी ने तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ क्यों नहीं किया

अपनी निरुक्तटीका भाग ३ पृ० ३६, ३७ (जिसका उद्धरण हम पूर्व दर्शा चुके हैं) में दर्शाये अपने सिद्धान्तानुसार स्कन्द ने न तो निरुक्तटीका में, न ही ऋग्भाष्य में तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ किया। हमारी दृष्टि से इसका कारण उसकी अपनी आध्यात्मिक अयोग्यता है, जिसका उल्लेख (पृ० ३५) पर किया है—'अध्यात्मविदस्तावत् सन्मात्रनिबद्धबुद्धयः ......निरस्तसमस्ताघयो निरस्तबाह्यविषयैषणा निरुद्धान्तः करणवृत्तयो

निष्कम्पदीपकल्पाः ज्ञेयज्ञज्ञानमननाः···अन्यं न पश्यन्ति न शृण्वन्ति' अपने इस वचन के अनुसार स्कन्द ने अपने में इन उपर्युक्त गुणों का अभाव जानकर अपने भाष्यादि में आध्यात्मिकादि अर्थ नहीं किया अर्थात् आध्यात्मिकता का मिथ्या प्रदर्शन नहीं किया।

दयानन्द के रोम-रोम में ईश्वर और वेद समाया था

पाठक देखें, कि भारतीय संस्कृति की माता के मुख्यमणिरूप आध्यात्मिकता का प्रतिपादन कर आचार्य दयानन्द ने भारत पर ही नहीं, अपितु समस्त संसार पर कितना महान् और अनिर्वचनीय उपकार किया। परम प्रभु की असीम कृपा वा प्रेरणा के विना ऐसा कभी नहीं हो सकता। दयानन्द के प्रत्येक ग्रन्थ के प्रति पृष्ठ में ईश्वर और वेद का प्रतिपादन पदे-पदे मिलेगा। इतना ही नहीं दयानन्द के रोम-रोम में ईश्वर और वेद का प्रकाश परिपूर्ण हो रहा था।

सायण तथा दयानन्द सरस्वती के वेदार्थ का विवेचन महात्मा अरविन्द की दृष्टि से

पाठकों ने देखा कि सायण के यज्ञपरक अर्थ से भिन्न अर्थ न केवल आचार्य दयानन्द ने ही किया, अपितु आनन्दतीर्थ-जयतीर्थ-राघवेन्द्रयति आदि अनेक आचार्यों ने किया हमारा ऊपर दर्शाया सायण तथा तदनुगामी भाष्यकारों का किया अर्थ वेद के गौरव को बढ़ानेवाला है या घटानेवाला, इसका निर्णय हम पाठकों पर ही छोड़ते हैं।

सायणभाष्य (जिसे वेदार्थ का अभ्यासी सर्वथा छोड़ भी नहीं सकता) वेदार्थ तक पहुंचने के मार्ग में कहां तक भ्रामक, नहीं-नहीं दृढ़-भित्ति दीवार के रूप में बाधक सिद्ध हुआ, यह हम अपनी ओर से न कह कर आचार्य दयानन्द के पश्चात् वेदार्थ के मौलिक नियमों वा सिद्धान्तों का तत्त्वदर्शी-गम्भीर विचारक-अपूर्व मेधावान्-महातपस्वी स्वर्गीय महात्मा अरविन्द (पाण्डीचेरी) के शब्दों में देते हैं—

(१) 'सायण का भाष्य वेद पर मौलिक तथा सजीव तथा पाण्डित्य-पूर्ण कार्य के उस युग को समाप्त करता है, जिसका प्रारम्भ अन्य महत्त्व-पूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थों के साथ में यास्क के निरुक्त को कहा जा सकता ···वेद के बाह्य अर्थ के लिये भी यह सम्भव नहीं है कि सायण की प्रणाली का या उसके परिणामों का विना बड़े से बड़े संकोच के अनुसरण

किया जाय।...वह बहुधा अपने परिणामों पर पहुंचने के लिये सामान्य वैदिक परिभाषाओं की और नियत वैदिक सूत्रों तक की अपनी व्याख्या में आश्चर्य-जनक असंगति दिखाता है।' (वेदरहस्य पृ० २४, २५)

(२) 'सायण की प्रणाली की केन्द्रीय त्रुटि यह है कि वह सदा कर्म-काण्ड विधि में ही ग्रस्त रहता है और निरंतर वेद के आशय को बल-पूर्वक कर्मकाण्ड के संकुचित सांचे में डालकर वैसा ही रूप देने का यत्न करता है परिणामतः सायणभाष्य द्वारा ऋषियों का, उनके विचारों का, उनकी संस्कृति का, उनकी अभीप्साओं का, ऐसा प्रतिनिधित्व हुआ है जो इतना संकुचित और दारिद्र्योपहत है कि यदि उसे स्वीकार कर लिया जाये तो वह वेद के सम्बन्ध में प्राचीन पूजाभाव को, इसकी पवित्र प्रामाणिकता को, इसकी दिव्य ख्याति को बिल्कुल अबुद्धिगम्य कर देता है या उसे इस रूप में रखता है कि इसकी व्याख्या केवलमात्र यही हो सकती है कि उस श्रद्धा की एक अन्धी और बिना ननुनच किये मानी गई परम्परा है, जिस श्रद्धा का प्रारम्भ एक मौलिक भूल से हुआ है।' (पृ० २६)

(३) 'वेद के सब सम्भव अर्थों में से इस (कर्मकाण्डमय) निम्नतर अर्थ के साथ ही वेद को अन्तिम तौर पर और प्रामाणिकतया बांध देना, यह है जो कि सायण के भाष्य का सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम हुआ......सायण के भाष्य ने पुरानी मिथ्या धारणाओं पर प्रामाणिकता की मुहर लगा दी ..(पृ० २९)।' 'योरोप के वैदिक पाण्डित्य ने वस्तुतः सब जगह अपने आपको सायण के भाष्य में रखे हुए परम्परागत तत्त्वों पर ही अवलम्बित रखा है।' (पृ० ३०)

(४) 'वेद के विषय में आधुनिक सिद्धान्त इस विचार से प्रारम्भ होता है, जिसके लिए सायण उत्तरदायी है कि वेद एक ऐसे आदिम जङ्गली और अत्यधिक बर्बर समाज की सूक्तिसंहिता हैं, जिसके नैत्यिक तथा धार्मिक विचार असंस्कृत थे, जिसकी सामाजिक रचना असभ्य थी और अपने चारों ओर के विषय में जिसका दृष्टिकोण बच्चों का सा था' (वेदरहस्य पृ० ३१)।

(५) 'while western scholarship extending the hints of Sayana seemed to have classed it for ever as a ritual liturgy to Nature Gods, the genius of the race looking

through the eyes of Dayanand pierced behind the error of many centuries and again the intuition of a timeless revelation and divine truth given to humanity.' (Dayanand and Veda by Arvind P. 12)

(६) 'तीसरी भारतीय सहायता, तिथि में अपेक्षया कुछ पुरानी है, परन्तु मेरे वर्त्तमान प्रयोजन के अधिक नजदीक है। यह है वेद को फिर से एक सजीव धर्मपुस्तक के रूप में स्थापित करने के लिये आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द के द्वारा किया गया अपूर्व प्रयत्न। दयानन्द ने पुरातन भारतीय भाषा-विज्ञान के स्वतन्त्र प्रयोग को अपना आधार बनाया, जिसे कि उसने निरुक्त में पाया था। स्वयं एक संस्कृत का महा-विद्वान् होते हुये, उसने उसके पास जो सामग्री थी, उस पर अद्भुत शक्ति और स्वाधीनता के साथ विचार किया। विशेषकर प्राचीन संस्कृत भाषा के अपने उस विशिष्ट तत्त्व का उसने रचनात्मक प्रयोग किया, जो कि सायण के 'धातुओं की अनेकार्थता' इस एक वाक्यांश से बहुत अच्छी तरह से प्रकट हो जाता है। हम देखेंगे कि इस तत्त्व का, इस मूल सूत्र का ठीक-ठीक अनुसरण वैदिक ऋषियों की निराली प्रणाली समझने के लिये बहुत अधिक महत्त्व रखता है (पृ० ४१)॥

......दयानन्द ने ऋषियों का भाषासम्बन्धी रहस्य का मूल सूत्र हमें पकड़ा दिया है, और वैदिक धर्म के एक केन्द्रभूत विचार पर फिर से बल दिया है, इस विचार पर कि जगत् में एक ही देव की सत्ता है, और भिन्न-भिन्न देवता अनेक नामों और रूपों से एक देव की ही अनेकरूपता को प्रकट करते हैं।' (वेदरहस्य भाग १ पृ० ४३)।

(७) 'दयानन्द के वेदभाष्य के सम्बन्ध में अनेक शंकायें की जाती हैं ... मैं दयानन्द के भाष्य के आधाररूप उन प्रसिद्ध नियमों का उल्लेख करूंगा, जो मुझे समझ आये हैं। सायणभाष्य को ठीक समझनेवाले दयानन्द सरस्वती के भाष्य के विषय में कुछ नहीं कह सकते। महाविद्वान् सायण का भाष्य ऊपर से महत्त्ववाला दिखाई देता हुआ भी वेद का यथार्थ और सीधा अर्थ नहीं है। पाश्चात्य विद्वान् भी दयानन्द सरस्वती के भाष्य के विषय में कुछ नहीं कह सकते। उनका परिश्रम, शुभेच्छा, अनुसन्धान शक्ति से एक शताब्दी में किया गया अर्थ भी ठीक अर्थ नहीं। क्योंकि इसमें पूर्वापरसम्बन्ध का अभाव है और सन्दिग्ध विषयों को प्रमाणभूत मानकर अर्थ किया गया है।

वेदार्थ तो वेद से ही होना चाहिये। इस विषय में दयानन्द सरस्वती का विचार सुस्पष्ट है, उसकी आधारशिला अभेद्य है। वेद के सूक्त भिन्न-भिन्न नामों से एक ईश्वर को ही सम्बोधन करके गाये गए हैं। विप्र अर्थात् ऋषि एक परमात्मा को ही अग्नि, इन्द्र, यम, मातरिश्वा और वायु आदि नामों से बहुत प्रकार से कहते हैं। वैदिक ऋषि अपने धर्म के विषय में मैक्समूलर या राथ की अपेक्षा अधिक जानते थे। अतः वेद स्पष्ट कहता है कि एक ईश्वर के ही अनेक नाम हैं।

हम जानते हैं, आधुनिक विद्वान् किस प्रकार इस बात को खींचतान करके उलटते हैं। वे कहते हैं, यह सूक्त नए काल का है। ऐसा ऊंचा विचार बहुत प्राचीन आर्य लोगों के मन में नहीं आ सकता था। इसके विपरीत हम देखते हैं कि वेद में सूक्तों पर सूक्त इसी भाव को बताते हैं। अग्नि में ही सब दूसरी दैवी शक्तियां हैं, इत्यादि। देवताओं के ऐसे विशेषण हैं, जो सिवाय ईश्वर के और किसी के हो नहीं सकते। पाश्चात्य इस बात से घबराते हैं। अहो वेद का ऐसा अर्थ नहीं होना चाहिये, निस्संदेह ऐसे अर्थ से उनका चिरकाल से प्राप्त विचार हटता है। अतः सत्य को छिपाना चाहिये। मैं पूछता हूं, इस बात में इस मौलिक बात में दयानन्द सरस्वती वेद का सीधा अर्थ करता है या पाश्चात्य विद्वान्।

इस एक के समझने से, दयानन्द के इस मौलिक सिद्धान्त के मानने से, नहीं, वैदिक ऋषियों के इस विश्वास के जानने से कि सब देवता एक महान् आत्मा के नाम हैं, हम वेद का वास्तविक भाव जान लेते हैं। बस वेद का वही तात्पर्य निकलता है, जो दयानन्द सरस्वती ने इससे निकाला। केवल याज्ञिक अर्थ, या सायण का बहुदेवतावाद आदि का अर्थ भस्मीभूत हो जाता है। पाश्चात्यों का केवल अन्तरिक्ष आदि लोकों के देवताओं के सम्बन्ध में किया हुआ अर्थ मलियामेट हो जाता है। इन के स्थान में वेद एक वास्तविक धर्मग्रन्थ, संसार का एक पवित्र पुस्तक और एक श्रेष्ठ और उच्च धर्म का दैवी शब्द हो जाता है।' (वैदिक मैगजीन लाहौर १९१६, श्री अरविन्द के लेख का भाषानुवाद)।

सायण तथा तदनुवर्त्ती भाष्यकारों तथा आचार्य दयानन्द का तथा आध्यात्मिक अर्थ प्रतिपादक अन्य आचार्यों के किये ऋग्वेद के इस पूर्वोक्त प्रथम मन्त्र का अर्थ दर्शा देने तथा स्वर्गीय महात्मा योगी अरविन्द की सायण तथा दयानन्द के वेदार्थ विषयक स्पष्ट धारणा, विचार वा निष्पक्ष घोषणा के कुछ आंशिक उद्धरण उपस्थित कर देने

पर, अब हमें सायण और दयानन्द भाष्य की तुलना वा अधिक विवेचना करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। उक्त महायोगी अरविन्द का वेद-विषयक विचार वेदाभ्यासियों के लिये अत्यन्त माननीय और उपादेय है।

योरुपीय वैदिक विद्वानों की दृष्टि में सायणभाष्य

योरुपीय वैदिक विद्वान् सभी सायण के पीछे चले, सो बात नहीं। कुछ पीछे चले, कुछ नहीं चले। इस विषय में उक्त विद्वानों के विचार हम उपस्थित करते हैं—

(1) prof. Roth-the author of the Vedic portion of the great St. Petersburg Lexicon, says—'we do not believe like H H. Wilson, that Sayana understood the expression of Vedas better than any European interpreter, but We think that a conscentious European interpreter may understand the Vedas far better and more correctly than Sayana' (J. Muir, on the interpretations of the Vedas).

अर्थात्—'हम एच० एच० विलसन महोदय के समान यह नहीं मानते कि सायण ने वेद के अर्थ को किसी भी योरोपीय अनुवादक से अधिक समझा है, अपितु हम यह समझते हैं कि सायण की अपेक्षा निष्पक्ष योरोपीयन अनुवादक वेदों को सम्भवत: अधिक अच्छे प्रकार से और अधिक ठीक-ठीक समझ सकता है'।

(2) Prof Benfy says—'But quite irrespectively of all particular aids, the Indian method of interpretation becomes in its whole essence an entirely false one, owing to the projudice with which it chooses to concieve the ancient circumstances and ideas' Ibid.

अर्थात्—'परन्तु उन समस्त विशिष्ट सहायताओं[1] (सहायक साम-

१. अर्थात् इन टीकाओं में ऐसी बहुत सी सामग्री है, जिससे वेद के अभ्यासी को बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। इन टीकाओं में सामग्री बहुत कुछ है। ले०

ग्रियों) को सर्वथा ध्यान में न लेकर, जो अर्थ करने की भारतीय पद्धति है, वह अपने पूरे निष्कर्ष में सर्वथा मिथ्या हो जाती है, उस पक्षपात के कारण जिसके साथ यह प्राचीन परिस्थितियों और विचारों को मन में लाने के लिये प्रयोग में लाती है वा मन में चित्रित करती है।'

(3) Prof. Goldstucker says—'Without the vast information which those commentators have disclosed to us without their method of explaining the obscurest text, in one word, without their scholarship, we should still stand at the outer doors of Hindu antiquity.'

अर्थात् 'उस बड़ी भारी जानकारी के विना, जिसको इन टीकाकारों ने हमारे सामने खोलकर रख दिया है, दूसरे शब्दों में 'जो अत्यन्त अस्पष्ट या गूढ़ स्थलों की व्याख्या करने की उनकी जो पद्धति है, उसके विना, संक्षेप में उनकी विद्वत्ता के विना, हम हिन्दू पुरातत्त्व के बाहिरी द्वार पर ही अभी तक खड़े रहते हैं'।'

(4) Prof. E. B. Cowell in his preface to the edition of Wilson's Translationof Rigveda Sanhita says—

'Sayana's commentry will aways retain a value of its own—even its mistakes are often interesting. We are thankful to him for any real help.'

अर्थात् 'सायण का भाष्य अपना मूल्य (वा स्थान) सदा रखेगा, उस की अशुद्धियां भी बड़ी रोचक होती हैं। कोई भी वास्तविक सहायता हमको उनसे मिलती है, हम उनके अनुगृहीत हैं'।

(5) Prof. Maxmuller says—

'As the authors of Brahmans are blinded by theology, the authors of the still later Niruktas were deceived py etymological fictions, and both conspired to mislead by their authority later or more sensible commentator, such as Sayana. Where Sayana has no

---

१. टीकाकारों वा उक्त सामग्री की इसमें प्रशंसा की गई है। ले०

authority to mislead him, his commentary is at all events rational, but still his scholastic notions would not allow him to accept the free interpretation which comparative study of these venerable documents forces upon the unprejudiced author.'

अर्थात् 'जहां एक ओर ब्राह्मणों के निर्माता थ्यालोजों अर्थात् देवतावाद या देवताविज्ञान से अति मात्रा में प्रभावित हैं, तदनुवर्त्ती निरुक्तकार निर्वचन-विषयक कल्पनाओं से धोखे में रहे; और दोनों ने अपने से उत्तरकालीन या अपने से अधिक बुद्धिमान्, सायण जैसे टीकाकार को अपने प्रामाण्य से भ्रान्त करने में जाल फैला दिया (षड्यन्त्र रचा)। उन स्थलों में जहां सायण के सामने कोई प्रमाण उसको भ्रान्त करने के लिए नहीं है, वहां उसकी टीका सर्वथा युक्तियुक्त है। परन्तु तो भी भारतीय टीकाकारों की पारम्परिक धारणायें उस=सायण को उस स्वतन्त्र व्याख्या को स्वीकार करने नहीं देतीं, जिसको निष्पक्ष ग्रन्थकार इन आदरणीय ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन के कारण मानने को विवश हो जाता है।'

अन्य योरोपीय विद्वान् जैसा कि वेबर, लुड्विग, ग्रासमैन, मोनियर विलियम, वालिस आदि किसी न किसी प्रकार आंशिक वा सर्वथा भिन्नमति हैं। हमें यहां यह दर्शाना है कि योरोपीय विद्वान् यद्यपि प्रायः सायण के पीछे ही चले, पर स्वतन्त्रमति होने से उन्हें सायण की भूलों का भी ज्ञान हुआ, सायण का वेदार्थ सब को मान्य नहीं हुआ।

'अग्निमीडे' का विविध विनियोग

प्रसङ्गतः प्राप्त इस मन्त्र के विनियोग को दर्शाते हुए इसका विवेचन कर लेना भी अनुचित न होगा। इसका विविध शास्त्रोक्त विनियोग निम्न प्रकार है—

(१) 'अग्निमीडे पुरोहितम्०' इति संयाज्ये। तृतीयस्यां सामिधेन्यावाते प्रागुपोत्तमायाः......' (आश्वलायनश्रौतसूत्र २।१)।

(२) 'निधीयमाने गवां व्रतं यदग्निमीड इति' (लाट्यायन श्रौतसूत्र ४।१०।५)। 'गार्हपत्ये निधीयमानेऽग्नौ गवां व्रतं साम गायेत्, यदग्निमीडे इत्येतस्यामृच्युत्पन्नं ततः प्रणीयमाने वामदेव्यं गायेत्' (अग्निस्वामि-

भाष्य)। जब गार्हपत्य में अग्नि रखी जावे, तब इस मन्त्र पर सामगान करे।

(३) आश्वलायन गृह्यसूत्र (गार्ग्यनारायणी वृत्ति सहित) ३।५।५— 'अथ दधिसक्तु' जुहोति।५। अग्निमीडे पुरोहितमित्येका' ॥६॥

(ii) 'दधिमिश्रान् सक्तून् इत्यर्थः। मन्त्रानाह ॥५॥ एकाग्रहण कुसुम्भकादिवद्०।' वृत्तिः। दही से मिले सत्तू का होम करें॥

(४) 'अथ ह स्माह कौषितकिः। अग्निमीडे पुरोहितमित्येका' (शाङ्ख्यायन गृह्यसूत्र ४।५)

(ii) 'एका आहुतिः अग्निमीडे पुरोहितं' (ऋ० १।१।१) इत्यादि स्वाहाकारान्तपूर्वं होम करें (गुजराती अनु०)।

(५) शाङ्ख्यायनश्रौतसूत्र ६।४।६ पृ० ६३। 'आग्नेयं गायत्रं ऋतुम्।·····अग्निमीडे पुरोहितं।'

"ऋग्वेदस्य सूक्तस्य विधिं वक्ष्याम्यतः परम्।
यथा ऋषिर्मधुच्छन्दाः कर्मैतेनाकरोत् पुरा॥
शिरसा धारयेदग्निं नियतः परिवत्सरम्।
चतुर्थप्राणकालीयो हुतशिष्टमदन् हविः॥
जुह्वत् त्रिरुपतिष्ठेत सत्यवादी दिने दिने।
व्रतकाले तु सम्प्राप्त आग्नेयं निर्वपेच्चरुम्॥"
—ऋग्विधान १।७६-८१॥

व्रतकाल में अग्निदेवता के चरु के निर्माण में इस मन्त्र का विनियोग कहा गया है।

(७) 'जपो वक्तव्य इत्याह—समाधुछन्दसा रुद्रागायत्री प्रणवान्विता। सप्तव्याहृतयश्चैव जप्याः पापविनाशनाः।' बोधायन धर्म सू० ६।१॥

यहां जप में इस मन्त्र का विनियोग कहा है।

(८) गोपथब्राह्मण—१।२६ पृ० १२—

'तस्माद् ब्रह्मवादिन ओङ्कारमादितः कुर्वन्ति अग्निमीडे पुरोहितं होतारं रत्नधातमम्' इत्येवमादिं कृत्वा ऋग्वेदमधीयते···॥ सोमपान में इस मन्त्र का विनियोग कहा है।

(९) ऋक्सर्वानुक्रमणी तथा बृहद्देवता में इस मन्त्र का कोई विनियोग नहीं।

(१०) सायणभाष्य में—'तत्र अग्निमीडे' इति सूक्तं प्रातरनुवाके आग्नेये क्रतौ विनियुक्तम् स विनियोग आश्वलायनेन चतुर्थाध्यायस्य त्रयोदशे खण्डे सूत्रितः । तस्मिन् सूक्ते प्रथमाया ऋचो द्वितीयस्यां पवमानेष्टौ स्विष्टकृतो याज्यात्वेन विनियोगः । स च (आश्वलायन-श्रौते) द्वितीयाध्यायस्य प्रथमखण्डे सूत्रितः 'साह्वान् विश्वा अभियुजोऽग्निमीडे पुरोहितमिति संयाज्ये' इति । तथा संयाज्ये इत्युक्ते सौविष्टकृति प्रतीयात् (आश्व० श्रौ० २।१) इति परिभाषितत्वात् स्विष्टकृतसम्बन्धनिश्चयः ॥' १।१।१ भा० पृ० ३१ ॥

यहां केवल भौतिक यज्ञाग्नि में याज्या रूप में इस मन्त्र का विनियोग कहा है ।

(११) दुर्ग (निरु० टी० ७।१५) पृ० ५९३—'आश्विने विनियोगः ॥'

(१२) तै० संहिता सायणभाष्य—४।३।१३।३—'अथ मरुद्भ्यः सन्तपनेभ्यो मध्यन्दिने चरुमित्यत्र प्रथमाज्यभागस्यानुवाक्यामाह' 'अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ।' माध्यन्दिन मरुत देवताओं के लिये प्रथम आज्य भाग की अनुवाक्या रूप में विनियोग किया है ।

(१३) आनन्दतीर्थभाष्ये जयतीर्थ-टीका पृ० ३—'ऋगर्थश्च त्रिविधो भवति । एकस्तावत् प्रसिद्धाग्न्यादिरूपः, अपरस्तदन्तर्गते-श्वरलक्षणः, अन्योऽध्यात्मरूपः । तत् त्रितयपरं चेदं भाष्यम् । तत्राग्नि-मीड इत्याद्यामृचं व्याचक्षाणोऽग्निशब्दार्थं तावन्निर्वक्ति । अग्निशब्दो-ऽयमिति । अयमादितः प्रयुक्तोऽग्निशब्दोऽग्नेस्तदन्तर्गतहरेश्च बाह्ययज्ञे अध्यात्मं च हरेर्ज्ञानयज्ञे मुख्यामुख्यत्वाभ्यामग्र एवाशेषपूज्येभ्यः पूर्व-मेवाभिपूज्यतामभिपूज्यत्वमाहेति सम्बन्धः ।' यहां पर बाह्य (भौतिक) यज्ञ के साथ ज्ञानयज्ञ (प्रभुभक्ति) में इस मन्त्र का विनियोग दर्शाया है । अर्थात् बाह्य यज्ञ और ज्ञान यज्ञ में इस मन्त्र का विनियोग बताया गया है ।

(१४) नरसिंहयति छलारी टी० पृ० ६—'सर्ववेदानां मुख्यतो भगवत्प्रतिपादकत्वस्यानुमानादिनोपपादितत्वेनैतच्चोद्यं परास्तमित्यर्थः । न च मन्त्राणां कर्मणि विनियोगाददृष्टार्थत्वादविवक्षितार्थत्वं देवता-प्रकाशनरूपदृष्टार्थत्वे सम्भवत्यदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात् ।' यहां मन्त्र

कर्म में विनियोग अदृष्टार्थ मानते हुए भी दृष्ट विष्णु प्रीति के निमित्त भक्तियोग में विनियोग किया है।

(१५) राघवेन्द्रयति मन्त्रार्थमञ्जरी पृ० ८—विनियोगो विष्णु-प्रीतिद्वारा मोक्षे। अवान्तरविनियोगः कर्मणि।' मन्त्रार्थमञ्जरीकार ने इस मन्त्र का विनियोग विष्णुभक्ति द्वारा मोक्ष में किया है।

(१६) द्याद्विवेदी नीतिमञ्जरी पृ० ५—'अथ विनियोगः। प्रातर-नुवाके आग्नेयक्रतौ। आग्नेयं गायत्रं क्रतुमुपप्रयन्तो अध्वरमग्निमीडे पुरोहितमिति सूत्रम् तथा अग्निष्टुतिः—अग्निमीडे पुरोहितमित्युन्नीयमा-नेभ्य इति। उपाकर्मणि होमे चाथ ह स्माह कौषीतकिरग्निमीडे पुरोहित-मित्येकेति गृह्ये—शौनकेनोक्तमृग्विधाने।'

(१७) बृहद्-हारीत स्मृति पृ० ३२६, ३२७

'ऋग्वेदसंहितायां तु मण्डलानि दशक्रमात्।
एकैकमिष्ट्या होतव्यं चरुणा पायसेन वा॥
घृतैर्वा तिलैर्वाऽपि बिल्वपत्रैरथापि वा।
अग्नीमीड इति पूर्वं मण्डलं प्रत्यृचं यजेत्॥

—बृ० हा० अ० १० श्लोक ६३, ६४॥ पृ० ३२८

(ii) अग्निमीड इत्यनुवाकेन सावित्र्या वैष्णवेन च।
सर्वैश्च वैष्णवैर्मन्त्रैः पृथगष्टोत्तरं शतम्॥

—अ० ११।२४८॥

हुत्वा वेदसमाप्ति जुहुयाद् देशिकोत्तमः।
ततो भद्रासने शिष्यमुपवेश्याभिषेचयेत्॥२४९॥
कुशोत्तरं समासीनमाचान्तं विनयान्वितम्।
अध्यापयेद् वैष्णवानि सूक्तानि विविधानि च'॥२५२॥

इन दो श्लोकों में सम्पूर्ण ऋग्वेद से यज्ञ करने का विधान है, दूसरे शब्दों में स्वाहाकारान्त याग का विधान और 'अग्निमीडे०' इस मन्त्र का स्वाहाकारान्त याग में विनियोग स्पष्ट है। अगले तीन श्लोकों में इस मन्त्र का विनियोग शिष्य को वेदाध्यापन में कहा गया है।

(१८) मैत्रायणीसंहिता (४।१०।५) याज्यानुवाक्या प्रकरण में 'अग्निमीडे पुरोहितम्' यह मन्त्र पढ़ा है।

(१९) काठकसंहिता २।१४ में भी पूर्ववत् पढ़ा है।

(२०) गुणविष्णुः (छान्दोग्यमन्त्रभाष्य पृ० ११६)—'अग्निमीडे० (ऋ० १।१।१) इति मन्त्रस्य विनियोगो ब्रह्मयज्ञे'। यहां सबसे भिन्न विनियोग कहा।

विनियोग पर एक दृष्टि

यहां यह भी ज्ञात रहे कि जहां ऋक्सर्वानुक्रमणी-बृहद्देवता में इसका विनियोग नहीं कहा, वहां स्कन्द स्वामी की निरुक्तटीका तथा स्कन्द-भाष्य में तथा वेङ्कटमाधव के ऋग्भाष्य और उसकी ऋग्वेदानुक्रमणी में भी इस मन्त्र का विनियोग नहीं बताया गया। इस मन्त्र का ही विनियोग न दर्शाया हो सो बात नहीं, स्कन्द ने अपनी निरुक्तटीका और ऋग्वेदभाष्य में किसी भी मन्त्र का विनियोग नहीं लिखा, यह बड़े आश्चर्य और गम्भीर विचार की बात है। वेङ्कटमाधवभाष्य में भी विनियोग कहीं पर नहीं कहा गया है। हां, दुर्गाचार्य ने अपनी निरुक्त-टीका में प्रायः सब मन्त्रों का श्रौतसूत्रों में कहा विनियोग दिखाया है। यहाँ पर दुर्गाचार्य ने 'अग्निमीडे० (ऋ० सं० १।१।१) इति मधुच्छन्दस आर्षम् गायत्री। आश्विने विनियोगः' ऐसा लिखा है। यह विदित रहे कि इस मन्त्र का देवता अग्नि है और उपर्युक्त लगभग १६ विनियोग-प्रतिपादक ग्रन्थों में यह मन्त्र 'आग्नेय' अर्थात् 'अग्निदेवताक' यज्ञ में भिन्न-भिन्न प्रकरणों में विनियुक्त है, ऐसा कहा गया है। भला अग्नि-देवताक 'अग्निमीडे' इस मन्त्र में आश्विन कर्म में विनियोग हो ही कैसे सकता है? इस सब विवेचन से यह सिद्ध होता है कि विनियोग की वर्त्तमान कल्पना बहुत अर्वाचीन है, प्राचीन नहीं। श्रौतसूत्रकारों ने तत्तत् मन्त्र से यज्ञ-इष्टि-सोम आदि में जहां-जहां जिस-जिस प्रकरण में काम लिया, वह तो ठीक है। परन्तु सायण या तदनुवर्त्ती लोगों ने जो विनियोग का यह अर्थ समझ लिया कि इन मन्त्रों का अन्य विनियोग हो ही नहीं सकता, यह उनकी सर्वथा भूल है। हमारा कहना यह है कि जैसे मन्त्र के देवता सर्वानुक्रमणी आदि से भिन्न हैं और हो सकते हैं, इसी प्रकार वेदमन्त्रों का विनियोग भी विनियोक्ता के आधीन है। यदि मन्त्र का अर्थ उक्त क्रिया के साथ सङ्गत हो सकता है, तो उस मन्त्र का विनियोग उक्त क्रिया में अवश्य हो जायेगा। विनियोग की बहुत ऊंची और दृढ़ दीवार खड़ी करके सायण ने वेदार्थ को इतना संकुचित और दारिद्र्योपहत कर दिया कि यदि उसे स्वीकार किया जाये तो वह वेद

के सम्बन्ध में प्राचीन पूजाभाव को, इसकी पवित्र प्रामाणिकता को, इसकी दिव्य ख्याति को अबुद्धिपूर्ण बना देता है।

यदि इस पर कोई कहे कि "निरुक्त १।८ में 'ऋचां त्वः पोषमास्ते' (ऋ० १०।७१।११) इत्यृत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे' ऐसा निरुक्त में पाठ है, विनियोग का अपलाप नहीं हो सकता है।" हमारा कहना है कि निरुक्त के इस स्थान पर विनियोग का अर्थ प्रयोगमात्र है, अर्थात् इस मन्त्र से ऋत्विजों के कर्मों, कौन क्या करे, केवल इस बात का निरूपण है। न कि इस मन्त्र को किसी यज्ञ यागादि में विनियुक्त किया गया है। श्रौतसूत्रों ने मन्त्रों को याज्ञिक प्रक्रिया में जहां-जहां लगाया है, अर्थात् जिन-जिन क्रियाओं में इन मन्त्रों द्वारा कार्य करने का विधान किया है, वह सब प्रमाणभूत अर्थात् माननेयोग्य है। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि इन मन्त्रों का श्रौतसूत्रों से भिन्न विनियोग नहीं हो सकता। हमारे उपर्युक्त निरूपण से स्पष्ट सिद्ध है कि श्रौतसूत्रादि से अन्यत्र भी मन्त्रों का विनियोग हो सकता है।

विनियोगसम्बन्धी कुछ अन्य प्रमाण

ऋग्वेदभाष्य में सायणाचार्य ने प्रथम मण्डल में लगभग ४८ सूक्तों का विनियोग 'लैङ्गिक' वा 'स्मार्त्त' लिखा है। ऋ० १। सूक्त १५, १८ २०, ४२ आदि का 'विनियोगस्तु स्मार्त्तो द्रष्टव्यः' इत्यादि लिखा है। ऋ० १।२२, ३८, ४० आदि सूक्तों का 'सूक्तविनियोगो लैङ्गिकः' ऐसा लिखा है।

(२) बृहद्देवता (i) ७।११३ में—

"प्रशस्यते दशम्या तु विद्वानुत्तमया ऋचा।
यज्ञे ह्यृत्विजामाह विनियोगं च कर्मणाम्॥ ७।११३"

(ii) बृ० ८।७०—

इन्द्र इह्येति विश्वेषां उदित्यृत्विक् स्तुतिपरम्।
शक्तिप्रकाशनेनैषां विनियोगोऽत्र कीर्त्यते॥ ८।१०॥

इस से सिद्ध है कि बृहद्देवताकार के मत में यदि मन्त्रार्थ में शक्ति होगी, तभी वह मन्त्र उक्त कर्म में विनियुक्त हो सकेगा।

(३) लैङ्गिक विनियोग का स्वरूप—

(i) तत्र लिङ्गं नाम ऋगर्थः। सर्वानुक्रमणीवृत्तौ तथैवोक्तत्वात्। तेनोक्तज्ञाता तात्पर्यानुरोधेनकल्प्या इति यावत्।

(ii) "तात्पर्यं हि किंचित् साक्षात् क्वचिद् विनियोगवशात् तदनुगुणार्थकल्पनावगन्तव्यम्" ऋग्वेदकल्पद्रुम पृ० १३।१॥

(४) दुर्गटी० पृ० १२६—"तत्रैवं सति प्रतिविनियोगमस्यान्येनार्थेन भवितव्यम्" इस सबसे भी यही सिद्ध होता है कि मन्त्रों का विनियोग अर्थाश्रित होता है, जहां भी उनका विनियोग होना सम्भव हो।

ऋषि दयानन्दकृत भाष्य की विशेषतायें

स्वर्गीय महात्मा अरविन्द के शब्दों में—"दयानन्द ने ऋषियों के भाषासम्बन्धी रहस्य का मूल सूत्र हमें पकड़ा दिया है और वैदिक धर्म के एक केन्द्रभूत विचार पर फिर से बल दिया है, इस विचार पर कि जगत् में एक ही[1] देव की सत्ता है और भिन्न-भिन्न देवता अनेक नामों और रूपों से उस एक देव की ही अनेकरूपता को प्रकट करते हैं"। जिस महान् दयानन्द ने वेदार्थं का पुनरुद्धार किया, और जो बात लिखी वह प्राचीन ऋषि-मुनियों के आधार पर लिखी, जिनके वेदभाष्य के साथ-साथ हम लगभग २० वेदभाष्यकारों का एक ही मन्त्र का अर्थ तथा लगभग २० ग्रन्थों में प्रतिपादित विनियोग हमने दर्शाया, और पाठकों ने देखा कि उस आचार्य दयानन्द ने वेदार्थं के विषय में सैकड़ों वर्ष के पश्चात् एक अपूर्व क्रान्ति की।

अब अन्त में हम आचार्यदयानन्द के भाष्य की विशेषतायें दर्शाते हैं—

(१) इस भाष्य में वेदों के अनादि होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन है।

(२) वेदों में लौकिक इतिहास का अभाव है।

(३) वेदों के शब्द यौगिक वा योगरूढ़ि हैं, रूढि नहीं, यह इस भाष्य की आधार शिला है। अग्नि आदि शब्दों से किस प्रकार परमात्मा का ग्रहण होता है, उस की विवेचना प्रथम मन्त्र के भाष्य में ही की गई है। जो प्रमाण इस अर्थ के समर्थन में प्रस्तुत किये गये हैं, वे देखने योग्य हैं। मानों प्रमाणों की एक माला बना दी है। ऋग्वेद से लेकर मनुस्मृति और मैत्रायणी उपनिषद् तक के प्रमाण इस माला की मणियां हैं।

(४) वाचकलुप्तोपमालङ्कार से अनेक मन्त्रों का भावार्थं खोला गया

---

(१) तुलना के लिये देखो निरु० ७।४ 'माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते, एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।

है। अर्थात् उषा के समान स्त्री, मित्र के समान अध्यापक, वरुण के समान उपदेश आदि।

(५) आचार्य दयानन्द का सिद्धान्त है कि जहां उपासना का विषय है, वहां-वहां अग्नि आदि शब्दों से ईश्वर का अभिप्राय है। अन्यथा इन्हीं शब्दों से भौतिक पदार्थों का ग्रहण किया जा सकता है।

(६) कहीं-कहीं आचार्य दयानन्द ने शाकल्यादि से भिन्न पदपाठ माना है।

(७) मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय को देवता माना। है 'माहाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते (निरु० ७।४)' के अनुसार ओङ्कार वा परमात्मा को सब मन्त्रों का देवता माना है। परमात्मा का त्याग किसी भी मन्त्र में नहीं हो सकता, ऐसा माना है।

(८) शतपथादि ब्राह्मण, निघण्टु निरुक्त, अष्टाध्यायी, तथा महाभाष्य के प्रमाणों से यह भाष्य भरा पड़ा है।

(९) एक-एक शब्द के अनेक अर्थ दिये गये हैं, जैसे इन्द्र के अर्थ परमात्मा, सूर्य, वायु, विद्वान्, राजा, जीवात्मा आदि किये गये हैं।

(१०) आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक (आधियाज्ञिक) तीनों प्रक्रियाओं में वेदमन्त्रों के अर्थ होते हैं, यह माना है।

(११) अनेक स्थलों में वैदिक पदों के अर्थ वेदमन्त्रों के आधार पर किये गये हैं।

(१२) 'व्यत्यय' के सिद्धान्त को मानकर ही वेद के विषय में 'सर्वज्ञानमयो हि सः' 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है' यह सिद्धान्त ठीक-ठीक प्रमाणित हो सकता है।

पाठक वृन्द ! वर्त्तमान युग में वेद का विद्यार्थी चाहे वह शास्त्री वा आचार्य हो, किसी कालेज में एम० ए० का छात्र वा प्रोफेसर वा डी० लिट् हो, आचार्य दयानन्द के भाष्य को पढ़े-विचारे विना वेदार्थ से सदा अन्धकार में रहेगा। यही दर्शाना हमारे इस लेख का प्रयोजन है। 'धियो यो नः प्रचोदयात्' हमारी बुद्धियां निर्मल वा पक्षपातरहित हों !!!

[वेदवाणी, वर्ष ५, अङ्क २]

वेदमन्त्रों का विनियोग

सृष्टि के आदि में परमपिता परमात्मा ने समस्त जीवों के कल्याणार्थं वेद का ज्ञान ऋषियों द्वारा दिया, जिसकी स्वरवर्णानुपूर्वी नित्य है, ऐसा ऋषि-मुनियों का सिद्धान्त है। मन्त्रार्थ-द्रष्टा (न कि निर्माता) का नाम ऋषि है। मन्त्र के प्रतिपाद्य-विषय का नाम देवता है। मन्त्रों की अक्षर-गणना के आधार पर गायत्री-अनुष्टुप् आदि छन्द कहलाते हैं। और जिस-जिस मन्त्र का उच्चारण करके श्रौत वा गृह्य कर्मों में जो क्रिया की जाती है, वह मन्त्र उस-उस क्रिया में विनियुक्त कहा जाता है, या उक्त मन्त्र का उस-उस क्रिया में विनियोग है, ऐसा शास्त्रीयसिद्धान्त है।

इसमें यह बात स्पष्ट है कि ऋषि-देवता-छन्द और विनियोग का प्रादुर्भाव पीछे हुआ। दूसरे शब्दों में यह ऋषिकृत वा पुरुषकृत है, ईश्वरकृत वा अपौरुषेय नहीं। छन्दों का नामकरण तो वेद में है, गणना ऋषिकृत है। इनमें वेद के अर्थ के साथ सीधा सम्बन्ध देवता का ही पड़ता है, क्योंकि 'या तेनोच्यते सा देवता' (सर्वानु०) जो मन्त्र के द्वारा कहा जाता है, उसका नाम देवता है अर्थात् मन्त्र जिसका प्रतिपादन करता है, उसका नाम देवता है। सो देवता का तो अर्थ के साथ साक्षात् सम्बन्ध है। किस मन्त्र का कौन द्रष्टा है, इससे इतिहाससम्बन्धी ज्ञान तो भले ही हो सकता है, उस इतिहास में मन्त्रसम्बन्धी किसी गम्भीर अर्थ का निरूपण हो, तो वह भी कुछ न कुछ अर्थ समझने में सहायक हो जावे, पर ऐसा इतिहास ब्राह्मणग्रन्थों में भी नाममात्र ही समझना चाहिये। ऐसी अवस्था में मन्त्रों के ऋषि उनके अर्थों के समझने में सहायक नहीं कहे जा सकते। ऋषि मन्त्रार्थद्रष्टा हो या ऋषि को कविनिबद्धवक्ता माना जावे, तो भी अर्थ समझने में बहुत भेद नहीं पड़ता, कुछ थोड़ा सा निर्देश भले ही मिल सके। उस अवस्था में भी देवता के होते हुए ऋषि की आवश्यकता कहां तक रह जाती है, यह भी एक पृथक् विचारणीय विषय उपस्थित हो जाता है। सारांश यही है कि वेद के अर्थ समझने में ऋषि सीधा सहायक नहीं। छन्द का उपयोग बहुत है। श्रौतप्रक्रिया में इसका बड़ा महत्त्व है, पर वेदार्थ में इसका भी

सीधा सम्वन्ध नहीं। अब विनियोग रह जाता है, जिस पर हमें विचार करना है।

विनियोग शब्द का अर्थ

इसमें 'वि' 'नि' दो उपसर्गपूर्वक 'युजिर् योगे' (रुधा०) इस धातु से कर्म और भाव में 'विनियुज्यत इति विनियोग:' 'विनियोजन वा विनियोग:', यद्वा 'विनियुज्यतेऽनेनेति विनियोग:' करण कारक में घञ् प्रत्यय होकर यह शब्द बनता है। यहां पर भाव और करण अर्थ अधिक उपयुक्त है। वि (विशेषतया) नि (निश्चय से) योजनं (लगाना) = विनियोग कहलाता है। किसी क्रिया को करते समय उस क्रिया के प्रारम्भ में हमने जो मन्त्र बोला, जैसे 'शन्नो देवी०' इत्यादि मन्त्र वोलकर हमने आचमन किया, तो 'शन्नो देवी०' इस मन्त्र का आचमन में विनियोग है, ऐसा कहा जायगा।

यदि इसमें यह कहा जावे कि इस मन्त्र का आचमन में प्रयोग है अथवा यह मन्त्र आचमन क्रिया में प्रयुक्त वा विनियुक्त (Applied) है तो एक ही बात समझी जायगी। Application of a Mantra 'किसी मन्त्र का किसी क्रिया में लगाना' बस विनियोग इसी का नाम है।

सो यदि किसी मन्त्र का जो अर्थ है, वह उस क्रिया के साथ ठीक बैठ जाता है, तव तो वह विनियोग ठीक है। यदि कोई व्यक्ति 'शन्नो देवी' इस मन्त्र को बोलकर व्यायाम करने लगे, तो वह विनियोग ठीक नहीं माना जा सकता। विनियोग का अर्थ के साथ कहां तक सम्वन्ध है, यह बात हमारे आगे के लेख में उदाहरणों द्वारा स्पष्ट होगी।

विनियोग कब से चला ?

जब से यज्ञ चला। यज्ञ कब से चला ? यह बात वहुत गम्भीर विचार की है। इसमें यज्ञ शब्द पर ही पहले विचार करना होगा। यदि अग्नि में आहुतियां डालने का नाम ही यज्ञ है, तव तो और प्रकार से विचार करना होगा, कि देवयज्ञ कब से चला, क्या सृष्टि के आदि में पञ्चमहायज्ञों की प्रवृत्ति थी या नहीं। क्या वेद ने इस विषय में कुछ नहीं कहा। क्या विकासवादियों के मत के अनुसार जब आवश्यकता पड़ी, तब पञ्चमहायज्ञों की उत्पत्ति वा प्रारम्भ हुआ। हम तो ऐसा

नहीं मानते, क्योंकि ब्रह्मयज्ञ ईश्वरोपासना तो मानवसृष्टि के प्रारम्भ से ही हुई। क्योंकि 'अग्निमीडे पुरोहितम्०' 'इषे त्वोर्ज्जे त्वा' का ज्ञान तो प्रारम्भ में ही दिया गया। जगन्नियन्ता की उपासना तो सर्वप्रथम मानव को वतलाई गई। इतना ही नहीं,

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥

ऋग्वेद के इस प्रथम मन्त्र में ही जहां प्रकाशस्वरूप अग्नि परमेश्वर की उपासना वतलाई गईं, वहां भौतिक अग्नि को भी वतलाया गया। उसे यज्ञ का देव पुरोहित, ऋत्विक् और होता भी बताया गया। यज्ञ का स्वरूप तो प्रारम्भ में ही वतला दिया गया। इतना ही नहीं अपितु—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥
यजु० ३१।१६॥

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति॥ (ऋग्वेद १।१८।७)

यज्ञ का प्रारम्भ पीछे किसी युग से हुआ, हम तो इस बात को कदापि नहीं मानते। यज्ञ का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि से ही हुआ। यही बात वैदिक साहित्य के आधार पर निश्चित होती है। दूसरे शब्दों में हम इस वात को इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि वर्त्तमान में प्रचलित यज्ञों की परम्परा, जिसके पूर्ण वैदिक होने में वहुत कुछ सन्देह है, महाभारत के युद्ध के लगभग प्रचलित हुई। चाहे वह ब्राह्मणग्रन्थों में निर्दिष्ट प्रक्रिया हो वा श्रौत-गृह्यादि में। जब केवल अग्नि में आहुति डालने का नाम ही यज्ञ समझा जाने लगा, तब वह रूढ़ि-यज्ञ निश्चय ही पीछे के काल की रचना है। चाहे वह काल कोई भी हो। इसमें हमें कुछ कहना नहीं है।

ऐसी स्थिति में यह मानना पड़ेगा कि सृष्टि के आदि में वेदमन्त्रों द्वारा अन्तर्यामी प्रभु का चिन्तन-आराधना-उपासना-भक्ति अर्थात् आध्यात्मिक चिन्तन अवश्य रहा, जिसे ब्रह्मयज्ञ कहते हैं। इसमें हमारा तो यह कहना है कि जिस-जिस ऋषि ने जिस-जिस मन्त्र का अर्थदर्शन किया, अर्थात् उस-उस मन्त्र के द्रष्टा ने जो अर्थ निश्चय किया, उस के आधार पर उस-उस मन्त्र का प्रयोग (काम में लेना) वा विनियोग भी उसने जाना

और दूसरों को बतला दिया, यही समझना चाहिये। निश्चय ही महाभारत के काल तक भी इन वेद के मन्त्रों से कार्य लिया जाता रहा। इसमें किसी को भी सन्देह का अवसर नहीं। वही-वही उस मन्त्र का विनियोग भी रहा, यही मानना पड़ेगा। क्या रहा, सो विचारणीय है।

इस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों श्रौत तथा गृह्यसूत्रों में निर्दिष्ट विनियोग निश्चय ही पीछे के काल का है, इसमें सन्देह नहीं।

एक तीसरे प्रकार का विनियोग भी है, जो उक्त ब्राह्मण, श्रौत आदि से भिन्न है। जिसका प्रारम्भ गृह्यकाल के विनियोग से ही कुछ-कुछ प्रारम्भ हो गया था और जो वर्त्तमान काल (पिछले १०० वर्ष तक का उसके पीछे) तक बराबर बढ़ता चला गया। जिसका दिग्दर्शन हम आगे करावेंगे। विनियोग कब से चला, इस विषय में सृष्टि के आदि से ब्राह्मण-श्रौत आदि ग्रन्थों तक प्रथम काल कहा जायगा। दूसरा काल ब्राह्मणग्रन्थों से लेकर एक-दो शताब्दी पूर्व तक। तीसरा काल एक-दो शताब्दी से अब तक का समझना चाहिये। यज्ञ के भी यही तीन भिन्न-भिन्न काल समझने चाहियें।

विनियोग का वास्तविक स्वरूप

यद्यपि विनियोग शब्द का अर्थ दिखाते हुए ऊपर हमने संक्षेप से विनियोग का स्वरूप भी बतलाया कि किसी मन्त्र को किसी क्रिया में विनियुक्त (Applied) करना ही उस मन्त्र का विनियोग कहलाता है। अथवा किसी मन्त्र का किसी क्रिया में लगाना (Application of Mantra) विनियोग कहलाता है। विनियोग का स्वरूप इतना ही है। इसी बात को और व्यक्त करना हो तो ऐसा समझना चाहिये कि यदि एक मन्त्र का अर्थ उक्त क्रिया के साथ ठीक-ठीक बैठ जाता है, अर्थात् दोनों (मन्त्र और क्रिया) का समन्वय हो जाता है, दोनों एक ही बात कहते हैं, तब तो विनियोग सच्चा, वास्तविक है, ग्राह्य है। यदि मन्त्र कुछ कहता है, क्रिया कुछ और कहती है तव उस मन्त्र का वह विनियोग असत्य, कृत्रिम (नकली) वा अग्राह्य, मानने योग्य नहीं, ऐसा कहा जायगा। यह एक मूल सिद्धान्त है, जैसा कि निम्न आर्ष प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है। तद्यथा—

(i) 'एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धम्। यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाऽभिवदतीति च ब्राह्मणम्।' निरुक्त १।१६॥

(ii) अत्र दुर्गाचार्यः (पृ० ७४)—"ब्राह्मणमपि च मन्त्राणामर्थवत्त्वमेव दर्शयति। अनर्थका हि सन्तः कथं कर्माभिवदेयुः, कथं वाऽनभिवदन्तः समर्द्धयेयुः।'

(२) 'एतद् वै यज्ञस्य यजुर्वाऽभिवदति।' गोपथ भा० २।२।६॥ पृ० ६३।

(३) (i) 'एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धम्। यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति॥' ऐ० ब्रा० १।४।६॥

(ii) षड्गुरुशिष्यवृत्तिः (पृ० ३१)—'एषा समृद्धिर्यज्ञस्य यदृक्कर्म प्रकाशयेत्।'

इन सब स्थलों का एक ही अर्थ है कि यज्ञ की समृद्धि (सम्पूर्णता) तभी है जब उस कर्म को ऋचा वा यजुः ठीक-ठीक कहें। यदि मन्त्र उस अर्थ का प्रतिपादन न करेगा तो यज्ञ की सम्पूर्णता नहीं होगी।

हम समझते हैं, विनियोग का यह वास्तविक स्वरूप है। मन्त्र के अर्थ और उनके द्वारा की गई क्रिया की एकवाक्यता अवश्य होनी चाहिये। इसमें ब्राह्मणग्रन्थों के उपर्युक्त प्रमाण पर्याप्त हैं। इसी कसौटी को लेकर हमने इस विनियोग-विषय की पर्यालोचना करनी है।

विनियोग और प्राचीन तथा मध्यकालीन ग्रन्थ

विनियोग शब्द वेद और ब्राह्मणग्रन्थों में कहीं नहीं आया। संहिता-ग्रन्थों में भी हमें नहीं मिला। निम्नाङ्कित मन्त्रों में इस प्रकार मिलता है—

(१) बृहद्देवता—(i) विनियोगञ्च कर्मणाम्। ७।११३॥ (ii) शक्तिप्रकाशनेनैषां विनियोगोऽत्र कीर्त्यते। ८।१०॥

अर्थात् अर्थ की सामर्थ्य होने से इस मन्त्र का इस विषय में विनियोग है।

(२) निरुक्त में—(i) 'इत्यृत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे।' नि० १।८॥

इस विषय में नि० ७।२० तथा १२।४० भी द्रष्टव्य है, जिस पर आगे विचार करेंगे।

(ii) अत्राचार्यः स्कन्दस्वामी—'विनियोगः प्रतिनियमः। एक ऋत्विगिदं कर्म करोत्यन्य इदमन्य इदमिति ऋचां पोषमिति यथाविधि कर्मणि प्रयोगः…।' स्कन्द निरु० टी० भाग १ पृ० ७२।

(iii) 'ऋत्विक्कर्मणां विनियोगमनयर्चाऽऽचष्टे।' दुर्गं॰ टी॰ पृ॰ ४५।

निरुक्त के इस स्थल का अर्थ केवल इतना है कि 'ऋचां त्वः पोषमास्ते…' ऋ॰ ७।७१।११ इस मन्त्र ने ऋत्विजों के कर्मों की नियुक्ति वा प्रतिनियम (नियति) बतलाया है। स्कन्द और दुर्ग का भी यही अभिप्राय है। यास्क के कथनानुसार यह सिद्ध होता है कि वेद अपने अर्थ द्वारा विनियोग के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।

(३) यजुःसर्वानुक्रमणी—(i) 'इषेत्वा शाखाऽनुष्टुप्। विनियोगः कल्पकारोक्तः।' पृ॰ १३ (काशी संस्करण)।

(ii) 'काम्यनैमित्तिकादिषु विनियोगोऽस्य' (पृ॰ ३०९)। 'अग्नौ विनियोगः' (पृ॰ ३०७)।

(iii) 'देवता मन्त्रवर्णाद्दृग्यजुषो विनियोगतश्च विज्ञेयाः।' (पृ॰ ३१९)।

(iv) 'वेदितव्य इति शेषः। अस्य मन्त्रस्य। तस्मिन् कर्मणि विनियोगः। अनेन मन्त्रेणेदं कर्म कर्तव्यम्, अनेनेदमित्येवं विधौ मन्त्राणां विनियोगः कल्पकारोक्तं एवेह वेदितव्यः। कर्मानुष्ठानवेलायां मन्त्राणां विनियोगज्ञानमावश्यकम्। तदज्ञाने दोषस्य प्रागुक्तत्वात्।… …तत इषे त्वेत्यस्य शाखाच्छेदने विनियोगः।'—यजु सर्वानु॰ पृष्ठ १४।

इसमें 'इषे त्वा' इस मन्त्र का शाखाच्छेदन में विनियोग बतलाया।

(४) ऋक्सर्वानुक्रमणी टीका, षड्गुरुशिष्य, पृष्ठ ५७,५८—

स्मर्यते—अविदित्वा ऋषिच्छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेद्यजेद् वाऽपि पापीयान् जायते तु सः॥ ….

अन्यत्राप्युक्तम्—

स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा विनियोगोऽर्थ एव च।
मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे॥

इसमें यह कहा गया कि जो मन्त्रों का योग विनियोग न जानकर पढ़ाता है या यज्ञ कराता है, वह पापी हो जाता है इत्यादि।

(क) पृष्ठ १०३, ११६, १३२ में टीकाकार ने विनियोग शब्द द्वारा सूक्तों वा मन्त्रों का विनियोग दिखाया है।

(५) आचार्य स्कन्द स्वामी ऋ॰ १।१।१ भाष्य पृ॰ ५—

'तेषां योऽर्थः, तेषां कर्मणोऽङ्गभूतत्वात्…तेषां योऽर्थः स यद्यपि कर्मणो नाङ्गभूतः, तथापि ते तमेव प्रतिपादयन्तः कर्मणोऽङ्गत्वं प्रतिपद्यन्ते, नोच्चारणमात्रेण।'

इसका अभिप्राय यह है कि मन्त्र अपने अर्थ के कारण ही किसी क्रिया के अङ्गभुत अर्थात् उसमें समन्वित हो सकते हैं।

(६) ऋग्वेद वेङ्कटमाधवभाष्य १।१।१—

'विनियोगपरिज्ञानाद् यजुषामर्थनिश्चयः।
इतिहासैर्ऋगर्थानां बहुब्राह्मणदर्शितैः॥'

अर्थात् विनियोगज्ञान से यजुर्मन्त्रों का अर्थ जाना जाता है और ब्राह्मणप्रदर्शित इतिहासों से ऋग्वेद के मन्त्रों का अर्थ जाना जाता है।

(७) भट्टभास्कर तैत्तिरीयसंहिताभाष्य पृष्ठ ३—

'मन्त्रवाच्योऽर्थो देवता, विनियोजकं ब्राह्मणम्। तत्रैकैव देवता, अग्नि-वायु-सूर्यरूपेण विभक्ता सर्वत्र व्याख्यातव्या। तासां विभूतयः पृथिव्यन्तरिक्षद्यु स्थानस्थाः अन्या देवता इति नैरुक्ताः। ताश्च प्रतिमन्त्रं लिङ्गैर्विनियोगेन च गम्यन्ते च ज्ञायन्ते च।'

अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थ विनियोजक हैं।·· देवता लिङ्ग और विनियोग के द्वारा जाने जाते हैं।

(८) सायणभाष्य तै० सं० भाष्यभूमिका पृष्ठ ८—

(i) 'यद्यपि मन्त्रविनियोगा ब्राह्मणे सर्वेऽपि नाम्नाताः। तथापि कल्पसूत्रकारैर्ब्राह्मणान्तरपर्यालोचनया सर्वेऽभिहिताः। अतो बौधायनादिसूत्रोद्धरणादिपूर्वकं ·····।'

(ii) सायण ऋग्वेदभाष्यभूमिका पृष्ठ ५१ काशीसंस्करण ··

"अतः कल्पसूत्रं मन्त्रविनियोगेन ऋत्वनुष्ठानमुपदिश्य उपकरोति। तर्हि 'प्रवोवाजा' इत्यादीनां सामिधेनीनाम् ऋचामेव विनियोगमाश्वलायनो ब्रवीतु 'नमः प्रवक्त्रे' इत्यादयस्त्वनाम्नाताः कुतो विनियुज्यन्ते (आश्वलायनसूत्र १।२) इति चेत् नायं दोषः, शाखान्तरसमाम्नातानां ब्राह्मणान्तरसिद्धस्य विनियोगस्य गुणोपसंहारन्यायेन अत्र वक्तव्यत्वात्, सर्वशाखाप्रत्येकं कर्म इति न्यायविदः। तस्मात् शिक्षेव कल्पोऽपि अपेक्षितः।"

अर्थात् तै० सं० भाष्य की भूमिका में सायणाचार्य कहते हैं कि

ब्राह्मणों ने सब मन्त्रों का विनियोग नहीं बतलाया। अतः ब्राह्मणान्तरों के पर्यालोचन से अन्य मन्त्रों का विनियोग जान लेना होगा इत्यादि। आगे ऋग्वेदभाष्य की भूमिका में सायणाचार्य का यह कहना है कि कल्पसूत्र से मन्त्रों के विनियोग का ज्ञान होता है, जो ब्राह्मणान्तरों में कहे होने से ग्राह्य होते हैं इत्यादि।

(iii) सायण काण्वसंहिता भाष्यभूमिका पृष्ठ—११५—"अत्र बौधायन उभयोर्वाक्ययोरेकमन्त्रत्वमाश्रित्य तन्न मन्त्रच्छेदने विनियुङ्क्ते। 'तामाच्छिनत्तीषे त्वोर्जे त्वेति।' आपस्तम्बस्तु तदभिसन्धाय मन्त्रभेदपक्षमपि कञ्चिदाश्रित्य विनियोगभेदमाह·· इषेत्वोर्जेत्वेति तामाच्छिनत्त्यूर्जेत्वेति संनमत्यनुमार्ष्टि वेति सन्नमतः सान्नाय्यनामकं दधिरूपं हविः कुर्वंत इत्यर्थः।

काण्वशिष्यास्तु मन्त्रभेदं विनियोगभेदं चाश्रित्येत्थमामनन्ति तामाच्छिनत्तीषेत्वेति वृष्टये तदाह यदिषे त्वेत्यूर्जे त्वेत्यनुमार्ष्टि यद्दृष्टया ऊर्क् रसो जायते ·· ।"

अर्थात्—बौधायन ने इसमें 'इषे त्वा ऊर्जे त्वा' इसको एक मन्त्र मानकर शाखाछेदन में नियुक्त किया है और आपस्तम्ब ने इनको दो भिन्न-भिन्न मन्त्र मानकर 'इषे त्वा' से शाखाछेदन करना चाहिये और 'ऊर्जे त्वा' से झुकाना चाहिये, सो यहां विनियोगभेद और मन्त्रभेद दिखाया है। यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक सूक्त के आदि में ऋग्वेद-सायणभाष्य में आश्वलायनश्रौतसूत्र के आधार पर तथा कहीं-कहीं लिङ्गोक्त विनियोग दिखाया गया है। अर्थात् सायणभाष्य में भी कहीं गोपथ, कहीं-कहीं अन्यत्र से प्रायः सब सूक्तों में प्रारम्भ में विनियोग दिखाया गया है। यजुर्वेदभाष्य—उव्वट महीधर कृत में भी कात्यायनश्रौतसूत्र के आधार पर विनियोग दर्शाया गया है।

पूर्वोक्त विनियोग प्रकरण का विवेचन

(१) उपर्युक्त इन सब स्थलों में निरुक्त और बृहद्देवता ही मुख्यतया विचार के योग्य हैं। बृहद्देवता में बहुत साधारण रीति से विनियोग का निरूपण मिलता है। केवल इतना ही कि मन्त्र कर्मों के विनियोग को कहता है तथा (८।१०) में मन्त्र अपने अर्थ द्वारा उक्त क्रिया के कहने में समर्थ होगा, 'शक्तिप्रकाशनेनैषां' का यही अर्थ है।

निरुक्त १।८। में जो विनियोग शब्द आया है, उसका अर्थ नियत वा नियुक्ति मात्र है। मन्त्र अपने पदों का अर्थ स्पष्ट कह रहा है कि मुझे यज्ञ के ऋत्विजों के कर्मों वा पृथक्-पृथक्विभाग करने में लगाओ, क्योंकि वह उसी को कह रहा है।

हां, निरुक्त ७।२० में लिखा है—'तदेतदेकमेव जातवेदसं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते। यत्तु किञ्चिदाग्नेयं तज्जातवेदसानां स्थाने युज्यते।'

अर्थात्—गायत्री छन्दवाला यह एक ही तीन ऋचाओं का सूक्त जातवेदा: देवतावाला समस्त ऋग्वेद में है। जो कोई अग्नि देवतावाला सूक्त है, वही जातवेदा: देवतावाले प्रकरण में लगा दिया जाता है, अर्थात् अग्नि और जातवेदा: दो भिन्न-भिन्न देवता हैं। एक देवतावाली ऋचाएं दूसरे देवतावाले कर्म में कैसे विनियुक्त (या युक्त) हो सकती हैं। अत: उसके स्थान में अग्नि देवतावाली ऋचाओं का सूक्त प्रयुक्त किया जाता है।

'तदेतदेकमेव वैश्वदेवं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते। यत्तु किञ्चिद् बहुदेवतं तद्वैश्वदेवानां स्थाने युज्यते। यदेव विश्वलिङ्गमिति शाकपूणिरनत्यन्तगतस्त्वेष उद्देशो भवति।' निरु० १२।४०।

इसका भी अर्थ वही है, केवल यहां जातवेदा: के स्थान में वैश्वदेव पद आया है। सो जहां कहीं वैश्वदेव देवतावाले सूक्त वा मन्त्रों की आवश्यकता पड़ती है या पड़े, वहां बहुदेवतावाले सूक्त या मन्त्रों का विनियोग कर लिया जाता है। शाकपूणि तो यहां तक मानते हैं कि जिस सूक्त वा मन्त्र में विश्व शब्द भी आ जावे, उसे भी 'विश्वेदेवा:' देवता वाला सूक्त मानकर विनियोग कर लेना चाहिये।

निरुक्त के इन दोनों स्थलों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मन्त्रों के विनियोग की प्रणाली यास्क के समय में भी थी। तथा उसमें अर्थ की प्रधानता ही मुख्य कारण थी। अन्य देवतावाले मन्त्रों को उसे भिन्न देवतावाले मन्त्रों के स्थान में विनियुक्त नहीं किया जा सकता था। विनियोग अर्थ की प्रधानता को लेकर ही हो सकता है। बृहद्देवता और निरुक्त के उपर्युक्त सब स्थलों से यह बात व्यक्त होती है।

(३) शेष रही सर्वानुक्रमणी की बात। इसमें मूल ऋक्सर्वानुक्रमणी में यद्यपि विनियोग विषय का स्पष्ट उल्लेख नहीं, तथापि प्रारम्भ में लिखा है—

'नह्येतज्ज्ञानमृते श्रौतस्मार्त्तकर्मप्रसिद्धिः । मन्त्राणां ब्राह्मणार्षेयछन्दोविद्याजनाध्यापनाभ्यां श्रेयोऽधिगच्छतीति ।'

अर्थात्—श्रौत स्मार्त्त कर्मों की प्रसिद्धि ऋषि देवता छन्दःज्ञान के विना नहीं हो सकती, ब्राह्मणों द्वारा ऋषि देवता छन्द का ज्ञान कल्याण का देनेवाला होता है। इसमें ब्राह्मणों को विनियोजक (विनियोग बताने वाला) कहा गया है। ऋक्सर्वानुक्रमणी की टीका में जहां-जहां विनियोग का उल्लेख है वहां-वहां उक्त सूक्त वा मन्त्र का विनियोग दिखाया गया है, और कुछ नहीं।

हां, यजुःसर्वानुक्रमणीकार ने बहुत स्पष्ट शब्दों में 'विनियोगः कल्पकारोक्तः' (पृ० ३) कहा है। पर उसका आरम्भ के प्रथम मन्त्र का विनियोग और देवता 'शाखा' है। अर्थात् देवता भी शाखा लिखा है, और शाखाछेदन में ही इस मन्त्र का विनियोग भी दिखाया गया है, जो ठीक नहीं, क्योंकि शतपथब्राह्मण में—

'यस्यै हविर्दीयते सा देवता' कहा गया है। अर्थात् जिसको हवि दी जाती है, उसे देवता कहते हैं। मीमांसा-शावर-भाष्य में लिखा है—

'यस्या वाचकं शब्दमुद्दिश्य स्मृत्वा वा हविस्तल्लक्ष्यमिति सङ्कल्पः क्रियते सा देवता भवति।' मी० १०।४।२३ शावरभाष्ये। इसका अर्थ भी यही है—जिस को लक्ष्य करके हवि दी जाती है, वही देवता कहाता है।

सो शाखा को हवि नहीं दी जाती है, यह प्राचीन वैदिक सम्प्रदायविशेषज्ञ जानते हैं, क्योंकि 'इदं शाखायै स्वाहा, इदं शाखायै इदन्न मम' ऐसा किसी भी श्रौत-गृह्य-मीमांसा या वेद के विद्वान् ने आज तक नहीं माना और न ही मान सकता है। ऐसी अवस्था में 'शाखा में विनियुक्त यह मन्त्र है' ऐसा मानना तो ठीक है। शाखा देवता नहीं। इस विषय में निरुक्त ७।४ की दुर्गाचार्य और आचार्य स्कन्द स्वामी की टीका भी देखी जा सकती है, जिसमें दोनों 'इषे त्वा' मन्त्र को शाखा में विनियुक्त मानते हैं।

यजुःसर्वानुक्रमणी के अगले दो उद्धरण मन्त्रविशेष वा कर्मविशेष का विनियोग ही दर्शाते हैं। हां, तीसरा उद्धरण बतलाता है कि देवता का ज्ञान मन्त्र के विनियोग से भी होता है, पर प्रधानतया देवता का ज्ञान

मन्त्र के अर्थ के आश्रित है। यह बात ठीक कही गयी है। इसी बात को यजु:सर्वानुक्रमणी के टीकाकार अनन्तदेव ने (पृष्ठ १४ पर) लिखा है।

(यह यजु:सर्वानुक्रमणी तो सम्भवत: उव्वट से भी पीछे की प्रतीत होती है। इस विषय में पाठक अधिक देखना चाहें तो यजुर्वेदभाष्य-विवरण पृष्ठ ५-६ की टि० देखें।)

यहां हमें इतना ही कहना है कि इन सर्वानुक्रमणीकारों ने विनियोग के विषय में कल्पकारों को ही आधारभूत मानकर तत्तत् मन्त्रों का विनियोग लिखा है। स्वयं इस विषय में कोई विशेष नहीं लिखा है।

अब हमारे उपर्युक्त उद्धरणों में वेदभाष्यकार स्कन्दस्वामी, माधव, भट्टभास्कर और सायणादि ने लगभग एक ही वात कही है कि मन्त्रों के विनियोग जाने विना मन्त्रों का अर्थ नहीं जाना जाता। इनमें स्कन्द ने वेदमन्त्रों के अर्थ को कर्म का अङ्गभूत माना अर्थात् यदि किसी मन्त्र के पद विनियुज्यमान क्रिया को नहीं कहते तो वह विनियोग ठीक नहीं होता, ऐसा कहा है। यह ठीक वात कही गई है। हां, भट्टभास्कर ने 'विनियोजकं ब्राह्मणम्' कहकर ब्राह्मणों के प्रतिपाद्य विषय को वहुत ही स्पष्ट कर दिया है। शेष रही सायणाचार्य की वात, इन्होंने अपने सब वेद तथा संहिताभाष्यों की भूमिका में एक बात अच्छी कही है कि ब्राह्मणग्रन्थों ने सब विनियोग नहीं कहे, दूसरे कल्पसूत्रकारों ने जो विनियोग कहे हैं, वे अपनी-अपनी शाखा के ब्राह्मणों से अतिरिक्त अन्य शाखाओं के निर्दिष्ट विनियोगों के आधार पर भी कहे हैं। सायण के मत में कल्पसूत्रों का उपयोग सबसे वड़ा वही है कि वे मन्त्रों के विनियोग वताते हैं।

इस विषय में हम यह कहना चाहते हैं कि जैसे शतपथब्राह्मण ने यजुर्वेद के केवल १८ अध्याय तक की तत्तत् मन्त्रों का विनियोग तत्तत् क्रियाओं में वतलाया, आगे क्यों नहीं वतलाया? इसका क्या कारण हो सकता है? और अठारह अध्याय तक ही मन्त्रों के अर्थ भी (प्रसङ्गत:) किये। क्या यह समझा जावे कि शतपथकार आगे मन्त्रों के अर्थ तत्-तत् क्रियाओं के अनुरूप नहीं समझते थे या क्या कारण रहा? यह बात वड़े विचार की है। जब 'अग्निचयन' आदि क्रियायें आगे भी वर्त्तमान हैं और कात्यायनश्रौतसूत्रकार ने समस्त वाजसनेयीसंहिता के सम्पूर्ण मन्त्रों का विनियोग दर्शाया है तो शतपथकार ने क्यों नहीं दर्शाया।

हमारा विचार है कि अठारह अध्याय से आगे मन्त्रों के अर्थ उक्त क्रिया-कलाप-कर्मों के साथ ठीक बैठते नहीं थे और कल्पकार कात्यायन आदि ने बलात् उन-उन मन्त्रों को उन-उन कर्मों में विनियुक्त किया। इस विषय पर हम पुनः कुछ विस्तार से विचार करेंगे।

अब हम यास्क-पाणिनि और पतञ्जलि क्या कहते हैं तथा यह विनियोग कैसे बहुदेवतावाद के पीछे चला, यह दर्शाते हैं।

यास्क-पाणिनि-पतञ्जलि और यज्ञ

निश्चय ही ब्राह्मणग्रन्थ (सब नहीं) यास्क-पाणिनि-पतञ्जलि से पूर्व के हैं। ब्राह्मण-काल के यज्ञ का स्वरूप क्या था, यह एक गहन विचारणीय विषय है, इस पर विशेष गवेषणापूर्ण विवेचन होने की आवश्यकता है। पुनरपि शतपथ के अध्ययन से उसमें कई स्थलों में यज्ञों के आध्यात्मिक स्वरूप का निर्देश हमें मिलता है। 'यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' जो पिण्ड में सो ब्रह्माण्ड में इसकी ओर निर्देश अवश्य मिलते हैं। यास्क को निरुक्त का १ काण्ड अर्थात् ६ अध्याय केवल देवता के निरूपण में लिखने पड़े। इसमें (माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। निरुक्त ७।४।।) उस समय तक दैवत काण्ड में व्याख्यात १५१ देवतावाची शब्द एक आत्मा के अङ्ग-प्रत्यङ्ग (अवयव) समझे जाते थे, पर निरुक्त में उनकी पृथक्-पृथक् व्याख्या की गई। यह बहुदेवतावाद का द्योतक है। यास्क के समय में भी बहुदेवतावाद का सिद्धान्त चल पड़ा था। इसीलिये यास्क ने (नि० ७।२० में) जातवेदवाला एक ही गायत्र सूक्त ऋग्वेद में होने से आग्नेय (अग्निदेवताक) सूक्तों का विनियोग होता है, ऐसा कहा तथा निरुक्त १२।४० में वैश्वदेव गायत्रसूक्त भी समस्त ऋग्वेद में एक ही है, उसके स्थान में बहुदेवतावाले सूक्तों का विनियोग कर लेना चाहिये ऐसा लिखा, यास्क के इस वचन से तथा निरुक्त के (i) 'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति। निरुक्त ७।१।' तथा (ii) 'अथापि यज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति; तदेतेनोपेक्षितव्यम्। ते चेद् ब्रूयुर्लिङ्गज्ञाः स्म इति ··वायुलिङ्गं···चेन्द्र-लिङ्गं चाग्नेये मन्त्रे।' निरुक्त १।१७।। इत्यादि बहुत से स्थलों के देखने से इतना तो स्पष्ट है कि यास्क के काल में यज्ञों का बहुत कुछ विस्तार था। यज्ञ के लिए देवता की आवश्यकता है और वे पृथक्-पृथक् हैं

अर्थात् देवताओं की पृथक् सत्ता का सिद्धान्त अवश्य था चाहे वे एक ही आत्मा के पृथक्-पृथक् अङ्ग माने जाते थे।

पाणिनि मुनि के 'सास्य देवता' (अ० ४।२।२४) 'तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ'(अ० ५।१।१२) इत्यादि सूत्रों के निर्देश से भी यही विदित होता है कि जो हम ऊपर कह चुके। भगवान् पतञ्जलि ने भी यज्ञ-विषय में पर्याप्त कहा है। 'वेदानधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति' पुराकल्प में ऐसा था कि वेदारम्भ संस्कार के पश्चात् ब्राह्मण व्याकरण पढ़ते थे। आज-कल वैसा नहीं, वेद पढ़कर झट वक्ता बन जाते हैं, ऐसा लिखा।

आगे महाभाष्यकार ने व्याकरणाध्ययन के मुख्य ५ प्रयोजनों में ('ऊहः' ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः) असन्देह में 'याज्ञिकाः पठन्ति' स्पष्ट लिखा है। आगे के तेरह प्रयोजनों में भी अधिकतर महाभाष्यकार ने यज्ञ का ही प्रसङ्ग दिखाया है। इससे हम यह कहना चाहते हैं कि यास्क, पाणिनि और पतञ्जलि के समय में यज्ञ का बहुत विस्तार था। उस समय में यास्क द्वारा दर्शाये उपर्युक्त दोनों प्रमाणों (निरु० ७।२० तथा १२।४०) का बड़ा महत्त्व है। अतः यास्क-प्रदर्शित देवतावाद पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना होगा।

बहुदेवतावाद से विनियोग का स्वरूप बदला, मीमांसाकार जैमिनि का मत

जैसा हमने ऊपर लिखा, यास्क ने एकात्मदेवतावाद का निरूपण करते हुए भी बहुदेवतावाद को माना है। इसी बात का महर्षि जैमिनि ने अपने मीमांसादर्शन के ९।१।४ तथा १०।४।२३ देवताधिकरण में शब्द-मयी देवता का सिद्धान्त स्थापित करते हुए निरूपण किया है। अर्थात् मन्त्र (शब्दमय) को ही देवता मान लिया और साथ ही इन्द्र और महेन्द्र को पृथक्-पृथक् मानकर बहुदेवतावाद का ही प्रतिपादन किया। मीमांसा के इस प्रकरण में विग्रहवती (शरीरधारी) देवता नहीं होती, ऐसा सिद्धान्त निश्चित किया गया है। जैसे मुसलमान फरिश्तों की एक जातिविशेष मानते हैं और उन्हें आकाश में घूमते हुए मानते हैं, वैसे ही पौराणिकमतावलम्बी शरीरधारी (विग्रहवती) मानते हैं, जो आकाश में घूमते रहते हैं, ऐसा वे मानते हैं। सो जैमिनि मुनि ने इस बात का खण्डन किया है।

विधिशब्दस्य भावः स्यात् तेन चोदना। मी० १०।४।२३॥

इस सूत्र द्वारा शब्दमयी देवता का सिद्धान्त निश्चित किया है। मीमांसाशास्त्र का टीकाकार शबरस्वामी लिखता है—

'का पुनरियं देवता नाम······देवतामप्युपकारिण्यां चोदितायां शब्दस्यैव यज्ञे सम्बन्धः। शब्द एव हविषा सम्बध्यते तत्सम्बन्धाद् अर्थोऽपि देवता भविष्यति। यस्य हि शब्दो हविषा तादर्थ्येन सम्बध्यते सा देवता। शब्दे कार्यस्यासम्भवाद् अर्थे कार्यं विज्ञायते। इह तु शब्द एव कार्यं सम्भवति।' —मी० शाबरभाष्य १०।४।२३ देवताधिकरणे।

इसी विषय में भाट्टदीपिका के कर्त्ता खण्डदेव ने विग्रहवती देवता का खण्डन बहुत ही विस्पष्ट और कांपते-कांपते शब्दों में किया है—

'अतः कथमपि न विग्रहादिस्वीकारः। किन्तु शब्दमात्रं देवता अर्थस्तु प्रातिपदिकानुरोधात् चेतनोऽचेतनो वा कश्चित् स्वीक्रियते। न तु विग्रहादिमान्। उपासनादौ परमध्यानमात्रमाहार्यं तस्येति जैमिनिमत-निष्कर्षः। मम त्वेवं वदतोऽपि वाणी दुष्यति इति हरिस्मरणमेव शरणम्।

शबर तथा खण्डदेव दोनों के लेख से स्पष्ट है कि वे देवता को शब्द-मयी मानते हैं और यही जैमिनि का मत है, ऐसा कह रहे हैं। खण्डदेव लिखता-लिखता कांप गया है क्योंकि यह देवता शरीरधारी होता है, ऐसा मानता होगा। उसने कहा—

'इसलिये देवता शरीरधारी (विग्रहवती) होता है, यह बात किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं की जा सकती। शब्दमात्र देवता है, यही मानना पड़ता है। शब्द बोलने से अर्थ का बोध होता है सो प्रातिपदिक के अनुसार चेतन या अचेतन कोई भी माना जा सकता है। शरीरधारी तो माना ही नहीं जा सकता। उपासनादि में उसका ध्यान (विना मूर्ति के ही) किया जा सकता है, यह जैमिनि मुनि का मत है। यह सब (सत्य) कहते हुए मुझे पाप लग रहा हो, तो इसके लिये प्रभु का स्मरण ही मेरे लिये शरण है।'

बहुदेवतावाद के सिद्धान्त से आनेवाली बाधा को जैमिनि मुनि ने शब्दमयी देवता मानकर दूर किया। विग्रहवती देवता का विचार यास्क के काल में ही चल पड़ा था, ऐसा तो दैवत काण्ड के प्रथम अध्याय से विदित होता है, पर शरीरधारी भी देवता (मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय) हो सकते हैं; अशरीरधारी भी। अतएव निरुक्तकार ने देवताओं को

दोनों प्रकार का माना। पीछे से लोगों में विग्रहवती (शरीरधारी) ही देवता होते हैं, ऐसा विचार चल पड़ा, जिसका प्रतिवाद जैमिनि मुनि को अपने मीमांसा शास्त्र में करना पड़ा।

मीमांसा और बहुदेवतावाद

जैसे निरुक्तकार के प्रतिपादित 'माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते' निरुक्त ६।४ एक आत्मा को देवता मानकर भिन्न-भिन्न १५१ देवताओं का निरूपण यास्क ने ६ अध्यायों में किया, उसी प्रकार जैमिनि मुनि ने शब्दमयी देवता मानकर भी इन्द्र और महेन्द्र को पृथक्-पृथक् देवता माना। मीमांसा २।१।१६ सू० में 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम्' (ऋ० १।२।२६) इस मन्त्र पर स्तुतशस्त्राधिकरण (मी० २।१। १३-२९) में विचार करते हुए शबरस्वामी ने लिखा है—

'न चायमिन्द्रशब्दोऽभिहितवत् स्वार्थं तद्धितार्थेन सम्बध्येत विहितवच्च परार्थं सहत्वेन सम्बद्धुमनूद्येत। विस्पष्टश्चायमन्योऽर्थो महेन्द्रो भवति ·· तस्माद् देवतान्तरमिन्द्रान् महेन्द्रः।··· तथा वेदस्यादिमत्ता दोषः प्रसज्येत। अतोऽन्य इन्द्रो महेन्द्रात्।'

अर्थात् इन्द्र से महेन्द्र देवतान्तर है। महान् गुणवाला इन्द्र ही महेन्द्र होता है सो नहीं, यह उपर्युक्त लेख का भाव है। जब विशेषण-विशिष्ट देवताओं को भिन्न देवता माना जाने लगा, तब से विनियोगभेद भी होता गया। यह बात निरुक्त के काल में भी चल पड़ी थी, जैसा कि हम ऊपर दिखा चुके हैं। जब मन्त्रों के अर्थ की प्रधानता न रही, उनके आधार पर विनियोग की प्रक्रिया बिगड़ गई तब ऐसा हुआ, यह हमारा कहना है। इन्द्र और महेन्द्र को पृथक् मानने की प्रवृत्ति भी तभी हुई।

इतना ही, मी० १०।४।२३ के सूत्र के शाबरभाष्य में लिखा है—

'सन्ति चाग्नेरभिधानानि अग्निः, शुचिः, पावकः, धूमकेतुः कृशानुः, वैश्वानरः, शाण्डिल्य इत्येवमादीनि। तत्र सन्देहः। वाचिषु निगमेषु किं येन केनचिदग्नेः शब्देनाभिधानं कर्तव्यमुत विधिशब्देनाग्निशब्देनेति। अग्निशब्देन हविषः सम्बन्धः। नास्ति प्रसङ्गः शुच्यादीनां शब्दानामिति। तस्मान् मन्त्रत्वे विधिशब्द उपादातव्य इति। उच्यते न त्वेवं शब्द एव देवता प्राप्नोति। अत्रोच्यते। नैतदस्माभिः परिहर्त्तव्यम्। नहीदमुच्यमानमस्मत्पक्षं बाधते। सुतरां शुच्यादीनामप्रसङ्ग इति।'

अर्थात् अग्नि देवता को आहुति उसके पर्यायवाची शुचि, पावक,

धूमकेतु आदि देवताओं को नहीं दी जा सकती, क्योंकि अग्नि और शुचि आदि भिन्न देवता हैं।

हम पूछते हैं कि इन्द्र और महेन्द्र को या अग्नि और शुचि को पृथक् माननेवाले इन्द्र देवतावाली ऋचा से भला अग्निसम्बन्धी गार्हपत्याग्नि के उपस्थान का विधान कैसे कर सकते हैं—

'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' यह ब्राह्मणों में सर्वत्र विधान है। मीमांसाशास्त्र में भी इस पर बहुत कुछ विचार किया गया है। भला बताइये इन्द्र देवतावाली ऋचा से गार्हपत्याग्नि का उपस्थान कैसे होगा ? जब कि ब्राह्मणों में तथा यास्क के मत में भी—

'यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदतीति' (निरु० १।१६) स्पष्ट ही मन्त्र के पदों का जो अर्थ है, वही उस क्रिया में लग सकता है, ऐसा कहा है। यह क्या विनियोग हुआ। काल्पनिक विनियोग का प्रारम्भ यहीं से हुवा, ऐसा समझना चाहिये।

यह सब गौणी कल्पना से ही किया गया, ऐसा ही कहना पड़ता है। अर्थ की प्राचीनता नष्ट होने पर गौणी वृत्ति से मन्त्रों का विनियोग चल पड़ा, वेदार्थ में यज्ञ की प्रधानता रहने के कारण यह सब हुआ, ऐसा समझना चाहिये। नहीं नहीं ! यज्ञ ही वेद का अर्थ है, यह वाद यहां तक परिणत हो गया। शतपथब्राह्मण तथा अन्य ब्राह्मणों ने सब मन्त्रों का विनियोग क्यों नहीं कहा ? शतपथ ने केवल १८ अध्याय का विनियोग क्यों बताया ? अन्य ब्राह्मणों ने भी बहुत कम मन्त्रों का विनियोग बताया। इससे तो यह विदित होता है कि यज्ञ में जो मन्त्र बोले जावें, वह-वह अपने अर्थ के अनुसारी होने से उन-उन क्रियाओं में विनियुक्त हों और जो नहीं हो सकें वे नहीं। इसी से ब्राह्मणग्रन्थों में सब मन्त्रों का विनियोग नहीं लिखा। श्रौतकारों ने भी अपनी-अपनी शाखाओं के सब मन्त्रों का विनियोग नहीं दिखाया। इससे भी हमारी उपर्युक्त धारणा ठीक सिद्ध होती है। हां, जो कात्यायनश्रौतसूत्र ने यजुर्वेद के अठारह अध्याय से आगे का भी विनियोग दिखाया है, इसका कारण भी एक और धारणा समझा जा सकता है। वह है वाचस्तोमपारिप्लव, जिसमें सभी मन्त्रों अर्थात् मन्त्रमात्र के विनियोग की कल्पना कर लेनी चाहिये, ऐसा सूत्रकारों ने मार्ग निकाला। यह एक सुगम रास्ता निकाला गया, जो इस प्रकार है—

सब मन्त्रों के विनियोग का एक नवीन मार्ग निकाला गया

जब देवतावाद का स्वरूप ऐसा हो गया कि इन्द्र महेन्द्र भी भिन्न-भिन्न देवता माने जाने लगे और मन्त्रों का विनियोग होना ही चाहिये, यह धारणा बन गई, तो ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों से बचे मन्त्रों की भी कोई गति होनी चाहिये, यह प्रश्न सामने आया। इन का भी कोई विनियोग होना ही चाहिये, वह अर्थ की दृष्टि से सङ्गत होता हो या न होता हो। तब एक मार्ग निकाला गया, जिसे वाचस्तोम पारिप्लव कहते हैं, जो इस प्रकार है—

(१) सायण ऋग्वेदभाष्यभूमिका पृष्ठ ५०—

'यः स्वाध्यायमधीयीतैकामप्यृचं यजुः साम वा तद् ब्रह्मयज्ञः' (तै० आ० २।१०।६) सोऽयं ब्रह्मयज्ञजयो अग्निमीडे इत्याम्नायक्रमेणैवानुष्ठेयः तथा सर्वा ऋचः सर्वाणि यजूंषि सर्वाणि सामानि 'वाचस्तोमे पारिप्लवं शंसति' इति विधीयन्ते तथा आश्विने सम्पत्स्यमाने 'सूर्यो नोदियादपि सर्वा दाशतयीरनुब्रूयात् इति' (आप० श्रौतसूत्र १४।१।२) विधीयते।··· 'त्रिः स्वाध्यायं वेदमधीयीत' (तै० आ० २।१६) इति प्रायश्चित्तस्य वेदपारायणं विहितम्।

इसमें तै० आरण्यक के प्रमाण से ब्रह्मयज्ञ में सब मन्त्रों का विनियोग है तथा वाचस्तोम में 'जब तक सूर्योदय न हो सम्पूर्ण संहिताओं का विनियोग होता है, प्रायश्चित्त में भी।' ऐसा सायण आचार्य का लेख है।

(२) इसमें मीमांसा शावरभाष्य २।१।२३ पृष्ठ ४-२७ आनन्दाश्रम सं० में लिखा है—

'सर्वेषां वाचस्तोमे सर्वा ऋचः सर्वाणि यजूंषि सर्वाणि सामानि वाचस्तोमे पारिप्लवं (अश्वमेधे) शंसति इति तथा यस्याश्विने शस्यमाने सूर्यो नोदियादपि सर्वा दाशतयीरनुब्रूयादिति।···'

इसमें भी वाचस्तोम में समस्त ऋग्वेद, यजुः और साम का विनियोग कहा गया है।

ये बातें वेद के अर्थ को पीछे फेंककर मन्त्रों का यज्ञ में ही उपयोग होता है,इस धारणा की जनक बनीं। जैसे विनियोग के बिना कोई मन्त्र मन्त्र ही नहीं रह सकता, न जाने ऐसा संशय क्यों उत्पन्न हो गया है।

इसी बात ने वेद के प्रति अनास्था को उत्पन्न किया, जो महात्मा बुद्ध से चली और बढ़ती गई। इतनी बढ़ी कि एक शताब्दी पूर्व तक भारत से क्या, संसार से वेदार्थ का लोप हो गया। हमारी दृष्टि में इसका आरम्भिक मूल कारण ब्राह्मणग्रन्थ ही समझने चाहियें, जब अर्थ को छोड़कर विनियोग का प्रारम्भ हुआ।

ब्राह्मणों वा श्रौतकारों का परस्पर विरोध

जब 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' सिद्धान्त मान लिया गया, जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, तब एक और विषमता उत्पन्न हो गई। परस्पर भिन्न-भिन्न देवता का विनियोग मान लेते तो भी हानि न थी। जिसे जो रुचे वह माने। पर इन्होंने तो परस्पर में एक-दूसरे का घोर खण्डन करना आरम्भ कर दिया। ब्राह्मणग्रन्थों की यह बात बहुत ध्यान से दिखाने योग्य है।

(१) शतपथ आदि ब्राह्मणों में—

(i) तदु तथा न कुर्यात्।

(ii) तद्वैके पृ० ३५।१८।२५।२६।२९ (शत० १।४।४।७ पृ० ३९) का एक नाद सा चल पड़ा, जिसको सभी ब्राह्मणों में देखा जा सकता है। इसका यह अर्थ है कि जो क्रियायें किन्हीं मन्त्रों द्वारा तैत्तिरीय संहितावाले करते थे, उनका शतपथकार ने स्पष्ट खंडन कर दिया कि 'इनका ऐसा करना ठीक नहीं है, तुम लोग वैसा नहीं करना। जैसा उन्होंने किया'। 'तदु तथा न कुर्यात्' यह वाक्य शतपथ में केवल प्रथम काण्ड में ही ४० पृष्ठों में चार बार आया है। देखो, पृ० १८, २३, २५, २९।

'तदु तथा न कुर्य्यात्' 'तद्वैके' बार-बार कहा है। अपने से भिन्न शाखा की क्रिया के खंडन करने का क्या तात्पर्य हैं? भिन्न शाखावालों की क्रिया भिन्न रह सकती है, फिर खंडन क्यों किया। शतपथकार को खण्डन करने पर भी सन्तोष न हुआ? आगे और भी कहते हैं—'तदु तथा न ब्रूयात्। मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति व्यृद्धं वै तद् यज्ञस्य यन्मानुषं' (शतपथ अजमेर संस्करण, पृ० २९) अर्थात् वैसा न बोले जो ऐसा बोलते हैं, वे यज्ञ में मानुष (प्रयोग) करते हैं। मानुष करना यज्ञ का नाश करना है इत्यादि।

इस प्रकार के पाठ केवल शतपथब्राह्मण में ही बहुत अधिक संख्या

में हैं, इतना ही नहीं, अपितु सब ब्राह्मणों में और बहुसंख्या में हैं। विस्तार-भय से हम इतना ही उपस्थित करते हैं। ऐसे स्थलों पर पाठक स्वयं विचार करें। ब्राह्मणों को वेद माननेवाले तो इस बात का खण्डन तीन काल में नहीं कर सकते। यह बात जहां भिन्न-भिन्न शाखाएं निर्माण होने का कारण बनी, वहां देवता और विनियोग आदि के भेद की जननी भी कही जा सकती है। यह भेद आगे बढ़ता-बढ़ता श्रौतसूत्रों और गृह्यसूत्रों के परस्पर भेद तथा विरोध के रूप में भी परिणत हो गया, जिसका निदर्शन हम संक्षेप से यहां करते हैं। एक ही मन्त्र का भिन्न-भिन्न विनियोग दिखाने से पता लगता है कि यह विनियोग अर्थ समझने में साधक नहीं, अपितु बाधक ही हो रहा है। जब विनियोग से अर्थ की प्रतीति होती है तो क्या श्रौतसूत्रकारों ने उस-उस मन्त्र का अर्थ परस्पर विरुद्ध ही समझा ? इनके परस्पर भेद के कुछ उदाहरण हम यहां दर्शाते हैं—

१—'चत्वारि शृङ्गा०' का विनियोग—

'चत्वारि शृङ्गा' (ऋ० ४।५८।३) इस मन्त्र का विनियोग जो श्रौत-कारों और गृह्यकारों ने बतलाया है, सो निम्न प्रकार है—

(१) निरुक्तकार यास्क ने इसे यज्ञपरक बतलाया है, तद्यथा—चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एते।··· त्रिधा बद्धो मन्त्रब्राह्मणकल्पैः··· महान् देवो यद्यज्ञः' निरु० १३।७।। गोपथब्राह्मण में भी इसकी ऐसी ही व्याख्या है।

(२) महाभाष्य पस्पशाह्निक पृ० ३७।३८—चत्वारि शृङ्गा चत्वारि पदजातानि ··· द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च···सप्त विभक्तयः ···महान् देवः शब्दः।

(३) बौधायनगृह्यसूत्र ३।१६।२ पृ० ३१० ·· ···'अग्निमुपसमाधाय सम्परिस्तीर्य अग्निमुखात् कृत्वा पक्वाज्जुहोति इति पुरोनुवाक्या-मनूच्य ···।'

(४) वैखानसश्रौतसूत्र —चत्वारिशृङ्गेति तिसृभिस्तिस्रः शमीमयी-र्घृताक्ता समिधः (वैखानसश्रौतसूत्र १२, १४ पृ० १५)।। अग्न्याधेय प्रकरण में समिदाधान में विनियुक्त है।

(५) तै० आरण्यक १०।१०।२ पृ० ७२३ पूना सं०—

'चत्वारि शृङ्गा...शृङ्गा प्रणवस्य यान्यकारादीनि देवः परमेश्वरः मर्त्यान् मनुष्यदेहान् आविशेश सर्वतः प्रविष्टः स एव इह आनखाग्रेभ्यः।'

यहां इस मन्त्र की परमेश्वरपरक व्याख्या की गई है। यहां इसका विनियोग उपासना में किया गया है, ऐसा ही समझना चाहिये।

(६) ऋक्सर्वानुक्रमणी में—

(क) 'सौर्यं वापं वा गव्यं वा घृतस्तुतिर्वा।' घृतस्तुति देवता कहा है। सो इस मन्त्र को बोलकर घृतस्तुति का भी विधान है।

(ख) बृहद्देवता में—'आदित्यं वा ब्राह्मणोक्तं प्रदिष्टम् अपां स्तुतिं यदि वा घृतस्तुतिं' इसमें भी घृत वा जल की स्तुति देवता कहा है, सो ये दोनों स्तुति की जाती होंगीं।

(७) ऋग्वेद सायणभाष्य में आश्वलायनश्रौतसूत्र ८।६ तथा ८।९ के आधार पर 'व्यूढे दशरात्रे सप्तमे अहनीदमेव सूक्तमाज्यम्' ऐसा कहा है। पाठक इस एक मन्त्र में देखें कि गृह्य और श्रौतसूत्रों का भिन्न-भिन्न विनियोग है। निरुक्त और महाभाष्यकार के भी भिन्न-भिन्न देवता और विनियोग हैं। सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता का भी परस्पर कुछ-कुछ भेद है। तैत्तिरीय आरण्यक में यह परमेश्वर की उपासना में विनियुक्त है।

(८) कुमारिलभट्ट तन्त्रवार्तिक—पृ० ६३—

'चत्वारिशृङ्गेति रूपकद्वारेण यागस्तुतिः। कार्यकाल उत्साहं करोति। हौत्रे त्वयं विषुवति होतुराज्ये विनियुक्तः। तस्य चाग्नेयत्वादह्नश्चादित्यदैवतत्वसंस्तवादादित्यरूपेणाग्निस्तुतिरूपं वर्ण्यते। तत्र चत्वारि शृङ्गेति दिक्सयामानां ग्रहणम्। 'त्रयो अस्य पादा इति शीतोष्णवर्षकालाः॥'

शन्नो देवी० (ऋ० १०।१०।४) का विनियोग

(१) ऋग्वेदसायणभाष्ये—'गतः सूक्तविनियोगः।'

(२) अथर्व सायणभाष्ये १।६।१—'आपो हि ष्ठा' इति सूक्तवत् सर्वत्र विनियोगोऽनुसन्धेयः।'

(३) तै० ब्रा० १।२।१।१ 'शन्नो देवी०'—पृ० ६९ भट्टभास्कर—'अद्भिरवोक्षसि शन्नोदेवीरिति गायत्र्या।'

(४) तै० ब्रा० २।५।८।५ प्रवर्ग्यस्याभिषवप्रकरणे, पृ० २७४।

(५) तै० आरण्यके ४।४२।४ उपासनाप्रकरणे एव।

(६) कौशिकगृह्यसूत्रे ९।७ टि०–पृ० ३९। 'शान्त्युदकप्रारम्भे समाप्तौ च शन्नो देवी सावित्री च प्रयोक्तव्या' इत्यथर्वपद्धतिः।

(७) आपस्तम्बश्रौतसूत्र ५।४।१ पृ० ४८१ 'शन्नो देवी···इत्यद्भिरवोक्ष्य तस्मिन्नुदीचीनवंशं शरणं करोति।'

(८) लाटचायनश्रौतसू० ५।३।१३—पृ० ३७१—

(क) 'शन्नो देवीरित्यप उपस्पृश्यानपेक्षं प्रत्याव्रजेयुः।'

(ख) टीकाकारोऽग्निस्वामी—'शन्नो देवीरित्येतयर्चा अप उपस्पृष्ट्वा येन पथा गताः तं पन्थानमनपेक्षं प्रत्याव्रजेयुः।'

(९) शांखायनश्रौतसूत्र ४।११।१९, पृ० २२२—'शन्नो देवीरभिष्टय इत्यादिकाभिश्चतसृभिर्ऋग्भिरुरःस्थलमभिमृशेत्।'

(१०) हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र १।५।७ पृ०—'शन्नो देवी ··स्रवन्तु नः इति मार्जयेत्' ब्रह्मचार्युपनयने इति।

इन सब स्थलों में जल से स्पर्श मार्जनादि सामान्य विधान है। पर यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि भिन्न-भिन्न प्रकरणों में यह मन्त्र विनियुक्त है। इससे विनियोग भेद इस मन्त्र का है, यह विदित हो जाता है। अथर्ववेद सायणभाष्य में तो इसका विनियोग खोजना चाहिए, ऐसा लिखा है। तैत्तिरीयारण्य में उपासना में यह विनियुक्त है। लाटचायनश्रौतसूत्र में आचमन करके जिस मार्ग से जाना, उसी मार्ग से लौटने में विनियुक्त है। शांखायनश्रौतसूत्र में छाती पर जल प्रोक्षण में विनियोग है। हिरण्यकेशी में यज्ञोपवीत में। क्या ये विविध विनियोग परस्पर भिन्न नहीं हैं?

'दधिक्राव्णो अकारिषम्' का विनियोग

'दधिक्राव्णो अकारिषम्०' ऋ० ४।३९।६॥

(१) ऋ० सायणभाष्य—'सूक्तविनियोगो लैङ्गिकः।'

(२) अथर्ववेद सा० भाष्य—'सोमयागे दधिक्राव्ण इत्यस्या ऋच आग्नीध्रीये दधिभक्षणे विनियोगः।'

(३) यजु० महीधरभाष्य—'महिषीमुत्थाप्य पुरुषा दधिक्राव्ण इत्याहुः।'

(४) आश्वलायनश्रौतसूत्र—६।१२।१२॥

(क 'दधिक्राव्णो अकारिषमित्याग्नीध्रीये दधिद्रप्सान् भक्षयन्ति ।'

(ख) 'पवित्रेष्टयाऽनुवाक्या' आ० श्रौत० २।१२।५।

(५) तै० सं० भाष्य १।५।११।४—भट्टभास्कर—

'त्रिहविष उत्तमस्य दधिक्राव्णे चरुमित्यस्य पुरोऽनुवाक्या दधिक्राव्ण इत्यनुष्टुप् ।'

(ख) तै० सं० भाष्य—७।४।१।६४—भट्टभास्कर—

'सर्वे सुरभिमतीमृचं जपन्ति दधिक्राव्ण इत्यनुष्टुभा ।'

(६) (क) ऐ० ब्रा० ७।३३।१ 'दधिक्राव्णो अकारिषमित्येतयर्चा सस्वाहाकारस्यानुवषट्कृते···।'

(ख) सायणभाष्य—'दधिक्राव्ण···इत्यादिना दर्भं परिधीनामन्तः प्रक्षिपेत् ।'

(ग) ऐ० ब्रा० ६।३६।८—'इति दाधिक्रीं शंसति ।'

(७) शत० ब्रा० १३।२।६।६—

'दधिक्राव्णो अकारिषमिति सुरभिमतीमृचमन्ततोऽन्वाहुर्वाचमेव पुनते । नैभ्यः प्राणा अपक्रामन्ति ।'

(८) तै० ब्रा० ३।६।७।५ 'दधिक्राव्णो अकारिषमिति सुरभिमतीमृचं वदन्ति ।' सुरभीन् प्राणान् आत्मनि स्थापयन्ति ।

(६) गोपथ ब्रा० २।६।१६ —'अथ दाधिक्रीं शंसति दधिक्राव्णो अकारिषमिति ।'

(१०) पञ्चविंशब्राह्मण १।६।१७ अनुवाद—

'दधिक्रावन् की मैंने स्तुति की। जो विजयी और तीव्र गतिवाला अश्व है। वह हमारे मुख को सुरभिगन्ध से युक्त करे और हमारे सुख की वृद्धि करे ।'

(११) लाटचायनश्रौतसूत्र २।७।१०—(क) 'माध्यन्दिनेन स्तुत्वा सत्रेषु दधिघर्मस्य भक्षयेयुः समुपहूय दधिक्राव्ण इति ।'

(ख) अग्निस्वामी टीकाकार—'माध्यन्दिनेन पवमानेन स्तुत्वा, सत्रेषु दधिदेशस्यैकदेशं भक्षयेयुः सर्वे समुपहूय न मिथो दधिक्राव्ण इत्येतयर्चा ।

(१२) लाटचायनश्रौतसूत्र २।११।२३—

'आग्नीध्रीयं गत्वा दधिभक्षं भक्षयेयुः । असमुपहूय दधिक्राव्ण इति ।'

(ख) अग्निस्वामी टीका—आग्नीध्रीयं परिश्रितं गत्वा दधिभक्षं भक्षयेयुः । असमुपहूय···समुपह्वानपूर्वकाः । तस्य प्रतिषेधः··· ··।

(१३) शाङ्खायनश्रौतसूत्र भा०—१२।२५।१—'आहननस्यानन्तरं दधिक्राव्णोऽकारिषमित्येकां शंसेत्।'

(१४) कात्यायनश्रौतसूत्रम्—१०।८।९ 'दधिक्राव्ण इत्याग्नीध्रे दधिभक्षणम्।'

(१५) गोभिलगृह्यसूत्र २।६।१६ 'दध्नः प्राश्नन्ति दधिक्राव्णोऽकारिषमिति।'

(१६) शाङ्खायनगृह्यसूत्र १।१७।१ 'दधिक्राव्णोऽकारिषमिति दधि सम्पिबेयाताम् इति।' 'हुतशेषाद्धविः प्राश्नन्ति दधिक्राव्णोऽकारिषमित्येतया' शां० गृ० ४।५।१०।

(१७) पारस्करगृह्यसूत्र—१।१०।१६ 'दधिक्राव्णो इति दधि भक्षयेयुः।'

ध्यान रहे यहां पारस्करगृह्य में उपाकर्म विधि में दधिभक्षण में विनियोग है।

इसी प्रकार हमने वेदवाणी वेदाङ्क पञ्चमवर्ष पृष्ठ—११८ से १२१ तक ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र 'अग्निमीडे पुरोहितम्' का १९ प्रकार का भिन्न श्रौत गृह्यादि का विनियोग दर्शाया। पाठक उसे देख सकते हैं। उसे देखकर भी हमारी उपर्युक्त धारणा ही सिद्ध होती है। निःसन्देह इस मन्त्र का विनियोग श्रौत और गृह्यकारों ने दधिभक्षण आदि में किया है, जब कि मन्त्र में दधिक्रावन्=अश्व=घोड़े का नाम है न कि दधि (दही) का। इस मन्त्र का विनियोग गहरी दृष्टि से देखा जावे तो दधिभक्षण में होता हुआ भी भिन्न-भिन्न क्रियाओं में दधिभक्षण आदि में विनियुक्त है। अश्वमेध के प्रकरण में भी दधिभक्षण में इस मन्त्र का विनियोग और भी आश्चर्य की बात है। इस मन्त्र ने तो सब श्रौत और गृह्यकारों की बुद्धि का चमत्कार हमारे सामने उपस्थित किया है। जो स्वयं ब्राह्मणकारों तथा निरुक्त के सिद्धान्त के विपरीत है। जब तक दधिक्रावन् शब्द में दधि से दही का अर्थ न निकले, तब तक इसका दधिभक्षण में विनियोग सुसङ्गत नहीं बैठता। यह बात विद्वानों के सामने विशेष विचारणीय है। हमें तो इसका 'दही' अर्थ समझ में आता नहीं। इस प्रकार की बात से श्रौत आदि ग्रन्थों के कर्त्ताओं के विषय में भी अनास्था उत्पन्न होने की सम्भावना है। हां, दधिक्रावा सृष्टि के आरम्भ में कुछ और रहा हो अर्थात् आधिदैविक प्रकरण में इसका कोई दूसरा

अर्थ विशेष निकल आए तो दूसरी बात है। अभी इस बात में हमारा कहना इतना है कि हमारी समझ में अभी यह बात नहीं बैठी कि दधि और दधिक्रावन् का कोई सम्बन्ध है। आगे की खोज का यह विषय हम समझते हैं।

इतना तो समझ में आ रहा है कि पारदर्शी दयानन्द हमें इन ब्राह्मणग्रन्थों से भी पहले ले जाना चाहते हैं। इसमें बड़े-बड़े रहस्य हैं, अतः उस महान् आत्मा की स्मृति में हमारा मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है। विनियोग के विषय में ऋषि दयानन्द की धारणा के विषय में हम अन्त में कुछ कहेंगे।

गृह्यसूत्र और विनियोग

श्रौतसूत्रों के होते हुए गृह्यसूत्रों की क्या आवश्यकता पड़ी, यह एक पृथक् विचारणीय विषय है। यहां इतना ही कह सकते हैं कि जब श्रौत में सर्वसाधारण की सामर्थ्य न रही वा शिथिलता आने लगी, तब गर्भाधान से लेकर मृतकसंस्कार तक सर्वसाधारण में वेदशास्त्र का सञ्चार होता रहे, इस भावना से सोलह संस्कारों की रचना हुई। अथवा ऐसा भी हो सकता है कि प्रारम्भकाल में ही मन्त्रों द्वारा नामकरणादि होता था। इसका बीज तो वेद में था ही, ग्रन्थरूप पीछे बने। उसका एक विधान बना दिया गया। यह दूसरी बात अधिक मानने योग्य है। गृह्यसूत्र श्रौतसूत्रों के पीछे की रचना है। इस विषय में कभी पृथक् विवेचना की जायगी। यहां इतना ही कहना है कि ये गृह्यसूत्र विनियोग के विषय में परस्पर भिन्न हैं, जिसका निदर्शन हम संक्षेप से नीचे कराते हैं --

परस्पर विरोध के विषय में हम उपर्युक्त तीन मन्त्रों के विनियोग-संग्रह दर्शा चुके हैं। केवल एक गायत्री मन्त्र के सम्बन्ध में ही लिखना पर्याप्त होगा—

हमारी दृष्टि में परस्पर भिन्नता 'तदु तथा न कुर्यात्' ब्राह्मणग्रन्थों की इस पद्धति का ही फल है। वही कहा जा सकता है—

(१) 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इस मन्त्र का विनियोग बौधायनगृह्यसूत्र में—

(i) पृष्ठ ४४—'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इत्येतां पच्छोऽर्धर्चशस्ततः समस्ताम्'।

यहां यज्ञोपवीत संस्कार में ब्रह्मचारी को गायत्री मन्त्र के उपदेश में विनियुक्त है।

(ii) पृ० २२७—अपरेणाग्निमुभौ जायापती प्रादनीयाताम्—'तत् सवितुर्वरेण्यम्'।

(iii) पृ० २७८—'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इति सद्यः पात्रमादाय ब्रह्मपात्रेण योजयेत्।'

(२) कौषीतकीगृह्यसूत्र १।३।८, पृ० ८२—

'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इत्येतां सप्रणवाम् अर्धर्चंशोऽनवानम्।

'द्वाभ्यामङ्गुलिभ्यां प्रदक्षिणमाचाल्यानामिकयाङ्गुल्याङ्गुष्ठेन च संगृह्य प्राश्नाति। ओं भूस्तत्सवितुर्वरेण्यम्।'

यहां पर यह मन्त्र विवाहप्रकरण में प्राशन में विनियुक्त है।

(३) आश्वलायनश्रौतसूत्र ८।१ में—

"वैश्वदेवे शस्त्रे प्रतिपत्तृचस्यैते एव प्रथमद्वितीये। 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इति द्वे आ विश्वदेवम्।" आ० श्रौ० ७।६॥

ऊपर के स्थलों में कौशिकगृह्यसूत्र का विनियोग अन्य सब गृह्यसूत्रों के यज्ञोपवीत प्रकरण से निश्चय ही भिन्न है। आश्वलायनश्रौत का गृह्यसूत्रों के विनियोग से स्पष्ट भेद ही है। सो इन गृह्यों का भेद भी ब्राह्मणों के 'तदु तथा न कुर्यात्' के समान एक-दूसरे का विरोधी ही समझना चाहिये। अन्यथा भेद किंकृत है।

वेदभाष्यकार और विनियोग

अब हम वेदभाष्यकारों के विनियोग पर भी एक दृष्टि डालना चाहते हैं। सामान्यतया इन भाष्यकारों ने अपने-अपने श्रौतसूत्रों के आधार पर विनियोग दर्शाया है। श्रौतसूत्रों के विषय में हमने जो लिखा, वह इन वेदभाष्यकारों पर भी घटता है। पर यहां हम कुछ और भी कहना चाहते हैं। (१) ऋग्वेदभाष्य में सायणाचार्य ने यद्यपि प्रायः मन्त्रों का विनियोग लिखने का प्रयास किया है। उनके मन में यह बात अवश्य रही कि हर एक मन्त्र का विनियोग होना ही चाहिये, चाहे ब्राह्मण वा श्रौतकारों ने उसका विनियोग न भी किया हो। इसके लिए हम यह कह सकते हैं कि आश्वलायनादि श्रौतसूत्रकारों ने सम्पूर्ण ऋग्वेद के चतुर्थांश का ही विनियोग किया होगा, शेष तीन चौथाई ३/४ ऋग्वेद का विनियोग तो है नहीं। जो है वह कल्पित है। इसके लिए पाठक

ऋग्वेद सायणभाष्य देखें। उसके प्रथम मण्डल में ४८ सूक्तों का विनियोग 'लैङ्गिक' वा 'स्मार्त्त' लिखा है। जैसा कि सूक्त १५, १८, २०, ४२ में 'विनियोगस्तु स्मार्त्तो द्रष्टव्यः' ऐसा लिखा है। सूक्त १, २२, ३८, ४० में 'सूक्तविनियोगो लैङ्गिकः' ऐसा लिखा है। ऋग्वेद के आगे के मण्डलों में भी ऐसा ही है। सायण ऋग्वेदभाष्य मण्डल १, सूक्त ६२ में लिखा है–'गतः सामान्यविनियोग.' 'विशेषविनियोगस्तु लिङ्गादवगन्तव्यः।' ऋ० १।६२ में आश्विन शस्त्र में विनियोग लिखा है और वह सूक्त अग्नि देवतावाला है। यहां यह भी ध्यान रखने की बात है कि नवें मण्डल के आरम्भ के १८ सूक्तों का विनियोग सायणभाष्य में भी नहीं कहा गया। ऐसा ही अन्य कुछ सूक्तों में भी।

दुर्गाचार्य ने अपनी निरुक्तटीका (७।१५ पृष्ठ ५६३) में **'अग्निमीडे,** इस मन्त्र के विषय में **'आश्विने विनियोगः'** ऐसा लिखा है। विचारने की बात है कि अश्विदेवतावाले कर्म में अग्नि देवतावाला मन्त्र कैसे विनियुक्त हो सकता है? यह सब अर्थ का ध्यान न रखकर विनियोग करने की परिपाटी चल पड़ने के कारण है।

काल्पनिक विनियोग की पराकाष्ठा

हम ऊपर दर्शा चुके हैं कि ब्राह्मण-श्रौत-गृह्यादि में **'दधिक्राव्णो अकारिषम्'** मन्त्र का विनियोग दधिभक्षणादि में किया है, जबकि मन्त्र में आया 'दधिक्रावन्' पद अश्व का वाची है। दधि (दही) के साथ इस मन्त्र पदों और उनके अर्थों का दूर का भी सम्बन्ध नहीं। अब हम इस विषय को कुछ और दर्शाते हैं—

संस्काररत्नमाला में (यह पुस्तक पूना में छपा है और मिलता है)—

(१) जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो निदहाति वेदः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः॥
(ऋ० १।९९।१)

इस मन्त्र का विनियोग संस्काररत्नमाला के कर्त्ता ने **'दुर्गाप्रीत्यर्थं बलिदाने विनियोगः'** पृष्ठ ११८। **'दुर्गावाहने विनियोगः'** आगे लिखा है। अर्थात् इस मन्त्र में 'दुर्गा' **'की प्रीति के लिये बलिदान करते समय इस मन्त्र को बोलना चाहिये।'** 'आगे दुर्गा के वाहन में इस मन्त्र को बोलना चाहिए।' यह उपर्युक्त ग्रन्थकार का मत है। दुर्गा का वेदमन्त्र में नाम तक नहीं।

पाठक यहां विचारें कि मन्त्र का 'दुर्गा' देवी के साथ कैसे सम्बन्ध जोड़ा गया है। मन्त्र में 'दुर्गाणि' शब्द आया है, जिसका अर्थ (स्वा० दयानन्द सरस्वती को छोड़ दिया जावे तो भी) सायणाचार्य ने **'विश्वा विश्वानि सर्वाणि दुर्गाणि दुर्गमनानि भोक्तुमावश्यकानि दुःखानि'** किया है। दुःखों को तैरने (पार करने) के लिये प्रार्थना की गई है। दुर्गाणि का अर्थ दुर्गम स्थितियां है। पाठकवृन्द ! देखें, इन पीछे के भाष्यकारों ने सायण को भी मात कर दिया। दुर्गापूजा में यह मन्त्र जुड़ने लगा।

(२) ऐसे ही 'शन्नो देवीरभिष्टये' के विषय में मन्त्रार्थचन्द्रोदय के पृ० ३२८ पर लिखा है—

'शनिर्देवता, शनिपूजने, तत्प्रीत्यर्थं तदीयजपहोमादौ च विनियुक्तः।' भला शन्नो देवी का शनैश्चर से कुछ सम्बन्ध कभी हो सकता है ?

हम इस मन्त्र के ब्राह्मण श्रौत-गृह्य के प्रायः सब विनियोग ऊपर दर्शा चुके हैं। सभी भाष्यकारों के विनियोग भी इस मन्त्र के दिखा दिये हैं। क्या ये सब 'शन्नो देवी' का अर्थ नहीं समझ सके ? क्योंकि इन सबको वह बात नहीं सूझी जो मन्त्रार्थचन्द्रोदय में वर्णित विनियोग बतानेवाले को सूझी !!! वाह महाराज ! भला 'शन्नो देवी' और शनैश्चर का क्या सम्बन्ध है ? निकट का नहीं तो दूर का ही सही, कुछ तो बताया होता। इस धृष्टता का भी कोई ठिकाना है ! 'कया नश्चित्रा' को राहु के आवाहन में संस्काररत्नमाला के पृष्ठ १३९ पर लगाया है। 'शन्नो देवी०' को शनैश्चर के आवाहन में पृ० १३९ पर, 'अग्निं दूतं' को अग्निपूजन में पृ० १४२ पर, 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' को 'गोमूत्रप्रक्षेपे विनियोगः' पृ० १४९ में लगाया है, 'आयं गौः' को सर्प के आवाहन में पृष्ठ १४३, 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' को 'ओषधिनिवपने विनियोगः' पृष्ठ ११३।

इतना ही नहीं, पगड़ी पहनने और दन्तधावन में भी मन्त्र का विनियोग बताया है। मन्त्रार्थचन्द्रोदय पृ० १३ में—'धूरसि धूर्व॰॰॰देवहूतमम्' धूपनिवेदने विनियोगः। अर्थात् इस मन्त्र से धूप जलाकर पूजा करना। पृ० २९४ में—'युवा सुवासा०' इस मन्त्र को पगड़ी पहनने में विनियुक्त किया है।

यह विनियोग शब्द की, साथ ही में उसमें बोले जानेवाले वेदमन्त्र

की भी दुर्गति नहीं तो क्या है !!! यह हाल है इन वर्त्तमान विनियोग-कारों का। जिससे वेद में ही अनास्था उत्पन्न हो जावे।

विनियोग विषय में हमारी धारणा

विदित रहे कि ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र 'अग्निमीडे पुरोहितम्०' का विनियोग ऋक्सर्वानुक्रमणीकार और बृहद्देवता ने नहीं कहा। स्कन्द स्वामी ने भी अपने ऋग्वेदभाष्य और निरुक्तटीका में उक्त मन्त्र का विनियोग नहीं दिखाया तथा वेङ्कटमाधव ने भी अपने ऋग्वेदभाष्य और ऋग्वेदानुक्रमणी में उपर्युक्त मन्त्र का विनियोग नहीं दिखाया। इस मन्त्र का ही विनियोग न दर्शाया हो, सो बात नहीं। स्कन्द स्वामी ने अपने ऋग्वेदभाष्य और अपनी निरुक्तटीका में भी किसी भी मन्त्र का विनियोग नहीं लिखा। वेङ्कटभाष्य में भी विनियोग कहीं पर नहीं कहा गया। हां, दुर्गाचार्य ने अपनी निरुक्तटीका में प्रायः सब मन्त्रों का श्रौत-सूत्रों में निर्दिष्ट विनियोग दर्शाया है। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र का विनियोग 'आश्विने विनियोगः' ऐसा लिखा है। विदित रहे कि इस मन्त्र का देवता अग्नि है। और सब श्रौत-गृह्य आदि ने अग्नि देवता वाले यज्ञादि में ही इस मन्त्र का विनियोग बतलाया है। भला आश्विन (अश्विनौ देवतावाले) कर्म में अग्नि देवतावाले इस मन्त्र का विनियोग कैसे हो सकता है ?

हमारा कहना यह है कि सायण वा तदनुवर्ती लोगों ने जो विनियोग का यह अर्थ समझ लिया है कि इन मन्त्रों का अन्य विनियोग हो ही नहीं सकता, यह उनकी सर्वथा भूल है और मौलिक भूल है। हमारा कहना यह है कि जैसे मन्त्र के देवता सर्वानुक्रमणी आदि से भिन्न हैं और हो सकते हैं, इसी प्रकार वेद-मन्त्रों का विनियोग भी विनियोक्ता के अधीन है, यदि मन्त्र का अर्थ उक्त क्रिया के साथ सङ्गत हो सकता है तो उस मन्त्र का विनियोग उक्त क्रिया में अवश्य हो जायेगा। विनियोग की बहुत ऊंची और दृढ़ दीवार खड़ी करके सायणादि ने वेदार्थ को इतना सङ्कुचित और दारिद्र्यपूर्ण बना दिया है। यदि उसे स्वीकार किया जावे तो वेद के सम्बन्ध में उत्कृष्ट पवित्र भावना या प्राचीन पूजाभाव अथवा इसकी पवित्र प्रामाणिकता को, इसकी दिव्य ख्याति को अबुद्धि-पूर्ण बना देता है और वेदों के प्रति अनास्था को उत्पन्न करता है। यही इस विषय में हमारी धारणा है।

'यत् कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाऽभिवदति' अर्थात् जिस कर्म को मन्त्र के पद कहें अर्थात् मन्त्र जिस अर्थ को कहे या मन्त्र का अर्थ जिस कर्म को कहे, उसी में उस मन्त्र का विनियोग होना चाहिये।

जब तक यह सिद्धान्त रहा तब तक तो विनियोग का स्वरूप ठीक रहा। ब्राह्मणकाल से पहिले यही स्वरूप रहा। इसीलिये पारदर्शी दयानन्द हमें ब्राह्मणग्रन्थों से पूर्वकाल की ओर ले जाना चाहते हैं। उनकी हर एक बात नहीं मानते। जैसे ब्राह्मणग्रन्थों में पशुयाग आदि को ऋषि दयानन्द ने वेदविरुद्ध होने से अप्रमाण माना है, हमारी दृष्टि में ब्राह्मणों श्रौतसूत्रों, गृह्यसूत्रों में निर्दिष्ट विनियोग भी (जितना भी वेदविरुद्ध है) वेदविरुद्ध होने से मानने योग्य नहीं। इस विषय में हम अभी मार्जन रखते हैं। यदि हमें इस समस्या का हल कोई और समझा सकेगा तो उन के समझने के लिये सहर्ष और सधन्यवाद तय्यार हैं। पारदर्शी दयानन्द ने हमें इन मिथ्या ज्ञानरूपी गढ़ों से निकाला, इसी गढ़े में हम पुनः न गिर जावें, यही हमें यहां कहना है। इसीलिये हम दयानन्द को ऋषि मानते हैं। और उनकी जय बुलाते हैं।

[वेदवाणी, वर्ष ६, अङ्क २]

सायरण का वेदार्थ

याज्ञिक प्रक्रिया का शुद्ध स्वरूप बना रहता, तब तो कुछ भी हानि नहीं थी। त्रिविध प्रक्रिया में याज्ञिक प्रक्रिया भी एक है ही, तदनुसार भी मन्त्र का अर्थ होना ही चाहिये। पर सायणाचार्य ने तो अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों की प्रक्रिया को न जाने कैसे छोड़कर केवल याज्ञिक प्रक्रियापरक ही वेदमन्त्रों का अर्थ किया और वह भी अधूरा। अधूरा इसलिये कि सायण का वेदभाष्य केवल श्रौतयज्ञों की प्रक्रिया को लक्ष्य में रखकर ही किया हुआ है। गृह्यसूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों के विषय में सायण का भाष्य कुछ एक स्थलों को छोड़कर प्रायः कुछ भी नहीं कहता। गृह्य अर्थात् स्मार्त्त प्रक्रिया में भी तो वेदमन्त्रों का अर्थ होना ही चाहिये। इस प्रक्रिया के लिये हमें गृह्यसूत्रों के भाष्यकारों के किये वेदार्थ से वेदमन्त्रों के अर्थ देखने होंगे। ऐसी दशा में सायणभाष्य को याज्ञिक प्रक्रिया में अधूरा ही कहेंगे। इतना ही नहीं, श्रौतप्रक्रिया के विषय में भी सायण कहां तक प्रामाणिक है, यह अभी साध्यकोटि में ही है। श्रौत विषय में भी सायण की अनेक भूलें हैं, जो कालान्तर या स्थानान्तर में दिखाई जा सकती हैं।

इसमें तो कुछ भी सन्देह नहीं कि सायणाचार्य ने अपने समय में वैदिक साहित्य में महान् प्रयास किया। वेदों के भाष्य तथा ब्राह्मणग्रन्थों और आरण्यकों के भाष्य बनाये। अन्य अनेक विषयों में भी बहुत से प्रौढ़तापूर्ण ग्रन्थ लिखे, चाहे वे सब उनकी अपनी कृति न हों, उनके संरक्षण में बने हों, पर उनका उत्तरदायित्व तो उन पर ही है। सायणाचार्य के इस प्रयास के लिये प्रत्येक वेदप्रेमी को उनका अनुगृहीत होना चाहिये। उनके वेदभाष्य में व्याकरण और निरुक्तादि का प्रयोग भी हमें पर्याप्त मात्रा में मिलता है। परन्तु मूलभूत धारणा के अनिश्चित वा भ्रान्त होने के कारण उनका मूल्य कुछ भी नहीं है और कई स्थानों में विरुद्ध भी है।

जब सायणाचार्य के मन में यह मिथ्या धारणा निश्चित हो चुकी थी कि वेदमन्त्र यज्ञप्रक्रिया का ही प्रतिपादन करते हैं, ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक ही था कि वह अपना समस्त यत्न या प्रमाणादि सामग्री

यज्ञप्रक्रिया के लिये ही समर्पित करते। जब ऐनक ही हरी पहन ली तो सब पदार्थं हरे दिखाई देने में आश्चर्यं ही क्या हो सकता है ! उपर्युक्त धारणा के कारण उसका वेदार्थं में अनेक अनावश्यक और आधाररहित सिद्धान्तों तथा परिणामों पर पहुंचना अनिवार्यं था। उदाहरणार्थं पाठक देखें—

(१) सायण के वेदभाष्य में प्राय: सर्वत्र जहां-जहां मूलमन्त्र में 'जन' 'मनुष्य' 'जन्तु' 'नर' 'विट्' 'मर्त्त' आदि सामान्य मनुष्यवाचक शब्द आये हैं, वहां सर्वत्र निर्वचन के आधार को छोड़कर, वाच्यवाचक सम्बन्ध के सामान्य नियम की अवहेलना करके, सामान्य 'मनुष्य' अर्थ न करके 'यजमानादि' ही किया है।

जैसा कि—ऋ० १।६०।४ में 'मानुषेषु यजमानेषु'॥ ऋ० १।६८।४ में 'मनोरपत्ये यजमानरूपायां प्रजायाम्'॥ 'मनुषः मनुष्यस्याध्वर्योः' ऋ० १।१२८।१॥ 'जनान् यजमानान्' ऋ० १।१४०।१२॥ 'जनानां यजमानानाम्' ऋ० ५।१६।२॥ 'विशां यजमानरूपाणां प्रजानाम्' ऋ० १।३१।१५॥ 'नरः कर्मणां नेतारोऽध्वर्य्वादयः' ऋ० ३।८।६॥

भला बताइये इन मनुष्य-जन्तु-नर आदि शब्दों के अर्थ 'यजमान' ही हों, इसमें क्या नियामक है ? कारण क्या ? कारण यही कि यज्ञप्रक्रिया की ऐनक चढ़ी है। प्रत्येक मनुष्य यजमान या ऋत्विक् ही दिखाई दे रहा है। भला नेता या मननशील जो कोई भी हो, यह अर्थ क्यों नहीं लेते ? सायण होते तो उनसे पूछा जाता !!!

यह तो हमने अति स्थूल उदाहरण उपस्थित किया है। वह प्राय: करके अपनी उपर्युक्त मिथ्या धारणा के कारण अपने परिणामों पर पहुंचने के लिये सामान्य वैदिक परिभाषाओं की और नियत वैदिक-नियमों तक की अपनी व्याख्या में आश्चर्यजनक असंगति दर्शाता है। आध्यात्मिक प्रक्रिया में मनुष्य का अर्थ मननशील कैसा सुन्दर बैठता है। इस वैदिक नियम को न जानकर सायण का किया हुआ अर्थ हृदयग्राही नहीं बैठता। सायण के वेदार्थ की मूल त्रुटि ही यह है कि वह सदा अपने वेदार्थ में (कर्मकाण्ड के भंवर) में ही फंसा रहता है और इसीलिये वेद के आशय को निरन्तर बलपूर्वक कर्मकाण्ड के संकुचित सांचे में ढालकर वैसा ही रूप देने का यत्न करता है। इसीलिये वह बहुत से मूलभूत सिद्धान्तों की अवहेलना कर देता है, या उसे करनी पड़ती है, जिससे

प्रभु की पवित्र वेदवाणी के ऊंचे से ऊंचे अर्थ में बाधा पड़ती है। उदाहरणार्थ—

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः॥

ऋ० १।१।६॥

प्रियतम देव! शरणागत का कल्याण करना तुम्हारा सत्यव्रत है!!!

कैसा सुन्दर हृदयग्राही सन्तप्त हृदयों की आन्तरिक ज्वाला को एकदम शान्त करनेवाला, आत्मसमर्पण का, प्रभुप्रेम या प्रभुभक्ति में असीम निष्ठा का अद्भुत दृश्य है!!! चित्तवृत्तियों के निरोध और उससे आत्मस्वरूप में अवस्थिति का साधनभूत यह मन्त्र हमारे समक्ष है। 'ईश्वरप्रणिधानाद्द वा' (यो० १।२३) योगदर्शन के इस सिद्धान्तानुसार केवल इस मन्त्र के अनुसार ही योग की प्राप्ति हो जाती है। ईश्वरप्रणिधानमात्र से भी चित्तवृत्ति का सम्पूर्ण निरोध होता है। शास्त्र का यह वचन और उपर्युक्त मन्त्र का अभिप्राय सर्वथा एक ही है। मन्त्रगत भाव को ही महामुनि पतञ्जलि ने उपर्युक्त सूत्र में दर्शाया है।

इस मन्त्र का उपर्युक्त भावनापूर्ण अर्थ महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के भाष्य में ही मिलेगा। पाठक उनके भाष्य में इस मन्त्र के अर्थ को देखें। सायणाचार्य ने इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार किया है—

'अङ्ग अग्ने त्वं दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय तत्प्रीत्यर्थं यद् भद्रं वित्तगृहप्रजापशुरूपं कल्याणं करिष्यसि। तद्भद्रं तवेत् तवैव एतच्च सत्यं (व्रतं), नात्र विसंवादोऽस्ति। यजमानस्य वित्तादिसम्पत्तौ सत्यामुत्तरकत्वनुष्ठानेनाग्नेरेव सुखं भवति।'

अर्थात् हे अग्ने! तुम हविः प्रदान करनेवाले यजमान के लिये उस की प्रीति के निमित्त धन-गृह-प्रजा-पशु प्राप्ति रूप कल्याण करनेवाले हो। यह तुम्हारा सत्यव्रत है। इसमें कुछ भी विपरीतता नहीं··· इत्यादि।

सायणाचार्य यदि जानते होते कि इस मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ भी है, तब वह इसका अर्थ यही न करते, जो किया है। उनके अर्थ का स्वरूप ही कुछ अन्य होता। सायण के अर्थ में—

(क) भौतिक अग्नि से ही सम्बोधन किया गया है।

(ख) भौतिक अग्नि ही सब कल्याण का देनेवाला है।

(ग) संसार में सबसे बड़ी कामना या सबसे बड़ा कल्याण धन, ऊंची अट्टालिका, सन्तान और पशु भूमि आदि ही सायण के मत में हैं।

(घ) आत्मिकसम्पत्ति का इसमें निर्देश तक नहीं, जैसे उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं।

(ङ) हविः देनेवाले यजमान का ही कल्याण होगा, जो शुभ कर्म अनुष्ठान करे उसका नहीं? हविः देने का स्वरूप क्या है? आहुति डालना मात्र ही तो !!!

भला बताइये जहां धन-गगनचुम्बीभवन-सन्तान और पशुओं की ही कामना की गई हो, वहां आत्मिक सम्पत्ति की कामना का नाम तक न आना स्वाभाविक है। कारण क्या? कारण यही कि सायण स्वयं आध्यात्मिकता से शून्य थे या भ्रम-वश वह यह नहीं समझ सके कि वेद में आध्यात्मिकता का भी निरूपण है।

हविः देनेवाले का ही कल्याण 'अग्नि' करता है। गीता (४।२४, २५) में बताये गये आध्यात्मिक यज्ञ को भी भूल गये। हविःप्रदान का स्वरूप क्या है, इस पर तो कुछ प्रकाश डाला होता। ज्ञान ही न था तो डालते कहां से? ब्राह्मणों में (शत० ११।२।४।८ पृ० ५५६) बताये यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का ही कुछ निर्देश कर दिया होता।

इस सब में मौलिक भूल ही सर्वत्र अपना वैभव दिखा रही है कि वेद मन्त्र केवल याज्ञिक अर्थ को ही कहते हैं। यह बात हम अनुमान वा अपनी ही कल्पना से कहते हों, यह बात नहीं। स्वयं सायणाचार्य ने ही ऋग्वेदभाष्य के उपोद्घात के प्रारम्भ में लिखा है—

आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा।
यजुर्वेदोऽथ हौत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते ॥

(सायण ऋ० भा० उपोद्घातारम्भे) ॥

अर्थात् यज्ञों में अध्वर्यु के कर्मों की प्रधानता होने के कारण मैंने (अर्थात् सायण ने) प्रथम यजुर्वेद का व्याख्यान किया, इसके अनन्तर हौत्रकर्म के लिये ऋग्वेद का व्याख्यान किया जायगा।

यहां पर सायणाचार्य ने स्पष्ट ही कहा है कि मैं यज्ञों में अध्वर्यु

और हौत्रादि के कर्मों को बताने के लिये वेद का भाष्य कर रहा हूं। सायण के सामने जैसे और कुछ था ही नहीं, जिसके लिये कि वेदभाष्य करने की आवश्यकता हो।

यदि वह यहां पर यह भी कह देते कि भाई! मैं तो केवल यज्ञपरक व्याख्यान कर रहा हूं, शेष आध्यात्मिकादि अर्थों के लिये अन्य भाष्य को देखें, जिसकी परम्परा सहस्रों वर्षों से चली आ रही थी। तब भी वेदार्थ प्रक्रिया का लोप कदापि न होता।

आरम्भ से उठाकर अन्त तक देखा जाय तो सायण के सम्पूर्ण भाष्य में यही मौलिक भ्रान्ति सर्वांश में मिलेगी। इसका परिणाम यही हुआ और होना ही चाहिये था कि सायणभाष्य को पढ़कर किसी को भी वेद में श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो सकती और पढ़नेवाला कभी नहीं मान सकता कि वेद परमात्मा की बुद्धिपूर्वक कृति है या इसमें किन्हीं उच्चतम सिद्धान्तों, मानवसमाजसम्बन्धी उत्कृष्ट भावनाओं या आवश्यकीय विविध ज्ञान का प्रतिपादन है। जिज्ञासु एक दम निराश होकर ऐसे वेद से ही विमुख होने लगता है। यह है सायणभाष्य की देन।

सायणाचार्य ने ऋषियों को, उनके विचारों को, उनकी संस्कृति को, उनकी अभीष्ट भावनाओं को ऐसे सारहीन संकुचित दरिद्रतापूर्ण रीति से उपस्थित किया है कि यदि उसे स्वीकार कर लिया जाय तो वह वेद के सम्बन्ध में भारतीयों की पवित्र उच्च भावना को, वेद की पवित्र प्रामाणिकता को, नहीं-नहीं वेद की दिव्य ज्योति को हेय बना देता है और प्रत्येक व्यक्ति को यह प्रतीत होने लगता है कि सायण के भाष्यानुसार वेद उस समय की एक अन्धी और प्रश्न उठाये जाने के अयोग्य परम्परा है, जिसका कारण सायण की अपनी ही मिथ्या धारणा है।

इस विषय में हम एक अन्य दृष्टि से भी विचार करते हैं। हम देखते हैं कि सायण वेद में आये शब्दों के सूक्ष्म संकेत और उनके सूक्ष्म अन्तर को सर्वथा मिटा देता है। वेद में आये शब्दों के अधिक से अधिक स्थूल और सामान्य जो अर्थ होता है, वही कर देता है और सब के सब विशेषण, जो उसके साथ लगे होते हैं, जिनका लगाया जाना किसी गम्भीर सूक्ष्म कारण का निर्देश करता है, उनको वह एक दम भुला देता है या दूसरे शब्दों में यज्ञविषयक उपर्युक्त मिथ्या धारणा सायण को उन शब्दों के वास्तविक स्वरूप तक पहुंचने ही नहीं देती।

ऐसा प्रतीत होता है कि सायण का ध्यान वेद में आये शब्दों के विशेष्यविशेषणभाव की प्रक्रिया पर गया ही नहीं। एक ही मन्त्र में 'उर्वी पृथिवी' या 'पृथिवी मही' में दो शब्द एक साथ आये हैं, दोनों ही पृथिवी के नाम हैं। एक ही शब्द पृथिवी अर्थ को कह रहा है। दूसरे की क्या आवश्यकता है। दो शब्द पढ़ने से वेद में पुनरुक्त दोष आवेगा, इसलिए महाभाष्य के सिद्धान्तानुसार 'व्यर्थं सज्ज्ञापयति' व्यर्थ होकर इस बात को सिद्ध करता है कि इन दोनों में एक विशेष्य है एक विशेषण। यह निश्चय मन्त्रगत शेष पदों के अर्थ के समन्वय पर होगा।

दुःख से कहना पड़ता है कि इन अनिवार्य सूक्ष्मेक्षिकाओं के न होने से वेद के अर्थ का स्वरूप ही संसार से ओझल हो गया और सायणभाष्य वेद की अन्तिम प्रामाणिक भित्ति बन गया।

इस विषय में हम कुछ अन्य उदाहरण भी उपस्थित करते हैं—

ऋ० १।७७।१ में 'नृणां नृतमोऽसि' ऋ० १।२७।१ में 'अग्नि विप्रम्॥' ऋ० १।६०।१ में 'वह्निं द्विजन्मानम् ॥' ऋ० १।१।१ में 'अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम् ॥' ऋ० १।४।४ में 'इन्द्रं विपश्चितम् ॥' ऋ० १।११।४ में 'युवा कविरमितौजा…… .. इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्त्ता।' ऋ० १।२४।८ में 'उरुं हि राजा वरुणश्चकार ॥' ऋ० १।४४।१० में 'अग्ने · असि ग्रामेष्वविता पुरोहितोऽसि यज्ञेषु मानुषः।'

इन मन्त्रों में पाठक 'अग्नि' 'इन्द्र' आदि पदों के विशेषणों पर ध्यान दें। रूढ़िवाद की प्रक्रिया के अनुसार ये विशेषण आपाततः चैतन्यविशिष्ट आध्यात्मिक अर्थ को ही प्रकट कर रहे हैं, फिर भी घसीट कर भौतिक अर्थ में ही इन मन्त्रों के अर्थों की समाप्ति कर देना वेदार्थ का लोप करना या यौगिकप्रक्रिया के विषय में अपनी असीम अनभिज्ञता प्रकट करना नहीं, तो और क्या है? हमारे मत में तो यौगिकवाद को मान कर त्रिविधप्रक्रिया के आधार पर ये विशेषण तीनों में घट जाते हैं।

अग्ने पूर्वा अनूषसो विभावसो दीदेथ विश्वदर्शतः।
असि ग्रामेष्वविता पुरोहितो ऽसि यज्ञेषु मानुषः॥
ऋ० १।४४।१०॥

इस मन्त्र में अग्नि को विभावसु-विश्वदर्शनीय-ग्रामों में रक्षक-यज्ञों में

पुरोहित-मानुष आदि कहा गया है। ये विशेषण भौतिक अग्नि में कैसे घट सकते हैं ? मुख्य वृत्ति से तो ये सब विशेषण किसी चेतन में घट सकते हैं।

त्वमग्ने प्रमतिस्त्वं पितासि नस्त्वं वयस्कृत्तव जामयो वयम्।
सं त्वा रायः शतिनः सं सहस्रिणः सुवीरं यन्ति व्रतपामदाभ्य ॥
ऋ० १।१३।१०॥

इस-मन्त्र में अग्नि को प्रकृष्टमति उत्कृष्टज्ञानवान् पिता-जिसकी सन्तान हम अपने आपको कह सकें-सुवीर-व्रतपा और असंख्य धनवाला इत्यादि गुणविशिष्ट कहा गया है। भला ये सब विशेषण रूढ़िवाद के अनुसार आपाततः भौतिक अग्नि में कभी घट सकते हैं ?

भला इन मन्त्रों से ठोक-पीट कर या जबरदस्ती (बलात्) यज्ञ की बोली बुलवाना कहां तक सुसङ्गत है ? जब कि ऋग्वेद में आये बहुत से मन्त्रों का विनियोग ही नहीं। ऋग्वेद के मन्त्रों का विनियोग हौत्रकर्म में ही होना चाहिये। सम्पूर्ण दस हजार से अधिक मन्त्रों का विनियोग वाचस्तोमादि में करना अगतिकगति है। यह तो वैसा ही है, जैसे सम्पूर्ण चारों वेद की संहिताओं से स्वाहाकारान्त होम करना। उसे मुख्य विनियोग नहीं कहा जा सकता। सायण ने अपने भाष्य में अनेक मन्त्रों का विनियोग लैङ्गिक माना है तथा बहुत से मन्त्रों का विनियोग स्मार्त्त कर्म में खोजने को कहा (देखो सायण भाष्य ऋ० १।१५, १७, १९, २२, ३८, ३९, ४० इत्यादि अनेक स्थल हैं)। इस विनियोग के विषय में हम वेदवाणी वर्ष ६ के वेदाङ्क में विस्तार से कह चुके हैं। यहां तो हम इतना ही कहना चाहते हैं कि सब मन्त्रों को केवल यज्ञपरक अर्थ में घसीटना सायणभाष्य की यह दुर्भाग्यपूर्ण देन है। इससे वेद सभी सम्भव अर्थों से हट कर इस निम्नतम यज्ञपरक अर्थ के साथ बन्ध गया। सायणभाष्य का यह सबसे दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम हुआ। दूसरा परिणाम यह हुआ कि सायण के भाष्य ने पुरानी मिथ्या धारणाओं पर प्रामाणिकता की मोहर लगा दी, जो बहुत समय तक, जब तक कि बड़ा भारी प्रयास न किया जावे, दूर नहीं हो सकती।

वेदार्थ के विषय में भ्रान्ति उत्पन्न करने में सायण का भाष्य मुख्य कहा जा सकता है। सायणाचार्य से पूर्व और भी वेदभाष्यकार हो चुके थे

(जिनका वर्णन हम पूर्व कर चुके हैं)। जिन्होंने 'वेद का अर्थ यज्ञपरक ही होता है' इस मिथ्याधारणा के फलस्वरूप अपने भाष्य यज्ञपरक ही किये हैं। यद्यपि ये लोग भी वेदार्थ की यथार्थ प्रक्रिया के लोप के उतने ही कारण कहे जा सकते हैं जितना कि सायण। तथापि उनके भाष्यों में वेदार्थ-प्रक्रिया के किन्हीं सिद्धान्तों का निर्देश कहीं-कहीं मिलता तो है, जैसा कि हम अन्यत्र दर्शा चुके हैं। परन्तु सायण ने तो उन निर्देशों का भी लोप ही कर दिया, जिससे वेदार्थ का स्वरूप शताब्दियों के लिये लुप्त हो गया।

सायणभाष्य की इस मौलिक मिथ्याधारणा का क्या परिणाम हुआ, सो हम आगे कभी दर्शायेंगे। इस समय हम यह दर्शाना चाहते हैं कि सायण की उपर्युक्त मिथ्याधारणा का मिथ्यात्व कहां तक ठीक है।

सायणाचार्य वेदार्थ तक नहीं पहुंचा

हमारा पूर्वोक्त विवेचन ही इस बात के सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। सब मन्त्रों का तीन प्रकार का अर्थ होता है। इतने से ही सायण का सारा वेदार्थ तीसरा भाग रह जाता है। शेष दो भाग (आध्यात्मिक तथा आधिदैविक) में उसकी अनभिज्ञता या अपूर्णता स्पष्ट सिद्ध है।

त्रिविधप्रक्रिया की अवहेलना ही वेदार्थ में एक ऐसी हिमालय जैसी भूल है, जो कदापि क्षन्तव्य नहीं हो सकती। सायण की भूल की समाप्ति यहीं पर नहीं हो गई। उनकी अन्य मौलिक भूलों का निर्देश भी करना हम आवश्यक समझते हैं—

(१) यज्ञ में अध्वर्यु आदि के कर्मों को बताने के लिये ही वेदभाष्य करता हूं, ऐसा सायण ने कहा है। (देखो सायण ऋग्वेद भाष्य के उपोद्घात के प्रारम्भ में)।

(२) सायण-सामवेदभाष्य-भूमिका के प्रारम्भ में—

'यज्ञो ब्रह्म च वेदेषु द्वावर्थौ काण्डयोर्द्वयोः।
अध्वर्युमुख्यैर्ऋत्विग्भिश्चतुर्भिर्यज्ञसम्पदः ॥ ६॥

इसमें वेद के मन्त्रों का अर्थ यज्ञपरक तथा ब्रह्मपरक माना। हमें तो सायण के इस लेख से अति प्रसन्नता हुई कि चलो ब्रह्मपरक अर्थ नहीं किया तो न सही, ब्रह्मपरक अर्थ का निर्देश तो कर ही दिया है। पर हमारी यह प्रसन्नता अधिक देर न रह सकी, जब हमने काण्व-संहिता-भाष्य की भूमिका में सायण का यह लेख देखा—

'तस्मिश्च वेदे द्वौ काण्डौ कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्यकाख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डस्तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोर्ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वम्, तत्रोभयत्राधानाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपाद्यत्वात्'।

यहां पर सायण शतपथब्राह्मण ही नहीं, अपितु 'संहिता' में भी **'दर्शपूर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपाद्यत्वात्'** इस वचन से केवल दर्शपूर्णमासादि यज्ञ कर्मों का ही प्रतिपादन मात्र मानता है। पाठक विचार करें कि स्कन्दस्वामी की त्रिविधप्रक्रिया, जिसे वह यास्काभिमत मानता है, उपस्थित होने पर भी, सायण **'नहि स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति'** वा **'पश्यन्नपि न पश्यति'** देखता हुआ भी नहीं देखता, यही तो कहना पड़ेगा। क्या सायण ने स्कन्द का भाष्य देखा ही नहीं होगा, यह कभी हो सकता है? जब कि इस समय भी सैकड़ों वर्ष पीछे सायण की जन्मभूमि दक्षिण प्रान्त में ही स्कन्द की निरुक्तटीका मिली है।

कुछ भी हो, सायण वेदार्थ की दीवार बन गया। इतनी ऊंची और इतनी दृढ़ कि किसी को लांघने का साहस नहीं होता था, पर प्रभु की असीम कृपा से आचार्य दयानन्द उस दीवार को लांघ गये और उनकी कृपा से आज हम शास्त्र के आधार पर लांघ रहे हैं।

(३) सायण ने ऋग्भूमिका में मीमांसा के सिद्धान्तानुसार वेद में अनित्य इतिहास या व्यक्तिविशेषों के इतिहास का निषेध करके भी अपने वेदभाष्य में यत्र-तत्र-सर्वत्र अनित्य व्यक्तियों का इतिहास स्पष्ट दर्शाया है।

(४) देखिये सायण-ऋग्भूमिका में—

(क) 'शतंहिमा इत्येतद् व्याख्येयमन्त्रस्य प्रतीकम्, अवशिष्टं तु तस्य तात्पर्यव्याख्यानम्।'

(ख) 'शतपथब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वाद् व्याख्येयमन्त्रप्रतिपादकः संहिताग्रन्थः पूर्वभावित्वात् प्रथमो भवति॥'

—सायण-काण्वभूमिका

इन दोनों स्थलों में शतपथ को मन्त्र का व्याख्यान मानकर भी 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (ऋगादिभाष्यभूमिका) की ही रट लगाई है।

इतिहास तथा वेदलक्षणविषय के परस्पर विरोध को देखकर भला कौन थोड़ा सा ज्ञान रखनेवाला भी सायण की विद्वत्ता का प्रशंसक हो सकता है ? इन विषयों में वास्तव में सायण के मन में सन्देह ही बना रहा, आध्यात्मिक भावना थी नहीं, नहीं तो आचार्य दयानन्द की भांति १८-१८ घण्टे समाधि द्वारा वेदार्थ के इन परमावश्यक मौलिक सिद्धान्तों का निर्णय आत्मा में करता, तब लिखता तो ठीक था।

जैसा कि आजकल भी बहुत से व्यक्ति वेद का स्वाध्याय आरम्भ करते हैं, तो साथ ही उस विषय में ग्रन्थ छापना भी आरम्भ कर देते हैं। **'स्वयं नष्टः परान् नाशयति'** जो स्वयं ही अनिश्चत है, वह भला दूसरों को निश्चित ज्ञान कैसे दे सकता है ?

यदि यह अनिश्चयात्मकता सायण के हृदय में न होती, यथावत् व्यवसायात्मक बुद्धि से वेदभाष्य करता तो संसार का महान् उपकार होता। इस अनिश्चयात्मकता के कारण ही उस के **'तस्माद् सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते। यद्यपि इन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणावस्थानाद्.........'** (सायण-ऋग्भाष्यभूमिका) अर्थात् परमेश्वर के ही इन्द्रादि रूप में होने से यह सब ईश्वर की ही स्तुति है। सायणाचार्य अपनी इस बात पर भी दृढ़ न रह सका। यह बात हम आचार्य दयानन्द में ही पाते हैं। जो बात लिखी, निश्चयात्मकता से लिखी। संसार को सन्देह में नहीं डाल गये। किसी विषय पर न लिखा हो, यह दूसरी बात है।

इस प्रकार की अन्य भी अनेक बातें दर्शायी जा सकती हैं, जिनसे प्रत्येक निष्पक्ष विद्वान् को इसी परिणाम पर पहुंचना होगा और हम इस विवेचना से इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि सायण वेद के मौलिक अर्थों तक नहीं पहुंच सका। सायण की हिमालय जैसी ये मौलिक भूलें कदापि क्षन्तव्य नहीं हो सकतीं।

सायण का वेदार्थ वेदार्थ की कसौटियों पर ठीक नहीं ठहरता, पाठक यह बात स्वयं अपनी दृष्टि से देखें।

सायण की भूल के दुष्परिणाम

यह भूल सायण तक ही रह जाती या शताब्दियों तक भारत तक ही यह भूल रह गई होती, तब भी कोई बात नहीं थी। इसके परिणाम बड़े

भयङ्कर हुए। यह ठीक है कि महात्मा बुद्ध के काल में भी यज्ञ-यागादि की इस प्रधानता ने ही बुद्ध जैसे महापुरुष पवित्रहृदय महात्मा को यह कहने पर वाधित कर दिया था कि मैं ऐसे वेदों को मानने को तत्पर नहीं, जिनमें पशुहिंसा का विधान हो।

विदेशीय राज्य की रक्षा को लक्ष्य में रखकर या पीछे से भाषा-विज्ञान में विशेष जानकारी प्राप्त करने के विचार से संस्कृत भाषा में सामान्यतया और वेदविषय में विशेषतया लगनेवाले योरुप-अमेरिकादि देशों के अनेक विद्वानों को भी (और कोई वेदार्थ उपलब्ध न होने से) सायण का ही अनुगामी वनना पड़ा और जो-जो सायण के भाष्य में पुरानी मिथ्या वातों वा मिथ्या धारणाओं पर प्रामाणिकता की मोहर लग चुकी थी, उसी के पीछे विदेशी विद्वानों का समूह चला। ऐतिहासिकवाद के विषय में सायण से पूर्व आचार्य स्कन्द स्वामी का **'एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या। औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयः'** यह सिद्धान्त चला आता था और जो प्रत्येक मन्त्र का तीन प्रकार का अर्थ होता है, यह धारणा परम्परा से स्कन्द के काल तक चली आई थी। सायण ने उनका उल्लेख भी अपने भाष्य में किया होता, तब भी वेदार्थ की मौलिक धारणायें किसी प्रकार जीवित रह जातीं। तब इन विदेशीय स्कालरों को भी वेदार्थ के विषय में सोचने का अवसर होता कि आध्यात्मिक और आधिदैविक अर्थ तो अभी शेष हैं, सायण के भाष्य में ही वेदार्थ की परिसमाप्ति नहीं हो जाती और इतिहास का सारा वर्णन औपचारिक (Simile) के रूप में है, न कि वास्तविक घटना। तव महान् उपकार होता। विदेशीय विद्वान् हमारी सारी संस्कृति, सभ्यता और साहित्य को उलटे रूप में सव के सामने न रख सकते।

मैं तो कहता हूं यदि सायणभाष्य का ही हिन्दी अंग्रेजी वा उर्दू वा अन्य जिस किसी भाषा में अनुवाद करके किन्हीं शिक्षणालयों में रख दिया जावे तो निश्चय ही समझना चाहिये कि कुछ श्रद्धालुओं को छोड़-कर सबकी एक ही ध्वनि उठेगी कि ये वेद जङ्गलियों की यों ही वड़वड़ाहट या अण्ट-सण्ट कृतियां हैं, जिनका मानवसमाज को कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। पञ्जाब यूनिवर्सिटी की शास्त्री परीक्षा में जितना अंश सायणभाष्य का है, उससे सायण की छाप के कारण शास्त्री प्रायः

वेद से विमुख ही हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें वेद के वास्तविक स्वरूप का तो दर्शन भी नहीं हो पाता। इस सारे अनर्थ का मूल सायणाचार्य का वेदार्थ ही है। यहां हम यह भी कह देना चाहते हैं कि 'मुख्येन व्यपदेशः' नियमानुसार सेना जा रही हो तो भी मुख्यता से यही कहा जाता है कि 'राजा जा रहा है'। इसी प्रकार याज्ञिक-प्रक्रिया के अनुसार भाष्य करनेवाले अन्य सभी भाष्यकार इसी कोटि में आ जाते हैं। उनके पृथक् निर्देश की यहां आवश्यकता नहीं। सब 'यथा हरिस्तथा हरः' के अनुसार ही समझने चाहियें। सायण का नाम इसलिये भी वार-वार आता है कि वेदों तथा ब्राह्मणग्रन्थों पर सबसे अधिक भाष्य सायणाचार्य के ही हैं जिनको लेकर आगे लोगों ने अनुवादादि किये। सायण के भाष्य को पढ़कर कोई भी समझदार वेद के उस स्वरूप तक नहीं पहुंच सकता जो ऋषि-मुनि मानते हैं, जिसका निरूपण स्वायम्भुव मनु ने किया है—

'स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः' (मनु० २। ७४)॥

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥
(महाभारत शान्तिपर्व अ० २३२।२४॥)

वेद समस्त विद्याओं का स्रोत है, सम्पूर्ण ज्ञान वेद से ही मानव-समाज को प्राप्त हुआ। सार्वभौमिक नियमों का प्रतिपादन वेद में है, इत्यादि सब बातें सायणभाष्य को पढ़कर कभी मन में नहीं बैठ सकतीं।

[वेदवाणी, वर्ष ६, अङ्क ७]

वेदार्थप्रक्रिया के मूलभूत सिद्धान्त

वेद प्रभु की पवित्र वाणी है, जो सृष्टि के आदि में ऋषियों द्वारा मानव हितार्थ दी गई, जिसमें सब सत्यविद्यायें निहित हैं। जिसका ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक मानव का परम कर्त्तव्य है। ऐसी धारणा प्राचीन आर्य-वैदिक-सनातन-संस्कृति-सभ्यता और साहित्य में आस्था रखनेवाले प्रत्येक भारतीय की है, जो उचित है और होनी ही चाहिये। कालचक्र से अपनी संस्कृति-सभ्यता और साहित्य के वास्तविक स्वरूप को (चाहे किन्हीं भी कारणों से) भूलकर जो भारतीय वेद से बहुत दूर हो चुके हैं, उनमें अभी तक ऐसे व्यक्तियों की संख्या पर्याप्त है, जो इतना तो मानते हैं कि संसार के पुस्तकालय में ऋग्वेद सबसे प्राचीन पुस्तक है। उनका यह विश्वास चाहे विदेशी विद्वानों के कहने के पश्चात् हुआ हो अथवा स्वयं ही ऐसी आस्था रखते हों।

आज हम इस बात पर विचार करना चाहते हैं कि वेद के अर्थ के सम्बन्ध में कौन सी मूलभूत धारणाएं हैं, वा कौन से आधारभूत सिद्धान्त हैं, जिनके समझ लेने से वेद और उसके अर्थ का यथार्थ स्वरूप हमारी बुद्धि में बैठ जाता है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि वेद और वेदार्थ के विषय में भारतीयों वा अन्यों के मन में बैठी हुई कुछ भ्रान्तियां वा मिथ्या धारणायें हैं, जिन्हें वे अपनी वास्तविक वा गम्भीर शङ्कायें समझते हैं, (और उन्हें समझना ही चाहिये), जब तक उन शङ्काओं का निराकरण नहीं होता, वे मिथ्या धारणायें कैसे दूर हो सकती हैं, उनके निराकरण के लिये हमें किन-किन मूलभूत कारणों सिद्धान्तों वा धारणाओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना आवश्यक है, यह हम दर्शाते हैं।

१. ईश्वरविश्वास

सबसे प्रथम हमें ईश्वर के सम्बन्ध में विचार करना होगा। जब तक एक व्यक्ति के मन में ईश्वर के विषय में यथार्थ धारणा नहीं बैठ जाती। जब तक उसे यह निश्चय नहीं हो जाता कि इस चराचर जगत् का संचालन नियमन करनेवाली कोई शक्ति अवश्य है, जिसके विना यह प्राकृ-

तिक सौर्यं मण्डलादि विविध जगत् के उत्पत्ति और विनाश का सुव्यवस्थित क्रम, ऋतुओं की व्यवस्था सम्पूर्ण जड़ जगत् की उत्पत्ति-स्थिति और समाप्ति की प्रक्रिया नहीं चल सकती तथा देहधारी प्राणियों के माता के गर्भ से लेकर मृत्युपर्यन्त सब चेष्टाओं-क्रियाओं तथा सुख-दुःख भोग का ठीक-ठीक नियमन आदि जड़ प्रकृति तथा अल्पज्ञ जीव द्वारा नहीं हो सकते। जो शक्ति इन सब का नियमन करती है,वही ईश्वर है। उसी को ब्रह्म-परमात्मा आदि नामों से कहा गया है। जब तक एक व्यक्ति के आत्मा में यह शङ्का बनी रहेगी कि ईश्वर है या नहीं ? यह जगत् स्वयं ही चल रहा है। प्रकृति स्वयं अपना संचालन कर रही है। जीव ही इस सबको चला सकता है। अधिक ज्ञान बढ़ जाने पर यही सर्वज्ञ हो जाता है। इस प्रकार की मिथ्या भ्रान्तियां जब तक मन में बैठी होंगी तब तक उस व्यक्ति के मन में वेद (ईश्वरकृत) के विषय में क्या आस्था वा धारणा बन सकती है। कुछ भी नहीं बन सकती, यह स्वाभाविक है। हम यहां ईश्वरसिद्धि में युक्तियाँ वा प्रमाण उपस्थित करने नहीं बैठे, हमारा तो यह कहना है कि वेद वा वेदार्थ के विषय में जो भ्रान्तियां मन में बैठी होती हैं, उनमें 'ईश्वराविश्वास' मुख्य वा प्रथम कारण समझना चाहिए। हमारा यह अनुभव है कि वेदविषय में भ्रान्तियोंवाले व्यक्ति का यदि गम्भीरता से अध्ययन किया जावे तो निश्चय ही उनमें 'ईश्वरविश्वास' उसके आत्मा वा अन्तःकरण के किसी गहरे तल पर छिपा अवश्य दृष्टिगोचर होगा।

इससे भिन्न दूसरी बात यही हो सकती है कि उसे यदि 'ईश्वर-विश्वास' है फिर भी 'वेद ईश्वरीय ज्ञान है' इस विषय में उसे भ्रान्ति है वा संशय है तो यदि गहरी दृष्टि से देखा जावेगा तो यही ज्ञात होगा कि उसे ईश्वर के गुणों के विषय में कुछ भ्रान्ति सन्देह मन में बैठे हुये हैं। वह या तो ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता-नियन्ता और संहर्त्ता नहीं मानता होगा, प्रकृति स्वयं ही सब क्रियायें करती रहती है। अथवा वह ईश्वर से भिन्न जीव और प्रकृति को ही नहीं मानता होगा। वह ईश्वर और जीव में सर्वज्ञ और अल्पज्ञ का भेद नहीं करता होगा। ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप-सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान्-निराकार अनन्त-निर्विकार-अनादि-सर्वान्तर्यामी-सर्वव्यापक और सृष्टिकर्त्ता है, ऐसा न मानकर अवश्य ही कुछ भिन्न समझता वा मानता होगा। जो व्यक्ति ईश्वर को सत्-चित्-आनन्द स्वरूप मानता है, उसे अवश्य ही प्रकृति को केवल सत् (चेतन

और आनन्द युक्त नहीं) और जीव को (सत् और चित् चेतनवान्) मानना पड़ता है, उसके उपर्युक्त विशेषण मान लेने पर ही उसका यथावत् स्वरूप समझ में आ सकता है। नहीं तो ईश्वर को मान लेने पर भी वास्तव में वह ईश्वर की मान्यता से बहुत दूर है, यही कहना पड़ेगा। चाहे वह अपने को पूर्ण ईश्वरविश्वासी ही क्यों न मान रहा हो। ईश्वर-विश्वास का यथार्थरूप इन उपर्युक्त गुणों को मानने पर ही ठीक कहा जायगा।

सो ऐसा न माननेवाले व्यक्तियों की वेद वा वेदार्थ के विषय में भ्रान्ति बनी रहना भी स्वाभाविक समझना चाहिये, यह हमारा कहना है।

यह भी विदित रहे कि ईश्वर के उपर्युक्त विशेषण हमारे किसी अन्य के घड़े हुए नहीं हैं, अपितु ये सब विशेषण वेद और उपनिषदादि में सर्वत्र बाहुल्यता से मिलते हैं। जो ईश्वर को नहीं मानता, वह तो यह कहेगा कि ऋषियों ने पीछे यह सब कल्पनायें की। जो ईश्वर-विश्वासी होगा और उसके उपर्युक्त गुणों को मानता होगा, वह तो समझ सकेगा कि जब परमात्मा ने सारी सृष्टि रची और जीवों के सुख-दुःख भोगार्थ सब पदार्थ दिये, तो उन्हें बोलना भी तो सिखाना आवश्यक था और यह ज्ञान भी देना अनिवार्य था कि मानव-सृष्टि में उत्पन्न किए पदार्थों से जीव यथावत् काम ले सके, अन्यथा उन पदार्थों का उत्पन्न करना ही निरर्थक सिद्ध होगा।

अतः वेद और वेदार्थ के स्वरूप का यथार्थ बोध करने के लिए ईश्वर और उनके गुणों में यथावत् विश्वास होना अनिवार्य है।

२. सृष्टि उत्पत्ति और प्रलय का सिद्धान्त वा क्रम

जब ईश्वर में एक व्यक्ति का विश्वास निःसंशय है और उसके सृष्टिकर्त्ता नियन्ता आदि गुणों को वह मानता है, तब वह यह बात तो मान नहीं सकता कि ईश्वर तो है पर सृष्टि अपने आप उत्पन्न हो जाती है क्योंकि जड़ पदार्थ में स्वयं उत्पन्न होने की शक्ति नहीं। एक ईंट या पत्थर स्वयं उठकर दूसरे स्थान तक नहीं पहुंच सकता, क्योंकि वह चेतन नहीं, चिति नाम ज्ञान का है। जड़ में ज्ञान कहां। यदि कहो जीव तो चेतन है, वह स्वयं सृष्टि रच लेगा, सो भी नहीं। वह अल्पज्ञ है। उसे तो अपने शरीर का भी पूरा-पूरा ज्ञान नहीं। शरीरसम्बन्धी खोजें

(रिसर्चें) जीवों द्वारा ही हो रही हैं, पर यह सब कुछ होने पर भी ये लोग अभी तक शरीर के अन्त तक सब बातों को नहीं जान पाये, न जान पा सकते हैं—हां जानने का यत्न करते रहना तो अच्छी बात है। अनन्त प्रभु की अनन्त सृष्टि का ज्ञान सान्त जीव कर ही कैसे सकता है। एक पत्ते का पूरा-पूरा विश्लेषण अभी तक पूर्णतया नहीं हो पाया। जो जीव सृष्टि को समझ नहीं सकता, वह उसको रच लेगा, यह तो एक अत्यन्त हास्यास्पद बात है। अन्ततोगत्वा यही कहना पड़ेगा कि इस सृष्टि को उत्पन्न करनेवाला जीव से भिन्न कोई महान्-शक्तिशाली चेतन ही हो सकता है उसी को ब्रह्म कहते हैं।

जो वस्तु बनी है, उत्पन्न हुई है, वह अवश्य नष्ट होगी। जिसका आरम्भ है उसका अन्त भी है, यह अवश्य मानना पड़ेगा। इस नियम से जब सृष्टि की उत्पत्ति होती है, तो उसका प्रलय होना भी अनिवार्य है। जब प्रलय होगी तो उसकी पुनः उत्पत्ति भी समझ में आ जाती है। क्योंकि हम प्रकृति में देखते हैं कि दिन पश्चात् रात्रि आती है और रात्रि के पश्चात् दिन आता है, यह चक्र प्रतिदिन हम अपनी आंखों से देख रहे हैं। यही क्रम सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का समझना चाहिये।

इतने विवेचन से यह बात अब सहज में समझ में आ सकती है, कि वेद ईश्वर का दिया हुआ वह ज्ञान है, जिससे सम्पूर्ण जगत् चल रहा है। ईश्वर के सृष्टि कर्त्ता-सर्वनियन्ता-सर्वव्यापक आदि गुण समझ में आ जाते हैं। यह बात भी समझ में आ जाती है कि सृष्टि-उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय जीवों के कर्मानुसार ईश्वर की व्यवस्था से होती है, प्रकृति स्वयं सर्वव्यवस्थापिका नहीं हो सकती। विवेचन करने पर यह बात समझ में आ जाती है।

३. काण्टा बदलने का मुख्य केन्द्रबिन्दु विकासवाद का सिद्धान्त

ईश्वरविश्वास और सृष्टि क्रम की व्यवस्था समझ में आने पर भी वेद और वेदार्थ के विषय में भ्रान्ति न पैदा होनी चाहिये, पर फिर भी यह भ्रान्ति उत्पन्न होती देखी जाती है। इसका मूल कारण क्या है, इस पर भी हमें आज विचार करना है।

हमारी दृष्टि में यहां पर ही काण्टा बदले का मुख्य केन्द्र बिन्दु है। जहां पर कि पहुंचकर अधिकतर विद्वान् समझे जानेवाले व्यक्ति भी विपरीत मार्ग पर चल पड़ते हैं और आगे दूर-दूर होते जाते हैं, जैसा रेल का काण्टा बदलने पर आगे-आगे दो लाइनें दूर-दूर ही होती जाती हैं। कभी-कभी तो एक-दूसरे की सर्वथा विरुद्ध दिशा में चल पड़ती हैं, एक पूर्व को जाती है, तो दूसरी आगे जाकर पश्चिम की ओर हो जाती है। इतना भेद उन दोनों में पड़ जाता है। इसी प्रकार दो ईश्वर-विश्वासियों का काण्टा भी बदल दिया जाता है, तो वे दोनों एक दूसरे की विरुद्ध दिशा में चल पड़ते हैं, फिर उनका केन्द्र बिन्दु एक नहीं हो पाता, सिद्धान्त भेद की दो दिशाओं को पकड़े हुये एक-दूसरे से दूर-दूर ही होते जाते हैं।

सो वह केन्द्रबिन्दु क्या है? जहां से दो मार्ग पृथक्-पृथक् चल पड़ते हैं? वह केन्द्रबिन्दु ईश्वरविश्वासी होने पर विकासवाद का सिद्धान्त है, जो दोनों में भेद डाल देता है। जिस पर से दोनों एक-दूसरे से अत्यन्त दूर हो जाते हैं, सो कैसे?

जब एक व्यक्ति यह समझने लगता है कि ईश्वर सर्वज्ञ है, तो उसने ज्ञानपूर्वक संसार के सब पदार्थ उत्पन्न किये और उस प्रभु ने पदार्थों के साथ-साथ उनके उपयोग का ज्ञान भी आदि सृष्टि में जीवों को दिया। जब ज्ञान भी दिया, (वह कैसे दिया, यह अलग प्रश्न है, जिस पर कि हम आगे विचार करेंगे) साथ ही उस प्रभु ने बोलना भी तो सिखाया, क्योंकि वह भी तो ज्ञान ही है। दूसरे शब्दों में उसने भाषा भी तो सिखायी। तभी आगे परस्पर बोलने=बातचीत करने का व्यवहार संसार में चला। यदि प्रभु नहीं सिखाता या भाषाविषय का ज्ञान नहीं देता या दूसरे शब्दों में कोई सिखानेवाला नहीं होता तो भाषा का व्यवहार ही कदापि न चल पाता। क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि एक नवजात बालक को यदि ६ मास सर्वथा पृथक् रखा जाये, उसके पास किसी भी भाषा को बोलनेवाले न जावें वा उसके सामने न बोलें, तो वह बालक कुछ भी न बोल सकेगा। यह बात प्रायः सर्वविदित है। जब वर्त्तमान में बिना सिखाए बच्चा कोई भाषा नहीं बोल सकता, तो सृष्टि के आदि में मानव अपने-आप भाषा का व्यवहार कैसे कर सकता था। इससे विदित हो जाता है कि सृष्टि के आदि में भाषा का ज्ञान भी दिया गया। वह किसके द्वारा दिया गया, यह बात सहज में समझ में

आ जाती है कि जिसके द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति हुई, उसी के द्वारा भाषा का ज्ञान और सब प्रकार का अन्य ज्ञान भी दिया गया।

हम कहते हैं कि यह ज्ञान उस परमप्रभु के द्वारा दिया गया। ईश्वर-विश्वासी की यह बात अनायास समझ में आ जाती है। जो ऐसा समझता है कि 'धीरे-धीरे प्राणियों ने क्रमिक विकास द्वारा बोलना सीखा, अर्थात् पहिले-पहल मानव पशु के समान अव्यक्त (अस्पष्ट) ध्वनिमात्र करता था। शब्द धीरे-धीरे बोलने में आये। उसके आगे लोगों ने विकास के सिद्धान्त पर शब्दों के अर्थों की कल्पना की होगी।' विकासवाद के इस सिद्धान्त के आधार पर यद्यपि ऐसा व्यक्ति अपने आप को ईश्वरविश्वासी कहता है या जनसमुदाय भी उसे ईश्वर-विश्वासी समझता है, पर वास्तविक दृष्टि से देखा जाये तो ऐसे व्यक्ति को या तो ईश्वर द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति में विश्वास नहीं या उसके मन में विकासवाद का सिद्धान्त चक्र लगा रहा है। वह यही सोचता है कि क्रमशः ही सब पदार्थों का विकास हुआ होगा, भाषा भी इसी में आ गई, अर्थात् भाषा का भी क्रमिक विकास हुआ होगा। हम ऐसे व्यक्ति को ईश्वरविश्वासी नहीं कह सकते। वस्तुस्थिति यही माननी पड़ेगी कि ईश्वर को चाहे वह मुख से तो मान रहा हो, पर हृदय में उसके (ईश्वर के) सृष्टिकर्त्ता आदि गुणों में उसे विश्वास नहीं, यही कहना पड़ता है। ईश्वरविश्वासी हो और उसे विकासवाद के सिद्धान्त में आस्था हो. दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं, एक साथ नहीं रह सकतीं। अथवा यही कहना पड़ेगा कि उस ईश्वरविश्वासी का विश्वास इतना निर्बल वा क्षीण वा ढिलमिल है कि यह विकासवाद के सिद्धान्त से टकराकर चकनाचूर हो गया है, वह विश्वास दृढ़ होता तो डिगता नहीं। ईश्वरविश्वासी तो सृष्टि का कर्त्ता तो परमेश्वर है, ज्ञान का दाता भी परमेश्वर है, भाषा का ज्ञान भी उसने दिया, उससे ज्ञान प्राप्त कर अर्थात् आदि ऋषियों ने वेद के आधार पर या आश्रय से भाषा शब्द शब्दार्थ सम्बन्ध को समझा, जिसका मूल वेदों में ही दे दिया गया था अर्थात् भाषा की उत्पत्ति का आधार वेदज्ञान था, ऐसा मानता है।

जिन शब्दों का ज्ञान वेद द्वारा हुआ, वे तो सीधे ईश्वर द्वारा वेद के रूप में आदि ऋषियों को विदित हुए। साथ ही वर्त्तमान में व्यवहार में आनेवाले शब्दों को पीछे आनेवाले ऋषियों ने प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना

द्वारा सर्वसाधारण को बोध कराया। वेद में भी ऐसे शब्द हैं, जिन में बहुतसों के तो धातु (मूल) का प्रयोग केवल क्रियावाची पदों में मिलता है, कइयों का कृदन्त पदों में मिलता है, उनके क्रियावाची पद नहीं। प्राय: सभी धातु किसी न किसी रूप में वेद में वर्त्तमान हैं। आदि ऋषियों को उन एक-दो शब्दों को ही देखकर उन के सब शब्द शब्दार्थ सम्बन्ध का ज्ञान हुआ। पीछे जब लोगों की शक्तियां क्षीण हो गईं, तो ऋषियों ने यह परम्परा नष्ट न हो जाये, इस विचार से पीछे वेदाङ्गों की रचना की। ये वेदाङ्ग भी शक्ति के क्षीण होने के कारण उसी अनुपात से अधिक स्पष्ट और अधिक विस्तार से प्रतिपादन करनेवाले बनते गये, जैसा कि वर्त्तमान में पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी पर न समझनेवालों के लिये कात्यायनकृत वार्तिक बने। ये ह्रासवाद के द्योतक हैं, न कि विकासवाद के, क्योंकि आगे चलकर महाभाष्यकार ने उन वार्तिकों की आवश्यकता का प्रत्याख्यान जिस सुन्दरता और प्रौढ़ता से किया, उसका उदाहरण सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में नहीं मिलता। अगाध बुद्धि पाणिनि की पदे-पदे पर पुष्टि की। 'यथोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम्' तो अनार्ष लोगों की कल्पना है।

हमारा कहना यह है कि वर्तमान शब्दशब्दार्थसम्बन्ध की परम्परा निश्चय ही आदि सृष्टि के ऋषियों द्वारा वेद के आधार पर निर्धारित शब्दशब्दार्थसम्बन्ध के आधार पर बराबर वैसा की वैसी निरन्तर चली आ रही है। अत: उसे पाणिनि और पतञ्जलि नित्य मानते हैं।

रही लक्ष श्लोकात्मक व्याडि-कृत संग्रह नामक ग्रन्थ की बात (जो वर्तमान में मिलता नहीं, सर्वथा लुप्त हो चुका है), सो ऐसा प्रतीत होता हैकि जैसे प्रातिशाख्य ग्रन्थ केवल संग्रहात्मक हैं, इसी प्रकार व्याडिकृत संग्रह ग्रन्थ भी प्रातिशाख्यों की भांति व्याकरण के नियमों का संग्रह (एकत्रित) किया हुआ मात्र रहा होगा, जो वेद से ही व्याकरण जान लेने और उस शक्ति के क्षीण हो जाने पर वेदाङ्ग के रचनाकाल, इन दोनों कालों के बीच में संक्रमणकाल में बना हो। यदि ग्रन्थ सामने होता तो इसपर और अधिक गम्भीर विचार हो सकता था, अब तो सम्भावना की बात ही कही जा सकती है। इस विवेचन से पता लग जाता है कि वेद के आधार पर प्रवृत्त और ऋषियों द्वारा भाषा के रूप में प्रसारित शब्दशब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता अवश्य है। 'गच्छति' का अर्थ 'जाना'

ही है, 'खाना' नहीं। 'पश्यति' का अर्थ 'देखना' है, 'सूंघना' नहीं। ऐसे ही अश्व का अर्थ घोड़ा (लोक में) है, गधा नहीं।

इस प्रकार भाषा की उत्पत्ति हमें क्रमिक विकास द्वारा मानने की यत्किञ्चित् भी आवश्यकता नहीं। प्रभु के द्वारा दिये वेदज्ञान के आधार पर भाषा का ज्ञान भी प्रभु द्वारा ही आदि ऋषियों को मिला और उन के द्वारा संसार में प्रवृत्त हुआ।

४. एक भारी शंका का समाधान

इस स्थल पर हमारे सामने एक भारी शङ्का उपस्थित की जाती है, उस पर भी हमें विचार कर लेना है। वह यह है कि शब्द दो प्रकार के माने गये हैं। एक नित्य दूसरे अनित्य। जैसा कि ऋषि दयानन्द ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (वेदनित्यत्वप्रकरण) में कहा है—

'शब्दो द्विविधो नित्यकार्यभेदात्। ये परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थ-सम्बन्धाः सन्ति ते नित्या भवितुमर्हन्ति। येऽस्मदादीनां वर्तन्ते ते तु कार्याश्च।'

अर्थात् 'शब्द दो प्रकार का होता है, एक नित्य दूसरा कार्य, इनमें से जो शब्द-अर्थ और सम्बन्ध परमेश्वर के ज्ञान में हैं, वे सब नित्य ही होते हैं, और जो हम लोगों की कल्पना से उत्पन्न होते हैं, वे कार्य होते हैं।' — ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ० २७।

ऐसी स्थिति में अस्मदादि मनुष्यों द्वारा निश्चित किया शब्दशब्दार्थ-सम्बन्ध तो अनित्य ही माना जायेगा। इसकी क्या गति होगी ?

इसमें हमारा यह कहना है कि प्रथम तो हमें प्राचीन संस्कृतसाहित्य में से ही बहुतसे शब्द मिलेंगे, जो वर्तमान समय में हमें प्रचलित साहित्य में नहीं मिल रहे, क्योंकि —

'उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्। महान् हि शब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्त-द्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्याः, एकशत-मध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः.........वैद्यकमित्येतावान् शब्दस्य प्रयोगविषयः।' —महाभाष्य पस्प०, ६४-६५

अर्थात् सप्तद्वीपा वसुमती, तीन लोक, चार वेद, अङ्गोपाङ्ग, वेद की शाखाएं ११२७, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण, वैद्यक—इतने महान् साहित्य में शब्दों का प्रयोग है। इन सब में प्रयोगों की खोज करनी चाहिये।

इतना विशाल साहित्य था, यह तो महाभाष्यकार के इस वचन से मानना ही पड़ेगा। इस में से बचा-खुचा जितना भी साहित्य उपलब्ध है, उसमें हमें देखना होगा कि नये प्रचलित शब्दों के अर्थों को देनेवाले शब्द उनमें हैं या नहीं। जैसे वर्तमान मिठाइयों में जलेबी, फिरनी, रसगुल्ला, गुलाबजामुन पदार्थों के वाचक शब्द कुछ न कुछ तो रहे होंगे। हम तो यह भी कहते हैं कि स्वतन्त्र भारत के वर्तमान विधान वा प्रयोग में आने वाले शब्दों के लिये संस्कृत के शब्द नये घड़ने के स्थान में प्राचीन शब्द वहुत मिलेंगे, जिनकी खोज होना वा कराना भारत सरकार का परम कर्तव्य है। कहना यह है कि वहुत से शब्द तो हमें इस प्रकार मिल जायेंगे, शेष कुछ शब्द बनेंगे अवश्य, जिन का आधार न तो वेद में (स्पष्टरूप में) मिलेगा, न पश्चाद्वर्ती संस्कृतसाहित्य में। ऐसे शब्दों के शब्दशब्दार्थसम्बन्ध को हम भी अनित्य मानते हैं। क्या यह विकास-वाद नहीं होगा ? हम कहते हैं नहीं, क्योंकि एक कुर्ता है, उसके पचास तरह के डिजाइन (रूप) मानव समाज में स्त्री-पुरुषों की भिन्न-भिन्न रुचि होने के कारण (भिन्नरुचिर्हि लोकः) भिन्न-भिन्न देखने में आते हैं। इन रूपों (डिजाइनों) की संख्या और भी बढ़ सकती है। इन पचास प्रकार के कुर्तों को खूण्टी पर लटके हुए एक आदमी उनमें भेद करने के लिए उनके नामों की कल्पना भिन्न-भिन्न करता है। जैसे आम बेचने वाला एक ही पदार्थ को १०-२० टोकरों में रखे हुए उन आमों के भिन्न-भिन्न नाम, लङ्गड़ा, कपूरी, बम्बई, सिन्धूरी आदि शब्दों से व्यवहार करता है, इसी प्रकार नये-नये शब्दों की घड़न्त चलना स्वाभाविक है। ऐसे शब्दों के व्यवहार को, उनके परस्पर सम्बन्धों को हम अनित्य ही मानते हैं। हम इसको विकासवाद का सिद्धान्त नहीं मानते। हम यह समझते हैं कि इस प्रकार शब्दों को व्यवहार में लाने का प्रकार भी आदि ऋषियों द्वारा मनुष्यों को वतला दिया गया था, जिसका ज्ञान उन्हें देर से हुआ। एक वात सोचने की है कि प्रभु ने जितने भी देहधारी प्राणी वा पदार्थ उत्पन्न किये, क्या उन सव का नाम सृष्टि के आदि में नहीं बतलाया होगा, औषधवर्ग को ही ले लें, यह नहीं हो सकता। जब गोधूम=गेहूं को कहते हैं, यव नाम जौ का है, सिंह शेर को कहते हैं, गर्दभ गधे का नाम है, तो सव पदार्थों के नामों का व्यवहार भी तो बताया होगा। जव पदार्थ उत्पन्न किये तो उनके नाम भी तो बताये होंगे। जिन शब्दों का उल्लेख वेद में आया, वे तो समझ में आ ही

जायेंगे, जिनका नाम भी वेद में नहीं आया, तो उनके लिये कैसे व्यवहार होगा, यह ज्ञान भी तो भाषा की उत्पत्ति के साथ-साथ मानवसमाज को मिलना चाहिये। यह सब ज्ञान आदि ऋषियों को वेद के आधार पर था। वे हर एक वस्तु का नाम और गुण जानते थे। जीवों, देहधारियों के विभिन्न वर्गों के नामादि का पूरा ज्ञान उन्हें था, यह हमारा कहना है। हमारा कहना यह हैं कि इन सब के लिये भी विकासवाद का सिद्धान्त मानने की कुछ भी आवश्यकता नहीं। यदि ऐसा होता कि पहले आम पैदा होता, पीछे लीची पैदा होती, पीछे सन्तरा, तो भी बात थी। एक प्रदेश में एक वस्तु पैदा हुई, दूसरे में दूसरी, ऐसा तो रहा, जो अब भी है, सो विकासवाद इससे भी सिद्ध नहीं होता। भाषा की उत्पत्ति क्रम का सृष्टि उत्पत्ति क्रम के साथ गहरा वा अटूट सम्बन्ध है, यह दर्शाने का हमने यत्न किया।

अब हम अपने क्रमागत विकासवाद पर कुछ और विचार उपस्थित करते हैं।

५. विकासवाद पर एक सामान्य दृष्टि

ईश्वरविश्वासी की दृष्टि में ईश्वर ने सृष्टि उत्पन्न की, सब प्रकार का ज्ञान जीवों को दिया, भाषा का ज्ञान भी दिया, आगे भाषा में व्यवहार के नियमों का भी बोध वा ज्ञान आदि ऋषियों को दिया, जिससे आगे उसी के आधार पर भाषा लोकव्यवहार में आई। विकासवाद के सिद्धान्त पर भाषा की उत्पत्ति तभी मानी जा सकती है, जब यह मान लिया जाये कि सृष्टि अपने आप उत्पन्न हो गई, इस को उत्पन्न करने वाला कोई न था। ऐसी स्थिति में विकासवाद की बात कोई करता है तो भी कुछ बात है। ईश्वरविश्वासी ऐसी अनर्गल बात को कैसे कह सकता है कि सृष्टि अपने आप उत्पन्न हो गई या हो जाती है, यह कैसे कह देगा। हां, जिसे ईश्वर में विश्वास नहीं, वह कह सकता है।

अब हम विकासवाद के सिद्धान्त पर एक सामान्य दृष्टि से भी विचार करते हैं—

क्या वानर और मनुष्य साथ-साथ उत्पन्न हुए या आगे-पीछे, यदि विकासवाद का सिद्धान्त मान लिया जावे तो वानर तो मनुष्य बन गये, फिर वानरों की सत्ता ही समाप्त होनी चाहिये। यदि कहो कि वानर उत्पन्न होते जाते हैं और मनुष्य बनते जाते हैं, तो इस शरीर को छोड़

कर मनुष्य भी बन सकते हैं, अन्य पशु-पक्षी भी, फिर क्या विशेषता रही। इसी जन्म में बनते हैं तो फिर आज क्यों नहीं बनते। इसमें भी प्रश्न है कि इसमें सञ्चालक जड़ है या चेतना। विकासवादी को यह बताना होगा कि क्या जड़ प्रकृति में स्वयं चलने और चलाने की सामर्थ्य है ? उसके मत में जो वस्तु बनी है, वह बिगड़ेगी या नहीं ? यदि प्रकृति को चेतन मानते हो तो क्या प्रकृति जड़ और चेतन दोनों गुणों से युक्त है या किसी एक से ? दुर्जनसन्तोष न्याय से यह मान भी लिया जावे कि प्रकृति चेतन है, ज्ञानवाली है, तो भिन्न-भिन्न जीवों का ज्ञान भिन्न-भिन्न क्यों है ? इस भिन्नता का नियामक क्या है ? यदि जड़ मानते हो तो फिर जगत में नियम व्यवस्था से पदार्थों की उत्पत्ति विनाश किंकृत है, उसका नियामक कौन है ? एक सौर्यमण्डल के नियमपूर्वक सब कार्य होने को देखकर ही नियन्ता का ज्ञान होने लगता है। जो जीव की समझ से भी बहुत कुछ दूर है, जिसके अन्त तक पहुंचना भी उस की शक्ति से सर्वथा बाहर है। नियन्ता मान लेने पर तो विकासवाद को कहीं स्थान भी नहीं। और विचारिये तो पता लगता है कि सृष्टि में तो विकास और ह्रास साथ-साथ चलता है और वह बराबर चलता रहता है। आज हम एक बीज बोते हैं, वह उगता है, बढ़ता है, बढ़कर एक महान् वृक्ष के रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है। फिर वह क्षीण होने लगता है, नष्ट हो जाता है। जब एक वृक्ष बढ़ रहा होता है तो दूसरा वृक्ष क्षीण हो रहा होता है। जब एक क्षीण हो रहा होता तो दूसरा बढ़ रहा होता है। बच्चा बढ़ रहा होता है तो पिता या पितामह क्षीण हो रहा होता है।

इस प्रकार सृष्टि में हम विकास और ह्रास एक साथ हो रहा देखते हैं। यदि विकासवाद का सिद्धान्त ठीक माना जावे तो विकास ही विकास दृष्टिगोचर होना चाहिये, सो नहीं होता, यही हमारा कहना है। हम तो यह कहते हैं कि कभी ह्रास होता है तो कभी विकास होता है। भारत मुसलमानों वा अंग्रेजों के राज्य से पहिले क्षीण होता-होता अवनति अर्थात् ह्रास की ओर जा रहा था। १४ अगस्त १९४७ तक ह्रास ही ह्रास में गया। १५ अगस्त १९४७ से विकास की ओर चला है। चाहे इस में कुछ प्रान्तों में अभी विकास का स्वरूप किन्हीं की दृष्टि से न भी हो, पर विकास की ओर उनका पग उठ रहा है, यह तो मानना ही पड़ेगा। जो भारत पहिले समृद्धिशाली था, वह गत कुछ शतियों में

इतना क्षीण रहा कि जिसकी कोई सीमा नहीं। अब पुनः विकसित होना आरम्भ हुआ है। सो समय की परिस्थितियों के कारण विकास और ह्रास सदा होता रहता है। यह हमारा कहना है।

यदि विकासवाद का सिद्धान्त ठीक होता तो वर्तमान मनुष्यों की शारीरिक शक्ति आज से १०००-५०० वर्षों की अपेक्षा वृद्धि को प्राप्त हुई होती। इतना तो दूर की बात है, १०००-५०० वर्ष पहिले की बात किसने देखी होगी, १०० वर्ष या इसके लगभग की बात बतानेवाले व्यक्ति तो वर्तमान में भी मिल रहे हैं, जो ये कहते हैं कि आजकल नवयुवक १०० वर्ष पहिले के वृद्धों से भी गये बीते हैं। वनस्पति खानेवाली वर्तमान पीढ़ी ५० वर्ष पीछे ही बता देगी कि यह कहां तक ह्रास को प्राप्त हो गयी। रोगों से युद्ध करने की शक्ति (अर्थात् जीवनी शक्ति) ही वर्तमान में अति क्षीणता को प्राप्त होती चली जा रही है, जिससे नये-नये रोगों की उत्पत्ति होना स्वाभाविक है। महाभारतकाल के मनुष्यों का वर्णन यदि अतिशयोक्ति या ऐतिहासिकों वा कवियों की निरूपण-शैली भी मान लिया जावे तो भी उपर्युक्त रीति से १०० वर्ष की गति-विधि से भी यही बात समझ में आजाती है कि विकास होना तो कहां रहा, उलटा ह्रास ही दृष्टिगोचर होता है। जैसे शारीरिक अवस्था में ह्रास दिखाई देता है, वैसे ही बुद्धियों में भी ह्रास ही कहा जा सकता है। यह वर्तमान पढ़ाई के क्रम को देखकर समझ में आने लगता है। एक मैट्रिक का ज्ञान गत पचास वर्षों के मिडिल के बराबर भी नहीं। आज का बी० ए० पिछले ५० वर्षों में पढ़े मैट्रिक के बराबर अङ्ग्रेजी नहीं लिख सकता। संस्कृतसाहित्य में तो सर्वथा स्पष्ट है कि पिछले १०० वर्ष की अपेक्षा इस समय का ज्ञान पल्लवग्राही पाण्डित्य के रूप में सामने आ रहा है। प्रौढ़ पाण्डित्य का तो लोप ही होता चला जा रहा है। इस सब का कहने का हमारा तात्पर्य इतना है कि शारीरिक और बौद्धिक शक्तियों का ह्रास ही होता दीखता है। विकास यदि है तो छल-कपट-बेईमानी-रिश्वत-चोरी-भ्रष्टाचार-विश्वासघात आदि का कहा जा सकता है।

इसमें एक भारी शङ्का उठाई जा सकती है, उठाई जाती है कि विज्ञानसम्बन्धी आविष्कार विकासवाद के सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं, निस्सन्देह विज्ञान के आविष्कार एक से एक बढ़कर इस समय हुए हैं

और हो रहे हैं। मानवज्ञान की यह एक उत्कृष्टता के द्योतक हैं। मानव शक्ति को ये वहुत ऊंचे स्थान तक पहुंचा रहे हैं। उन आविष्कार करने वाले विद्वानों के प्रति संसार को कृतज्ञ होना ही चाहिये। उनसे मानव-हित होता है या विनाश, यह दूसरी बात है। उनसे लाभ उठाया जा सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं, सो एक विषय का ह्रास तो दूसरे में विकास। और नहीं तो रोगों में ही विकास हो रहा है।

इस विषय में हमारा यह कहना है कि यह समझ लेना भूल होगी कि इस समय विज्ञान संसार के इतिहास में सबसे वड़ा है। इस जैसा या इस से अधिक भी विज्ञान रहा ही नहीं, सो बात नहीं। रामायण और महा-भारत काल के युद्धसमय के नियमों से पता लगता है कि उस समय प्रजाजनों का नाश करना युद्ध के नियमों के विपरीत था। यहां तक कि शस्त्र से गिरे हुए व्यक्ति पर भी आक्रमण नहीं किया जाता था। स्त्री-बच्चों रोगियों वा आर्तों पर भी प्रहार नहीं किया जाता था। ऐसी दशा में एटमबम्व जैसे सर्वविनाशक साधनों का आश्रय लेना ही घोर पाप समझा जाता था। यह सब होने पर भी रामायण और महाभारत काल में भारत विज्ञान की चरम सीमा पर पहुंचा हुआ था, यह महा-भारत और रामायण के गहरे अनुशीलन से पता लगता है। सम-राङ्गण सूत्रधार आदि ग्रन्थ जो छपे हुये मिलते हैं, उनसे पता लगता है कि राजा भोज के समय तक भी भारत में विज्ञान पर्याप्त मात्रा में था। इस विषय में स्वतन्त्र भारत की सरकार जव इन विषयों में गहरी खोज भारतीय दृष्टिकोण से करायेगी, तव बहुत कुछ रहस्य मिलेंगे। अतः यह वर्तमान काल का वैज्ञानिक आविष्कार हमें विकासवाद के सिद्धान्त को मानने के लिये वाधित नहीं कर सकता।

अतः हम यह कह सकते हैं कि विकास और ह्रास सदा ही चलते रहते हैं। न सदा विकास ही विकास होता है, और न सदा ह्रास ही ह्रास होता है, कभी विकास कभी ह्रास, कहीं ह्रास और कहीं विकास —यही बात निश्चित ठहरती है।

९. वेदार्थ किन सिद्धान्तों पर आश्रित है

अब तक हमने वेदार्थ तक पहुंचने के लिये ईश्वरविश्वास, ईश्वर के गुणों का यथावत् ज्ञान, सृष्टि उत्पत्तिकर्ता और सृष्टि उत्पत्ति क्रम पर

कुछ प्रकाश डालने का प्रयास किया और अन्त में विकासवाद के सिद्धान्त को हमने इस विषय के विवेचन का केन्द्रबिन्दु बतलाया। सो जो व्यक्ति ईश्वर-विश्वास उसके गुणों का यथावत् ज्ञान रखता है और जिस को विकासवाद के सिद्धान्त में आस्था नहीं, वह वेद को जब देखेगा-पढ़ेगा-विचारेगा तो उसका दृष्टिकोण ही दूसरा होगा। जो ईश्वर विश्वासी है और उसके गुणों में उसकी आस्था नहीं, जो विकासवाद में विश्वास रखता है, वह जब वेद का अध्ययन करेगा तो निश्चय ही दूसरी भिन्न दृष्टि उसके सामने आयेगी। भावना में भेद होने से दृष्टि में भेद होना स्वाभाविक है। यही कारण है कि भारत में वेद के विषय में भिन्न-भिन्न दृष्टियां सामने आती हैं। इनको कई कोटियों में विभक्त किया जा सकता है, जो हम आगे करेंगे। यहाँ तो हम अब यह दर्शाना आवश्यक समझते हैं कि ईश्वरविश्वासी सृष्टिक्रम को ठीक माननेवाला और विकासवाद के सिद्धान्त को न माननेवाला व्यक्ति वेदार्थ तक कैसे पहुंचे ? वेदार्थ के कौन-कौन से मूलभूत सिद्धान्त हैं, जिन से एक व्यक्ति वेदार्थ के शब्दस्वरूप तक पहुंच सकता है।

अब हमें इसका निरूपण करना है। दूसरे शब्दों में वे कौन-कौन स्थल हैं या विषय हैं, जिन पर पहुंचकर एक विद्वान् भी वेदार्थ के सम्बन्ध में भ्रान्त हो जाता है, सो इस विषय का यहां हमने अति संक्षेप से ही प्रतिपादन करना है। वेदजिज्ञासु को निम्न बातों (सिद्धान्तों) का ज्ञान होना अनिवार्य है।

(१) लौकिक और वैदिक शब्दों का भेद, (२) त्रिविध प्रक्रिया, (३) वेद में इतिहास, (४) यौगिकवाद, (५) धातुओं का अनेकार्थत्व, (६) पदपाठ, (७) व्यत्यय, (८) देवतावाद, (९) सायणाचार्य की मूल में ही भ्रान्ति, (१०) दयानन्दभाष्य का वैशिष्टच।

इस समय प्रकृत में हम इतने विषयों पर ही विचार कर सकेंगे।

इन से अतिरिक्त यास्क से पूर्व वेदार्थ का स्वरूप, यास्क का अभिमत वेदार्थ, व्याकरण शास्त्र और वेदार्थ, सायण से पूर्ववर्ती वेदभाष्यकारों के वेदार्थ, सायण के वेदार्थ पर एक दृष्टि आदि इन सब विषयों पर हम इसी लेख में विचार करना चाहते थे, पर इस समय असम्भव जानकर छोड़ रहे हैं। पाठक चाहेंगे तो हम पुनः इन विषयों पर विचार उपस्थित कर सकेंगे।

१—लौकिक और वैदिक शब्दों में भेद

जो व्यक्ति इस विषय को नहीं जानता अर्थात् लौकिक शब्दों और वैदिक शब्दों में क्या-क्या भेद है, यह नहीं जानता, वह वेदार्थ तक नहीं पहुंच सकता। महाभाष्यकार ने 'शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्' कहकर आगे 'केषां शब्दानाम्' के उत्तर में कहा कि 'लौकिकानां वैदिकानां च' अर्थात् पतञ्जलि मुनि ने लौकिक और वैदिक दो प्रकार के शब्द माने। यही बात आगे **उणादयो बहुलम्** (अ० ३।१।१) सूत्र के भाष्य में भी **'नैगमरूढिभवं हि सुसाधु। नैगमाश्च रूढिभवाश्च'** कहकर शब्द के लौकिक और वैदिक दो भेदों का स्पष्ट निरूपण किया है।

वेदार्थजिज्ञासु को इन लौकिक और वैदिक शब्दों के भेद को जान लेना परमावश्यक है। लौकिक संस्कृत वा उसके कोषों में 'अहि' सांप को कहते हैं। 'पर्वत' वा 'गिरि' पहाड़ को कहते हैं। वैदिक निघण्टु में अहि, पर्वत और गिरि मेघ-नामों में पढ़े हैं, अर्थात् वेद में मेघ के नाम हैं। ऐसे लौकिक संस्कृत में 'पुरीष' मल को कहते हैं, वेद में जल को, 'वराह' सुअर को, वेद में मेघ को, 'ओदन' चावल को और वेद में मेघ को, 'घृत' घी को और वेद में जल को, 'व्योम' आकाश को और वेद में जल को। लौकिक शब्दों के समान अमरकोश आदि के आधार पर यदि वेद के अर्थ करने लगेंगे, तो कितना अनर्थ हो जायगा। यह बात वेदार्थजिज्ञासु को तत्काल समझ में आ जाती है। अतः वेदार्थ के लिये लौकिक शब्दों का कुछ भी आश्रय नहीं लेना चाहिये, वैदिक कोश निघण्टु और उसकी व्याख्या निरुक्त का आश्रय लेना चाहिये।

२—त्रिविध प्रक्रिया

वेदार्थ-विषय में यह बात भी जान लेना आवश्यक है कि आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधियाज्ञिक भेद से वेदमन्त्रों का अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में होता है। इस बात के लिये हमें सायणाचार्य से प्राचीन वेदभाष्यकारों का वेदार्थ गहराई से देखना चाहिये। इन आध्यात्मिक अर्थ करनेवाले वेदभाष्यकारों में बहुत से नाम गिनाये जा सकते हैं। जैसे—निरुक्तसमुच्चयकार वररुचि, आत्मानन्द (अस्यवामीय-भाष्य में), आनन्दतीर्थ (ऋग्वेद के ४० सूक्तों के भाष्य में), जयतीर्थ नर-

सिंहयति (छलारीटीका), राघवेन्द्रयति (मन्त्रार्थमञ्जरी), शत्रुघ्नाचार्य (मन्त्रार्थदीपिका) इत्यादि अनेक भाष्यकारों ने, जो सायण से पूर्ववर्ती हैं, जिन्होंने ऋषि दयानन्द से बहुत पूर्व ही वेदमन्त्रों के आध्यात्मिक अर्थ किये हैं।

(१) इन में आत्मानन्द लिखता है—

'अधियज्ञविषयं स्कन्दस्वामिभाष्यम्। निरुक्तमधिदैवतम्। इदं तु भाष्यमध्यात्मविषयमिति, न भिन्नविषयाणां विरोधः।' (आत्मानन्द अस्यवामीय भाष्य, पृ० ५४)

अर्थात् मन्त्रों के तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ होते हैं और हम अध्यात्मप्रक्रिया में अर्थ करते हैं।

(२) राघवेन्द्रयति लिखता है—**'अग्न्यादिदेवतापरत्वेन अध्यात्मपरत्वेन चेत्येवं त्र्यर्थपरतया व्याख्यातानि'**।

'विष्णुः सर्ववेदप्रतिपाद्यः, सर्ववेदानां विष्णवर्थत्वसिद्धेः' मन्त्रार्थमंजरी पृ० १०४।२॥

अर्थात् अध्यात्म आदि तीनों प्रकार का अर्थ वेदमन्त्रों का होता है।

(३) इस विषय में दुर्गाचार्य का मत है—

'तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन् आधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्वं एव ते योज्या नात्रापराधोऽस्ति॥' निरु० २।८ टी० पृ० १२६।

'मन्त्रार्थपरिज्ञानादेव ह्यग्नेराध्यात्माधिदैवाधिभूताधियज्ञेष्ववस्थानं याथात्म्यतो दृश्यते'। (निरु० ४।१९; दुर्ग टी० पृ० ३१५)।

अर्थात् 'आधिदैविक-आध्यात्मिक-अधियज्ञ प्रक्रियाओं में अर्थ करना चाहिये। इसमें किञ्चित् भी दोष नहीं।' 'अग्नि का अध्यात्म-आधिदैविक-आधिभूत अधियज्ञ सब प्रक्रियाओं में अर्थ यथावत् देखा जाता है।'

आचार्य स्कन्द का लेख त्रिविध प्रक्रिया के विषय में इतना विस्पष्ट है कि उसे देखकर तो इस विषय की कुछ भी शङ्का नहीं रह जाती कि वेदमन्त्रों का अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में होता है। सायणाचार्य से ९०० वर्ष पहिले वेदार्थ की प्रक्रिया इतने विस्पष्ट रूप में भारत में विद्यमान थी, इसका यथावत् प्रमाण मिल जाता है। आचार्य स्कन्द स्वामी का उक्त स्थल इस प्रकार है—

(४) 'सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः ? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्।'

(निरुक्त ७।५, स्कन्द टीका पृ० ३६, ३७)

अर्थात् 'सब मन्त्रों का अर्थ सब प्रक्रियाओं (अध्यात्म-नैरुक्त-याज्ञिक) में करना चाहिये। क्योंकि यास्क का सिद्धान्त है कि सब मन्त्रों का अर्थ सब प्रक्रियाओं में होता है।'

त्रिविध प्रक्रिया में वेदमन्त्रों का अर्थ करना वेदार्थप्रक्रिया का मूलभूत प्रमुख सिद्धान्त है। इसके समझ में आ जाने से वर्त्तमान सायण आदि कृत वेदभाष्य की स्थिति का ज्ञान सहज में हो जाता है कि ये सब केवल यज्ञपरक अर्थ ही करते हैं। आध्यात्मिक और आधिदैविक अर्थ तो शेष बचे रह जाते हैं, यदि उनके यज्ञपरक अर्थ को पूर्णतया ठीक भी मान लिया जावे (यज्ञपरक भी इनका अर्थ पूर्ण नहीं, यह एक अलग विवेचनीय विषय है) तो भी दो तिहाई वेदार्थ सायणभाष्य से अतिरिक्त अभी लुप्त है, यही मानना पड़ेगा।

३—इतिहासवाद

तीसरी बात जो वेदार्थजिज्ञासु को भ्रान्ति में डालती है, वह यह है कि वेदों में यत्र-तत्र देवापि-शन्तनु-वसिष्ठ-भारद्वाज-काण्व-इन्द्र-अङ्गिरा आदि शब्दों को देखकर भ्रान्ति उत्पन्न होने लगती है या उत्पन्न की जाती है कि ये व्यक्तिविशेषों के नाम हैं। इसमें जब वेदार्थजिज्ञासु को यह पता लग जाता है कि वेद से ही शब्द ले लेकर नामादि का व्यवहार चला, जैसा कि मनु ने कहा—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ मनु १।२१॥

उधर इन्द्र कण्वादि शब्दों के साथ हमें वेद में 'तरप्' 'तमप्' आतिशायिक प्रत्यय मिलते हैं। तद्यथा—

अभूदुषा इन्द्रतमा मघोन्यजीजनत् सुविताय श्रवांसि।
वि देवी देवी दुहिता दधात्यङ्गिरस्तमा सुकृते वसूनि॥
ऋ० ७।७९।३॥

इस एक ही मन्त्र में 'इन्द्रतमा' और 'अङ्गिरस्तमा' से पदों में

आतिशायिक प्रत्यय (Superlative degree) है। इसी प्रकार ऋ० १०।११५।५ में 'अग्नि: कण्वतम: कण्वसख:' ऐसा मिलता है। इन सबसे यह स्पष्ट सिद्ध है कि ये इन्द्र-अङ्गिरा-कण्व आदि विशेषणवाची (Adjectives) हैं, व्यक्तिविशेषों के नाम (Proper nouns) नहीं।

जो इन्हें व्यक्तिगत मानते हैं, वे सर्वथा भूल में हैं। निरुक्तकार यास्क का यह वचन कि 'ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता' कि 'मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की इतिहासयुक्त कहने में प्रीति होती है, मन्त्रों में नहीं।' यास्क के इस वचन से इतिहासवाद की भित्ति ही गिर जाती है। आगे के नैरुक्त आचार्य स्कन्दस्वामी और दुर्गाचार्य भी वेद में इतिहास नहीं मानते। इसके लिये हम आचार्य स्कन्दस्वामी का इस विषय का अत्यन्त स्पष्ट और प्रौढ़ प्रमाण उपस्थित करते हैं।

'एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्तव्या। एष शास्त्रे सिद्धान्तः·····औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयः। परमार्थेन तु नित्यपक्ष इति सिद्धम्।'

अर्थात् 'इस प्रकार जिन मन्त्रों में आख्यान (इतिहास) का सा वर्णन किया गया है, उन सब मन्त्रों की योजना यजमानपरक वा नित्य पदार्थों में करनी चाहिये, यह निरुक्त शास्त्र का सिद्धान्त है। मन्त्रों में आख्यान (इतिहास) का सिद्धान्त औपचारिक (गौण) है। वास्तव में तो नित्यपक्ष ही मन्त्रों का विषय है।' स्कन्दस्वामी ने 'देवापि' का अर्थ 'विद्युत्' और 'शन्तनु' का अर्थ 'जल' किया और आगे 'देवापि' 'पुरोहित' कैसे, सो लिखा कि 'पूर्वं हि विद्योतते पश्चादुदकम्' अर्थात् पहिले बिजली चमकती है, पीछे जल बरसता है, इस प्रकार 'देवापि' 'विद्युत्' है। अन्य ऐतिहासिक स्थलों में भी स्कन्दस्वामी की निरुक्तटीका देखने योग्य है। उसने कुछ एक मन्त्रों का अर्थ ऐतिहासिक न करके अध्यात्म या आधिदैविक कर दिया हो, सो बात नहीं। उसने तो वेद में इतिहास है ही नहीं, यही नैरुक्तों का सिद्धान्त है, ऐसा बहुत ही स्पष्ट लिखा है।

इस उपर्युक्त सन्दर्भ से सर्वथा मिलता जुलता एक उद्धरण हम निरुक्तसमुच्चयकार आचार्य वररुचि का भी उपस्थित करते हैं—

'औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयो नित्यत्वविरोधात्, परमार्थेन तु नित्यपक्ष एवेति नैरुक्तानां सिद्धान्तः।' (निरुक्तसमुच्चय पृ० ७१)

और स्थल तो बहुत हैं, पर एक स्थल दुर्गाचार्य जी का भी उपस्थित करते हैं—

'स पुनरयमितिहासः सर्वप्रकारो हि नित्यमविवक्षितस्वार्थः, तदर्थप्रतिपत्तॄणामुपदेशपरत्वात् ।' (निरु० १०।२६, दुर्ग टीका पृ० ७४४) ।

नैरुक्तों के इस सिद्धान्त को देखकर कौन कह सकता है कि यास्क वेद में इतिहास मानते हैं या वेद में व्यक्तिविशेषों का इतिहास पाया जाता है ।

उद्गीथ अपने ऋग्वेदभाष्य (ऋ० १०।८२।२) में 'ऋषि' का अर्थ 'रश्मि' करता है । आत्मानन्द 'अश्विनौ' का अर्थ 'गुरुशिष्यौ' करता है ।

सुश्रुत सूत्रस्थान ५ अध्याय में—

'यस्त्विन्द्रो लोके पुरुषेऽहङ्कारः सः ।......रुद्रो रोषः । सोमः प्रसादः । वसवः सुखम् । अश्विनौ कान्तिः । मरुदुत्साहः । तमो मोहः । ज्योतिर्ज्ञानम् ।।'

इससे स्पष्ट है कि वेद में इतिहास नहीं और यह सिद्धान्त आज से डेढ़ हजार वर्ष पूर्व तक माना जाता था, जो कालचक्र से विलुप्त हो गया, जिसके कारण सायण आदि आचार्यों का किया हुआ वेद का अर्थ वास्तविक वेदार्थ से बहुत दूर हो गया । जिसका आधार लेकर चलनेवाले सभी विदेशीय वा भारतीय भ्रान्ति में पड़ गये और वेदार्थ के सामने एक भित्ति के समान आन कर खड़े हो गये हैं । जो भ्रान्ति बड़े परिश्रम और निरन्तर वास्तविक स्थिति का दिग्दर्शन कराने से ही दूर हो सकती है । ऐसा प्रतीत होता है कि ये विदेशीय शैली से पढ़े भारतीय वा अभारतीय सत्य बात को भी मानने में हिचकिचाते हैं । इस प्रकार के प्रौढ़ प्रमाणों से इन लोगों की अनेकानेक मिथ्या धारणाओं की भित्ति मानो गिरने लगती है । वे इन प्रमाणों को या तो महत्त्व ही नहीं देते या वे इन्हें देखते ही नहीं वा टाल देते हैं । हम चाहते हैं कि ये लोग हमारी इन धारणाओं के विरुद्ध लिखें तो हम भी आगे उनके उत्तर और प्रौढ़ता से दें और भारत के माथे से विदेशीय दासता (मस्तिष्कसम्बन्धी यह गुलामी) दूर होकर भारतीय संस्कृति साहित्य और वेद का वास्तविक स्वरूप संसार के सामने आवे । पहिले इन भारतीयों का मस्तिष्क ठीक हो, पीछे विदेशीय विद्वानों के साथ चर्चा चलाई जावे ।

४—यौगिकवाद

चौथी बात जो वेदार्थप्रक्रिया के विषय में ध्यान देने की है, वह है यौगिकवाद। जब लौकिक वैदिक शब्दों के भेद को एक व्यक्ति समझ लेता है और मन्त्रों के अर्थ आध्यात्मिक-आधिदैविक-अधियज्ञ इन सब प्रक्रियाओं में होते हैं और वेद में आये इन्द्र-कण्व-अङ्गिरा आदि शब्द व्यक्तिविशेषों के नाम नहीं हैं, अपितु विशेषणवाची हैं, तो उसे वेदार्थ-प्रक्रिया में यौगिकवाद के सिद्धान्त को अनिवार्यतया मानना ही पड़ेगा; क्योंकि इनके बिना उक्त अर्थ इन शब्दों के हो ही नहीं सकते।

इस यौगिकवाद का निर्देश तो हमें लौकिक और वैदिक शब्दों के भेद समझने से ही मिल जाता है। निरुक्तकार 'नामानि सर्वाण्याख्यात-जानि' सब नामों को आख्यातज (प्रकृति-प्रत्यय से निष्पन्न) मानता है। सो यौगिक मानकर ही तो सब आख्यातज होंगे। यही बात महाभाष्य-कार ने 'नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्' (३।३।१) के भाष्य में कही है। नैरुक्त और वैयाकरणों में शाकटायन सब शब्दों को धातुज मानते हैं। निरुक्तकार ने शब्दों को आख्यातज मानकर उस पर पूर्वपक्ष (शङ्कायें) उठाये हैं और उन सब का उत्तर देकर इस सिद्धान्त को प्रौढ़तापूर्वक स्थापित किया। निरुक्त (निर्वचन) शास्त्र का आधार ही यौगिकवाद है। निरुक्तकार ने कहा है—

'इदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते ········तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च।'

अर्थात् निरुक्त (निर्वचन) शास्त्र के बिना मन्त्रों का अर्थ नहीं हो सकता···········यह निर्वचनशास्त्र व्याकरण का पूरक है और अपनी निर्वचनविद्या को भी कहता है। यास्क के इस वचन से भी यही पता लगता है कि जब तक यौगिकवाद (निर्वचन) का आश्रय न लिया जाये, वेदार्थ खुल नहीं सकता।

इस यौगिकवाद का मूल तो हमें ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में ही मिल जाता है। 'अग्निमीडे पुरोहितम्' पुरोहितम्-ऋत्विक्-यज्ञस्य देवम्-होतारम्-रत्नधातमम्—ये सब अग्नि के विशेषण हैं, यह सब भाष्यकारों ने माना है, इन सब को समुच्चायक किसी ने भी नहीं माना। जब ऐसी स्थिति है तो अनिवार्यतया पुरोहित को विशेषण मानकर 'पुरो

दधाति इति पुरोहितः' जो विना आकांक्षा रखे ही सदा हित करता है, हितमार्ग का निर्देश करता है, वह पुरोहित है। सो अग्नि परमेश्वर विद्वान् भौतिक अग्नि विद्युत् आदि हितकारी हैं, अतः ये पुरोहित हुए। सो यदि पुरोहित का अर्थ रूढ़ 'यजमान का कर्मकाण्ड करानेवाला' पुरोहित ही माना जाये तो विशेषण कैसे वनेगा। यदि विशेषण है तो यौगिक हुआ। सो अब आगे नैरुक्त तथा अन्य आचार्यों ने भी यौगिक-वाद के सिद्धान्त को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है, सो हम अति संक्षेप से दर्शाते हैं—

'नामानि सर्वाणि सामान्येनाख्यातजानि हि। नैरुक्तसमयत्वात् क्रियायोगमङ्गीकृत्य प्रयोगः।' (निरुक्तसमुच्चयकार वररुचि पृ० २)

अर्थात् नाम सब धातुज हैं, नैरुक्तों के इस सिद्धान्त के अनुसार क्रियायोग (प्रकृति-प्रत्यय के सम्बन्ध) को मान कर इनका प्रयोग होता है।

निरुक्तसमुच्चयकार ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में **'निरुक्तप्रक्रियानुरोधेन निर्वक्तव्याः'** कहकर निर्वचन के आधार पर मन्त्र का अर्थ करना बताया। दुर्गाचार्य अपनी निरुक्त की टीका में लिखते हैं—

'स्वभावतो हि शब्दानां क्रियाजत्वेऽपि सति काञ्चिदेव क्रियामङ्गीकृत्यावस्थितिर्भवति। अथवा क्रियातिशयकृतो नियमः स्यात्। यो हि यदतिशयेन करोति तस्यानेकक्रियावत्त्वेऽपि सति तद्धेतुक एव नामधेयं प्रतिलम्भो भवतीत्ययं समाधिः।' (निरु० १।१४ दुर्ग टीका पृ० ६)।

इसका भावार्थ यह है कि प्रकृति-प्रत्यय के आधार पर शब्दों के वाच्य-वाचक सम्बन्ध का निश्चय होता है। सो यह किसी भी क्रिया से सम्बन्ध जुड़ जाने से वन जाता है, अथवा जिस क्रिया का सम्वन्ध सब से अधिक उपपन्न हो, उसी से प्रकृति-प्रत्यय का सम्वन्ध लगा लेना चाहिये। आचार्य स्कन्द स्वामी निरु० टी० भाग १ पृ० ९२ पर लिखता है—

'एवमेतत् सर्वनाम्नामाख्यातजत्वं प्रतिपादितम्। तत् किमर्थम्? उच्यते—अर्थान्तरे यो रूढिशब्दस्यार्थान्तरे प्रयोगः ·······रूढ्यर्थस्याभावात् कर्मनिमित्तो यथा प्रतीयेतेत्येवमर्थम्।'

अर्थात् 'वेद में रूढि शब्द तो हैं नहीं, अतः क्रिया के आधार पर इन

शब्दों का अर्थ किया जाता है, इस प्रकार ये रूढि शब्द अर्थान्तर में प्रयुक्त होते हैं।'

मीमांसाभाष्यकार शवर स्वामी लिखता है—

'विद्यमानोऽप्यर्थः प्रमादालस्यादिभिर्नोपलभ्यते। निगमनिरुक्तव्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः कल्पयितव्यः।' (मीमांसाभाष्य १।२।४१)

'शमयतीति शमिता, यौगिक एव शब्दः प्रकृतेष्वपि कल्पते।'
(मी० भा० ३।७।२९)।

अर्थात् मीमांसकों के मत में शब्द का अर्थ व्यापक होता है और वह यौगिकवाद के आधार पर होता है।

सब पदों की व्युत्पत्ति दर्शाने का प्रयोजन क्या है? निरुक्तकार अपने समस्त ग्रन्थों में सर्वत्र व्युत्पत्ति क्यों दिखाते हैं, इसका क्या अभिप्राय वा प्रयोजन है? इस बात को दुर्गाचार्य ने अच्छे शब्दों में स्पष्ट किया है। वह लिखता है—

'आत्मवित्पक्षे तु सर्वमभिधानमात्मार्थमेवेति सर्वावस्थमात्मानं सर्वाभिधानव्युत्पत्तितो निरुच्य यथार्थतः परिज्ञाय सर्वात्मन आत्मनः सर्वावस्थं विभूतिताद्भाव्यमनुभवतीति सर्वपदव्युत्पत्तिप्रयोजनमिति।'
(निरुक्त दुर्गटीका ५९१)

अर्थात् सब पदों की व्युत्पत्ति दर्शाने का प्रयोजन यह है कि आत्मवित् पक्ष में सब अभिधान अभिधेय वाचकवाच्यसम्बन्ध आत्मा में अन्वित हो सकें।

इस से विदित हो जाता है कि यौगिकवाद का आश्रय लिये विना वेद का अर्थ कदापि समझ में नहीं आ सकता। जब मन्त्रों के सब प्रक्रियाओं में अर्थ होते हैं, यह सिद्धान्त ठीक बैठ जाता है, तब भला यौगिकवाद के सिद्धान्त को न माना जावे वा यौगिकवाद का आश्रय न लिया जावे, यह कैसे हो सकता है। यौगिकवाद और त्रिविध प्रक्रिया का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है, यह हमारा कहना है।

ऋग्वेद ८।९६।४ में— **च्यवनमच्युतानाम्** तथा ऋ० ८।५।३१ में— **अश्नन्तावश्विनौ**।

शतपथब्राह्मण ४।१।५।१६ में **अश्विनाविमे हीदं सर्वमश्नुवाताम्**।

बृहद्देवता ७।१२७ में—**'अश्नुवाते हि तौ लोकान् ज्योतिषा च रसेन च।'** **'अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं रसेनान्यो ज्योतिषाऽन्यः।'** निरु० १२।१॥

इन मूलमन्त्र, शतपथब्राह्मण, बृहद्देवता, निरुक्त—सब में 'अश्विनौ' की व्युत्पत्ति दर्शाते हुए यौगिकवाद के सिद्धान्त को माना है।

इसमें हम भर्तृहरि का भी एक वचन उपस्थित करते हैं—

'कैश्चिन्निर्वचनं भिन्नं गिरतेर्गजतेर्गमेः। गवतेर्गदतेर्वाऽपि गौरित्यत्रानुदर्शितम्। गिरतिर्गजति गदति इत्येवमादयः साधारणाः सामान्यशब्दनिबन्धनाः क्रियाविशेषास्तैस्तैराचार्यैर्गोशब्दव्युत्पादनक्रियायां परिगृहीताः।' (वाक्यपदीय भर्तृहरि टी० भाग २ पृ०९२)

यहां भर्तृहरि व्युत्पत्ति के आधार पर शब्दों के अनेक अर्थं दर्शा रहे हैं।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि ऋग्वेद, शतपथब्राह्मण, बृहद्देवता और निरुक्त, वाक्यपदीय आदि में यौगिकवाद के सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है।

अब हम अति संक्षेप से कुछ एक उदाहरण ऐसे भी उपस्थित करते हैं, जिनमें यौगिकवाद का आश्रय लेकर ही भिन्न-भिन्न भाष्यग्रन्थों ने मन्त्रगत पदों के अर्थ अपने भाष्यों में दर्शाये हैं, जिनसे स्पष्ट विदित हो जाता है कि वेदार्थप्रक्रिया में यौगिकवाद का सिद्धान्त सर्वमान्य कहा जा सकता है, चाहे उनके आश्रय पर उन-उनके भाष्य न भी हो पाये हों, यह दूसरी बात है।

चित्तिभिः=कर्मभिः (निरु० २।९)। भोगैः=शरीरैः (महाभा० ५।१।९)। विष्णुः=परमात्मा (स्कन्द नि० टी० भा० २ पृ० ५५)। सविता=यजमानः (नि० टी० ११।४८)। मनः=विज्ञानम् (भा० १ पृ० १०६)। सिन्धवः=रश्मयः (भा० १ पृ० ६९)। इन्द्रश्चाग्निश्च=ब्राह्मणश्च राजा च (दुर्ग टी० पृ० ४१७)। सोमः=दुग्धम् (पृ० ३५९)। रश्मयः=स्त्रियः (पृ० ३५९)। असुरः=ब्रह्मा उद्गाता वा (पृ० २२८)। गावः=गन्तारो जनाः (भट्टभा० तै० सं० भा० १ पृ० १०४)। वसवः=रश्मयः (तै० आ० पृ० ६२)। सवितुः=परमेश्वरस्य (य० १०।६)। इन्द्रः=आत्मा (य० ६।२०)। अग्निः=परमात्मा (आत्मानन्द पृ० ५४)। सोमः=जगदीश्वरः (पृ० ४४)। सूर्यः=

परमात्मा (पृ० ३४)। स्वसारः=ज्ञानेन्द्रियाणि। इन्द्रः=परमेश्वरः (आनन्दतीर्थ पृ० २२)। वायुः=परमेश्वरः (जयतीर्थ पृ० १३)। इन्द्रः=परमेश्वरः (देवपाल पृ० १६३, १६१, २२३)। आदित्यः= परमेश्वरः (पृ० २२८, ३४८)।

ऐसे बहुत से स्थल दिखाये जा सकते हैं। संक्षेप के कारण इतने ही पर्याप्त हैं।

इस सब विवेचन से पता लग जाता है कि यौगिकवाद का सिद्धान्त वेदार्थप्रक्रिया का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य सिद्धान्त है।

५—धातुओं का अनेकार्थत्व

हम ऊपर बहुत से प्रमाणों से दर्शा चुके हैं कि नामों को आख्यातज मान लेने पर एक-एक शब्द की व्युत्पत्तियां अनेक धातुओं से की जाती हैं, जैसा कि हम भर्तृहरि द्वारा अपने ग्रन्थ वाक्यपदीय में 'गो' शब्द की व्युत्पत्ति गिरति, गर्जति, गदति और गवति—इतने धातुओं से दर्शा चुके हैं। निरुक्तकार ने २।६ में 'गम्' और 'गा' दो धातुओं से 'गो' शब्द की व्युत्पत्ति मानी है। निरुक्तकार की बहुत सी व्युत्पत्तियां ऐसी हैं। भिन्न-भिन्न धातुओं से व्युत्पत्ति तभी ठीक बैठ सकती है, यदि उन धातुओं के अर्थों के साथ उक्त शब्द का समन्वय ठीक बैठ सके। यह समन्वय तभी हो सकता है, यदि इन धातुओं के अर्थ व्यापक माने जायें। इस विषय में महाभाष्यकार का सिद्धान्त सर्वोपरि मानने योग्य है कि—

(१) **'बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति'** (अ० १।३।१ महाभाष्ये)।

यह सिद्धान्त महाभाष्यकार ने अपने ग्रंथ में अनेक वार दोहराया है कि धातु अनेकार्थवाले हैं।

(२) कुमारिलभट्ट तन्त्रवार्तिक पृ० १५६, १५७ में यही बात लिखते हैं—

'निगमनिरुक्तव्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः कल्पयितव्यः।'

'निगमादिवशाच्चाद्य धातुतोऽर्थः प्रकल्पितः।'

कुमारिलतन्त्रवार्तिक पृ० १५६।

(३) स्कन्द ऋ० भाष्य पृ० १०७—**'कृञ् सर्वार्थत्वाद् दानेऽत्र'**।

(४) आत्मानन्द (पृ० ७) **'अनेकार्था धातवः।'**

(५) **'धातूनामनेकार्थत्वाद् ऋञ्जते प्राप्नुवन्ति'** (जयतीर्थ पृ० २७)।

(६) अनेकार्थत्वाद् धातूनामिति वा दसु विभेदन इत्युक्तम्' (छलारी टी० पृ० ३७)।

(७) 'मन्वतेऽवबुध्यते, यद्वा धातूनामनेकार्थत्वात् क्षमत इत्यर्थः'
(सा० ऋ० १०।१२।६ भाष्ये)।

'धातूनामनेकार्थत्वाद् रिचिरत्र परिहारार्थे वर्तते'
(ऋ० १०।१३।४ सायणभाष्ये)।

(८) 'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥'
(वाक्यपदीय १।३४)

(९) 'प्रकरणसामर्थ्याच्छब्दोऽप्यर्थान्तरं भजते।'
(दुर्ग० पृ० ३४६)।

ये सब प्रमाण धातुओं के अनेकार्थ वा व्यापक अर्थ होते हैं, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं।

पूर्व से इसका कैसा उपयुक्त सम्बन्ध बैठता है, लौकिक वैदिक शब्दों में भेद होता है, मन्त्रों के अर्थ आध्यात्मिक आदि प्रक्रियाओं में होते हैं, यौगिकवाद के सिद्धान्त पर मन्त्रों के अर्थ हो सकते हैं। इसमें धातुओं के अनेकार्थत्व का सिद्धान्त वेदार्थप्रक्रिया का मूलभूत सिद्धान्त है, यह बात साधारण पाठक की समझ में भी आ जाती है।

६—व्यत्यय का सिद्धान्त

निरुक्त व्याकरणशास्त्र का पूरक है अर्थात् वेदविषयक व्याकरण पूरा नहीं हो सकता, जब तक हम निरुक्तशास्त्र का पूरा ज्ञान प्राप्त न कर लें। केवल व्याकरण के आधार पर वेदार्थ में प्रवृत्त व्यक्ति कुछ प्राप्त न कर सकेगा। एक-एक शब्द के भिन्न-भिन्न और विचित्र-विचित्र धातुओं से किये गये निर्वचन केवल वैयाकरण की बुद्धि में बैठ नहीं सकते। प्रकृति-प्रत्यय के वास्तविक स्वरूप वा अर्थ को ऐसा व्यक्ति समझ नहीं सकता।

वैसे व्याकरण के रचयिता पाणिनि तथा उसके भाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने तो एक-दो ही सूत्र लिखकर इस विषय का मर्म समझा दिया है। अनार्ष विधि से अनार्ष ग्रन्थ पढ़नेवाले व्यक्ति इस सिद्धान्त के मर्म से सर्वथा वञ्चित रह जाते हैं। पाणिनि ने 'व्यत्ययो बहुलम्' (अ० ३।१। ८५) यह सूत्र लिखकर और महाभाष्यकार ने इस सूत्र के भाष्य में लिख

कर वास्तव में निरुक्तशास्त्र के सिद्धान्त का निर्देश अपने शास्त्र में प्रतिपादित कर दिया। महाभाष्यकार का उक्त वचन इस प्रकार है—

'सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलचस्वरकर्तृयङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन॥'

सुप्, तिङ्, आत्मनेपद, परस्मैपद, लिङ्ग, विभक्ति, वचन, काल, हल्, अच्, स्वर, कारक, यङादि इन सवका व्यत्यय वेद में होता है, यह पाणिनि और पतञ्जलि का सिद्धान्त है।

आगे **'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः'** (अ० ७।१।३९) तथा **'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्'** (अ० ६।३।१०९) इत्यादि सूत्र व्यत्यय के सिद्धान्त की पुष्टि में ही सभझने चाहियें।

इसका रहस्य निरुक्तकार के (२।१ में) निर्वचन के प्रारम्भ में **'अर्थनित्यः परीक्षेत'** की व्याख्या करते हुए दुर्गाचार्य ने लिखा है **'अर्थनित्य इत्युक्ते अर्थप्रधान इति गम्यते।'** (दुर्ग पृ० ९७) **'अर्थप्रधानं निरुक्तम्'** (दुर्ग पृ० १०२)। तथा आचार्य स्कन्द स्वामी लिखते हैं— **'अर्थप्रधानत्वाच्च निरुक्तस्य सर्वत्रैवार्थप्रधानस्य पर्यनुयोगो निर्वचनं च, अग्निः कस्माज्जातवेदः कस्मात्'** (निरु० ७।१९ टी० भाग ३ पृ० ८३)।

इन सब का यही अर्थ है कि निरुक्तकार के मत में वेद में अर्थ की प्रधानता है। व्याकरण आदि के नियम सब अर्थ के पीछे हैं।

इस प्रकार व्यत्ययवाद का सिद्धान्त भी वेदार्थप्रक्रिया का मूलभूत सिद्धान्त है, यह समझ में आ जाता है। वैदिक व्याकरण न जाननेवाले इस व्यत्ययवाद के सिद्धान्त को नहीं समझ पाते। यह सिद्धान्त उनके गले के नीचे उतरता ही नहीं, कारण वैदिक प्रक्रिया से अनभिज्ञता वा उसको अनावश्यक समझकर छोड़ देना।

७—पदपाठ

पदपाठकार वे ऋषि वा विद्वान् हुए, जिन्होंने वेदमन्त्रों के पदों का विभाग दर्शाया। इसमें एक ही पद को भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रूप से माना। इसको बहुत से वेदार्थजिज्ञासु नहीं समझ पाते, या शङ्कायें उठाते हैं। सो इस विषय में हम निरुक्तकार का ही प्रमाण उपस्थित कर देना पर्याप्त समझते हैं। निरु० ५।२१ में यास्क ने 'मासकृत्' की व्याख्या में **'मासानां चार्धमासानां च कर्ता भवति चन्द्रमाः'** ऐसा

माना है। आचार्य स्कन्द निरुक्तटीकाभाष्य २ पृष्ठ ३६६ में लिखता है —'मासकृदिति यस्यैकं पदं तदभिप्रायेणैतदेवं भाष्यकारेण व्याख्यातम्। शाकल्यस्य द्वे एव पदे।'

इस प्रकार पदपाठ अर्थ से पीछे है, न कि पदपाठ के पीछे अर्थ, ऐसा नैरुक्तों का सिद्धान्त है, यह हम कह रहे हैं।

यास्क ने निरु० ६।२८ में भी स्पष्ट ही पदपाठविषय में इसी सिद्धान्त को माना है—

'वेति च य इति च चकार शाकल्यः, उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्य-दसुसमाप्तश्चार्थः।'

यहां यास्क ने शाकल्य के पदपाठ को न मानकर पदपाठ का भेद दिखाया है और शाकल्य का प्रत्याख्यान भी किया है।

महाभाष्यकार भी इसी सिद्धान्त को मानते हैं—

'अवग्रहोऽपि, न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षण-मनुवर्त्यम्, यथालक्षणं पदं कर्त्तव्यम्' (अ० ८।२।१६ भाष्य)।

अर्थात् व्याकरण के पीछे पदकारों को चलना पड़ेगा, न कि पदकारों के पीछे व्याकरण को।

इस विषय में हम आचार्य स्कन्दस्वामी का एक वचन उद्धृत करते हैं, जो इस विषय का अत्यन्त ही स्पष्ट प्रमाण है--

'शाकल्यात्रेयप्रभृतिभिर्नावगृहीतम्, पूर्वनिर्वचनाभिप्रायेण। गार्ग्य-प्रभृतिभिरवगृहीतं तदेव कारणम्। विचित्राः पदकाराणामभिप्रायाः। क्वचिदुपसर्गविषये नावगृह्णन्ति, यथा शाकल्येन 'अधीवासम्' नावगृहीतम् आत्रेयेण तु 'अधि वासम्' इत्यवगृहीतम्। तस्मादवग्रहोऽनवग्रहः।'

(निरु० २।१३ स्कन्द टी० भा० २ पृ० ८१)

इसका अभिप्राय यह है कि शाकल्य, आत्रेय आदिकों ने अवग्रह नहीं किया। पूर्व निर्वचन को लक्ष्य में रखने के कारण गार्ग्य आदि ने अवग्रह किया है। इसमें कारण वही है। पदकारों के अभिप्राय विचित्र होते हैं। कहीं पर उपसर्ग के विषय में भी अवग्रह नहीं करते, जैसे शाकल्य ने ऋ० १।१६२।१६ में 'अधीवासम्' पद का अवग्रह नहीं किया। आत्रेय ने तै० संहिता के पदपाठ में 'अधिऽवासम्' ऐसा अवग्रह किया है। अन्त में स्कन्द स्वामी कहता है—'तस्मादवग्रहोऽनवग्रहः'।

अर्थात् इस उपर्युक्त हेतु से 'अवग्रह ऐच्छिक है' यही समझना चाहिये।

पदपाठ-विषय के ये दो ज्वलन्त प्रमाण हैं।

८—देवतावाद

देवतावाद भी वेदार्थप्रक्रिया का मूलभूत सिद्धान्त है। इस पर बहुत कुछ लिखा जाना चाहिये। यहां विस्तरभय से हम अति संक्षेप से ही लिखने के लिये विवश हैं। मन्त्रों के प्रतिपाद्य विषय का नाम देवता है। निरुक्त के सप्तमाध्याय के प्रारम्भ में यही सिद्धान्त यास्क ने निश्चित किया है। सर्वानुक्रमणी आदि भी इसी को मानते हैं।

'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।'

'या तेनोच्यते सा देवता।' (ऋक्सर्वानुक्रमणी २।१)।

देवतावाद के निदर्शक सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता दो ग्रन्थ माने जाते हैं। परन्तु इनमें भेद इतना है कि ये सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता देवतावाद के अन्तिम प्रमाण नहीं हैं, अर्थात् इनसे भिन्न देवता हो ही नहीं सकते, सो बात नहीं, क्योंकि यास्क और पतञ्जलि कुछ मन्त्रों के देवता सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता से भिन्न मानते हैं। यास्क ने अनादिष्टदेवतावाले मन्त्रों में 'इषे त्वादि' मन्त्र को माना है, जिसकी पुष्टि उसके टीकाकार दुर्ग और स्कन्द दोनों से होती है (देखें निरुक्त ७।४ की टीकायें)। इसमें 'इषे त्वा' आदि को अनादिष्टदेवतावाले माना है। एक ही मन्त्र ऋ० ५।४२।१४ के सर्वानुक्रमणी से भिन्न पृथक्-पृथक् ऋषियों ने भिन्न-भिन्न देवता माने हैं।

उधर यजुःसर्वानुक्रमणी उव्वटभाष्य के प्रारम्भिक श्लोक से उव्वट से पीछे की बनी प्रतीत होती है। देखिये यजु० १।१ मन्त्र में **'इषे त्वोर्जे त्वा'** का शाखा देवता सर्वानुक्रमणी ने माना है। उधर शतपथब्राह्मण में यह लिखा है कि **'यस्यै हविर्दीयते सा देवता'** (पृ० ४६२)।

और 'शाखा' को हविः दी नहीं जाती। 'इदं शाखायै इदन्न मम' कहीं नहीं कहा गया। इस से यह स्पष्ट है कि शाखा देवता नहीं हो सकता। हां, शाखाच्छेदनादि में इस मन्त्र का विनियोग भले ही हो सकता है।

यहां अति संक्षेप से हमने देवतावाद का रहस्य लिख दिया है। जो सज्जन अधिक देखना चाहें, वे यजुर्वेदभाष्य-विवरण में देख सकते हैं। इसी प्रकार छन्दोवाद, विनियोगवाद और ऋषिवाद भी वेदार्थ के विचारणीयवाद हैं। और भी विषय मननीय हैं। जैसे यास्क से पूर्ववर्ती वेदार्थ का क्या स्वरूप है, यास्क और वेदार्थ, सायण और दयानन्दभाष्यों की समालोचना भी एक स्वतन्त्र लिखने योग्य विषय है। वेदाङ्गों का उपाङ्गों के साथ सम्बन्ध, ये सब अलग विवेचनीय विषय हैं। इन पर फिर किसी समय ही विचार किया जा सकता है।

अब अन्त में हम वेदार्थप्रक्रिया के मूलभूत सिद्धान्तों पर एक बार सिंहावलोकन करना आवश्यक समझते हैं। सो पाठक भी एक बार इस विषय का सिंहावलोकन करें।

हमने वेदार्थप्रक्रिया के मूलभूत सिद्धान्त बतलाये -

१—ईश्वरविश्वास १—ईश्वर के सृष्टिकर्ता-नियन्ता-सर्वज्ञादि गुणों पर आस्था ३ सृष्टि उत्पत्ति क्रम का निश्चय ४ -विकासवाद के सिद्धान्त पर अनास्था।

इन विषयों की अनिवार्यता का निरूपण हम अपने लेख में पूर्व विशदरूप में कर चुके हैं। पहले तीन सिद्धान्त तो प्रत्येक वैदिकधर्मी को मान्य हैं हीं, जिनको इन पर आस्था नहीं, उन्हें वेदार्थ का यथावत् ज्ञान नहीं हो सकता। विकासवाद पर कुछ विस्तृत विचार कर लिया जा सकता है। आगे वेदार्थप्रक्रिया के सीधे वाद हैं, जिन पर पुनः विचार कर लेना आवश्यक है, जो निम्न प्रकार हैं —

५—लौकिक वैदिक शब्दों में भेद, ६—सब मन्त्रों के अर्थ आध्यात्मिक-आधिदैविक-अधियज्ञ इन त्रिविध-प्रक्रियाओं में होते हैं, यह प्राचीन परम्परागत सिद्धान्त है, इस शताब्दी की कल्पना मात्र हो सो बात नहीं। ७- वेद में व्यक्तिविशेषों के नाम वा उनका इतिहास नहीं, अपितु वेद से ले लेकर नाम रखे गये वा रखे जाते हैं। इन्द्र-अङ्गिरा-कण्व आदि विशेषणवाची शब्द हैं, न कि ऋषियों वा अन्य व्यक्तिविशेषों के नाम हैं। ८—यौगिकवाद अर्थात् वैदिक शब्द यौगिक होते हैं, रूढ़ि नहीं। ९—यौगिक होते हुये जहां एक ही शब्द को अनेक धातुओं से व्युत्पत्ति हो सकती है, वहां एक धातु के अनेक अर्थ भी होते हैं, जो प्रकरणादि के आधार पर समझे जाते हैं। धातुओं के अर्थ केवल उतने ही

नहीं, जितने धातुपाठ आदि में पढ़े हैं, वे तो निदर्शनमात्र हैं। १०—व्यत्यय का सिद्धान्त भी वेद में सर्वसम्मत है, सब ऋषि-मुनियों वेद-भाष्यकार आचार्यों ने इसे माना है, व्याकरण और निरुक्त का यह मूल-भूत सिद्धान्त है। ११—पदपाठों में भेद हमारे उपर्युक्त सब सिद्धान्तों की पुष्टि करता है। १२ देवतावाद का सिद्धान्त भी वर्तमान सर्वानु-क्रमणी और बृहद्देवतादि से हमें आगे सोचने की प्रेरणा करता है। इस से भिन्न भी कुछ आवश्यक विचार है, जो विस्तरभय से इस समय नहीं लिखे जा सकते। आवश्यक और मूलभूत सिद्धान्त उपर्युक्त विषयों में ही आ जाते हैं।

६—सायणाचार्य की मूल में ही भ्रान्ति

इन मूल सिद्धान्तों में सब के आधार पर यदि कोई वेदभाष्य कहा जा सकता है, तो ऋषि दयानन्द सरस्वती का भाष्य ही कहा जा सकता है, जिसका अन्य सायणादि भाष्यकारों से वैशिष्टच हम आगे दर्शाते हैं। सायणादि ने मूलभूत सिद्धान्तों का आश्रयण नहीं किया, यदि कहीं २-४ सिद्धान्तों का आश्रयण किया भी है, तो भी बहुत कम और पूरे दृढ़ विश्वास के साथ नहीं। हां, स्कन्द-दुर्ग-आत्मानन्द-आनन्दतीर्थ-जयतीर्थ आदि ने इन मूलभूत सिद्धान्तों में से अधिकतर सिद्धान्तों का अवलम्बन अपने भाष्यों में किया है। तभी ये भाष्य आध्यात्मिक अर्थ कहीं-कहीं दिखाते हैं। विदेशीय स्कालर तो सायण के ही अनुगामी हैं, वे उससे आगे तो क्या बढ़ते, उसके पीछे अवश्य चले जाते हैं। जब सायण ही वेदार्थ तक नहीं पहुंचा, तो वे कैसे पहुंचते, क्योंकि उसे तो यही पता रहा—

'तस्मिन् वेदे द्वौ काण्डौ कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्यकाख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डस्तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोः कर्म-काण्डत्वम्, तत्रोभयत्राधानाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मण एव प्रति-पाद्यत्वात्।'

अर्थात् बृहदारण्यक आदि उपनिषद् तो ब्रह्मपरक हैं, ब्रह्म का निरूपण करते हैं, संहिता और ब्राह्मण केवल यज्ञकर्म का ही प्रतिपादन करते हैं। सायण इतना ही जान पाये। यहां संस्कृत में एव (ही) शब्द स्पष्ट बता रहा है कि सायण की दृष्टि में वेद यज्ञपरक ही है। ऐसी अवस्था में यदि सायणाचार्य का किया हुआ यज्ञपरक अर्थ सब का सब ठीक भी

मान लिया जावे (जो सब का सब ठीक नहीं है, ऐसा अनेक विद्वान् मानते हैं) तो भी आध्यात्मिक और आधिदैविक अर्थ अर्थात् तीन में से वेद का दो तिहाई अर्थ लुप्त है, जो सायणाचार्य नहीं जान पाये। उसे दिखानेवाला यदि कोई भाष्य इस समय तक संसार है, तो वह केवल महर्षि दयानन्द सरस्वती का ही भाष्य है, और कोई नहीं है।

उनका किया भाष्य आध्यात्मिकार्थप्रधान है। किसी भी मन्त्र के अर्थ को विचारें, तो उम में सूक्ष्म दृष्टि से दो या तीनों अर्थ मन्त्रार्थ में कहीं न कहीं अवश्य मिलेंगे। प्रसङ्गवश हम यहां आचार्य दयानन्दकृत भाष्य की कुछ विशेषतायें भी दर्शा रहे हैं।

१०—आचार्य दयानन्दकृत वेदभाष्य की विशेषतायें

प्रसङ्गतः अति संक्षेप से हम यहां इस विषय को दर्शाते हैं, पाठक-विशेष तो उनके भाष्य को पढ़कर स्वयं देखें।

(१) ईश्वर में पूर्ण विश्वासी पूर्ण योगाभ्यासी साक्षात्कृतधर्मा तपस्वी पक्षपातरहित ईश्वर के सच्चिदानन्द सर्वज्ञ सृष्टिकर्त्ता आदि गुणों के प्रतिपादक, प्राचीन ऋषि मुनियों में पूर्ण निष्ठावान् ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त ऋषियों के सिद्धान्तों को माननेवाले महापुरुष आचार्य दयानन्द सरस्वती द्वारा इस भाष्य का निर्माण हुआ, (जितना भी वह प्राप्त है)।

(२) विकासवाद के सिद्धान्त का खण्डन जहां ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों से होता है, वैसा ही उनके वेदभाष्य से भी पदे-पदे होता है।

(३) वेद अपौरुषेय (ईश्वरीय ज्ञान) वाद की धारणा पर यह भाष्य है, इस के विरुद्ध इस में यत्किञ्चित् भी नहीं मिलेगा।

(४) यास्क, पाणिनि, पतञ्जलि तथा उन से भी पूर्ववर्ती ऋषि मुनि आचार्यों के आधार पर वेद के शब्दों को लौकिक शब्दों से भिन्न मानकर भाष्य किया गया है।

(५) वेद के सब शब्दों को धातुज मानकर उनकी व्युत्पत्ति-निर्वचन साधार सप्रमाण दर्शाया गया है। निर्वचनभेद से वैदिकशब्दों के अर्थ इस भाष्य में भिन्न-भिन्न दर्शाये गये हैं। यौगिक और योगरूढ़िवाद इस भाष्य की आधारशिला है।

(६) सब मन्त्रों के अर्थ (सायणाचार्य से भी ६०० वर्ष पूर्व प्रसिद्ध)

त्रिविधप्रक्रिया अर्थात् सब मन्त्रों के अर्थ आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधियाज्ञिक प्रक्रियाओं में होते हैं, इस सिद्धान्त के आधार पर किये गये हैं।

(७) वेदमन्त्रों के अर्थ वेदमन्त्रों के आधार पर भी दिये गये हैं। (यथा य० १।१३)

(८) अग्नि, वायु, इन्द्र, मित्र, वरुण, यम, रुद्र आदि के ही बोधक वाचक नहीं, अपितु 'अग्नि' शब्द के निर्वचन के आधार पर आध्यात्मिक आधिदैविक प्रक्रिया में परमेश्वर, विद्वान्, राजा, सभाध्यक्ष, नेता आदि विद्युत्, प्रकाश तथा जाठराग्नि आदि के भी ग्राहक हैं। अग्नि, वायु आदि शब्द जहां भौतिक पदार्थों के वाचक हैं, वहां मुख्यवृत्ति (अभिधावृत्ति) से ईश्वर के वाची हैं, यह प्रक्रिया सम्पूर्ण भाष्य में मिलेगी। इसी को आधार मानकर स्वर्गीय महात्मा श्री अरविन्द ने दयानन्दभाष्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की और इसी बात के आधार पर वेद के सम्बन्ध में गम्भीर विवेचनायें की।

(९) सब वेदमन्त्रों के षड्जादि स्वर लिखे, जो किसी भाष्य में भी नहीं मिलते। काव्य के अङ्गभूत श्लेषादि अलङ्कारों का उपयोग इस वैदिक भाष्य में सर्वप्रथम आचार्य दयानन्द ने ही किया है और इन अलङ्कारों के द्वारा अर्थों में बहुविध वैचित्र्य दर्शाया गया है।

(१०) वेद में अनित्य इतिहास (व्यक्तिविशेषों का इतिहास) कहीं नहीं माना, अपितु ऐसे स्थलों पर बड़ी सुन्दर सप्रमाण व्याख्या की गई है।

(११) पदपाठ के विषय में महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि के सिद्धान्त कि—

'न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्' (महाभाष्य) के आधार पर तथा अचार्यस्कन्द स्वामी के समान 'तस्मादवग्रहोऽनवग्रहः' के अनुसार ऋषि दयानन्द ने कई स्थलों पर भिन्न पदपाठ माना है, जो शास्त्रसम्मत है।

(१२) स्वामी दयानन्द सरस्वती के भाष्य से 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' (वै० ६।१।१) अर्थात् वेद में कोई बात तर्क के विरुद्ध नहीं, इस सिद्धान्त के आधार पर वेदार्थ किया गया है।

(१३) देवतावाद के विषय में सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता आदि से

भिन्न भी मन्त्रों के देवता माने जा सकते हैं, यह सिद्धान्त शास्त्रसम्मत है, इस विचारधारा के अनुसार स्वामी दयानन्द सरस्वती का भाष्य देखना चाहिये।

(१४) मन्त्रों के छन्द भी अनुक्रमणी में कहे छन्दों से कहीं-कहीं सप्रमाण होने से भिन्न माने हैं।

(१५) **'व्यत्ययो बहुलम्'** का सिद्धान्त वेदार्थ में परमावश्यक है। यह बात आचार्य दयानन्द के भाष्य में ही सब से उत्तम रीति से मिलेगी।

(१६) **'वाक्यं हि वक्तुरधीनम्'** के अनुसार वेदार्थ इस भाष्य में मिलेगा।

(१७) 'यज्ञ' शब्द से आचार्य दयानन्द ने त्रिविध यज्ञ का ग्रहण किया है। जहां पर श्री सायणाचार्य ने केवल भौतिक यज्ञ परक ही माना है, इतने से ही वेदार्थ कहीं का कहीं पहुंचा दिखाई देने लगता है।

(१८) वेद सर्वतन्त्र-सार्वभौमिक सिद्धान्तों का प्रतिपादक है, यह बात इसी भाष्य के वेदार्थ से मिलेगी।

(१९) दयानन्दभाष्य में नैरुक्तशैली के आधार पर अनेक शब्दों के निर्वचन मिलते हैं, जिन के निर्वचन निरुक्त और ब्राह्मणादि ग्रन्थों में भी उपलब्ध नहीं होते, जो सप्रमाण हैं।

(२०) सब से बड़ी और अन्तिम विशेषता दयानन्दभाष्य की यह है कि उसमें नैरुक्तशैली के अनुसार संस्कृतपदार्थ मन्त्रगत पदों के क्रम से रखा गया है और उस में यत्र-तत्र मन्त्रों के तीनों प्रकार के अर्थों को लक्ष्य में रखकर निर्वचन तथा अर्थ दर्शाया गया है, जो अन्वय में नहीं हो सकता था। अन्वय को संस्कृतपदार्थ का एक अंश समझना चाहिये, और इस संस्कृत अन्वय का ही भाषार्थ किया गया है, जो भाषार्थ करने-वालों से ठीक-ठीक पूरा हो भी नहीं सका। इस भाष्य की इस विशेषता को न समझकर बहुत से सज्जन घबराने लगते हैं। एक बार इसका प्रकार समझ लेने से कोई कठिनाई नहीं रहती। यह बात बहुत ही आवश्यक है।

जितना भी कोई विद्वान् विद्या के भिन्न-भिन्न अङ्गों का ज्ञाता तथा योगादि दिव्य शक्ति सम्पन्न होगा, उतना ही उसे वेदार्थ का भान अधिक उत्तम रीति से होगा।

यह बात हम अपने शब्दों में न रखकर नैरुक्त आचार्य दुर्ग के शब्दों में रखते हैं। उनका वचन निम्न प्रकार है—

'नह्येतेष्वर्थस्येयत्तावधारणमस्ति। महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च ·· ···· एवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति।'

अर्थात् 'इन वेद के शब्दों' में इयत्ता (सीमा की समाप्ति) नहीं, क्योंकि ये शब्द महान् अर्थोंवाले हैं और इन का परिज्ञान सहज नहीं··· ···इस प्रकार से वैदिक शब्द वक्ता के योग्य-योग्यतर और योग्यतम होने पर साधारण मध्यम और उत्तम कोटि के अर्थों का प्रतिपादन करते हैं।

हम समझते हैं वेदार्थविषय का यह सिद्धान्त सर्वोपरि सिद्धान्त है और अत्यन्त उपादेय है।

हमारा कर्त्तव्य

इस विषय में हमारा कहना यह है कि हमारे दर्शाये वेदार्थप्रक्रिया के मूलभूत सिद्धान्तों पर सब से पहिले और सब से अधिक भारत के समस्त विद्वानों में विचार विनिमय होना चाहिये, जो अत्यन्त ही प्रमपूर्वक और सम्मानपूर्वक हो, जो सत्य सिद्ध हो उसी को हम मान लें। हम तो कहते हैं यदि उपर्युक्त सिद्धान्त असत्य सिद्ध हों, तो हम उन्हें छोड़ देने को तय्यार हैं। मैं चाहता हूं काशी के विद्वान् जब चाहें इस विषय पर विचार करें, मैं तय्यार हूं। भारत की प्रत्येक यूनिवर्सिटी (विश्वविद्यालय) के संस्कृतविभाग के सभी विद्वान् जब चाहें इस पर विचार करें। अलग-अलग प्रान्तों में एकत्रित होकर या भारत के सब प्रान्तों से एकत्रित हों, उन में सभी वेदविषय के प्रमुख विद्वानों को बुलाया जावे और कम से कम एक-एक वाद पर एक-एक सप्ताह नहीं तो पहिले एक-एक दिन ही विचार विनिमय हो। जब भारत में ऐसा हो ले, तब विदेशीय विद्वानों को भी अवश्य बुलाया जावे और वेदार्थ के इन मौलिक सिद्धान्तों वा विषयों पर या अन्य पर भी परस्पर शास्त्र-चर्चा-विचार विनिमय ऊहापोह किया जावे। यदि प्रेमपूर्वक शास्त्रार्थ (जिसका स्वरूप बहुत विकृत हो चुका है) शुद्ध भावना से किया जावे, तो भी ठीक है। इसी प्रकार संस्कृतसाहित्य के अन्य विषयों में भी हो सकता है। यह सब प्रकाशित हो और सबको मिले।

इन उपर्युक्त वादों के पक्ष-विपक्ष में लिखे वा भेजे जानेवाले सभी लेखों को हम 'वेदवाणी' में प्रकाशित करने को तय्यार हैं। लेख शिष्टतापूर्वक-मौलिक-सप्रमाण और सहेतुक होने चाहियें। मैं चाहता था कि आर्य सार्वदेशिक सभा—परोपकारिणी सभा—प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधिसभायें या कोई भी बड़ी समाजें इस कार्य का उपक्रम करतीं। पर हमें तो अभी जलूसों से अवकाश नहीं, हम मेला चाहते हैं। इस ओर तो ध्यान जाता नहीं, पढ़ें लिखें तो ध्यान जावे भी। केवल समारोह करके शान्त वा सन्तुष्ट हो लेते हैं। ऋषि दयानन्द का वेदार्थ तभी भारतीय वा विदेशी विद्वानों में माननीय हो सकता है, जब हमारी बात उन तक पहुंचे। वेदसम्मेलन भी एक प्रदर्शनमात्र बनकर रह गये। इधर कुछ भी ध्यान नहीं। गम्भीर विचार करने को तो कोई स्थान वा अवकाश नहीं।

वेद और वेदार्थप्रक्रिया के विषय में भारत और संसार जानने के लिये उत्सुक हो रहा है। हमारे ये विचार हजारों की संख्या में भारतीय तथा विदेशीय विद्वानों तक जावें, वे हमारे विचारों को पढ़ें, उस पर अपने विचार लिखें कुछ दें कुछ लें, परस्पर विचार विनिमय हो। तब वैदिक सूर्य का संसार में प्रकाश फैलकर अविद्या अन्धकार दूर हो सकता है। इसी ध्येय से आज हम यह लेख उपस्थित कर रहे हैं।

पाठकों का और प्रत्येक भारतीय का कर्त्तव्य है कि यह इस विषय में सोचे और इसके लिये यत्नशील हो कि ये विचार भारत और भारतेतर विद्वानों तक कैसे पहुंचें। वेद से ही मानवसमाज का कल्याण है।

[—वेदवाणी वर्ष ७, अङ्क १, २]

रिसर्च [खोज] विषय में पाश्चात्त्यों की गहरी भूलें

वैबर और कैलेण्ड की प्रामाणिकता का परीक्षण !!

भारतीय अब पाश्चात्त्यों की मस्तिष्कदासता को छोड़ें !!

लगभग ४० वर्ष की बात है। डी० ए० वी० कालेज लाहौर (वर्त्तमान पाकिस्तान) के एक गोल कमरे में अपने स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव के साथ एक दुबले-पतले पाजामाधारी पण्डित कहे जानेवाले (पं० भगवद्दत्त जी) से मेरा सन् १९१५ में प्रथम परिचय हुआ और पता लगा कि वेदशास्त्रों के विषय में रिसर्च (खोज) क्या वस्तु है। इसके पश्चात् इधर रुचि बढ़ती गई। सन् २२ से अध्यापन कार्य अमृतसर में आरम्भ होने पर प्रिय युधिष्ठिर (आयु १२ वर्ष) के साथ लाहौर इसी कार्य के लिये जाना आरम्भ हुआ। वेद की खोज सम्बन्धी जानकारी श्री पं० भगवद्दत्त जी के सम्पर्क में ही बढ़ती गई। इसी बीच में रिसर्चस्कालर समझे वा कहे जानेवाले डा० लक्ष्मणस्वरूप डा० रघुवीर जी आदि के कार्यों से परिचय हुआ और उनसे भारत में करनेवाली खोज-सम्बन्धी सब संस्थाओं और उनके कार्यों तथा हस्तलेख सामग्रियों तथा उनसे किये जानेवाले कार्यों की रूपरेखा के स्वरूप का ज्ञान भी हुआ। काशी में अनेक वर्ष रहकर यहां के शीर्षण्य और अपने विषय के अद्वितीय विद्वानों से अध्ययन परिचय तथा विचार विनिमय होते रहने से तथा माननीय सुयोग्य विद्वान् श्री डा० मंगलदेव शास्त्री जी के लाइब्रेरियन, पीछे गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज की परीक्षाओं के रजिस्ट्रार तथा सफल प्रिंसि-पल पद पर कार्य करते हुये मुझे रिसर्चस्कालरों तथा काशी के बड़े-बड़े विद्वानों के सम्पर्क में आने का सौभाग्य और सुअवसर सन् १९२५ से १९५५ (अब तक) बराबर प्राप्त होता आ रहा है। उधर उक्त सम्पर्क

रहा, इधर वेद-ब्राह्मण-श्रौत-स्मार्त्त-व्याकरण-निरुक्त-प्राचीनदर्शन तथा मीमांसा आदि के गम्भीर अध्ययन अध्यापन में लगे रहने से भारत के प्राचीन विद्वानों की विद्वत्ता का भी खूब परिचय प्राप्त हुआ। साथ ही अपने मित्र श्री पं० भगवद्दत्त जी की प्रेरणा तथा प्रेम से ओरियण्टल कानफ्रेंस के विदेशीय विद्वानों से साक्षात् परिचय भी हुआ और उनकी कृतियों को गहराई से देखने का भी अवसर मिलता रहा। मेरे इस ओर प्रवृत्त होने तथा खोज सम्बन्धी जितनी भी मेरी जानकारी है, इस सब का श्रेय मुख्यतया माननीय श्री पं० भगवद्दत्त जी को ही है।

जहां मैं कह सकता हूं कि काशी में इस समय यद्यपि विद्या का बहुत कुछ ह्रास हो चुका है पुनरपि समस्त भारत की अपेक्षा काशी में अपने-अपने विषय के विद्वान् अभी तक भी अधिक ही होंगे। संस्कृत पठनपाठन का क्रम चाहे वह कितना भी विकृत हो चुका है, पुनरपि काशी में सबसे अधिक कहा जा सकता है। काशी के वैदिक विद्वानों का कुछ परिचय मेरे इस लेख में आगे मिलेगा।

उधर पश्चिमीय स्कालरों की जानकारी जो हुई, उस में मेरे मन पर पहिले-पहिले अपने उपर्युक्त मित्रों द्वारा यही सुनने में आता रहा कि विदेशीय स्कालरों का संस्कृत के ग्रन्थों सम्बन्धी खोज का काम बहुत ही परिश्रमसाध्य और सर्वथा निर्भ्रान्त है। कोई भी भारतीय अङ्ग्रेजी-संस्कृत जाननेवाला विद्वान् विदेशी विद्वानों की गलती नहीं निकाल सकता, उनके काम में कहीं कोई गलती (भूल, भ्रान्ति वा अज्ञानता) नहीं हो सकती। इतना होने पर भी मुझे उनकी शास्त्रीय विद्वत्ता के विषय में कभी आस्था नहीं हुई। ज्यों-ज्यों मुझे इन विदेशीय विद्वान् कहे जानेवाले स्कालरों का परिचय मिलता गया। मुझे 'उनके कार्यों' का रहस्य खुलता गया। जब मैंने देखा कि भारत में पं० विश्वबन्धु शास्त्री जैसे विद्वान् अपने से दूसरे बहुत से योग्य-योग्य विद्वानों को वेतन पर खरीदकर अपने न जाने हुए विषयों पर भी टिप्पणी और व्याख्यायें लिख सकते हैं, उधर डा० लक्ष्मण स्वरूप जैसे यूनिवर्सिटी के अधिकारी ५०) वा १००) रुपये मासिक पर जीविका के लिये चिन्तित शास्त्रियों को बरेली वा अन्यत्र से बुला-बुला कर सब परिश्रम तो उनसे लेते हैं और पुस्तक पर नाम डा० लक्ष्मणस्वरूप का छपता है, तब मेरी भ्रान्ति दूर हुई। यही नीति मुझे गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज बनारस के विदेशीय

प्रिंसिपलों की भी पता लगी, कि वे तो पण्डितों के ऊपर अफसर थे ही, जिससे जो चाहा काम करा लिया। उनको कुछ आर्थिक लाभ पहुंचा दिया या पहुंचवा दिया। भूखे पण्डित तो थोड़े रुपये में ही इतना प्रसन्न हुए कि पूछो मत। इस तरह इन विदेशीय अधिकारियों अङ्ग्रेजी राज्य के वाइसराय से लेकर कलक्टर और कप्तान तक ने इन विदेशी स्कालरों को इतनी सहायता पहुंचायी, जो वर्णनातीत है, रुपये की भी और अन्य प्रकार की भी। इस दीनहीन दासता में पड़ी भारतीय जनता से जो चाहा करा लिया। उधर अच्छे-अच्छे भारतीय व्यक्तियों को विदेशों में पांच-पांच सौ या हजार-हजार रुपये मासिक की वृत्तियां देकर अङ्ग्रेजों ने अपना गुलाम वना लिया। उन्हें ही बड़े-बड़े पदों पद प्रिंसि-पल या प्रोफेसर नियुक्त किया। वे अङ्ग्रेजों का मान क्यों न करते? 'अर्थस्य पुरुषो दासः' वाली उक्ति चरितार्थ हुई।। उसी का परिणाम है कि आज भी भारत में संस्कृत के सारे क्षेत्र में ऐसे व्यक्तियों का ही एक मात्र आधिपत्य चल रहा है। इन्होंने शरीर (लेखनी) ही बेच दिया सो नहीं, मस्तिष्क भी बेच दिया। अब यह अवस्था है कि भारत में उनका ही आदर सत्कार होता है। भारी-भारी वेतन होने के कारण कोई उन के विरुद्ध आवाज नहीं उठा पाता। उठाता भी है तो उसकी सुनवाई नहीं हो रही। जनता और नेताओं में अपने भारतीय साहित्य का ज्ञान प्राचीन दृष्टिकोण से है नहीं, जो कुछ है वह इन विदेशीय स्कालरों के द्वारा प्रमाणित हुए विद्वान् समझे जाने वाले एम० ए०, डाक्टरों के द्वारा ही कराया जाता है, जो न होने के बराबर है।

विदेशी विद्वानों की छाप वा मिथ्या प्रसिद्धि

इस सबका परिणाम यह है कि इन विदेशी विद्वानों की मिथ्या छाप भारतीयों पर हो रही है। इन एम० ए०, डी० लिट् आदि पर ही पड़ी सो नहीं, भारतीय जनता पर भी पड़ी। अङ्ग्रेजी राज्य के संचालकों तथा वर्त्तमान में कांग्रेस राज्य के मुख्य-मुख्य नेताओं तथा अधिकारियों की प्राचीन पद्धति से अनभिज्ञता और भारतीय संस्कृति में अनास्था के कारण अभी तक विदेशी विचारों और संस्कारों का हो वोलवाला है। अङ्ग्रेजों की दिमागी गुलामी भारत में प्रचुर मात्रा में अभी तक सर्वत्र दिखाई दे रही है। जो दुर्भाग्य की बात है।

मिथ्या प्रसिद्धि कर दी गई है या हो गई है कि विदेशी स्कालरों ने

हमारे संस्कृत-ग्रन्थों का जो सम्पादन किया है, वह अनुपम है, उससे अच्छा कोई भारतीय नहीं कर सकता। उनके किये काम में कहीं भूल नहीं। जैसा मैंने ऊपर लिखा, अपनी मित्र-मण्डली वा अनेक भारतीय विद्वानों द्वारा मुझ पर भी यही प्रभाव डालने का यत्न किया गया कि विदेशी विद्वान् की बराबरी विद्या में कोई नहीं कर सकता। निस्सन्देह बहुत से ऐसे ग्रन्थों का विदेशियों के द्वारा सम्पादन मेरे सामने है, जिनमें उन विदेशी विद्वानों के परिश्रम उत्साह समय त्याग और लग्न की हमें मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करनी पड़ती है और करनी चाहिये, पर जहां तक उनके वैदुष्य (विद्वत्ता) का सम्बन्ध है, इसमें अभी उन्हें बहुत कुछ भारत से सीखना होगा। उनके सम्पादन किये ग्रन्थ भी भ्रान्ति-पूर्ण और अशुद्ध हैं। बस इस लेख में हम आज यही दर्शाना चाहते हैं।

वैबर और कैलेण्ड का संक्षिप्त परिचय

मेरा विचार है कि गत २०० वर्ष में योरुप अमेरिकादि के स्कालरों ने संस्कृत वाङ्मय के विषय में जो कुछ भी किया है, इस विषय की पूरी जानकारी के लिये एक पुस्तक हिन्दीं में तैयार होनी चाहिये। जिसमें सन् १७४० ई० से लेकर सन् १९५५ ई० तक का पूरा-पूरा विवरण छपना चाहिये, उसमें तिथि और संवत् का क्रम ठीक-ठीक रहे। साथ ही हर एक विद्वान् कब से कब तक रहा और उसने किन-किन संस्कृत-ग्रन्थों का सम्पादन किया और लेख लिखे, उनके प्रकाशन, स्थान, मूल्यादि का भी विवरण रहे। साथ ही उसमें इस क्रम से लिखा जावे कि किस का कौन शिष्य वा अनुवर्त्ती रहा। मेरे विचार में साथ ही साथ यदि भारतीय डी० लिट् वा डी० फिलों आदि का भी परिचय दिया जावे कि किसने किस विदेशी विद्वान् से कब-कौन से देश में क्या-क्या पढ़ा और कौन-कौन उपाधि प्राप्त की, तो अच्छा होगा। उनकी भी शिष्य-परम्परा को अवश्य बताया जावे। यदि उनके कार्यों तथा सम्पादित ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय भी रहे तो और अच्छा हो।

गत वर्ष (७ वें वर्ष) के 'वेदवाणी' के वेदाङ्क में हमारे मित्र आर्य-समाज के सुयोग्य विद्वान् श्री पं० वीरेन्द्रजी शास्त्री एम० ए० साहित्या-चार्य का एक लेख 'वैदिक साहित्य में पाश्चात्य लेखक' शीर्षक से पृ० ११० से ११५ तक छपा था। उसमें उन्होंने ११० विदेशीय स्कालरों का तथा उनके कार्यों का संक्षिप्त परिचय दिया था। यह नहीं समझ लेना

चाहिये कि उन ११० में सब विदेशीय स्कालर आ गये। कुछ अन्य भी हैं। पर उक्त लेख इस विषय में बहुत उपयोगी जानकारी देता है।

हमने आज वेबर और कैलेण्ड के विषय में ही यहां कुछ विचार करना है। अतः यहां हम उन दोनों का ही कुछ परिचय उपस्थित करते हैं—

डा० वेबर—यह जर्मनी का प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् समझा जाता है। इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों का सम्पादन तथा निर्माण किया—

मैत्रायणी संहिता सन् १८४७ ई० में सम्पादित की। यजुर्वेद महीधर भाष्य १८४९ में, शतपथ ब्राह्मण १८५५ ई० में, कात्यायनश्रौतसूत्र कर्कभाष्य १८४९ ई० में सम्पादन किया। यजुर्वेद के सम्बन्ध में ये ग्रन्थ विशेष महत्त्व के समझे जाते हैं। इन से अतिरिक्त काण्वसंहिता, तैत्तिरीयसंहिता, अद्भुत ब्राह्मण, वंशब्राह्मण आदि का भी सम्पादन तथा इनके विषय में लिखा।

कैलेण्ड—ने जैमिनीय शाखा (सामवेदान्तर्गत) बौधायनश्रौतसूत्र, काठकगृह्यसूत्र, वैतानसूत्र, जैमिनीय गृह्यसूत्र, काण्व शाखा शतपथ ब्राह्मण (सन् १९२६ ई० में) इत्यादि ग्रन्थों का सम्पादन किया। यह हालैण्ड के रहनेवाले थे।

यजुर्वेद में 'वेष्पः' पर विचार

यजुर्वेद अध्याय १ मन्त्र ३० में 'अदित्यै रास्नासि विष्णोर्वेष्पोऽसि...' इस में 'वेष्पः' पाठ है या 'वेष्यः' पाठ है, इस विषय में हम सप्रमाण विवेचना उपस्थित कर रहे हैं। वेबर और कैलेण्ड दोनों ने 'वेष्यः' पाठ ही माना है। कहीं पर भी मूल में या टिप्पणी में 'वेष्पः' पाठान्तर है, ऐसा नहीं दिखाया, इन दोनों के कारण से इस विषय में भारी विवाद खड़ा हो गया है। कई विद्वानों को भी भ्रान्ति उत्पन्न हो गई। पं० सत्यव्रत सामश्रमी जैसे योग्य समझे जानेवाले विद्वान् भी वेबर और कैलेण्ड का अनुकरण करके भ्रान्ति में पड़ गये और उन्होंने भी सर्वत्र 'वेष्यः' अशुद्ध पाठ ही दिया। विदित रहे कि महर्षि दयानन्द सरस्वती के यजुर्वेदभाष्य में मूल तथा भाष्य दोनों में 'वेष्पः' पाठ ही माना गया है, 'वेष्पः' की ही व्याख्या की गई है। अब हम इस विषय में पहिले दोनों पक्षों की स्थिति और युक्ति पाठकों के सामने रखेंगे, जिस से उन्हें अपनी बुद्धि से सत्य तक पहुंचने में सहायता मिले। अन्त में हम अपना विचार उपस्थित करेंगे।

मुद्रित ग्रन्थों में 'वेष्यः' पाठ

सर्व प्रथम हम वैबर तथा उसके अनुगामी लोगों में किस-किस ने 'वेष्य:' पाठ माना है वा लिखा है, सो दर्शाते हैं—

१ वैबर-सम्पादित महीधरभाष्य सन् १८४६ ई० में लिप्जिग् (जर्मनी में प्रकाशित) में 'वेष्य:' पाठ है।

२. वैबर द्वारा ही १६४९ ई० में सम्पादित तथा प्रकाशित 'शतपथ ब्राह्मण' (हरि स्वामी तथा सायण के भाष्यांशों सहित में)।

३. वैबर द्वारा सन् १८५९ ई० में सम्पादित तथा प्रकाशित कात्यायनश्रौतसूत्र कर्कभाष्य में।

४. शतपथ ब्राह्मण सायणभाष्य—सन् १९०३ ई० में (रायल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता से छपा)।

५. यजुर्वेद उवटमहीधर भाष्य—निर्णय सागर बम्बई में सन् १९१२ ई० में छपा।

६. यजुर्वेद उवटमहीधर भाष्य – चौखम्बा संस्कृत सीरीज-काशी में सन् १९१२ में छपा।

७. शतपथब्राह्मण-सायणभाष्य—वेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई में सन् १९२६ में छपा।

८. शतपथब्राह्मण मूल—चौखम्बा काशी में सन् १९३७ में छपा।

९. काण्वशतपथ ब्राह्मण (कैलेण्ड द्वारा सम्पादित) लाहौर में सन् १९२६ में छपा।

१०. शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिनीय संहिता – बम्बई निर्णय-सागर सन् १९२५ में मुद्रित।

११. वैदिकपदानुक्रमकोश - नित्यानन्द विश्वेश्वरानन्द संस्थान लाहौर सन् १९३५ ई० में मुद्रित।

इन ग्रन्थों में 'वेष्य:' पाठ स्वीकृत किया गया है। अज्ञानवश इनका अन्धानुकरण करनेवाले और इस विषय में स्वयं कुछ भी यत्न न करने वालों में निम्नलिखित हैं—

१२. शुक्लयजु: माध्यन्दिन संहिता मूल– दामोदरसातवलेकर—स्वाध्यायमण्डल औंध सन् १९२७ ई० में छपा।

१३. काण्वसंहिता—पूर्वोक्त स्वाध्यायमण्डल औंध सन् १९४० ई० में प्रकाशित १।४७ पर।

१४. उवटमहीधरभाष्य—दुर्गादास लाहिरी कलकत्ता सन् १९३५ ई० में मुद्रित।

१५. यजुर्वेदभाष्य—जयदेवजी विद्यालङ्कार सन् १९३० में आर्य साहित्यमण्डल अजमेर द्वारा मुद्रित।

१६. यजुर्वेदभाषानुवाद --वैदिक संस्थान गुरुकुल वृन्दावन सन् १९३८ ई० में मुद्रित।

इनमें वैवर ने तो कुछ थोड़ा वहुत परिश्रम किया भी प्रतीत होता है। कैलेण्ड और सत्यव्रत सामश्रमी ने भी कुछ किया होगा क्योंकि इन लोगों ने कुछ हस्तलेखों की सहायता भी ली, यद्यपि वह अपूर्ण और दोषपूर्ण थी।

इन तीनों को छोड़कर शेष १३ तो गिनती करने योग्य भी नहीं, क्योंकि इन्होंने तो कुछ भी परिश्रम नहीं किया। केवल वैवर को देखकर ही उसका अन्धानुकरण किया, कईयों ने तो अनुकरण का ही अनुकरण किया।

मुद्रितों में 'वेष्पः' पाठ

यद्यपि आगे हम १४५ हस्तलेखों में 'वेष्पः' पाठ है, यह दर्शावेंगे। परन्तु पहिले हम मुद्रितों में कहां-कहां किस-किस ने 'वेष्पः' पाठ स्वीकृत किया है, सो दर्शाते हैं—

१. शु० य० मा० संहिता—वेङ्कटेश्वर बम्बई संस्करण सन् १९२२ में मुद्रित।

२. शु० य० मा० संहिता—तत्त्व विवेचक प्रेस वम्बई सन् १८९६ ई०।

३. शु० य० मा० संहिता—तिमिरनाशक यन्त्रालय काशी सन् १८९० ई०।

४. शु० य० मा० संहिता—विरजानन्द यन्त्रालय लाहौर सन् १८९० ई०।

५. शु० य० संहिता पदपाठः—तत्त्व विवेचक प्रेस वम्बई—सन् १८८४ ई०।

६. शु० य० संहितापदपाठः—गौरीश प्रेस काशी।

७. यजुर्वेदभाष्य (महर्षि दयानन्दसरस्वतीकृत)—निर्णय सागर वम्बई संवत् १९३५ वि०।

८. यजुर्वेदभाष्य—(उदय प्रकाश मथुरा) सन् .१८८६ मुद्रित पृ० ३५।

९. यजुर्वेद ब्रह्मभाष्य -(ज्वाला प्रसादकृत) लखनऊ सन् १८८८ ई०।

१०. शु० य० काण्व संहिता मूल—श्री शेषाचल मुद्रणालय मद्रास सन् १९१५ ई०।

११. शु० य० काण्व संहिता—सायणभाष्य काशी मूल में तथा भाष्य में। सन् १९०८ चौखम्बा काशी मुद्रित पृ० ५५ पर 'छान्दसः पकारादेशः' यह स्पष्ट पाठ है।

१२. शतपथब्राह्मण (वैदिक यन्त्रालय अजमेर) सन् १९०३ ई०।

१३. शतपथब्राह्मण (अच्युत ग्रन्थ माला काशी) सन् १९३७ ई० मु०।

१४. शतपथब्राह्मण (तैलगू भाषा में) मद्रास लक्ष्मीपति शास्त्रि-सम्पादित पृ० १२३ पर।

१५. कात्यायन श्रौतसूत्र कर्कभाष्य (चौखम्बा काशी) सन् १९२७ ई० मुद्रित –पृ० १८० पर मूल तथा भाष्य दोनों में 'वेष्पः' पाठ है।

१६. कात्यायन श्रौतसूत्रभाष्य—म० म० विद्याधर गौड़ काशी कृत सन् १९३० ई० मुद्रित पृ० ९४। नीचे टिप्पणी बहुत ही उपयोगी है।

१७. कात्यायन श्रौतसूत्र—देवयाज्ञिक भाष्य चौखम्बा काशी—सन् १९३३ ई० मु० पृ० ३८ पर मूल तथा भाष्य दोनों में।

१८. कात्यायन सर्वानुक्रमणीभाष्य अनन्त देवयाज्ञिक चौखम्बा काशी—सन् १८९३ ई० मुद्रित भाष्य में 'वेष्पः' पाठ है।

१९. कात्यायन श्रौतसूत्र दर्शपूर्णमास पद्धति (म० म० नित्यानन्द पार्वतीय—चौखम्बा काशी) सन् १९२४ ई० मुद्रित—पृ० ३३ पर टिप्पणी है, जो सबसे पहली टिप्पणी इस विषय की समझनी चाहिए। उसी को देखकर वही टिप्पणी आगे श्री पं० विद्याधर जी गौड़ द्वारा कात्यायनश्रौतसूत्रभाष्य में दी गई, जिसका विवरण हमने ऊपर दिया है। पीछे से शतपथब्राह्मण अच्युत ग्रन्थ माला संस्करण में भी पृ० ३५ पर आई। पं० नित्यानन्द पार्वतीय की वह अत्यन्त उपयोगी और मार्मिक टिप्पणी इस पद्धति में इस प्रकार है –

'विष्णोर्वेष्प' इत्यत्र 'विष्लृ व्याप्तौ' इति धातोः 'पानीविषिभ्यः पः'

इत्यौणादिकसूत्रेण तृतीयपादस्थेन पप्रत्यये 'वेष्प' इति रूपं निष्पद्यते। अत्र वेष्य इति पाठकल्पनं एतदौणादिकसूत्राज्ञानमूलकम्। पवर्गीय-घटितपाठस्य आसेतुहिमाचलं संप्रदायसिद्धत्वात्। अन्तस्थघटितलेखस्य लेखकप्रमादेन भाष्यादिपुस्तकेषु संजातत्वात्। एतद्व्युत्पादनं च लखनऊनगरमुद्रितभाष्ये स्पष्टमुपलभ्यते इति ततो निरसनीयः संशयः संदिहानैरित्यलम्।'

अर्थात्—'विष्णोर्वेष्पो' इस मन्त्र में 'वेष्पः' पाठ ही युक्त है, क्योंकि 'पानीविषिभ्यः पः' इस उणादिसूत्र से 'विष्लृ व्याप्तौ' धातु से प प्रत्यय करने पर वेष्पः शब्द सिद्ध होता है। वेष्यः पाठ की कल्पना इस उणादि सूत्र के अज्ञान की परिचायक है। भारत भर के सब वैदिकों के संप्रदाय में भी पवर्गयुक्त पाठ ही मिलता है। अतः वेष्यः में लेखकप्रमाद से पकार लिखा गया है। इसके विषय में और अधिक विवरण लखनऊ से मुद्रित भाष्य में किया गया, वहां से देख लें।

इस विषय में कहना पड़ेगा कि वैवरादि के कारण 'वेष्पः' इस पाठ के छपनेवाले ग्रन्थों में भ्रष्ट हो जाने पर इन महामहोपाध्याय पं० नित्यानन्द पार्वतीय जी ने ही सर्वप्रथम 'वेष्यः' इस अशुद्ध पाठ के विरुद्ध घोषणा की और काशीस्थ प्रमुख वैदिक विद्वान् म० म० पं० विद्याधर गौड़ जी ने इसका अति प्रबलता से समर्थन कर काशीस्थ परम्परा की रक्षा का महान् कार्य किया, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

२०. दर्शपूर्णमासेष्टि (भीमसेन शर्मा-सरस्वती प्रेस इटावा) सन् १८९९ ई० में मुद्रित पृ० ४७ पर।

२१. यजुर्वेद पदसूची (स्वा० नित्यानन्द विश्वेश्वरानन्द निर्णय सागर बम्बई सन् १९०८) में 'वेष्पः' पाठ है। पं० विश्वबन्धुजी ने इस के विरुद्ध 'वेष्यः' पाठ माना, जैसा कि हम पहले दर्शा चुके हैं।

२२. यजुर्वेद मन्त्रपदानामनुक्रमसूची (श्री पं० दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मंडल औंध—सन् १९२९ ई० में मुद्रित में—

'विष्णोर्वेष्पोऽसि' ऐसा पाठ छपा है। ऊपर हम दर्शा चुके हैं कि शु० मा० यजुर्वेद संहिता में इन्होंने 'वेष्यः' पाठ माना है। इस विषय में कुछ किया होता या इस विषय की समझ होती तब तो कुछ परिश्रम भी करते। अपना ज्ञान न रहने पर दूसरों की समझ से कार्य करनेवालों की यही गति होना स्वाभाविक है।

यहां इतना ध्यान रहे कि २३. उज्ज्वलदत्त उणादिवृत्ति २४. श्वेतवनवासी उणादिवृत्ति २५. उणादिवृत्ति (स्वामी दयानन्द सरस्वतीकृत) २६. नारायण उणादिवृत्ति २७. दशपादी उणादिवृत्ति (युधिष्ठिर मीमांसक सम्पादित) २८. शब्दकल्पद्रुम कोश। इन ६ ग्रंथों में भी 'वेष्पः' पद ही माना गया है, 'वेष्पः' नहीं। यद्यपि इनमें आया पद यजुर्वेद १।३० की दृष्टि से नहीं है। इसका विशेष विवेचन हम आगे करेंगे।

यद्यपि मुद्रित में 'वेष्पः' पाठ अत्यधिक है। पर पाठक को कैसे पता लगे कि 'वेष्पः' ही ठीक पाठ है, 'वेष्यः' नहीं। मुद्रित में २८ प्रमाणों से पूर्वपक्ष में १६ प्रमाणों का उत्तर तो नहीं हो जाता, अतः हम युक्तियों द्वारा भी दोनों पक्षों की विवेचना उपस्थित करते हैं:—

'वेष्यः' पाठ में पूर्वपक्ष की युक्ति

पूर्वपक्षी का कहना है कि यह ठीक है। २२-२३ प्रमाण यजुर्वेद-सम्बन्धी 'वेष्पः' पाठ के लिये दिये गये, पर वैबर, कैलेण्ड तथा सत्यव्रत सामश्रमी आदि ने भी तो अनेक हस्तलेखों के आधार पर ही 'वेष्यः' पाठ निश्चित किया है। उसमें भी १६ ग्रन्थों में यही वेष्यः पाठ मिलता है। विना किसी आधार के इसे अशुद्ध कैसे माना जा सकता है? यदि हम 'वेष्पः' पाठ २२ ग्रन्थों में मान भी लें तो १६ ग्रन्थों का 'वेष्यः' पाठ इतने से ही अशुद्ध कैसे हो सकता है, उनमें वैबरादि का तो हस्त-लेखों के आधार पर भी है।

उत्तर

इसमें हमारा उत्तर निम्न प्रकार है—

(१) भारतवर्ष में सभी प्रान्तों के प्राचीन परम्परा के वैदिक विद्वानों में हमने कोई नहीं देखा, जिसका 'वेष्यः' पाठ हो। काशी में सभी प्रान्तों के वैदिक विद्वान् रहते हैं—महाराष्ट्र, बङ्गाल, पञ्जाब, राजस्थान, गुजरात, बिहार, मध्यभारत, हैदराबाद, आन्ध्र, मद्रास, उत्तरप्रदेश, विन्ध्यप्रदेश, काश्मीर, आसाम, नैपाल इत्यादि सभी प्रान्तों के सभी विद्वानों का परम्परागत उच्चारण 'वेष्पः' ही है। काशी के वैदिक विद्वान् भारत के सभी प्रान्तों में यज्ञ यागादि के निमित्त प्रायः सर्वत्र बुलाये जाते हैं। अपने-अपने प्रान्तों के वैदिक विद्वानों से इनका समागम

वा सम्बन्ध प्राय: होता ही रहता है। किसी ने भी 'वेष्य:' पाठ नहीं बतलाया, अपितु 'वेष्प:' सर्वसम्मत पाठ ही हमें सुनने को मिला। उच्चारण ही सबसे पुष्ट और मुख्य प्रमाण है। इसके सामने मुद्रित और हस्तलेखों का पाठ भी गौण है। यह बात वैदिक परम्परा के जाननेवाले समझ सकते हैं। इन वैदिक विद्वानों के घरों में परम्परागत प्राप्त संहिता, पदपाठ, क्रम, जटा, घन, विकृति आदि के सब हस्तलेखों में 'वेष्प:' ही पाठ मिला। काशी भारत की प्राचीनतम नगरी मानी जाती है। इसमें सब प्रान्तों के लोग विद्याध्ययनार्थ आते हैं। इसीलिये काशी में लाहौरी टोला, बङ्गाली टोला, मद्रासी मुहल्ला (हनुमान् घाट), महाराष्ट्री पञ्चगङ्गा घाट पर, राजस्थानी मीरघाट पर, बिहारी अस्सी पर, गुजराती शीतला घाट पर प्राय: निवास करते हैं। काशी में सब प्रान्तों के विद्वानों, राजाओं, धनिकों के छोटे से छोटे और बड़े से बड़े तक प्राय: सब के स्थान वा बगीचे आदि हैं। कोई भारी यज्ञ याग भारत के किसी कोने में हो, काशी के वैदिक विद्वान् उसमें अवश्य बुलाये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि काशीस्थ वैदिक विद्वानों की परम्परा सर्वश्रेष्ठ है और सर्वमाननीय है। सो उसमें सबका एक स्वर से 'वेष्प:' ही पाठ है।

हस्तलेखों के प्रमाण

(२) अब हम हस्तलेखों के प्रमाण उपस्थित करते हैं —

१. १९+४१=६० माध्यन्दिनीय शुक्ल यजुर्वेदसंहिता के हस्तलेखों में वेष्प: ही पाठ है।

२. ५+४१=४६ मा० शु० यजुर्वेदसंहिता पदपाठ के हस्तलेखों में वेष्प: पाठ है।

३. ७ क्रम, जटा, घन पाठ के हस्तलेखों में वेष्प: पाठ है।
४. १२ यजुर्वेद के हस्तलेखों में वेष्प: पाठ है।
५. ११ मा० शु० शतपथब्राह्मण के हस्तलेखों में वेष्प: पाठ है।
६. १३ शु० य० काण्वसंहिता के लेखों में वेष्प: पाठ है।
७. ७ काण्वसंहिता पदपाठ के हस्तलेखों में वेष्प: पाठ है।
८. २ काण्वसंहिता सायणभाष्य के हस्तलेखों में वेष्प: पाठ है।
९. ४ काण्व शतपथब्राह्मण के हस्तलेखों में वेष्प: पाठ है।
१०. ८ कात्यायन श्रौतसूत्र के हस्तलेखों में वेष्प: पाठ है।

११. ८ कात्यायन श्रौतसूत्र कर्कभाष्य तथा देवयाज्ञिक भाष्य के हस्तलेखों में वेष्पः पाठ है।

१२. ६ कात्यायन श्रौत दर्शपूर्णमासपद्धति के हस्तलेखों में वेष्पः पाठ है।

१३. ३ कात्यायन सर्वानुक्रमणी भाष्य के हस्तलेख में वेष्पः पाठ है। इस प्रकार—

१९६ हस्तलेखों में 'वेष्पः' ही पाठ है।

इनमें १४ हस्तलेखों में यकार और पकार के अभेद के कारण 'वेष्यः' पाठ भी माना जा सकता है। यद्यपि इस विषय का विवेचन हम आगे करेंगे कि वास्तव में इनमें भी प्रायः 'वेष्पः' ही पाठ है। इसमें हेतु आगे दर्शायेंगे। दुर्जनसन्तोषन्याय से इन १४ में 'वेष्यः' पाठ ही मान लिया जावे तो भी १८२ में तो 'वेष्पः' पाठ निस्सन्देह ही है। अब यदि इनमें ४१ विद्वानों के संहिता उच्चारण तथा ४१ पदपाठ के उच्चारण गिन लिये जायें तो १८२+८२=२६४ हस्तलेखों तथा उच्चारणों में 'वेष्पः' पाठ मानना होगा, यह निश्चित है।

हस्तलेखों में 'वेष्पः' पाठ का पूरा परिचय

अब हम क्रमशः संहिता-पदपाठ-क्रम-जटा-संहिताभाष्य-शतपथ-ब्राह्मण मूल-तथा भाष्य-काण्वसंहिता-काण्वसंहिता पदपाठ-काण्वसंहिता सायणभाष्य-काण्व शतपथब्राह्मण-कात्यायन श्रौतसूत्र-कात्यायन श्रौतसूत्र भाष्य-कात्यायन दर्शपूर्णमास प्रयोग-कात्यायन सर्वानुक्रमणी भाष्य—इन सब के १९६ हस्तलेखों का परिचय और पता आदि लिखते हैं, जिससे इस विषय में विचारशील विद्वानों के सामने हस्तलेखों की पूरी सामग्री उपस्थित हो जावे और आगे विचार करनेवालों को भी विचार करने में सुगमता वा सहायता हो। क्रमशः हस्तलेखों का विवरण लिखते हैं—

१. माध्यन्दिनीय शुक्लयजुःसंहिता के हस्तलेख

इन सब में 'वेष्पः' पाठ है—

I. सरस्वतीभवन (गवर्नमेण्ट संस्कृतकालेज बनारस के संग्रह में)—

१. ms. सं० ६८४ (१-२० अध्याय) 'वेष्पः' पाठ है।

२. ms. सं० ६९७ (क) १ से २० अध्याय वेष्पः है।

३. ,, ,, ७१३ (१-१२ अध्याय) 'वेष्पः' पाठ है।

४. ms. सं० ७२२ (पूर्वार्द्धं अति जीर्णं) 'वेष्पः इति पाठः ।
५. ms. सं० ७६५ (१-२० अतिजीर्णः) ,, ,, ।
६. ,, ,, ७६६ (१-३ अ०) ,, ,, ।
७. ,, ,, ८०७ ,, ,, ।
८. ,, ,, ८१६ ,, ,, ।
९. ,, ,, ८३० दीर्घपाठः सं० १६.५ ,, ,, ।
१०.,, ,, ८३१ दीर्घपाठः ,, ,, ।
११.,, ,, ८३३ (संवत् १६१६) ,, ,, ।
१२.,, ,, ८५६ ,, ,, ।
१३.,, ,, ७०६ (पूर्वार्धः) संवत् १६६३ ,, ,, ।
१४.,, ,, ७११ पूर्वार्धः संवत् १८७४ ,, ,, ।
१५.,, ,, ७१३ ,, ,, ।
१६.,, ,, ७८६ (अतिजीर्णः) ,, ,, ।
१७.,, ,, वटाला हस्तलेखः (ट्रस्ट ms) ,, ,, ।
१८.,, ,, अमृतसर हस्तलेखः
(रामलाल कपूर ट्रस्ट ms) ,, ,, ।
१९.,, ,, अमृतसर रामलाल कपूर
ट्रस्ट हस्तलेख ,, ,, ।

II. काशीस्थ वैदिकों के संग्रह में -

निम्नलिखित काशीस्थ विद्वानों के मा० शु० यजुः संहिता के तथा पदपाठ के हस्तलेखों में तथा दोनों के परम्परागत उच्चारण में सर्वत्र 'गोष्पः' पाठ ही है, जिसको हमने स्वयं देखा तथा श्रवण किया है—

१. श्री पं० गणेश दीक्षितः (महाराष्ट्रीयः)
संहितापाठः गोष्पः इति ।
२. श्री पं० हरिनाथ शास्त्री घाणेकर (वंगीयः)
संहितापाठः गोष्पः इति ।
३. श्री पं० लालतिवारी-आर्यवर्त्तीयः
संहितापाठः गोष्पः इति ।
४. श्री पं० काशीनाथजी (बागबरियार सिंह काशी)
संहितापाठः गोष्पः इति ।
५. श्री पं० बद्रीनारायण (बागबरियार सिंह)
संहितापाठः गोष्पः इति ।

६. श्री पं० रामनाथ दीक्षितः (पांचालीया)
संहितापाठः नेष्पः इति ।

७. श्री पं० श्रीनाथ दीक्षितः (पांचालीयः)
संहितापाठः नेष्पः इति ।

८. श्री पं० दौलतरामगौड़ः (पं० विद्याधरगौड़पुत्र)
राजस्थानीयः (संवत् १७२६ वि० नेष्पः इति) ।

९. श्री पं० नेणीरामगौड़ः (,, ,, ,,)
१०. श्री पं० हरिनारायणः (पञ्चनदीयः) ।
११. श्री पं० काशीनाथजी गौड़से (महाराष्ट्रीयः) सं० १८७२
१२. श्री पं० विष्णुजी जानी (गुर्जरप्रान्तीयः) ।
१३. श्री पं० भगवत् प्रसाद मिश्रः (राजस्थानीयः) ।
१४. श्री पं० गोपालचन्द्र मिश्रः (,,) ।
१५. श्री पं० योगेशजी पाठकः (बिहारप्रान्तीयः) ।
१६. श्री पं० विश्वनाथः विश्वविद्यालये (,,) ।
१७. श्री पं० अमरनाथ सारस्वतः (पञ्चनदीयः) ।
१८. (क) ,, ,, ,, सम्वत् १५८५ ।
(ख) ,, ,, पदपाठः सम्वत् १७३४ वि० ।
१९. श्री पं० राजाराम निर्मले (महाराष्ट्रीयः) संवत् १८८३ ।
(ख) ,, ,, पदपाठ संवत् १५३२ ।
२०. श्री पं० मान्देकरवैदिकः (हैद्राबादीयः) ।
२१. श्री पं० भवानीरामोऽग्निहोत्री (महारा०) ।
२२. श्री पं० लक्ष्मी नारायणः (सुडिया) ।
२३. श्री पं० गुरु प्रसादः (राजस्थानीयः) संवत् १८६४ ।
२४. श्री पं० ,, ,, भ्राता ,, ।
२५. श्री पं० ,, ,, ,, ।
२६. श्री पं० ढुण्डिराजः (महाराष्ट्रीयः) ।
२७. श्री पं० दामोदरः ,, ।
२८. श्री पं० पुरुषोत्तमः (पञ्चनदीयः) ।
२९. श्री पं० नारायण सारस्वतः (पञ्चनदीयः) ।
३०. श्री पं० नित्यानन्द गौड़ ,, ।
३१. श्री पं० शम्भुनाथो वैदिकः (पञ्चनदीयः) ।
३२. श्री पं० नरसिंह सारस्वतः ,, ।

३३. श्री पं० वंशीधरः (राजस्थानीयः) संवत् १९३०।
३४. श्री पं० ब्र० माधवः (सामवेद विद्या०) प्राचीन ह० ले०।
३५. श्री पं० अपरः ,, ,, प्राचीन हस्तलेख।
३६. श्री पं० मद्र प्रान्तीय ,, ,, प्राचीन हस्तलेख।
३७. श्री पं० मांगीलालः।
३८. श्री पं० मंगलदेवः (दाक्षिणात्यः)।
३९. श्री पं० गोपीनाथः (केदारघाटे)।
४०. श्री पं० फलाहारी (शास्त्रार्थविद्यालये)।
४१. श्री पं० शशिभूषणः (आर्यावर्त्तीयः)।

III. शुक्लयजुः मा० संहितापदपाठः—

१. सरस्वतीभवनसंग्रहे	१०५१	शु. संहिता पदपाठः	वेष्पः	इति	।
२.	,,	१०५२	,,	,,	,, ।
३.	,,	१०६३	,,	,,	,, ।
४.	,,	११०१	,,	'वेष्यः'	,, ।

५. पं० राजाराम निर्मले आगरा वाड़ा --संवत् १५३२ वेष्पः।
६. (काशीस्थ ४१ विदुषां पूर्वोक्तानां पदपाठहस्तलेखेषु सर्वत्र 'वेष्पः' इति पाठः –४६।

IV. (शु० य० मा० संहिता) क्रमपाठः, जटापाठः—

१. ms सं० ७२१ (सरस्वतीभवनसंग्रहे पद-क्रम-जटा 'वेष्पः' इति पाठः।
२. श्री गणेशजी दीक्षित प्राचीन क्रम पाठः 'वेष्पः इति पाठः।
३. पं० रामनाथजी दीक्षित क्रमपाठे ,, ,, ,,।
४. पं० दौलतराम गौड़ क्रमपाठे ,, ,, ,,।
५. पं० वेणीराम गौड़ क्रमपाठे ,, ,, ,,।
६. पं० भगवत्प्रसाद मिश्र क्रमपाठे ,, ,, ,,।
७. पं० गोपालचन्द्र मिश्र क्रमपाठे ,, ,, ,,।
८. पं० भगवत् प्रसाद मिश्रघनपाठे ,, ,, ,,।

V. शु० य० मा० संहिताभाष्ये—

(क) सरस्वतीभवनसंग्रहे—

१. ms सं० ७१५ (महीधर भा.) 'वेष्पः' इति पाठः।

(अभेदः पकारयकारयोः)

२. Ms. सं० ७१८ (उवट भा.) गोष्प: इति पाठः ।
(अभेद: पकारयकारयोः)

३. „ „ ७१६ (उवट भा.) गोष्प: इति पाठः ।
(अभेद: पकारयकारयोः)

४. „ „ ७२० (उवट भा.) गोष्प: इति स्पष्टः पाठः ।

५. „ „ ७२६ („ „) गोष्प: इति पाठः ।
(अभेद: पकारयकारयोः)

६. „ „ ७२८ (महीधर भा.) गोष्प: इति पाठः ।
(अभेद: पकारयकारयोः)

७. „ „ ७३३ (महीधर भा.) गोष्प: इति स्पष्टः पाठः ।

८ „ „ ८८६ („ „) „ „ „ ।

६ „ „ ७३२ (भवदेवनाथ) „ „ „ ।

(ख) वैदिकानां हस्तलेखसंग्रहे—

१०. पं० रामनाथदीक्षित (अतिसुन्दरहस्तलेखे उवटभाष्ये)
गोष्प: इति स्पष्टः पाठः ।

११. पं० दौलतराम गौड़ (बन्धन सं० १३७) महीधरभाष्ये (पृ. ३८)
(गोष्प: इति स्पष्टः पाठः ।

१२. पं० गणेश जी दीक्षित (उवट भा.) हस्तलेखे गोष्प: इति स्पष्टः पाठः ।

VI. शु० मा० शतपथब्राह्मणे भाष्ये च—

(क) सरस्वतीभवनसंग्रहे—

१. ms ६६१ (संवत् १७४१) पृ० ३६ -गोष्प: इति स्पष्टः पाठः ।

२. „ १०२६ (अतिप्राचीनः प्राचीनमात्रायुतः) पृ. २८ गोष्प: इति स्पष्टः पाठः ।

(ख) वैदिकानां संग्रहे—

३. पं० काशीनाथ गौडसे संवत् १७७६ (अतीव सुन्दरः) हस्तलेखे गोष्प: इति स्पष्टः पाठः ।

४. पं० विष्णु जी जानी नागरहस्तलेखे गोष्प: इति स्पष्टः पाठः ।

५. पं० अमरनाथ सारस्वतहस्तलेखे संवत् १६४६ गोष्प: इति स्पष्टः पाठः (अच्युत ग्रन्थमाला शतपथब्राह्मणस्य मूलपुस्तकम्) ।

६. ब्र० जोशी (सिध्येश्वरीमन्दिरे) हस्तलेखे संवत् १७३६ गोष्पः इति स्पष्टः पाठः ।

७. पं० विद्याधरगौड़संग्रह-हस्तलेखे गोष्पः इति पाठः(पययोः प्रभेदः)।

८. पं० गणेशजी दीक्षित हस्तलेखे गोष्पः इति स्पष्टः पाठः ।

(ग) मा० शतपथभाष्ये मूले—

९. ms ६१७ (सरस्वतीभवनसंग्रहे) शतपथसायणभाष्ये गोष्पः इत्यसन्दिग्धः पाठः ।

१०. ms १०२७ (सरस्वतीभवनसंग्रहे) " " इति पाठः पृ० ७० (पययोः स्वल्पभेदः) ।

११. गणेशजी दीक्षित हस्तलेखे " " इति पाठः ।

१२. सांगवेदविद्यालयहस्तलेखे " " इति पाठः ।

VII. शुक्लयजुःकाण्वसंहिता—

(क) सरस्वतीभवनसंग्रहे—

१. ms. ७७६ प्राचीनः पृ० ८—'गोष्पः' इति पाठः—'गोष्य' इत्यस्य स्थाने परिशोधितः ।

२. ms. ८३५ (पृ० ५) 'गोष्पः' इति स्पष्टः पाठः ।

३. " ८४१ " " " " ।

४. " ८४६ " " " " ।

५. " ८५५ " " " " ।

६. " ८७१ " " " " ।

७. " ७६३ संवत् १८५३—'गोष्यः' इति पाठः । (पययोः प्रभेदः) ।

८. " सं० ८२६ 'गोष्यः' इति पाठः ।

९. पं० श्रीरामाचार्य पुराणिक गोष्पः इति स्पष्टः पाठः ।

१०. पं० श्रीकान्त पुराणिक—गोष्पः " " " ।

११. दक्षिणी ब्रह्मचारी हस्तलेख सांगवेद विद्यालय (प्राचीनः) 'गोष्पः' इति स्पष्टः पाठः ।

१२. ब्रह्मचारी " " " " ।

१३. गणेश दीक्षित " " " " ।

viii. शु० य० काण्वसंहितापदपाठः—

(क) सरस्वतीभवनसंग्रहे—

१. ms. सं० १०६९ 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः।
२. ,, १०८० 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।
३. ,, १०९० 'वेष्पः' इति पाठः।
४. ,, १०५५ (नवीनः) 'वेष्पः' ,, ,, ।
(पययोः अभेदः)
५. ,, ११०१ 'वेष्पः' इति पाठः।

(ख) वैदिकानां हस्तलेखसंग्रहे—

६. पं० रामाचार्य पुराणिक (काण्वाध्यापकः सां० वेदविद्यालये) हस्तलेखे संवत् १६६७ 'वेष्पः' इति पाठः।

७. सां० वेदविद्यालये हस्तलेखे क्रमपाठे संवत् १६७२ 'वेष्पः' इति पाठः।

८. ,, ,, ,, जटापाठे सं० १७६१ 'वेष्पः' इति पाठः।

ix. काण्वसंहितासायणभाष्ये—

९. ms. सं० ६९२ (सरस्वतीभवनसंग्रहे) का० संहिता सायण-भाष्ये—पृ० ९५ 'वेष्पः छान्दसः पकारादेशः'। इति पाठः।

२. पं० गणेशजी दीक्षित—काण्वसंहितासायणभाष्ये सं० १८५५ पृ० ८५—'वेष्पः' इति पाठः' 'छान्दसः पकारादेशः, इत्यसन्दिग्धः पाठः।

x. काण्वशतपथब्राह्मणे—

१. ms. सं० ९०६ क (सरस्वतीभवनसंग्रहे) पृ० ९५ 'वेष्पः' इति पाठः (पकारयकारयोरभेदः)।

२. पं० रामाचार्य पुराणिक अतिप्राचीनहस्तलेखे पृ० ३१ वेष्पः इति स्पष्टः पाठः।

३. ,, ,, ,, नवीन ,, ,, ,, ,,

४. ,, पं० लक्ष्मीपति शास्त्री तैलगू—तेनाली हस्तलेखे पृ० १२२ 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।

xi. कात्यायनश्रौतसूत्रे—

(क) सरस्वतीभवनसंग्रहे—

१. ms. सं० १५२६ वेष्प: इति स्पष्टः पाठः ।

२. „ १५१६ „ „ „ „ ।

(पकारयकारयोभेदः)

३. „ १६४६ (अतीव जीर्णः) वेष्प: इति पाठः—

(स्वल्पभेदः पकारयकारयोः)

४. „ १७५० 'वेष्पः' इति पाठः । (पकारयकारयोरभेदः)

५. „ १५३८ „ „ „ ।

६. „ १८७६ „ „ „ । 'वेष्यः' इति पाठः ।

(ख) वैदिकानां हस्तलेखसंग्रहे—

७. पं० शिवराम नागर कात्यायनश्रौतहस्तलेखे संवत् १७१४ 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः ।

८. पं० रामाचार्य पुराणिक श्रौतहस्तलेखे 'वेष्पः' इति (स्वल्पभेदः पकारयकारयोः)

(ग) कात्यायनश्रौतसूत्रभाष्ये—

९. ms. सं० १५१४ (सरस्वतीभवनसंग्रहे) कर्कभाष्ये पृ० ४९ 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः ।

१०. „ १५२० (सरस्वतीभवनसंग्रहे) कर्कभाष्ये 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः ।

११. „ १५२२ (सरस्वतीभवनसंग्रहे) देवयाज्ञिकभाष्ये १-३ । संवत् १७५२ । 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः ।

१२. „ पं० गणेशजी दीक्षित मंगला गौरी, कात्यायनश्रौतसूत्रे तथा कर्कभाष्ये 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः ।

१३. „ पं० रामनाथ दीक्षित ब्रह्मनाल, कात्यायनश्रौतसूत्रे तथा कर्कभाष्ये 'वेंष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः ।

१४ „ पं० नारायण सारस्वत वैदिक—गढ़वासी टोला कात्यायन श्रौतसूत्रे तथा कर्कभाष्ये 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः ।

१५. „ पं० शिवराम नागर (देवयाज्ञिकभाष्य १-३ अ०) प्राचीन पृ० ९ 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः ।

१६. „ १८१८ (सरस्वतीभवनसंग्रहे) का० श्रौ० सू० कर्कभाष्य सम्पूर्णः पृ० ८५ 'वेष्पः' इति पाठः । (पययोरभेदः) ।

(घ) कात्यायनश्रौतदर्शपूर्णमासप्रयोगे—

१७. श्री पं० भवानीराम दीक्षित संग्रहे—'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः।
१८. ,, ,, शशिभूषण अग्निहोत्रिसंग्रहे—वेष्पः इत्यसन्दिग्धः पाठः।
१९. ,, ,, शिवरामनागरसंग्रहे—पृ० ७ वेष्पः ,, ,, ।
२०. ,, ,, गणेशजी दीक्षित मङ्गला गौरीसंग्रहे—पृ० १९ वेष्पः इत्यसन्दिग्धः पाठः।
२१. ,, ,, गणेशजी दीक्षित मङ्गला गौरीसंग्रहे—वेष्पः इत्यसन्दिग्धः पाठः। (पययोरभेदः)
२२. ,, ,, राजाधिराज शाहपुराधीशसंग्रहे—पृ० ३६ वेष्पः इत्यसन्दिग्धः पाठः।

XII. कात्यायनसर्वानुक्रमणीभाष्ये—

१. २२६४ (सरस्वतीभवनसंग्रहे) (१-२ अ०) 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।

२. २३४२ (सरस्वतीभवनसंग्रहे) पृ० १६ 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।

३. पं विद्याधर दौलतराम गौड संग्रहे पृ० २० 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।

पकार यकार का अभेद विवेचन

जैसा हमने पूर्व लिखा, लिखनेवाले (प्रतिलिपि करनेवाले) लेखकों के लिखने में 'प' और 'य' में अज्ञान वा प्रमादवश अभेद होने से प्रायः हस्तलेखों में बहुत अशुद्ध पाठ हो जाता है। हस्तलेखों पर काम करनेवाले विद्वान् इस बात को अच्छी तरह जानते हैं। इस 'वेष्पः' और 'वेष्यः' में गड़बड़ी का मुख्य कारण प और य का भेद न रहना ही समझना चाहिये। अब हमने जो ऊपर १४ हस्तलेखों में 'वेष्यः' पाठ दर्शाया, सो उनका क्रमशः विवेचन भी यहां उपस्थित करते हैं—

१. ms. सं० ११०१ में विकृति में जो 'वेष्यः' पाठ है। वहीं पर लेखक ने 'यजुषे-यजुषे' को 'ययुषे-यजुषे' लिखा है। इसी से लेखक की मूढ़ता स्पष्ट है।

२. ms. सं० ७१५-७१८-७१९-७२८ महीधरभाष्य के इन चारों हस्तलेखों में 'यज्ञस्य' के अन्तिम संयुक्त यकार का वेष्पः के संयुक्त पकार से कुछ भी भेद नहीं। बिना मिले पकार और यकार में तो भेद है। सो इनमें लेखकप्रमाद स्पष्ट ही है।

३. ms. सं० ७६३-८२६-८७१ में काण्वसंहिता भाष्य में जो 'वेष्य:' पाठ है सो वहां भाष्य में स्पष्ट लेख है कि 'छान्दस: पकारादेश: इत्यनेन वेष्प:' इससे वेष्प: पाठ ही यहां पर है। जब सिद्धि पकार से हो रही है तो यकार हो ही कैसे सकता है।

७६६ में इसी पृ० पर 'पुरा…क्रूरस्य विसृपो विरप्'…इसमें 'स्य' 'स्प' पढ़ा जाता है। ८२६ में 'चक्षुषा' के 'ष' के समान 'वेष्प:' का पकार सर्वथा मिलता है।

४. ms. ६६२ काण्वसंहिताभाष्य में 'छान्दस: पकारादेश:' इसमें स्पष्ट ही 'प' है। संयुक्त में पूर्ववत यहां भी है।

५. ms. ६०६ काण्व शतपथ ब्राह्मण के हस्तलेख में 'वेष्प:' का 'प' 'अवपश्याम' के 'प' के साथ सर्वथा समान है, न कि 'य' के साथ। अत: यहां भी 'वेष्प:' ही पाठ समझना चाहिये।

६. ms. १०५५—काण्व संहिता पदपाठ में दोनों ही पढ़ा जा सकता है। पर इसी पृ० में 'अदब्धेन' के स्थान में 'अदब्वेन' और 'यजुषे' के स्थान में 'षयुजे' लिखना लेखक की सर्वथा मूढ़ता को दर्शाता है।

जब ms. १०६०-१०८० तथा—१०७६ इन तीनों में सर्वथा सन्देह-रहित 'वेष्प:' ऐसा पाठ मिल रहा है, तो ms. १०५५ में भी सन्देह का कोई स्थान नहीं रह जाता।

७. ms. १५१६ कात्यायन श्रौतसूत्र के हस्तलेख में 'उपविष्टां गार्हत्यस्य मुंजयोक्त्रेण त्रिव्रताप·' इस पाठ में 'पत्यस्य' के स्थान में 'पत्पस्य' तथा 'त्रिव्रताय' के स्थान में 'त्रिव्रताप' सर्वथा ही अशुद्ध पाठ लेखक की परम मूढ़ता को द्योतित करता है।

८. ms. १७४६—कात्यायन श्रौतसूत्र हस्तलेख में 'वेष्य:' यकार वाला पाठ है। परन्तु यह वहीं पढ़े हुये 'पत्नी' शब्द के पकार के समान होने से लेखक के प्रमाद के कारण ही है।

६. ms. १८७६—कात्यायन श्रौतसूत्र में 'वेष्य:' पाठ स्पष्ट है।

परन्तु इसी में 'करोस्पूर्जे' में यकार के स्थान में पकार स्पष्ट है। 'आज्यमुद्वास्य' में दोनों यकारों के स्थान में पकार ही लिखा है 'उद्वास्य पत्नी' में यकार-पकार समान हैं। यहां लिखने में भ्रान्ति नहीं, अपितु ज्ञान की भ्रान्ति है, लेखक बिना संस्कृत पढ़ा कोई मूढ़ कायस्थ रहा होगा, क्योंकि लिखने का काम प्राय: कायस्थ ही अधिक करते थे। यहाँ

यह भी ध्यान देने की बात है कि जब कर्कभाष्य में तथा देवयाज्ञिक भाष्य में गोष्प: सर्वथा स्पष्ट असन्दिग्ध पाठ है, तो मूल कात्यायन श्रौत सूत्र के हस्तलेख में, सो भी एक में ही गोष्य: पाठ है भी, तो वह सर्वथा अशुद्ध ही है।

इस प्रकार हमने १४ हस्तलेखों में पकार और यकार के अभेद के कारण गोष्य: और गोष्प: दोनों तरह पढ़ाजानेवाला पाठ निश्चय से गोष्प: ही है, इसमें पर्याप्त युक्ति-हेतु दर्शाये। विचारशील महानुभाव इस पर गम्भीरता और धैर्य्य से विचार करेंगे तो उन्हें यह प्रकरण ठीक समझ में आ जायगा।

वैबर और कैलेण्ड के हस्तलेखों का परीक्षण

अब हम वैबर ने महीधर भाष्य—शतपथ सायणभाष्य—तथा कात्यायन श्रौतसूत्र कर्कभाष्य के सम्पादन में जिन हस्तलेखों को आधार मानकर पाठों का निश्चय किया, उनका परिचय तथा उनकी प्रामाणिकता का परीक्षण कर लेना भी आवश्यक समझते हैं:—

१. महीधरभाष्य (सन् १८४९ ई० वैबर सम्पादित तथा मुद्रित हस्तलेख में प्रयुक्त) मा० शुक्लयजु: संहिता सम्बन्धी हस्तलेख—

१. मा० शु० यजु: संहिता संवत् १८३८।

२. मा० शु० य० संहिता स्वर रहित संवत् १८४०।
(पैरिस प्रतिलिपि)।

३. मा० शु० यजु: संहिता पदपाठ संवत् १६५३।

४. संहिता पदपाठ संवत् १९५७।

५. काण्व संहिता।

६. महीधरभाष्य में दो हस्तलेख (जिन पर संवत् लिखा नहीं)।

७. तीन हस्तलेख संहिता पाठ के हैं, जिनमें से एक की संवत् १८९७ में बैनफी द्वारा प्रतिलिपि कराई गई।

२. शतपथब्राह्मण के सम्पादन (सन् १८४९ ई० में)—

१. ms. संवत् १७०५ का लिखा। उसी पर संवत् १७४५ में स्वराङ्कन किया गया।

२. ms. संवत् १७०९ का लिखा, इसमें १५२ पत्रे हैं।

३. ,, संवत् १६५४ का लिखा। १२३ पत्रे हैं।

४. ,, इसका वृत्त कुछ नहीं जाना जा सका।

३. कात्यायन श्रौतसूत्रभाष्य—

१. ms. देवयाज्ञिक भाष्य १-४ अध्याय। इसमें ५२० पत्रे हैं, संवत् नहीं लिखा।

२. ms. याज्ञिकदेवव्याख्या --द्वितीयाध्याय--संवत् १६६० (काशी में लिखा गया)।

३. ms. मूल कात्यायन श्रौतसूत्र—१-११ अध्याय—संवत् १७४५।

४. ms. मूल कात्यायन श्रौतसूत्र जयपुर ६७ पत्रे।

५. ,, ,, ,, ,, पूर्वार्ध संवत् १६५५।

६. ,, ,, ,, ,, २-३ अध्याय—संवत् नहीं लिखा।

बस ये हस्तलेख हैं, जिनके आधार पर वा जिनका प्रयोग करके वैबर ने यहां 'वेष्य:' पाठ माना है।

कैलेण्ड द्वारा प्रयुक्त काण्व शतपथब्राह्मण के हस्तलेखों का विवरण—

१. मद्रास ms. (Govt ms. lidrary) हव्यायन काण्डे—१६७ पत्रे हैं—संवत् इस पर नहीं लिखा। (देखो कैलेण्ड भूमिका पृ० १-१२)।

२. तंजौर ms.—स्वररहित (Although this ms. may be fairly old. It is of little use.) (देखो कैलेण्ड भूमिका पृ० १४)।

३. कलकत्ता ms. (may have been written in the second half of 17th century) (देखो कैलेण्ड भूमिका पृ० १४)।

४. पेरिस | ms. काण्ड २—संवत् १८९५।

५. आक्सफोर्ड |

To me it seems highly probable that O and perhaps also P are at least in part copied from C. (कैलेण्ड भूमिका पृ० १७)।

६. बनारस ms. नवीन संवत् १९३७।

७. मयसूर ms. तैलगू हस्तलेख की प्रतिलिपि द्वारा डा० थामस (कैलेण्ड भूमिका पृ० २०) यह नवीन हस्तलेख ही है।

और भी ५ हस्तलेखों का डा० कैलेण्ड ने प्रयोग किया है, पर उनमें इस प्रकरण का द्वितीय अध्याय है नहीं।

इन सब हस्तलेखों में मद्रास और कलकत्तावाले हस्तलेख ही मुख्य हैं। इन दोनों में संवत् नहीं लिखा। दूसरे हस्तलेख का कालनिर्णय अनुमान से ही किया गया है। चौथा और पांचवां हस्तलेख तीसरे की ही प्रतिलिपि हैं। तंजोरवाला हस्तलेख स्वररहित है। इससे स्पष्ट है कि यह वेदपाठियों के हाथ में नहीं आया। कुछ काम का नहीं, ऐसा कैलेण्ड का मत है। अशुद्ध लिखा होने से अधिक काम का नहीं।

पूर्वोक्त हस्तलेखों के परीक्षण में हमारा मत

पाठक ध्यान से देखें कि जहां वेबर ने केवल संहिता और पदपाठ दोनों को मिलाकर केवल ७ हस्तलेखों का प्रयोग किया, वहां हमने ६० संहिता+४६ पदपाठ+७ क्रम जटादि+१२ यजुर्वेदभाष्य+२० काण्व-संहिता तथा पदपाठ से मिलाकर १४५ हस्तलेखों का पाठ उपस्थित किया। कहां ७ और कहां १४५। बीस गुना से भी अधिक ! उच्चारण पृथक् रहा। उधर वैबर ने शतपथब्राह्मण के ४ ही हस्तलेखों का उपयोग किया और हमने शतपथब्राह्मण के १५ हस्तलेखों का प्रयोग किया, जो लगभग चार गुना है। वैबर ने कात्यायनश्रौतसूत्र के ४ ही हस्तलेख वर्त्ते हैं और हमने २२ हस्तलेख वर्त्ते हैं, ५ गुणे से भी अधिक।

अब कैलेण्ड के हस्तलेखों को भी देखा जावे –

कैलेण्ड ने प्रकृत विषय में काण्व शतपथ के ७ हस्तलेखों को वर्त्ता है। जिनमें उसके मद्रास और कलकत्ता के दो हस्तलेख ही मुख्य ग्राह्य कहे जा सकते हैं, शेष को तो उसने स्वयं ही प्रतिलिपि वा बहुत अल्प काम के लिखा। इसकी तुलना में हमने शतपथब्राह्मण के १५ हस्त-लेखों से मिलाया। पाठक देख सकते हैं कि इन विदेशीय स्कालरों की बात कहां तक ठीक मानी जा सकती है।

हस्तलेखों की कालपरीक्षा

अब इन हस्तलेखों के काल (संवत्) की परीक्षा भी हो जानी चाहये। हमारे शतपथब्राह्मण के १६ हस्तलेखों में, जिनमें कि दूसरा काण्ड है, उनमें Ms सं० ६६१ संवत् १७४१ विक्रम का लिखा है। ब्रह्मचारी जोशी का शतपथब्राह्मण का हस्तलेख संवत् १७३६ विक्रम का लिखा है। पं० काशीनाथ गौड़से का हस्तलेख अतीव सुन्दर संवत् १७७६ वि० का है। हमारे दर्शाये उपर्युक्त १६ शतपथब्राह्मण के हस्त-लेखों में एक मत से वेष्पः पाठ उपलब्ध होता है। यजुर्वेदसंहिता के

१४५ हस्तलेखों में वेष्पः ही पाठ है, सो अलग। ४१ भिन्न-भिन्न प्रान्तों के विद्वानों का संहिता और पदपाठ का वेष्पः उच्चारण ही है। उधर कैलेण्ड के हस्तलेखों में संवत् १८९५ से पूर्व का कोई हस्तलेख नहीं। हां ! वैबर के शतपथब्राह्मण के हस्तलेखों में संवत् १६५४ वि० संवत् १७०५ वि० और संवत् १७०९ वि० के तीन हस्तलेख हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वैबर के संग्रह में तो शतपथब्राह्मण के हस्तलेख ४ ही हैं। हमारे दृष्ट संग्रह में १५ हस्तलेख हैं। साथ ही संवत् १७३६, १७४१-१७६४ वि० के हैं। वे भी उतने ही पुराने हैं, नये नहीं हैं। पकार यकार के भेद को वैबर दृष्टि में नहीं ला सके, तभी उनको भूल लगी। और उनको इस बात की विशेष आवश्यकता भी प्रतीत नहीं हुई, कि वह विशेष यत्न करते, ऐसा ही जान पड़ता है। नहीं तो वह कहीं पर तो वेष्यः पाठ मानते हुए भी नीचे या कहीं टिप्पणी में तो दर्शा देते कि वेष्पः भी पाठान्तर है। ऐसा न दर्शाना वैबर की नितान्त अयोग्यता का परिचायक है। उन्होंने वैदिक विद्वानों के उच्चारण-क्रम की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया प्रतीत होता, नहीं तो वह इतनी भयङ्कर भूल नहीं करते।

यजुर्वेदसंहिता के हस्तलेखों में भी संवत् १८४० से पहिले का कोई हस्तलेख वैबर के पास नहीं था। उधर हमारे द्वारा प्रदर्शित ६० हस्तलेखों में से हमने संवत् १५८५ वि०, संवत् १८६४ वि०, संवत् १८८३ वि० के हस्तलेखों का पाठ दर्शाया है। पदपाठ के हस्तलेखों में वैबर के पास संवत् १६५३ वि० और संवत् १६५७ वि० के दो ही हस्तलेख थे। इधर हमारे द्वारा प्रदर्शित पदपाठ के हस्तलेखों में संवत् १५३२ वि०, संवत् १५२७ वि०, संवत् १६६७ वि० संवत् १७६१ वि० तक के पुराने हस्तलेख हैं, वैबर के दो हस्तलेखों की समकक्षता में हमने ४६+७+७ =६० पदपाठों के हस्तलेखों का पाठ दर्शाया है। अतः वैबर की बात किसी प्रकार भी नहीं मानी जा सकती।

वैबर और कैलेण्ड के परीक्षण का सार

हमने शतपथब्राह्मण के १६ हस्तलेख देखे, जिनमें द्वितीयाध्याय है जिसमें कि यह वेष्पः पाठ है, उनमें संख्या ९९१ का हस्तलेख संवत् १७४१ वि० का लिखा है। ब्रह्मचारी जोशी का संवत् १७३६ वि० का लिखा है। पं० काशीनाथ गोडसे का संवत् १७७९ वि० का है। इन १६

हस्तलेखों में सब में ही वेष्पः पाठ है। माध्यन्दिन शु० यजुःसंहिता के लगभग ६० हस्तलेखों में वेष्पः ही पाठ है। सब प्रान्तों के वैदिक विद्वानों के हस्तलेखों-पदपाठ के हस्तलेखों तथा परम्परागत उच्चारण में वेष्पः ही पाठ है। ऐसी अवस्था में परम्परा से अनभिज्ञ वैदिक विद्वानों से सर्वथा अपरिचित—इन वैबर वा कैलेण्ड जैसे विदेशीय विद्वानों का दो-चार हस्तलेखों के आधार पर कहना कहां तक ठीक माना जा सकता है। जैसाकि हमने ऊपर लिखा पकार-यकार के अभेद के कारण इन्हें अपने हस्तलेखों में इस पाठ के निर्णय करने में भूल लगी हो, यह भी सम्भव है।

वैबर और कैलेण्ड ने इतना भी न देखा कि व्याकरण में 'वेष्यः' पाठ ही कहीं नहीं। व्याकरण उणादिकोश आदि सब में 'वेष्पः' को तो सिद्ध किया, 'वेष्यः' को कहीं नहीं। इस पर विशेष प्रकाश हम आगे डालेंगे। कैलेण्ड ने इतना भी न देखा कि जब काण्व संहिता सायणभाष्य में 'वेष्पः' ही पाठ सिद्ध किया गया है। यही पाठ सर्वसम्मत है। सब वैदिकों का तथा हस्तलेखों में वेष्पः ही पाठ है तो ब्राह्मण में वेष्यः पाठ कैसे हो सकता है, कैलेण्ड को इतना तो सोचना चाहिये था। उनके पूर्ववर्ती वैबर ने 'वेष्यः' पाठ लिख दिया तो कैलेण्ड ने भी—

'गतानुगतिको लोकः, न लोकः पारमार्थिकः'

केवल उसका अनुकरण मात्र किया। अपनी बुद्धि इस पाठ के निश्चय करने में नहीं लगाई। स्मरण रहे कि काण्वों में तो यत्किञ्चित् भी भेद नहीं माना जाता। वेष्पः ही पाठ सर्वसम्मत माना जाता है।

वैबर के अन्य अनुगामियों का विवेचन

(i) पं० सत्यव्रत सामश्रमी की भ्रान्ति—

कैलेण्ड से अतिरिक्त वैवर (सन् १८४९ के पीछे) के अनुगामी को हम निम्नप्रकार समझते हैं—

(१) इनमें सर्वतो मुख्य पं० सत्यव्रत सामश्रमी हैं। जिन्होंने म० शु० शतपथ ब्राह्मण सायणभाष्य सन् १९०३ ई० में सम्पादित कर एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता से प्रकाशित किया, जिसमें ८ हस्तलेख वर्ते गये। जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

इनमें दो हस्तलेख संवत् १५११ वि० तथा संवत् १६९१ वि० के हैं।

अन्य चार हस्तलेख संवत् १८७५, १८८३, १८७५, १९३७ वि० के हैं। दो में संवत् का निर्देश नहीं है।

सामश्रमी के हस्तलेखों का परीक्षण—

यदि कोई कहे कि सामश्रमी जी ने तो बहुत से हस्तलेखों का प्रयोग अपने शतपथ ब्राह्मण सायणभाष्यवाले संस्करण में किया है। उन्होंने संवत् १५११ वि० का हस्तलेख देखकर वेष्य: पाठ निश्चित किया, उनके अन्य हस्तलेख भी प्राचीन हैं ही, आप उनके पाठ को अप्रामाणिक कैसे कह सकते हैं ?

उत्तर—पहिले तो सामश्रमी जी ने वैवरादि का अनुकरण किया और विदेशियों के विरोध में लिखने का साहस नहीं किया, यह हमने दर्शाया। हमने भी संवत् १५३२ वि०—संवत् १५८५ वि० के संहिता-पदपाठों में वेष्प: पाठ स्पष्ट है, ऐसा दर्शाया। वि० सं० १६१६, १६६३, १७२६ के यजु: संहिता पाठ, वि० सम्वत् १६२७—१६६८ के काण्व संहिता पाठ—१७३६, १७४१—१७७६ वि० संवत् के शतपथ ब्राह्मण में तथा सम्वत् १७१४ वि० के कात्यायन श्रौतसूत्र तथा सम्वत् १७५२ वि० के देवयाज्ञिक भाष्य में वेष्प: ही पाठ है, ऐसा दर्शाया।

यहां तक कि काशी में जिस कुल में शतपथ ब्राह्मण कण्ठस्थ चला आ रहा है, उसके कुल परम्परागत उच्चारण में भी वेष्प: ही पाठ है।

ऐसी अवस्था में बेचारे सामश्रमी के एक हस्तलेख की क्या गिनती हो सकती है, यह विज्ञ पाठक स्वयं विचारें। अत: सामश्रमी की भी इसमें भारी भ्रान्ति ही है।

सामश्रमी की अदूरदर्शिता—

कलकत्ता में तो वैदिक १-२, वह भी साधारण भले ही हों, सामश्रमी जी ने काशीस्थ वैदिक विद्वानों से मिलकर इसका निर्णय क्यों न किया, जब कि काशी उस समय भी कलकत्ता से रेल द्वारा कुछ घण्टों का ही रास्ता था। मैं उनकी जगह होता तो झट काशी पहुंचता। यही कर्त्तव्य था। ऐसा प्रतीत होता है कि जहां अंगरेजों की छाप हम भारतीयों पर अन्य विषयों में अनिर्वचनीय थी, एक बी० ए० ऋषि और एम० ए० महर्षि समझा जाता था (चाहे वह गीता के एक श्लोक का अर्थ भी न जानता हो) वहां एक अंगरेज मैजिस्ट्रेट-कप्तान वा गोरे रङ्गवाला कोई भी हैटधारी इन बी० ए० एमों का अन्नदाता प्राणदाता समझा

जाता था। इसका दृश्य, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज के अंगरेज प्रिंसिपल के सामने एक बड़े से वड़े काशी के विद्वान् को भीगी बिल्ली की तरह रहना पड़ता था, उस समय का कोई व्यक्ति ही बता सकता है। इसी प्रभाव से प्रभावित पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने गौराङ्ग प्रभु वैबर के विरुद्ध लिखने का साहस नहीं किया। वेतनभोगी होने के कारण उनके विरुद्ध कैसे लिखता। वेतन ही कम कर दिया जाता या पैन्शिन ही में गड़बड़ी होती, इत्यादि आनुमानिक भयों से भयभीत होकर एक सुगम सा 'वैबर का अनुकरण' यही मार्ग पकड़ा। समस्त भारत में इन्हीं अङ्गरेजी राज्य से चले आनेवाले वेतनभोगियों, जिनको बड़ी-बड़ी वृत्तियां और बड़े-बड़े वेतन देकर (जो इन्हें कहीं मिलना कठिन था) क्रीत दास बनाकर जहां-तहां विश्वविद्यालयों वा कालेजों में प्रिंसिपल या प्रोफ़ेसर नियुक्त किया गया था। सब के सब वही के वही इस समय भी संस्कृतविभाग पर सर्वत्र अधिकार जमाये हैं। प्रायः उनकी विचारधारा अभारतीय वेदशास्त्र से सर्वथा अनभिज्ञ होने के कारण केवल पल्लव-ग्राही पाण्डित्य (अन्धों में काना राजा) वाली है। ये लोग जब तक भारतीय परम्परा-संस्कृति-साहित्य का यथार्थ अनुशीलन न करेंगे, तब तक संस्कृत का उद्धार स्वतन्त्र भारत में भी न होगा। क्योंकि अधिकार तो सब जगह प्रायः इन्हीं पाश्चात्य दासों का है। [इनमें ऐसे भी विद्वान् हैं, जिनको भारतीय संस्कृति सभ्यता और साहित्य में विश्वास है और जो ईश्वरभक्त तथा विकासवाद और भाषाविज्ञान के पाश्चात्य मत को हृदय से नहीं मानते] स्वतन्त्र विचारधारा भारत में चलेगी कैसे।

इसी कमी के कारण सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने अङ्गरेज प्रभुओं को प्रसन्न करने के लिये ही वैबर का अनुकरण कर यहां 'वेष्यः' ही पाठ माना। खोज करने पर हमें विश्वास है कि हमारी बात सत्य निकलेगी।

१०० में १-२ अंश यह बात भी हो सकती है कि सामश्रमी की भी पकार और यकार के लेखकों के अभेद पर दृष्टि न गयी हो। यदि ऐसा हो तो वह क्षन्तव्य कहे जा सकते हैं। मानव और भूल सदा साथ-साथ रहनेवाली वस्तु हैं। यदि उन्होंने काशी में आकर कुछ थोड़ा सा भी कष्ट उठाया होता तो इतनी भारी भूल के भागी वह न बनते। काशी न आने का आलस्य किया, उसी का यह परिणाम है।

(ii) महीधरभाष्य के सम्पादकों की भ्रान्ति—

मा० शुक्ल यजु:संहिता के उवट और महीधरभाष्य का प्रकाशन निर्णयसागर बम्बई और चौखम्बा काशी द्वारा हुआ। इनमें निर्णयसागर बम्बई वालों ने केवल दो हस्तलेख वर्त्ते। एक विद्वान् साधारण संशोधक रहा। उसने वैवर को ऋषियों का भी गुरु मानकर उसका ही अनुकरण किया होगा, ऐसा प्रतीत होता है। कुछ कष्ट उठाता तो समय लगाना पड़ता। अब काशी चौखम्वा संस्कृत सीरीज का हाल सुनिये। काशी की स्थिति को देखते हुए संस्कृत के ग्रन्थों के प्रकाशन का जहां तक सम्बन्ध है, इन्होंने वहुत काम किया है। प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं। पर इन का एक भी ग्रन्थ सुसम्पादित नहीं कहा जा सकता। जहां तक परीक्षा-सम्बन्धी पुस्तकें हैं, वे तो किसी न किसी पण्डित से ये संशोधन करा लेते हैं। वस इतना ही यहां का सम्पादन है। इससे अधिक कुछ नहीं। योग्य व्यक्तियों द्वारा आजतक किसी भी ग्रन्थ का सम्पादन वा प्रकाशन इन्होंने नहीं किया। दु:ख से कहना पड़ता है कि इनके द्वारा प्रकाशित उवट महीधर भाष्य किसी वहुत ही अयोग्य व्यक्ति के द्वारा छापा गया है और व्यर्थ में पोथा बना दिया गया है। पाठभेद देकर आधे में छप सकता था। आश्चर्य और दु:ख की वात है कि काशी में रहनेवाले इस व्यक्ति ने काशी के वैदिक विद्वानों की परम्परा का कुछ भी तो पता न लिया। इसी कारण इस विषय में चौखम्वा की कोई पुस्तक प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। जव मुझे अकेले को काशी में २६४ हस्तलेख तथा ८२ उच्चारण इस विषय में विचारार्थं प्राप्त हो सकते हैं और लगभग १०० विद्वानों से मेरी इस विषय में वात हुई तो उक्त सम्पादक (या प्रूफरीडर) ५ से ही मिल लिया होता।

निर्णयसागर-मुद्रित शु० मा० यजु:संहिता तथा वेङ्कटेश्वर मुद्रित शतपथब्राह्मण—इन दोनों में ही वैबर का ही अनुकरण किया गया। सम्पादन विषय में कुछ भी प्रयास नहीं किया गया। अत: इन का भी कुछ मूल्य नहीं है।

(iii) पं० सातवलेकरजी का अज्ञान—

अव हम स्वाध्याय मण्डल औंध में पं० दामोदर सातवलेकरजी द्वारा प्रकाशित संस्करणों को लेते हैं। यजुर्वेद [मा० शु०] सन् १९२७ मुद्रित के विषय में सातवलेकर जी ने लिखा—

'प्रथमं तावद् प्राचीनहस्तलिखितविविधपुस्तकान्यवलोक्य मन्त्रपाठ-

निश्चयः कृतः । एतदर्थं काशी-जनस्थान-त्र्यम्बकेश्वर-ग्वालियराहमद-नगरादिनानानगरेभ्यो वैदिकब्राह्मणेभ्यो हस्तलिखितानि बहूनि पुस्तकान्यानीय तेषां पाठतुलनया······संशोधनं क्रियते ।'

अर्थात् काशी-त्र्यम्बकेश्वर आदि अनेक नगरों से वैदिक ब्राह्मणों से हस्तलेख पुस्तकें मंगाकर संशोधन किया गया है इत्यादि ।

इसमें हम इतना ही कहना चाहते हैं कि इसमें 'काशी' शब्द सर्वथा मिथ्या है क्योंकि हम काशीस्थ प्रायः सब वैदिक विद्वानों से मिले हैं, लगभग १९६ हस्तलेख भी देखे हैं। उच्चारण भी प्रत्यक्ष में सुना है सबका वेष्पः ही पाठ है । न जाने पं० सातवलेकर जी ने काशी में किससे पूछा वा देखा जो लिख दिया कि वेष्यः पाठ है। या तो इनको स्वयं कुछ¹ ज्ञान नहीं, दूसरों के भरोसे पर ही इनका सब काम चल रहा है या काशी शब्द भूल से लिया गया है। इनको यह भी पता नहीं कि काण्वों का पाठ तो वेष्पः सर्वसम्मत है, उन्हें भी सातवलेकर जी ने बदल कर वेष्यः कर दिया है। सम्भवतः इन्होंने भी वैबर से भय खाकर ही उस का अनुकरण न किया हो क्योंकि जो परप्रत्ययबुद्धि होते हैं, उनका ऐसा ही हाल होता है । काशी के उस पण्डित का नाम ही लिख दिया होता (जैसा कि हमने सबका नाम-पता लिख दिया है), तो पूछा तो जा सकता था ।

आश्चर्य तो यह है कि यदि मा० शु० यजुर्वेद १।३० में वेष्यः ही पाठ सातवलेकरजी ने माना था तो फिर मन्त्रपदों की वर्णानुक्रमसूची में 'विष्णोर्वेष्पोऽसि' १।३० में वेष्पः पाठ कैसे माना। यदि सन्दिग्ध था तो नीचे टिप्पणी देनी चाहिये थी ।

इस विवेचन से यही सिद्ध होता है कि स्वाध्याय मंडल के ग्रन्थों के संस्करण विश्वसनीय नहीं हैं। इनमें काशी आदि का नाम यों ही दे दिया जाता है, हस्तलेखों के मिलानादि के विषय में कुछ भी यत्न नहीं किया जाता। हस्तलेखों से मिलाकर छापा जाता है, ऐसा लिखना असत्य ही सिद्ध होता है ।

---

१. यह हम इसलिये कहते हैं कि इतना तो विचार लिया होता कि यदि वेष्यः पद है तो 'यतोऽनावः' (अ० ६।१।२०७) से आद्युदात्त स्वर की प्राप्ति है। पर है यहां पर अन्तस्वरित । व्याकरण तथा स्वर का ज्ञान होता तो समझ में आ जाता । इसीलिये कहा गया है—'बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति' ।

आधुनिकों की गति

अब आगे आधुनिक विद्वान् समझे जानेवालों की क्या गति है, सो विचारते हैं—

(iv) इनमें कलकत्ता यजुः संहिता (उवट महीधर भाष्य दुर्गादास लाहिरि संस्करण—आर्य साहित्य मंडल पं० जयदेवजी विद्यालङ्कारकृत यजुर्वेदभाष्य तथा गुरुकुल वृन्दावन वैदिक संस्थान द्वारा प्रकाशित यजुर्वेद भाषानुवाद—

इनका वेष्यः पाठ भी इनके सम्पादकों की इस विषय की अज्ञानता का ही बोधक है। इन्होंने तो वेबर का ही नहीं, वेबर का अनुकरण करनेवालों का अनुकरण किया है। ये तो इस दृष्टि से किसी गिनती में भी नहीं।

(v) अन्त में हम वैदिकानुक्रमब्राह्मणकोश के निर्माता पं० विश्वबन्धु शास्त्री और उनके मण्डल के विषय में लिखते हैं। उन पर हमें बहुत शोक हो रहा है कि व्याकरण और स्वर की प्रक्रिया समझनेवाले विद्वान् उनके पास होने पर भी यहां वेष्यः पाठ कैसे दिया गया। इसमें मेरे विचार में 'वेबर' आदि विदेशीय स्कालरों को सर्वज्ञ मानकर ही इनके सब प्रकाशन हो रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है। यदि ऐसा है तब तो इनके द्वारा बहुत अयुक्त कार्य हो रहा है। भारत के वैदुष्य पर एक धब्बा है, जिसे स्वतन्त्र भारत को अब धोना होगा। विदेशियों की मस्तिष्कदासता को अब छोड़ना होगा।

व्याकरण-कोश आदि में 'वेष्पः' शब्द ही है 'वेष्यः' नहीं

व्याकरण-उणादिकोश वा अन्य कोशों में वेष्पः यही शब्द मिलता है, वेष्यः नहीं। यह थोड़ी बात नहीं है। इस से भी यही सिद्ध होता है कि यहाँ वेष्पः ही पाठ है, वेष्यः नहीं। कोशों में वाचस्पत्य-कोश, शब्द-कल्पद्रुम, वैजयन्ती, मेदिनी, अमरकोश आदि में वेष्यः शब्द कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि व्याकरण से सिद्ध किया जा सकता है। जब संस्कृत साहित्य में वेष्यः शब्द की सत्ता ही नहीं (हां वेश्यः शब्द तो अष्टा० ४।४।१३१ में है) तो वेष्पः को छोड़कर वेष्यः शब्द के विचार का अवसर तक नहीं उठता।

व्याकरणादि में वेष्पः कहां-कहां पाठ है, सो दर्शाते हैं—

(१) उणादिसूत्र—'पानीविषिभ्यः पः' (उ० ३।२३) में सब वैया-करणों का पः यही पाठ है।

(२) नारायणोणादि वृत्ति ='वेष्पः जलम्' २।२३।

(३) उज्ज्वलदत्त-उणादिवृत्ति='वेष्पः पानीयम्' ३।२३।

(४) श्वेतवनवासी उणादिवृत्ति ='वेवेष्टीति वेष्पम्। जलकूपं च।' ३।२३।

(५) दशपादी—उणादिवृत्ति ७।२ ='वेवेष्टीति वेष्पं परमात्मा।'

(६) दीक्षित उणादि = वेष्पः पानीयम्। उणादि ३।२३।

(७) शब्दकल्पद्रुम—कोश पृ० ५०६ 'विष व्याप्तौ। 'पानीविषिभ्यः पः' (उणा० ३।२३ इति पः) पानीयमित्युणादिकोषः।'

इसमें वेष्यः शब्द ही नहीं है।

इस प्रकार व्याकरण (उणादिवृत्ति) तथा कोश आदि में सर्वत्र वेष्पः यही पाठ उपलब्ध होता है। इसी को सब ने सिद्ध किया और माना है। 'वेष्यः' पद किसी तरह बनता होता तो व्याकरण और कोशकार दिखाते।

यदि कोई कहे 'विष्लृ व्याप्तौ' इस धातु से 'अच्' (पचाद्यच्) करके पहिले 'वेषः' शब्द बन जायगा। वेषमर्हतीति इस अर्थ में 'तदर्हति' (५।१।६२) से यत् प्रत्यय होकर 'वेष्यः' पद तो बन ही सकता है।

उत्तर—हमारा कहना है 'वेष्यः' शब्द तो बन गया, पर इस का प्रयोग तो कहीं नहीं। यदि कहो कि वेद में है, तो उसमें 'वेष्पः' अन्त-स्वरित संहिता में है, जो 'प' प्रत्ययान्त से ही बन सकता है, जो 'स्वरिते वानुदात्ते पदादौ' (अ० ८।३।५) से स्वरित हो जाता है। यदि यत् प्रत्यय मानकर वेष्यः पाठ मानें तो 'यतोऽनावः' (अ० ६।१।२०७) से आद्युदात्त स्वर की प्राप्ति होगी, है अन्तस्वरित। सो इस प्रकार भी यजुर्वेद के इस मन्त्र में वेष्पः ही पाठ ठीक है।

अब मोनियर विलियम ने अपने संस्कृत अंग्रेजी कोश पृ० १०१० में वेष्पः Vespha m. Water. una iii 123 Sels. वेष्य Veshya See under Vesha col 2.

इससे भी यही सिद्ध होता है कि मोनियर विलियम के मत में उणादिकार ने वेष्पः और 'प' प्रत्यय ही माना है। जब वेष्यः वेबर ने सन् १८४६ ई० में छापा, मोनियर विलियम ने उस शब्द को सन्

१८९० ई० अपने कोश में ले लिया। उससे पहिले आज तक किसी कोश में वेष्य: शब्द नहीं, यह हम दर्शा चुके।

उपसंहार

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मा० शु० यजुर्वेद अ० १ मन्त्र ३० में शुद्ध तथा वैदिक परम्परागत पाठ वेष्प: ही है। पाश्चात्यों वैबरादि ने वा उनके अनुगामी भारतीयों ने जो वेष्य: पाठ लिखा है, वह सर्वथा अशुद्ध है। यह भी विदित रहे कि यहां केवल एक शब्द के पाठभेद का ही प्रश्न नहीं, अपितु वैदिक परम्परा का प्रश्न है। इस उदाहरण में हमें अब पाश्चात्यों द्वारा सम्पादित सब ग्रन्थों का पुन: पर्यालोचन नये सिरे से करना होगा। इसके लिये स्वतन्त्र भारत में ऐसे विद्वान् तय्यार करने होंगे। पाश्चात्य स्कालरों के गुणों-परिश्रम-त्याग तपस्यादि का भी ध्यान रखना हमारा कर्त्तव्य है। स्वतन्त्र भारत में अब पाश्चात्यों की मस्तिष्क दासता को सर्वथा छोड़ना ही होगा।

धन्यवाद

इस विवेचन में मेरा तथा प्रिय ओम् प्रकाश हम दो आदमियों का दो मास का समय एक साथ लगा है। फुटकर समय पृथक् रहा। काशीस्थ जिन वैदिक विद्वानों ने हमें पहुंचने पर प्रेमपूर्वक व्यवहार और उच्चारण और हस्तलेखों के पाठ दिखाने और सुनाने में जो उदारता और कष्ट उठाया, इसके लिए हम उन सबका हृदय से धन्यवाद करते हैं। विशेषकर श्री पं० गणेशजी दीक्षित– पं० विद्याधर गौड़ जी के पुत्र पं० दौलतराम गौड़ – पं० रामनाथ जी तथा श्री पं० कुबेरनाथ जी प्रिंसिपल गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज बनारस के अत्यन्त आभारी हैं तथा श्री पं० सुभद्र झा जी लाइब्रेरियन सरस्वती भवन तथा श्री पं० विभूति भूषण जी, अध्यक्ष हस्तलेख विभाग, दोनों ने तो हस्तलेख देखने में बहुत ही सुविधा और सहयोग प्रदान किया। इसके लिये हम हृदय से इन सब महानुभावों के प्रति कृतज्ञ हैं।

[वेदवाणी, वर्ष ८, अङ्क १, २]

निरुक्त विषय में पाश्चात्त्यमत की मौलिक भूल वा अनाधिकार चेष्टा पाश्चात्त्यों के मानस पुत्र [भारतीय स्कालर]

निरुक्त वेद के छः अङ्गों में एक प्रधान अङ्ग है। 'षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' (महाभाष्य) इस आप्तवचनानुसार वेद का यथार्थ ज्ञान उसके अङ्गों के अध्ययन द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। सृष्टि के आदि में किसी व्याकरण या निरुक्तादि की आवश्यकता नहीं थी, जैसा कि वर्तमान में भी माता-पिता द्वारा बोली जानेवाली भाषा के लिये व्याकरण की कुछ आवश्यकता नहीं पड़ती। माता-पिता के व्यवहार से ही साधु-असाधु शब्दों का ज्ञान बच्चों को प्रायः हो जाता है। जब मानवसमाज की बुद्धि में ह्रास होने लगा, 'ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणाय......' (निरु० १।२०) सब ऋषियों ने निरुक्तादि ग्रन्थों की रचना की।

निरुक्त का अर्थपूर्वक पठन-पाठन न जाने कितनी शताब्दियों से लुप्तप्राय हो चुका था कि युगनिर्माता आचार्य दयानन्द ने अपने भाष्य में पदे पदे व्याकरण तथा इसमें निरुक्त के प्रमाण देकर और कम से कम सायणाचार्य के पश्चात् कई शताब्दियों के अनन्तर निरुक्त का पुनरुद्धार किया। वास्तव में तब से इसका अर्थतः पठन-पाठन पुनः आरम्भ हुआ। विद्याक्षेत्र काशी में भी कुछ वर्ष पहले तक इसका अर्थतः पठन-पाठन सर्वथा नहीं था। हां, प्राचीन ऋग्वेदी ब्राह्मणों में निरुक्त को कण्ठस्थ करने की प्रथा तो रही, जो अब तक भी जीवित चली आ रही है, पर अर्थसहित वे भी नहीं पढ़ते। परीक्षा में क्रम से निरुक्त पाठ्यक्रम में हो जाने पर भी अर्थतः इसका पठन-पाठन बहुत ही कम है। पौराणिक

समुदाय में यह मिथ्या भय प्रायः होने लगता है कि निरुक्त पढ़नेवाला आर्यसमाजी हो जाता है। काशी के विद्वानों में (एक-दो को छोड़कर) निरुक्त का पढ़ानेवाला भी नहीं होगा, ऐसा कहना अत्युक्ति नहीं होगी।

यह बात माननी पड़ेगी कि आचार्य दयानन्द के पश्चात् यूनिवर्सिटियों में संस्कृत के विभिन्न अङ्गों पर खोज (रिसर्च) का उपक्रम अङ्गरेजी राज्य में हुआ। जिसका वास्तविक उद्देश्य योरुप में भाषामत (हम इसे भाषाविज्ञान न करकर भाषामत कहना ही समुचित समझते हैं) के प्रति अत्यन्त तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न हुई, तो इन विदेशियों ने अङ्गरेजी राज्य की सहायता से सब यूनिवर्सिटियों में तथा ओरियण्टल कान्फ्रेंस द्वारा ऐसी योजना भारत में सर्वत्र चलाई कि शिक्षा विभाग के उच्च से उच्च अधिकारी को योरुप जाकर डिग्री लेनी पड़े, क्योंकि योरुप से लौटने पर ही इन्हें बड़ी-बड़ी पदवियां दी जाती थीं। स्वभावतः डिग्री लेने का प्रलोभन योरुपीय विचारधारा की पूरी दासता का कारण बना और यह एक बहुत सोची-समझी हुई सफल योजना सिद्ध हुई। शिक्षा-विभाग में योरुपीय विचारधारा की क्षमता का समस्त भारत में व्यापक राज्य हो गया। इसी योजनानुसार डी० लिट् या पी० एच० डी० की डिगरियों का जाल सारे भारत में फैल गया। भारतीयों में भारतीय विचारधारा का ज्ञान लुप्त हो ही चुका था। रहा सहा भी लुप्त हो गया। प्राचीन परम्परा के विश्वासी पण्डितों में व्याकरण की प्रमुखता हो चुकी थी, जो अब तक भी है, अन्य विषयों का ज्ञान बहुत ही कम रह गया था। काशी में १५००० में से १४००० छात्र केवल व्याकरण की ही परीक्षा बीसों वर्ष से देते आ रहे हैं। ये योरोपीय विचारधारा का प्रतिरोध (मुकाबला) क्या करते। उधर यूनिवर्सिटियों में एम० ए० में तथा उसके पश्चात् किसी विषय पर निबन्ध (थीसिस) लिखना अनिवार्य कर दिया गया। निस्सन्देह योरुपीय विद्वानों वा उनके अनुयायी भारतीय स्कालरों की दृष्टि से तो यह बहुत लाभकर हुआ। पर यदि यही उपक्रम संस्कृत साहित्य अध्ययन करने करानेवालों में चलता या अब भी चले तो देश का महान् लाभ हो सकता है। निस्सन्देह मार्ग यही पकड़ना होगा, चाहे जब भी पकड़ा जाये।

यूनिवर्सिटियों की योजना से जहां भारतीय विचारधारा का प्रायः लोप हो गया या हो रहा है, वहां इतना लाभ भी हुआ कि हमारे शास्त्रों

की ऊहापोह तो होने लगी, जो बीच के काल में बन्द हो चुकी थी। इस दृष्टि से हमें विदेशीय विद्वानों वा उनके अनुगामियों का कृतज्ञ भी होना चाहिये, क्योंकि उनके द्वारा अपने वेदशास्त्रों के प्रति अत्यन्त विरोधी विचार—ऋषि-मुनियों को एकदम बेहूदा (absurd) आदि शब्दों से निस्सङ्कोच सम्बोधित करनेवाले[1] कतिपय विदेशियों के मानसपुत्र-भारतीय रिसर्च-स्कालर उत्पन्न हो गये हैं, जिनके मिथ्या लचर सिद्धान्तों की आलोचना करने का अवसर या साहस हमारे जैसे थोड़ी सी अङ्गरेजी (जो बहुत कुछ भूल भी चुकी है) जाननेवाले को भी हो रहा है। भारत स्वतन्त्र होने पर भी अङ्गरेजी पढ़े लिखे (चाहे वह संस्कृत भी पढ़े हों) मस्तिष्क की दासता में विदेशीय विचारधारा से पादाक्रान्त वा पराभूत हो जाते हैं तथा हो रहे हैं। हमारा विचार है कि यह मानसिक दासता भी भारत से दूर होगी, इसमें समय लगेगा और इसके लिये भारतीयों को घोर तपस्या करनी पड़ेगी। तभी ऐसा होगा।

निरुक्त पर किये गये अब तक के प्रयत्न

जहां तक हमें ज्ञात है, निरुक्त पर निम्नाङ्कित प्रयत्न समय-समय पर हुये हैं—

१. राथ ने १८४६ ई० में निरुक्त का सम्पादन और जर्मनानुवाद किया।

२. १८८२ ई० में पं० सत्यव्रत सामश्रमी कलकत्ता—ने निरुक्त दुर्ग-वृत्तिसहित का सम्पादन किया। १८९१ ई० में निरुक्तालोचन भी लिखा।

३. १८९१ ई० में जीवानन्द विद्यासागर कलकत्ता ने निरुक्त दुर्ग-टीकासहित छापा।

---

१. सब स्कालर ऐसे नहीं। इनमें भी भारत स्वतन्त्र हो जाने पर भारतीय संस्कृति सभ्यता-साहित्य वा भारतीय परम्परा में हार्दिक प्रेम वा श्रद्धा रखनेवाले कुछ एक विद्वान् हैं, जो भारतीय ढङ्ग से विचारने लगे हैं। उन्हें प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण गहराई से स्वयं समझना चाहिये और अपने छात्रों को पूर्णतया बताना चाहिये। योरुपीय विचारों की दासता का नाश करना चाहिये।

४. १८९२ ई० के पश्चात् वैदिक यन्त्रालय अजमेर में मूल निरुक्त छपा।

५. १९१२ ई० में वेङ्कटेश्वर बम्बई में पं० शिवदत्त दाधिमथ द्वारा निरुक्त दुर्गटीका छपी।

६. १९१६ ई० में पं० रामप्रपन्नशास्त्री लाहौर द्वारा (५ अध्याय) छपा।

७. १९१८ ई० में पं० भडकमकर रामकृष्ण सम्पादित दुर्ग टी० सहित बम्बई में छपा।

८. १९२१ ई० में डा० लक्ष्मणस्वरूप लाहौर—इङ्गलिशानुवाद भूमिका सहित इङ्गलैण्ड में छपा।

९. १९२१ से १९२६ ई०-डा० वै० का० राजवाड़े—(अत्युत्तम दुर्ग-वृत्ति सं०) आनन्दाश्रम पूना में छपा।

१०. १९२४ ई० में निरुक्त का हिन्दी अनुवाद—पं० राजाराम शास्त्री द्वारा लाहौर में छपा।

११. १९२५ ई० में निरुक्तभाषाटीका—पं० चन्द्रमणिजी—गुरुकुल काङ्गड़ी में छपा।

१२. (i) १९२७-२८ में मूलनिरुक्त डा० लक्ष्मण स्वरूप लाहौर द्वारा बम्बई में छपा।

(ii) निरुक्त स्कन्द टीका डा० लक्ष्मण स्वरूप द्वारा लाहौर में छपा।

१३. १९२८ ई० निरुक्त (?) डा० स्कोल्ड संस्करण।

१४. १९३० में पं० मुकुन्द झा बख्शीकृत टीका—निर्णयसागर बम्बई।

१५. पं० सीतारामशास्त्री-भिवानी-कृत हिन्दीटीका।

१६. १९४० ई० में निरुक्त मूलसंस्करण—डा० वै० का० राजवाड़े—भण्डारकर ई० पूना में प्रकाशित।

१७. (i) १९३७ ई० में निरुक्तसमुच्चय पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा—लाहौर में छपा।

(ii) १९३८ ई० में निरुक्तसमुच्चय डा० कुहनन राज द्वारा मद्रास में छपा।

१८. १९५२ ई० में—निरुक्त (दुर्गवृत्ति सहित) वी० डी० त्रिवेदी द्वारा मौर्य संस्करण—कलकत्ता में छपा।

१९. १९५२ में Vedic Etymology डा० फतेहसिंह द्वारा कोटा में छपा।

२०. १९५३ में Etymology of Yask डा० सिद्धेश्वरवर्मा द्वारा होशियारपुर में छपा।

निरुक्त आदि ऋषि-मुनियों के बनाये ग्रन्थों के प्रति इन योरुपीय मतवाले भारतीय रिसर्चस्कालर कहे जानेवाले विद्वानों के विचार कितने भ्रामक, भारतीयताविरोधी, अज्ञानपूर्ण हैं, यह हमारे द्वारा प्रदर्शित आगे के पूर्वपक्ष से विदित होगा।

डा० वै० का० राजवाड़े (पूना) का घोर पूर्व पक्ष

(i) 'The Nirukta method is a strange one, it hardly deserves the name of शास्त्र or science.'

(भूमिका पृ० ४०, ४१)

अर्थात् निरुक्त का ढंग इतना विचित्र है कि इसे शास्त्र=विज्ञान वा विद्यास्थान का नाम नहीं दिया जा सकता।

(ii) 'It is not a science but travesty of Science.'

(भूमिका पृ० ४१)

अर्थात् यह (निरुक्त) विज्ञान नहीं है, अपितु विज्ञान की हंसी है।

(iii) 'The Nirukta method of derivation is simply an aberration or a waste of the human intellect.'

(भू० पृ० ४१)

अर्थात् निरुक्त का निर्वचन का प्रकार एक भ्रममात्र है, या मानव-मस्तिष्क का व्यर्थ प्रयोग है।

(iv) 'I venture to say that the Nirukta method of derivation is absurd and yet it has held its ground to this day.'

(भू० पृ० ४१)।

अर्थात् मैं साहस से कहता हूं कि निरुक्त की निर्वचनविधि बेहूदा

(मूर्खतापूर्ण) है, और फिर भी आज तक यह अपना स्थान बनाये हुये है अर्थात् प्रतिष्ठित है।

(v) 'The reasons, given for derivations, are wrong because the theory of derivation is wrong.'

(भू० पृ० ४१)

अर्थात् निर्वचन के लिए दिये गये हेतु गलत (अशुद्ध) हैं, क्योंकि निर्वचन का सिद्धान्त ही गलत है।

(vi) 'The base derivations on the indirect senses of words can never be called scientific.'

(भू० पृ० ४२)

अर्थात् शब्दों के आन्तरिक अर्थ के आधार पर निर्वचन करना कभी भी वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

(vii) 'But the derivations given by Yaska have nothing to do with sound laws.'

(भू० पृ० ४२)

अर्थात् यास्कप्रदर्शित निर्वचन ठोस नियमों पर आश्रित नहीं हैं।

(viii) 'Numbers of etymologies in the Nirukta seem senseless because they are based on a wrong theory of derivations .... On account of this theory numbers of derivations are really inventions.'

(भू० पृ० ४३)

अर्थात् निरुक्त में वहुत संख्या में निर्वचन मूर्खतापूर्ण हैं, क्योंकि वह निर्वचन के गलत सिद्धान्त पर आश्रित हैं।.........इस सिद्धान्त के आश्रय से वहुत से निर्वचन घड़े गये हैं।

(ix) 'Words whose derivations are sensible are limited in number.'

(भू० पृ० ४३)

अर्थात् जिन शब्दों का निर्वचन युक्त है, ऐसे संख्या में अत्यल्प हैं।

(x) 'Popular etymologies are not based on any theory or principle, they are mere fun. But the etymologies in the Nirukta obey a theory, they observe

certain principles, it is these principles that are responsible for unnatural derivations, in brief these principles are wrong.'

(भू० पृ० ४४)

अर्थात् प्रसिद्ध निर्वचन किन्हीं सिद्धान्तों वा नियमों पर आश्रित नहीं होते, पर निरुक्त में दर्शाये गये निर्वचन किन्हीं सिद्धान्तों पर आश्रित हैं। यही सिद्धान्त हैं जो अस्वाभाविक निर्वचनों के लिये उत्तरदायी हैं, सारभूत यह है कि ये सिद्धान्त ही गलत (असत्य) हैं।

सामान्य विवेचन

हम समझते हैं इससे अधिक निरुक्त व यास्क के विरुद्ध क्या कहा जा सकता है।

डा० राजवाड़े ने निरुक्त पर बहुत परिश्रम किया, यह बात तो माननी ही चाहिये। उनका आनन्दाश्रमवाला संस्करण निस्सन्देह अत्यन्त उपयोगी है। इसके लिए हमारे मन में उनके प्रति बहुत प्रशंसा के भाव रहे हैं। यह सब होते हुये हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे नया मोमन (मुसलमान) बहुत बार और बहुत जोर-ज़ोर से बांग देता है, इसी प्रकार डा० राजवाड़े योरुपीय भाषामत (विज्ञान) वालों के नये शिष्य होने के नाते उनसे भी आगे वढ़ गये हैं, जैसा कि डा० स्कोल्ड के विचारों से पता लगता है। सम्भव है जब डा० राजवाड़े ने देखा कि एक भारतीय रिसर्च स्कालर (डा० लक्ष्मणस्वरूप) ने भारतीय संस्कृति सभ्यता तथा परम्परा के प्रति बहुत कुछ उत्तम विचार अपने निरुक्त-सम्बन्धी लेखों में व्यक्त किये हैं, उन्होंने यास्क के प्रायः सब निर्वचनों को ठीक ही नहीं बताया, अपितु सोदाहरण उन्हें तथाकथित भाषाविज्ञान के नियमों वा कसौटी द्वारा परीक्षण करके भी ठीक और सुदृढ़ वतलाया (जैसा कि हम आगे दर्शायेंगे), तव तो डा० राजवाड़े को यह सब असह्य हुआ और उन्होंने डा० स्वरूप प्रदर्शित प्रायः सभी विचारों का घोर खण्डन करने के विचार से ही सन् १९४० वाले संस्करण में सब विषय उगला। जिसका बहुत कुछ निराकरण डा० सिध्येश्वर वर्मा द्वारा Etymology of Yaska (यास्क के निर्वचनों का परीक्षण) नामक पुस्तक द्वारा हो जाता है। यह सब पाठक हमारे अगले उद्धरणों से भली भांति समझ जायेंगे।

रिसर्चस्कालरों द्वारा राजवाड़े के आक्षेपों के उत्तर

पूर्वोक्त अनियन्त्रित और अविवेकपूर्ण आक्षेपों के उत्तर में प्रथम हम विदेशीय पद्धति से पढ़े और डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त तथा लब्धप्रतिष्ठ कतिपय विदेशीय तथा भारतीय रिसर्चस्कालरों के विचार उपस्थित करते हैं। अपना सिद्धान्तोत्तर हम आगे चल कर अन्त में उपस्थित करेंगे। विदित रहे कि इनके कतिपय अयुक्त विचारों की आलोचना भी हमें करनी है, पर एक रिसर्चस्कालर के उत्तर में उसी की श्रेणी के रिसर्चस्कालर का उत्तर बड़े महत्त्व का हो जाता है, जब कि इन्होंने भाषामत (विज्ञान) के सिद्धान्तों (जो अभी तक अधूरे अयुक्त और अविवेकपूर्ण हैं) की कसौटी पर ही राजवाड़े के विचारों की अयुक्तता सिद्ध की है, वा सिद्ध होती है। वे विचार निम्न प्रकार हैं—

१—डा० भण्डारकर

(१) डाक्टर आर० जी० भण्डार—'said that Yaska has laid down correct rules for derivation.'

अर्थात् यास्क द्वारा प्रदर्शित निर्वचन ठीक नियमों पर आश्रित हैं (४।२६-२८ Wilson Philological lectures १९१४ सं०)।

(देखो राजवाड़े भू० पृ० ४१)

२—डा० स्कोल्ड

(२) डा० स्कोल्ड -'I am convinced that not only a great part of the etymologies of Nirukta but even a much greater part of the modern etymologies than is commonly believed, are popular etymologie s.'

(देखो रा० भू० पृ० ४४)

अर्थात्—मैं निश्चय से कह सकता हूं कि निरुक्त के निर्वचनों की एक बहुत बड़ी संख्या, जितनी कि समझी नहीं जाती, लोकसम्मत है, अपितु वतमान समय के निर्वचनों की एक बड़ी संख्या भी लोकसम्मत है।

(भूमि० पृ० १३, १४)

(ii) 'In the first period of etymological studies in Western Europe the European scholars profited, to a great extent, by the work of Niruktakara, and it is

quite certain, that it has not yet yielded all it might be able to yield.'

(भू० पृ० ४४)

अर्थात्—निर्वचनसम्बन्धी खोज के प्रारम्भ में पश्चिमी योरुप के स्कालरों ने बहुत सीमा तक निरुक्तकार के कार्य से लाभ उठाया है और यह सर्वथा निश्चय है कि इस (निर्वचनशास्त्र) से अभी तक सब कुछ (ज्ञान) नहीं निकाला जा सका है, सम्भव है आगे निकाला जा सके।

(iii) 'We ought rather to be astonished because the Nirukta contains so many and true etymologies as it does.'

(भू० पृ० ४३)

अर्थात्—हमें और भी आश्चर्य होता है कि निरुक्त में इतनी अधिक संख्या में और ठीक (युक्तियुक्त) निर्वचन मिलते हैं।

(निरु० १८१-२९-३२)

३—डा० लक्ष्मण स्वरूप

(३) डा० लक्ष्मण स्वरूप—

(1) 'Yaska is the first to claim a scientific foundation and also the first to formulate general principles for etymology.'

(निरु० भू० पृ० ६४ पं० १९)

अर्थात्—यास्क ने सर्वप्रथम निर्वचन के सामान्य नियमों का निर्माण किया और वैज्ञानिक आधार पर किया।

(2) 'Taking both the East and the West together, Yaska is the first writer on etymology. He is also the first to treat it as science by itself.'

(निरु० भू० पृ० ५६ पं० २७)

अर्थात्—पूर्व तथा पश्चिम दोनों की दृष्टि से यास्क निर्वचनशास्त्र पर सबसे प्रथम लिखनेवाला है, इसे वैज्ञानिक घोषित करनेवाला भी यही सर्वप्रथम है।

(3) 'It cannot be denied that his method is scientific

and notwithstanding his remote antiquity, surprisingly modern. This scientific spirit so evident in the Nirukta, could be developed by a scientific training only.'

(नि० भू० पृ० ५६ पं० २)

अर्थात्—इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि उस (यास्क) का ढंग वैज्ञानिक है और इस पर भी इस की छिपी हुई प्राचीनता आश्चर्य रूप में सामयिक है। निरुक्त में ऐसी स्पष्ट वैज्ञानिकता वैज्ञानिक शिक्षण के द्वारा ही समुचित हो सकती है।

(4) 'He is altogether free from fanaticism bigory and intolerance; when he meets Kauatsa's adverse criticism of what he believes to be the revealed hymns but gives rational answers to the various points of objection. He is actuated by a scientific spirit, even when he is dealing with gods.........Further his treatment of synonyms and homonyms is also scientific.'

(भू० पृ० ५६ पं० ७)

अर्थात्—उस (यास्क) में धर्मान्धता, स्वमतानुग्रह तथा असहनशीलता सर्वथा नहीं है, क्योंकि हम उसे अपने वेद अपौरुषेय जैसे सिद्धान्त के विरोधी कुत्स के विविध आक्षेपों का विवेकपूर्ण उत्तर देते पाते हैं। देवताओं के विषय में भी उसका समाधान वैज्ञानिक है। ....उसका पर्यायवाची तथा भिन्नार्थक शब्दों का निरूपण भी वैज्ञानिक है।

(5) (i) 'If their meanings are the same their etymologies should be the same. If the meanings are different, the etymologies should also be different.

This principle is on the whole sound, for in every language three occurs the phenomenon that words of different origin often assume the same form.'

(भू० पृ० ५८ पं० ३१)

अर्थात्—यदि अर्थ वही है तो निर्वचन भी वही, वैसा ही होना चाहिये। यदि अर्थ भिन्न है तो निर्वचन भी भिन्न होना चाहिये। यह सिद्धान्त पूर्णरूप से ठीक (सुदृढ़) है, क्योंकि हर एक भाषा में सिद्धान्त

है कि भिन्न स्रोतवाले शब्द वही रूप ग्रहण करते हैं। (उदाहरणार्थं डा० स्वरूप ने संस्कृत-अंगरेजी-फ्रैंच-जर्मन भाषाओं के उदाहरण विपुल मात्रा में दिये हैं)।

(ii) 'Comparative philology furnishes the best examples to illustrate Yaska's remark that often there is hardly any resemblance between a word and its derivation forms.'

(भू० पृ० ५० पं० ३७)

अर्थात्—तुलनात्मक भाषाविज्ञान हमें यास्क के इस सिद्धान्त को समझाने के लिये अनेक उदाहरण उपस्थित करता है कि एक शब्द और उनके निर्वचन में कठिनाई से ही एकरूपता मिलेगी।

(6) 'Yaska's rule therefore is sound.'

(भू० पृ० ६३ पं० ३)

अर्थात्—अतः यास्क का नियम ठीक (सुदृढ़) है।

(7) 'From the twentieth section of the same chapter, it is evident that Yaska believes the vedic hymns to be revealed'

(भू० पृ० ७१ पं० ३१)

अर्थात्—प्रथमाध्याय के बीसवें खण्ड से यह स्पष्ट है कि यास्क का वेद के अपौरुषेयवाद में पूर्ण विश्वास था।

पाठकवृन्द ! आप देख रहे हैं कि डा० भण्डारकर निरुक्तकार यास्क द्वारा प्रदर्शित निर्वचनों और उसके सिद्धान्तों को ठीक मानते हैं। डा० स्कोल्ड, जो एक योरुपीय विद्वान् हैं, वह भी न केवल यास्क के निर्वचनों को बहुत संख्या में ठीक तथा युक्तियुक्त मान रहे हैं, अपितु उसके पीछे के अन्य निर्वचनों को भी ठीक समझते हैं। और आगे भी उससे बहुत कुछ लाभ उठाया जाना चाहिये, ऐसा समझते हैं।

डा० स्वरूप के उद्धरण

डा० स्वरूप के उपर्युक्त प्रायः उद्धरण सभी बहुत उपयुक्त और भारतीय विचारधारा के प्रायः अनुकूल हैं। हमें उनसे ऐसी आशा नहीं थी। हम समझते हैं डा० स्वरूप के ये विचार उस विचारधारा का परि-

णाम हैं, जो लाहौर में उस समय की (रिसर्च प्रणाली में) नई क्रान्ति के रूप में विचारों का जो सूत्रपात डी० ए० वी० कालेज पुस्तकालय में हो रहा था, जिसका श्रेय मुख्यतः वैदिक वाङ्मय के उद्भट विद्वान् पं० भगवद्दत्त जी को दिया जा सकता है। हमें डा० स्वरूप की भूमिका में प्रायः सभी विचार ठीक प्रतीत हुए। हम समझते हैं डा० राजवाड़े के उत्तर में डा० स्वरूप के उद्धरण ही पर्याप्त हैं। उनसे ही उत्तर हो जाता है। पर हमने इस विचार से लिखा कि डा० स्वरूप को डा० राजवाड़े के उत्तर में कुछ लिखना चाहिये था, पता नहीं क्यों नहीं लिखा। सम्भव है वे लिखते। इतने में हमारे सामने डा० सिध्येश्वर वर्मा के विचार आये, जिनसे हमें बड़ी प्रसन्नता हुई। पर अन्त में कुछ दुःख भी हुआ। क्योंकि अन्तिम विचारधारा में ये राजवाड़े के ही साथी हैं।

हम इसे अर्द्धजरतीय समझते हैं। ठीक भी और नहीं भी ठीक। अतः यहां हमने पहिले अन्य स्कालरों के विचार दिये हैं, अन्त में डा० सिध्येश्वर वर्मा के वे विचार उपस्थित करते हैं, जिसे हम एकदेशी उत्तर समझते हैं। जिन्हें हम डा० राजवाड़े के उत्तर में उपयुक्त समझते हैं। सो निम्न प्रकार हैं -

डा० सिद्धेश्वर वर्मा का उत्तरपक्ष

(1) 'Now the following reasons will show that Yaska's etymologies are based on the whole, on sound phonetic laws and that inspite of their primitive crudities they fully deserve the name of etymologies.'

अर्थात् अब हम ऐसे हेतु उपस्थित करेंगे, जिनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि यास्क के निर्वचन, सामूहिक रूप में विचार करने पर, दृढ़ (ठीक) नियमों पर आश्रित हैं, और उनके प्राचीन (पुराने) तथा अप्रौढ़ होने पर भी, वे पूर्णतया निर्वचन कहे जाने के योग्य हैं।

(Etymology of Yaska पृ० 10)।

(2) 'Yaska's etymologies had a sound phonetic basis.

From the adove date one could be in position to judge how for 'the derivations given by Yaska have nothing to do with sound laws'. On the other hand it

will now be sufficiently evident that the phonetic basis of Yaska's etymologies was sufficiently sound and that we, conseguently, can speak of the etymologies (or etymology) of Yaska.'

(यास्क एटीमालोजी पृ० १५-१६)।

अर्थात् यास्क के निर्वचन ठीक (सुदृढ़) आधार पर आश्रित हैं। ऊपर प्रदर्शित सिद्धान्तों से मनुष्य निर्णय कर सकता है कि यह बात कहां तक सत्य है कि 'यास्क प्रदर्शित निर्वचक दृढ़ भित्ति पर आश्रित नहीं हैं'। इसके विपरीत यह पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है कि यास्क के निर्वचनों का आधार पर्याप्त दृढ़ नियमों पर अवलम्बित है, और तदनुसार हम उन्हें यास्क के निर्वचन हैं, ऐसा कह सकते हैं।

(3) 'Such etymologies of Yaska cannot be called unscientific for that age, but primitive.'

अर्थात् यास्क द्वारा प्रदर्शित ऐसे निर्वचन उस समय के लिये 'अवैज्ञानिक' नहीं कहे जा सकते, हां उन्हें केवल प्राचीन (पुराने) भले ही कहा जा सकता है (एटीमा० पृ० १६)।

(4) 'The theory that all nouns were derived from verbs dominated the etymologies of Yaska. This theory was logically correct, for when we name a thing, we, logically speaking, predicate something about it, and that predicate is often expented to some form of a verb.'

(एटीमा० पृ० २१)

अर्थात् यह सिद्धान्त कि सब शब्द धातुज हैं, यास्क के निर्वचनों पर इसी का अधिकार है, यह सिद्धान्त तर्कानुसार तो ठीक है, क्योंकि जब हम किसी वस्तु का नाम रखते हैं, तो तर्कानुसार हम उसके विषय में कुछ निर्देश करते हैं, उस निर्देश की प्रायः धातु के रूप में आशा की जाती है।

(5) 'But inspite of its crudities it cannot be called unscientific, it was rather a primitive science.'

(एटीमा० पृ० २१)

परन्तु इसका अधूरापन होते हुए भी, इसे अवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। इसे प्राचीन (पुराना) विज्ञान भले ही कहा जावे।

(6) 'But neverth*ness they can be called 'primitive' but, neither 'absurd' nor unscientific.'

(एटीमा० पृ० २९)

अर्थात्—पर तथापि ये प्राचीन (पुराने) तो कहला सकते हैं, पर बेहूदा (मूर्खतापूर्ण) नहीं, न ही अवैज्ञानिक कहे जा सकते हैं।

(7) 'There is a large number—199 according to my calculation of Yaska's etymologies, the exact evolution of which belongs to future research.'

(एटीमा० पृ० २९)

अर्थात्--मेरी गणनानुसार एक भारी संख्या में (१९९) यास्क के निर्वचन ऐसे हैं, जो भावी खोज का विषय हैं।

(८) (i) यास्क के २२३ निर्वचन ऐसे हैं, जो तुलनात्मक भाषा-विज्ञान को सर्वथा स्वीकृत हैं। (एटीमा० पृ० ३९-५४)।

(ii) "...phonologically sound, but semantically unacceptable.

अर्थात् –३७ निर्वचन ऐसे हैं—जो उच्चारण विज्ञान की रीति से तो ठीक हैं, पर अर्थानुसार स्वीकृत नहीं हो सकते।

(एटी० पृ० ५४ से ५८)।

(iii) 'Partly acceptable to comparative philology.'

अर्थात्—२८ निर्वचन ऐसे हैं जो आंशिकरूप में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के अनुसार मानने योग्य हैं। (एटी० पृ० ५८-६०)।

(iv) '.....probably acceptable to comparative philology.'

अर्थात्--८९ निर्वचन ऐसे हैं, जो प्रायः तुलनात्मक भाषाविज्ञान को स्वीकृत हैं। (एटी० पृ० ६१-६७)।

(v) 'Possibly acceptable to comparative philology.'

अर्थात्—५२ निर्वचन ऐसे हैं, जो सम्भवतः तुलनात्मक भाषाविज्ञान को स्वीकृत हैं।

(vi) 'Words the derivation of which indicate popular etymologies.'

अर्थात्—४२ ऐसे निर्वचन हैं, जिन्हें लोकसम्मत निर्वचन कहना चाहिये। (एटीमा० पृ० १००-१०५)।

स्वयं डा० सिध्येश्वर वर्मा के शब्दों में—

'According to our calculations, Yaska has offered 1289 etymologies, of which 849 are more or less primitive. 224 would be acceptable to comparative philology and 225 are obscure——38 are phonologically sound but semantically unacceptable, 28 would be partly (acceptable) 88 probably and 55 possibly acceptable to comparative philology, 147 are possitively primitive owing to the unadvanced stage of linguistic science or inadequate investigation of vedic texts, 3 are particularly dominated by the theory of the verbal origin of nouns, 7 read verb seven in suffixes, 55 read single letters as condensed words, 42 indicate popular etymologies...'

(एटी० पृ० १६)।

अर्थात्—'हमारी गणनानुसार यास्क ने १२८९ निर्वचन दिखाये हैं। जिनमें ८४९ तो न्यून वा अधिक प्राचीन कहे जा सकते हैं। २२४ निर्वचन वर्त्तमान तुलनात्मक भाषाविज्ञान को स्वीकृत हैं और २२५ दुर्बोध हैं। इनमें ३८ ऐसे हैं जो उच्चारण के सिद्धान्तों की दृष्टि से ठीक (सुदृढ़) हैं, पर नये उच्चारण के सिद्धान्तों के अनुसार माननीय नहीं, २८ आंशिक रूप से स्वीकरणीय हैं, ८८ प्राय: स्वीकरणीय हैं, ५५ सम्भवत: स्वीकार करने योग्य हैं, (तुलनात्मक भाषाविज्ञान को इन्हें मानना पड़ेगा)। १४७ ऐसे हैं जो यास्क के समय में भाषाविज्ञान के न रहने से या वेद की गहरी खोज की अपेक्षा रखने से निश्चय ही प्राचीन कहे जा सकते हैं। १११ ऐसे हैं जो 'नाम धातुज हैं' इस सिद्धान्त पर आश्रित हैं। ७ ऐसे हैं जिनके प्रत्ययों में धातु (क्रियावाची पद) दर्शाये गये हैं। ५५ ऐसे हैं जिनके एक अक्षर को भी समान रूप में दिखाया गया है। ४२ ऐसे हैं जिन्हें लोकसम्मत निर्वचन कहा जायगा ·।'

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि डा० राजवाड़े के सभी आक्षेपों का उत्तर डा० सिध्येश्वर वर्मा जी के उपर्युक्त उद्धरणों से ही सिद्धान्ततः हो जाता है। इस उत्तर में विशेषता यह है कि डा० वर्मा ने भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों वा नियमों के आश्रय से ही यास्क के सब निर्वचनों का विवेचन किया है। एक प्रकार से डा० वर्मा ने तो यास्क के सब निर्वचनों को ही मान लिया है। जो २२५ दुर्बोध बताये हैं, उनमें भी १९९ तो भावी खोज का विषय माने हैं। (देखो एटीमालो० पृ० २९)।

यह डा० सिध्येश्वर वर्मा का उत्तरपक्ष हमने दिखाया। यास्क के निर्वचन बेहूदा हैं, यह एक विद्यास्थान वा विज्ञान कुछ नहीं, निर्वचन के सिद्धान्तों वा नियमों पर आश्रित नहीं, ये निर्वचन समय और बुद्धि का नाश मात्र हैं, यास्कप्रदर्शित नियम वा सिद्धान्त ही गलत (अशुद्ध) हैं, यास्क के निर्वचन मूर्खतापूर्ण हैं, इत्यादि भद्दे और असभ्यता तथा अदूरदर्शितापूर्ण मिथ्या आक्षेपों के उत्तर में राजवाड़े के अपनी बिरादरी के (भाषाविज्ञानवादी) विद्वान् द्वारा बहुत प्रौढ़तापूर्ण उत्तर डा० सिध्येश्वर के उपर्युक्त उद्धरणों से ही हो जाता है। मुझे तो सन्देह है कि राजवाड़े भाषाविज्ञान के भी विद्वान् थे या नहीं। यदि वह इस विषय को पढ़े थे तो उन्होंने इसके मर्म को कुछ भी न समझ कर ही अनापशनाप निरुक्त के निर्वचनों के विषय में लिख डाला। इसके उत्तर में डा० सिध्येश्वर वर्मा का कार्य बहुत उपयुक्त कहा जा सकता है, क्योंकि इन्होंने अपने भाषाविज्ञान का आश्रय लेकर उपर्युक्त सब लिखा। इस विषय में हम उनके प्रति कृतज्ञता का प्रकाश करते हैं। पाठकों ने ऊपर देखा कि डा० भण्डारकर, डा० स्कोल्ड तथा डा० लक्ष्मण स्वरूप निरुक्त के निर्वचनों को ठीक ही समझते हैं, अपितु उनकी दृष्टि में यास्क के निर्वचनों का भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी ऊँचा स्थान है। यह बात हमारे द्वारा दर्शाये उनके उपर्युक्त उद्धरणों से सर्वथा स्पष्ट है।

डा० सिध्येश्वर वर्मा का पूर्वपक्ष

जहां हमने डा० सिध्येश्वर वर्मा के अनेक उद्धरण इस विषय में दिये, जिनसे डा० राजवाड़े के आक्षेपों का मौलिक उत्तर हो जाता है, वहां हम यह भी दर्शाना चाहते हैं कि डा० सिध्येश्वर वर्मा को भी राजवाड़े के प्रायः सभी आक्षेपों में सर्वथा अनास्था नहीं; अपितु मूलतः उन सब आक्षेपों को वह ठीक समझते हैं। यह अलग बात है कि डा० राजवाड़े

यास्क के प्रायः सभी निर्वचनों को बेहूदा आदि समझते हैं तो डा० सिध्येश्वर उनमें से ५५ को ही बेहूदा मूर्खतापूर्ण (absurd) समझते हैं। राजवाड़े यदि उन्हें ९९ प्रतिशत गलत—मूर्खतापूर्ण समझते हैं तो डा० सिध्येश्वर १५ प्रतिशत। दोनों में इतना ही भेद हम समझते हैं। अतः अपना अन्तिम सिद्धान्तपक्ष दिखाने से पहिले हमें डा० सिध्येश्वर के पूर्वपक्षी विचारों को भी अपने पाठकों के समक्ष उपस्थित कर देना उपयुक्त होगा। सो वे विचार निम्न प्रकार हैं—

(1) '.........Shows that the (Yaska) had a passion a craze for etymology.'

(एटीमा पृ० ३)।

अर्थात् इनसे प्रगट है कि यास्क का निर्वचन करने वा दिखाने का जोश, पागलपन (झक या सनक) की सीमा तक पहुंच चुका था।

(2) 'Yaska was so much of an etymologist that his craze for etymology overpowered enslaved and crushed his imagination, for poverty of his imagination is remarkable. Owing to this serious defect, he is driven, not only to offer superfluous and unnecessary, but also loose, unsound and even wild etymologies. It does not seem to have occurred to him that the meaning of a word could be metaforically extended. Even with a metaforically meaning, he felt the need of a separate etymology. The following illustrate Yaska's lack of imagination.'

(एटीमा० पृ० ८)।

अर्थात्—यास्क इस प्रकार का भारी निर्वचनकर्त्ता था कि निर्वचन करने में उसके पागलपन ने उसकी विचारशक्ति को, कल्पनाशक्ति की कमी के कारण परे फैंक दिया, दास बना दिया और कुचल दिया था, यह बात ध्यान देने योग्य है। उसकी इसी भारी कमी के कारण उसके निर्वचन न केवल व्यर्थ और अनावश्यक हैं, अपितु शिथिल और दोषपूर्ण हैं और भद्दे भी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके सामने यह बात आई ही नहीं कि एक शब्द के अर्थ लक्षणा से भी बढ़ सकते हैं।

लाक्षणिक अर्थ के होते हुये, उसे पृथक् निर्वचन करने की आवश्यकता हुई। निम्नाङ्कित उदाहरण यास्क की विचारशक्ति की कमी के द्योतक हैं—

(आगे ४ उदाहरण दर्शाये हैं)।

डा० सिध्येश्वर वर्मा का एक यही उद्धरण पर्याप्त है, यह दिखाने के लिये कि यह भी राजवाड़े के मौसेरे भाई हैं। आक्षेपों में मात्रा की ही कमी है, वैसे दोनों को बराबर ही समझना चाहिये।

(3) 'The theory that all nouns were derived from verbs'.........

This theory was logicallv correct,......... .. But this theory was psychologically wrong, for it ignored that imaginativc element in the formation of language, which attributes names to things by mere resemblance or extention of sound or sense. It must be admitted that the great blunder committed by Yaska and other etymologists of his school was the adherence to this theory.........

(एटीमा० पृ० २२)।

अर्थात्—नाम धातुज हैं, यह सिद्धान्त तर्कानुसार तो ठीक है ····· परन्तु यह सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक दृष्टि से गलत (अशुद्ध) है, क्योंकि इसने भाषा के निर्माण में उस विचार वा पूर्णतत्त्व की अवहेलना कर दी, जो नामों को पदार्थों के साथ उच्चारण या अर्थ की समता वा प्रवृद्धि को बताता है। यह मानना पड़ेगा कि यास्क तथा उसकी श्रेणी के अन्य निर्वचनकर्त्ताओं की भारी भूल का अवलम्बन यह सिद्धान्त (theory) था ·· ।

(4) 'This theory has made Yaska's derivations very hazy, lifeless and indefinite.........'

(एटीमा० पृ० २२)।

अर्थात् इस सिद्धान्त ने यास्क के निर्वचनों को बहुत धुन्धले, निर्जीव और अनिश्चित बना दिया है।

(एटीमा० पृ० २८)।

इन उद्धरणों से हम कह सकते हैं कि राजवाड़े यास्क के निरुक्तशास्त्र की गहराई तक नहीं पहुंचे। ऊपर-ऊपर का उनका ज्ञान चाहे कितना ही रहा हो। उनका परिश्रम अकथनीय और प्रशंसनीय रहा, क्योंकि राजवाड़े ने दुर्ग का बहुत परिश्रमसाध्य संस्करण दिया। परिशिष्टों की झड़ी लगा दी। ३ अध्याय में एक-एक निर्वचन पर बहुत परिश्रम किया। पर यह सब होते हुए भी इसे हम बाह्य परीक्षण या ऊपर-ऊपर का ज्ञान ही कहेंगे। निरुक्त का मर्म डा० राजवाड़े नहीं समझे, यही कहना पड़ता है। डा० सिध्येश्वर वर्मा ने भाषाविज्ञान की दृष्टि से जो विवेचन किया, उसकी उत्कृष्टता तथा प्रशंसा वा गहरे परिश्रम को भुलाया नहीं जा सकता, पर यह सब होते हुए भी हम कह सकते हैं कि डा० सिध्येश्वर वर्मा भी निरुक्तशास्त्र वा यास्क के मर्म को नहीं समझ सके, वा यास्क के हृदय तक नहीं पहुंच सके। इसके लिये अब हम अपना अन्तिम सिद्धान्त पक्ष उपस्थित करते हैं, पहिला उत्तर एकदेशी उत्तर ही समझा जायेगा।

अन्तिम हमारा सिद्धान्तपक्ष

विदित रहे कि यदि डा० राजवाड़े वा डा० सिध्येश्वर वर्मा यह बात स्पष्ट लिख दिये होते कि यास्क के निर्वचन वा निर्वचन के सिद्धान्त वा नियम वर्तमान तुलनात्मक भाषा (मत) विज्ञान के सिद्धान्तों वा नियमों की दृष्टि से ठीक नहीं बैठते या गलत हैं, (डा० वर्मा ने तो कुछ-कुछ निर्देश किया है पर वह अति साधारण और स्वल्प है) तब तो हमें कुछ भी कहना नहीं था। यास्क के सिद्धान्त वा नियम भाषामत (विज्ञान) के सामने ठीक बैठें या न बैठें, वेदाङ्ग होने से निरुक्त का महत्त्व कम नहीं हो सकता। पर इन्हें वेहूदा-मूर्खतापूर्ण आदि कहना तो अपनी अज्ञता ही प्रकट करना है। इसीलिये अब हम अपना सिद्धान्तपक्ष उपस्थित करते हैं।

इस विषय में पूर्वोक्त दर्शाये पूर्वपक्ष के उत्तर में यास्क के ही शब्दों तथा हृदयगत विचारों द्वारा ही हम सिद्धान्तपक्ष उपस्थित करेंगे। पर इससे पहिले भारतीय परम्परा वा वेदार्थप्रक्रिया के कतिपय मूलभूत सिद्धान्तों के विषय में भी कुछ विचार पाठकों के समक्ष रखना आवश्यक और लाभकर समझते हैं।

हमारी दृष्टि में कोई भी चाहे वह भारतीय हो या अभारतीय,

संस्कृत का विद्वान् हो या रिसर्चस्कालर, वेदार्थ तक नहीं पहुंच सकता, चाहे वह यास्क का दर्शाया हो वा किसी का। तब तक उसकी आस्था वेद या वेदार्थ में नहीं हो सकती जब तक वह ईश्वरवाद, सृष्टि-कर्तृत्वादि गुण, वेद का अपौरुषेयत्व, भाषा की उत्पत्ति में ईश्वर की कारणता वा विकासवाद के स्थान में ह्रासवाद सिद्धान्त न माने तथा आप्तप्रमाण—इन सिद्धान्तों में आस्था न रखता हो। ये सिद्धान्त भारतीय परम्परा वा वेदार्थप्रक्रिया के मूलभूत सिद्धान्त हैं। ये परस्पर इतने अनिवार्यतया सम्बद्ध हैं कि एक के मानने पर दूसरे को अनिवार्यतया मानना ही पड़ेगा।[1]

यह भी समझ लेना होगा कि ऋषि मुनियों ने जो वेदार्थ समझा, वह निश्चय ही हमारे लिये मार्गप्रदर्शक है। यास्क ने लिखा—

'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च।'

अर्थात्—ऋषि साक्षात्कृतधर्मा हुए। उन्होंने अन्य असाक्षात् धर्म वालों को उपदेश द्वारा मन्त्र पढ़ाये। उपदेश के लिये (असमर्थता के कारण) ग्लानि करते हुए अन्यों ने इस (निरुक्त) शास्त्र का (प्रणयन होने पर) अभ्यास किया……और वेद और वेदाङ्गों का अभ्यास किया।

(निरु० १।२०)

ऋषियों ने निरुक्तादि वेदाङ्गों की रचना शक्तियों का ह्रास होने पर की, और ऋषि कहते ही उनको हैं, जिन्हें अपने विषय का साक्षात् ज्ञान होता है।

जब एक व्यक्ति ईश्वर को ही नहीं मानता, तो वह वेद को क्या मानेगा? ऋषियों को क्या मानेगा? यास्क, पाणिनि आदि उसके सामने हेय हैं।

भाषा की उत्पत्ति

ऐसी अवस्था में भाषा की उत्पत्ति पर ऐसे लोग किसी निश्चय पर

---

१. पाठक हमारे इन विचारों को विस्तार से 'वेदार्थ प्रक्रिया के मूलभूत सिद्धान्त' नामक लघु निबन्ध में देख सकते हैं।

कदापि नहीं पहुंच सकते। इस विषय में तुलनात्मक भाषामत (विज्ञान) के कतिपय विद्वानों के विचार भी हम उपस्थित करते हैं—

(१) कोलम्बिया विश्वविद्यालय का महोपाध्याय एडगर स्टूर्टिवेण्ट लिखता है—

'After much futile discussion linguist have reached the conclusion that the data with which they are concerned yield little or no evidence about the origin of humun speach.'

अर्थात्—बहुत व्यर्थ वादविवाद के पश्चात् भाषाविद् इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि एतद्विषयक प्रस्तुत सामग्री का आधार मानवबोली की उत्पत्ति के विषय में कोई साक्ष्य नहीं देता।

(An introduction to Linguistic science p. 40 newhaven 1948)

(२) इटली का मेरियोपाई लिखता है—

'If there is one thing on which all linguists are fully agreed, it is that the problem of the origin of humun speach is still unsolved.'

अर्थात्—यदि कोई एक बात है जिस पर सब भाषाविद् पूरे सहमत हैं, तो वह है, कि मानवबोली की उत्पत्ति की समस्या अभी तक पूर्त्ति को प्राप्त नहीं हुई।

(The story of language p. 14, London 1952)

(३) अमेरिका का जे० वैण्ड्रिएस लिखता है—

'.........the problem of the origin of language dœs not admit of any satisfactory solution.'

अर्थात् मानवभाषा की उत्पत्ति की समस्या का कोई सन्तोषजनक निष्कर्ष नहीं है (J. vendres, language P. 315 London 1952)।[1]

(४) डा० बाबूराम सक्सेना—

---

१. उपर्युक्त तीनों उद्धरणों के लिये देखें 'भाषा का इतिहास' पं० भगवद्दत्त जी कृत पृ० ३, १९५६।

'फिर इस जटिल समस्या (भाषा की उत्पत्ति) का क्या हल है ? अल्पज्ञानी मनुष्य के ज्ञान की वर्त्तमान स्थिति में इस समस्या का हल नहीं सूझता। इसी कारण पिछली पीढ़ी के भाषावैज्ञानिकों ने इस प्रश्न को उठाया तो, पर टाल दिया था और यह कहा था कि इससे हमें सरोकार नहीं, हम तो जैसी भाषा पाते हैं, उसका अध्ययन करते हैं और उसके मूल तत्त्वों तक पहुंचने की कोशिश करते हैं, भाषा की उत्पत्ति का विषय तो दर्शन के क्षेत्र में आता है'।

(सामान्य भाषाविज्ञान पृ० १५)।

(५) डा० श्याम सुन्दरदास काशी लिखते हैं—

(i) 'यह कल्पना करना कि मनुष्यों ने विना भाषाविज्ञान के ही इकट्ठे होकर अपनी व्यवस्था पर विचार किया, और कुछ संकेत स्थिर किये, सर्वथा हास्यास्पद प्रतीत होता है'

(भाषाविज्ञान पृ० ३१) १९५०।

(ii) 'विद्वानों ने भाषा उत्पत्ति के विषय में इतने भिन्न-भिन्न मतों का प्रतिपादन किया है कि अनेक भाषावैज्ञानिक इस प्रश्न को छेड़ना मूर्खता अथवा मनोरञ्जन समझते हैं' (भाषाविज्ञान पृ० ३१)।

(६) स्वयं राजवाड़े लिखता है—

'The origin of language is enveloped in mystery.'

अर्थात् भाषा की उत्पत्ति का विषय अभी तक अन्धकार में छिपा है।

(भूमिका पृ० ३९)

जब भाषाविज्ञानवाले अभी तक 'भाषा की उत्पत्ति' की समस्या ही हल नहीं कर पाये, तव उत्तरोत्तर ह्रासवाद, सृष्ट्युत्पत्ति, वेद की अपौरुषेयता, ईश्वरवाद जैसे मौलिक और आधारभूत सिद्धान्तों के विषय में ये लोग बात छेड़ना कब चाहेंगे। छेड़नेवाले को भी पागल कह देंगे। पर उनके ऐसा कह देने मात्र से तो इन विषयों का महत्त्व कम नहीं हो जाता। बिल्ली के आंख वन्द कर लेने मात्र से तो वह भेड़िये से बच न जायगी। इन विषयों पर इन्हें विचार करना ही होगा। चाहे जब भी करें।

अतः जब भाषाविज्ञानियों के सिद्धान्त वा नियम ही अभी तक निश्चित नहीं हो पाये, तो राजवाड़े जैसों के अविवेकपूर्ण प्रलाप का क्या मूल्य हो सकता है ? इन्हें अब भारतीयता के ज्ञान के लिये भारतीय गुरुओं के चरणों में बैठना होगा।

यास्क के निर्वचनों का मूल आधार

उपर्युक्त बाह्य विवेचना के पश्चात् अब हम डा० राजवाड़े तथा डा० सिध्येश्वर वर्मा के मूलभूत आक्षेपों के सम्बन्ध में यास्क अथवा उसके निर्वचनों का आन्तरिक दृष्टि से विवेचन करते हैं—

गहरी दृष्टि से देखने पर पता लगता है कि यास्क की भूमिका (अ० २ पाद १) के अनन्तर 'अथ निर्वचनम्' से आरम्भ करके नैगम-काण्ड (अ० ६) की समाप्ति तक ही निरुक्त, निर्वचनशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। इसमें नैघण्टुक काण्ड के पश्चात् नैगमकाण्ड की और भी विशेषता है।

यास्क नैगमकाण्ड के प्रारम्भ में लिखते हैं—

'एकार्थमनेकशब्दमित्युक्तम्। अथ यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः। अनवगतसंस्कारांश्च निगमान्।' (नि० ४।१)

अर्थात् एकार्थवाले अनेक शब्द कह चुके। अब यहां से अनेकार्थवाले एक शब्दों के विषय में कहेंगे और ऐसे निगम (वेद शब्द) कहेंगे, जिनका संस्कार (प्रकृति प्रत्यय विभाग) अज्ञात है।

(१) इसमें सर्वप्रथम 'जहा' को यास्क ने लिखा है और 'जहा जघान इत्यर्थः' ऐसा लिखा। इस विषय में दुर्ग लिखता है—

'अनवगतसंस्कारान् अविज्ञातसंस्कारान् इत्यर्थः। येषां प्रकृतिप्रत्ययादिसंस्कारो न साकल्येन ज्ञायते, तांश्च निगमान् अत्रैव व्याख्यास्यामः ....जहा इति। आह—किमेतदनवगतसंस्कारमुतानेकार्थम्? उच्यते—अनवगतसंस्कारम्। कथम्? जघान इत्येवमवस्थितेन अवगतसंस्कारेण योऽर्थ उच्यते स च जहा इत्यनेनानुपपन्नसंस्कारेणोक्तो भवति। अत्र हन्तेश्च जहातेश्च सन्देह इति भाष्यकारेणावधृतम्—जघानेत्यर्थः इति। आह—कुतः पुनर्विशेषावधारणम्—हन्तेरेवात्र रूपम्, न पुनर्जहातेरिति। उच्यते—निगमात्।' (दुर्ग पृ० २६६ वेङ्कटेश्वर संस्करण)।

अर्थात्—"अनवगतसंस्कार का अर्थ है जिसका संस्कार न जाना जाये, 'ऐसे मन्त्रगत पदों का यहां (नैगम काण्ड में) व्याख्यान करेंगे। ......'जहा'—क्या यह अनवगत संस्कार है या अनेकार्थ है? कहते हैं—अनवगत संस्कार है यह। कैसे? अवगत संस्कार वह है जिसका प्रकृति प्रत्यय स्पष्ट दीख रहा है, क्योंकि जघान (लिट् का रूप है, हन् से प्रथम

पुरुष एकवचन में बनता है) इस सुनिश्चित अवगत संस्कार से जो अर्थ कहा जाता है, इस अर्थ को ही अनुपपन्न संस्कार जिसका प्रकृति प्रत्यय विदित नहीं हो रहा—इस 'जहा' शब्द के द्वारा यहां अर्थात् मन्त्र में कहा गया है। इस मन्त्र में सन्देह यह उत्पन्न हो रहा है कि यह 'जहा' शब्द हन् धातु (मारना) से बना है या हा (ओहाक् त्यागे) छोड़ने अर्थवाले धातु से बना है ? इसलिये 'जघान' इसका अर्थ बताया गया है। फिर पूछते हैं कि यह निश्चय कैसे हो कि यहां हन् धातु का ही रूप है, ओहाक् का नहीं ? कहते हैं कि मन्त्र से यह निश्चय हुआ।" दुर्गाचार्य ने सारी बात को स्पष्ट कर दिया है। इसमें अधिक व्याख्या की कुछ भी आवश्यकता नहीं।

हमारा कहना यहां यह है कि मन्त्र के सब पदों के अर्थ पर जब गहरा विचार किया जाता है, तब 'जहा' का अर्थ 'जघान' यही ठीक बैठता है। मन्त्र निम्न प्रकार है—

> को नु मर्या अमिथितः सखा सखायमब्रवीत् ।
> जहा को अस्मदीषते ॥
>
> —ऋ० ८।४५।३७॥

यहां इस मन्त्र की व्याख्या में निरुक्तकार ने 'जहा' का अर्थ 'जघान' किया है और 'अपापकं जघान कमहं जातु, कोऽस्मदीषते पलायते' ऐसा लिखा है। 'अपापकं' यह अध्याहार किया है। यही अर्थ दुर्ग स्कन्द तथा सायणाचार्य ने किया है। दुर्ग और स्कन्द ने प्रकरणप्राप्त 'मा न एक० ···वधीर्मा शूर भूरिषु' ऋ० ८।४५।३४ का प्रकरण प्राप्त अर्थ करके उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ किया है (ऐसा ही स्कन्द ने भी किया है)। आगे दुर्ग लिखता है—

'एवमेतस्मिन् मन्त्रे प्रकरण-पूर्वोत्तरपदाविरोध-शब्दसारूप्य- अर्थोपपत्तिभिर्हन्तेरेव विशेषेणार्थोऽवतिष्ठते न जहातेः। जहातौ ह्येतस्मिन् कल्प्यमाने प्रकरणे पूर्वोत्तराणि च पदानि विरुध्यन्ते शब्दसारूप्येऽपि सति। तस्मान्नात्र जहातेरवकाशोऽस्ति, पारिशेष्यात्, हन्तेरेवतद्रूपमित्युपपन्नं भवति।'

अर्थात्—इस प्रकार इस मन्त्र में प्रकरण-पूर्वपद और उत्तरपद विरोध न होने से-शब्दसमानता और अर्थ की उपपत्ति—इन कारणों से

हन्ति=हन् धातु का अर्थ ही विशेष रूप से स्थित होता है, जहाति= ओहाक् धातु का नहीं। 'ओहाक्' के अर्थ की कल्पना करने पर प्रकरण तथा पूर्वपद और उत्तरपदों का विरोध पड़ता है। इसलिये यहां 'जहाति' धातु के अर्थ का अवकाश नहीं। शेष बचे 'हन्' धातु का रूप ही ठीक बैठता है। (दुर्ग पृ० २६६)।

(ii) स्कन्द लिखता है—

'एवमत्र मा नो वधीरित्यत्र वधप्रतिषेधलक्षणोपालम्भत्वादस्या ऋचो जहेत्यस्यार्थस्योपपत्तेः शब्दसारूप्याच्च जघानेत्यर्थ इत्युपपन्नम्।'

(स्कन्दटीका नि० ४।१२ पृ० १६०)

इसका अर्थ भी पूर्ववत् ही है।

पाठक विचारें। यहां ऋ० ८।४५ सूक्त का यह ३७ वां मन्त्र है। दुर्ग और स्कन्द ने दर्शाया कि इसी सूक्त के ३४ वें मन्त्र में 'वधीर्मा शूर भूरिषु' 'मा वधीः' मत मारो, का प्रकरण चल ही रहा है। उधर ४० वें मन्त्र में भी 'परिबाधो जहि मृधः' 'भिन्धि विश्वा अप द्विषः' में 'जहि' भी हन् का ही रूप है। 'भिन्धि' भी उसी अर्थ को कहता है। किञ्च मंत्र में आये पदों के पूर्व पर के विचार करने पर 'जहा' का अर्थ यहां मारना ही ठीक बैठता है तथा अन्य पदों के अर्थों पर विचार करने में भी 'जहा' का मारना अर्थ ही यहां ठीक बैठता है। 'जहा' और 'हन्' में शब्दसारूप्य भी है।

हमारा इसमें कहना यह है कि आध्यात्मिक आधिदैविक और अधियज्ञ किसी भी प्रकार का अर्थ किया जावे, 'जहा' का 'जघान' अर्थ ही ठीक बैठता है। रिसर्चस्कालरों को चाहिये कि वे इस मंत्र वा इस नैगमकाण्ड प्रकरण में आये इन शब्दों के अर्थ पूर्वापरादि में कुछ दूसरे करके दिखायें। हमारा कहना यह है कि पूर्वापरादि के विचार से यहां और अर्थ हो ही नहीं सकता। यह यास्कादि के कहने का तात्पर्य है।

राजवाड़े ने निरुक्त टिप्पणी (आनन्दाश्रम सं० पृ० ११३) में— "अत्र 'जहा' याहीत्यर्थे स्यात्। याहीति न कोऽप्यनाक्रुष्टः……" यह जो कहा सो ठीक नहीं। क्योंकि इस सूक्त के ३४ वें तथा ४० वें मन्त्र में 'वधीः' तथा 'जहि' का प्रकरण होने से यहां 'हन्' का ही अर्थ ठीक है, दूसरा नहीं, पूर्वापराविरोध प्रकरण की उपपत्ति होने से।

(२) श्रुष्टि निरु० ६।१२—'श्रुष्टीति क्षिप्रनाम आशु अष्टीति।' निरु० ६।१२।

अत्र दुर्गः—"श्रुष्टी—इत्यनवगतम् । ··श्रुष्टीत्यस्य आश्वशनम् इत्यवगमः। ······एवमत्र यागस्य विघ्नभयात् क्षिप्रस्येष्टत्वात् श्रुष्टि इति क्षिप्रनाम इत्युपपद्यते । अन्यत्र (निरु० ६।२२) हि वक्ष्यति 'श्रुष्टीवरीः=सुखवतीः' इति तस्मादेतदनेकार्थमपि भवति ।" अर्थात् 'श्रुष्टी' अनेकार्थ है, अनवगत संस्कार भी है। निरुक्तकार ने यहां इसका निर्वचन 'आशु अशनम्' किया है।

अब सिद्धेश्वर वर्मा इस शब्द पर क्या कहते हैं सो देखिये—

'Words the etymologies of which are absurd . श्रुष्टि ......is traced to आशु+अश् lit, that which reaches soon. Actually as P. W. suggeste, it is an extension of the meaning of hearing viz complaisant, quick from श्रुष् to here, which is a secondary form of श्रु'

—एटी० पृ० १२२

भाव यह है कि 'श्रुष्टि शब्द की व्युत्पत्ति यास्क ने आशु+अश् धातु से की है। absurd (बेहूदा वा मूर्खतापूर्ण) है। क्योंकि इसकी व्युत्पत्ति 'श्रु' धातु से तो कुछ हो भी सकती थी।' अब हम यास्क प्रदर्शित मन्त्र देते हैं, जो इस शब्द के निर्वचन के उदाहरण के रूप में दिया गया है—वह इस प्रकार है—

ते हि यज्ञेषु यज्ञियास ऊमाः सधस्थं विश्वे अभि सन्ति देवाः ।
ताँ अध्वर उशतो यक्ष्यग्ने श्रुष्टी भगं नासत्या पुरंन्धिम् ॥

—ऋ० ७।३९।४॥

यहां 'हे अग्ने तान् उशतो अध्वरे श्रुष्टी यक्षि (लेटि रूपम् लिङर्थे लेट्) यज इत्यर्थः' ऐसा अर्थ दुर्ग-स्कन्द और सायणाचार्य ने किया है। प्रकरण-पूर्वापराविरोध तथा अर्थोपपत्ति से 'श्रुष्टी' का अर्थ यहां पर क्षिप्र=शीघ्र ही ठीक बैठता है। यद्यपि इसके अन्न, सुख आदि अन्य अर्थ भी हैं, पर यहां पर क्षिप्र अर्थ ही उपयुक्त बैठता है। ऐसी अवस्था में यास्क ने इसके अन्दर से 'आशु' अर्थ निकाला है, तब 'अशू' व्याप्त्यर्थक धातु का अर्थ ही आगे ठीक बैठता है। 'अश भोजने' आदि का नहीं। क्योंकि उसमें प्रकरण ठीक नहीं बैठता। यह बात उणादि, बहुलम् तथा पृषोदरादीनि के बतानेवाले पाणिनि का यथार्थज्ञान रखनेवालों की ही समझ में आ सकती है। व्यापक वैदिक वाङ्मय जाननेवाले ऋषियों के सामने व्यापक प्रयोग थे, इसी से उन्होंने ऐसे-ऐसे निर्वचन किये।

(३) अन्नम्—'अन्नं कस्मादानतं भूतेभ्योऽत्तेर्वा......' निरु० ३।९।। अत्र दुर्गः—'अन्नं कस्मात्—उच्यते—आ आभिमुख्येन ह्येतत् नतं प्रह्वीभूतं भवति भोजनाय भूतानाम्। अत्तेर्वा अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते (तै० उ० २।२) इत्युक्तम्।' (दुर्ग पृ० १९५)।

यहां दुर्ग ने यास्कानुसार आ+नम् तथा अद् दोनों धातुओं से अन्न शब्द की व्युत्पत्ति की है। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने अन्न शब्द को absurd (बेहूदा-मूर्खतापूर्ण) शब्दों की सूची में गिनाया है।

(देखो एटीमा० पृ०११६)

'He tries to explain the phonological structure of the word by adding that the prefix आ has been shortened to अ here, but even then the modification of नम् to न्न remains unexplained.'

—एटीमा० पृ० ११८ तथा ४

डा० राजवाड़े ने भी भूमिका पृ० ३० LXX में ऐसा ही आक्षेप किया है।

हमारा कहना यह है कि अद् धातु से तो अन्न बन ही जाता है, बनाया भी है। पर जहां 'अद्' का अर्थ नहीं घटता, वैदिक वाङ्मय में उन स्थलों के लिये यास्क ने ऐसे निर्वचन दिखाये हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में 'अन्न' के विषय में कहा है—

'अन्नं सावित्री। गो० पू० १।३३।। अन्नं विराट्। कौ० ६।६।। अन्नं वै सुरूपम्। कौ० १३।३।। यत्तदन्नमेष स विष्णुर्देवता। श० ७।५।१।२१।। अन्नं वा अयं प्रजापतिः।'

इन सब अर्थों में 'अद्' धातु का अर्थ नहीं घटता। आनतं भवति= आ+नम् का अर्थ ठीक घटता है। इसीलिये यास्क पतञ्जलि आदि ने ऐसे अनेक निर्वचन करके अर्थ दर्शाये। यहां दो मार्ग हैं—या तो धातुओं का अनेकार्थत्व माना जावे या फिर भिन्न-भिन्न धातुओं से निर्वचन किया जावे। पाणिनि-पतञ्जलि और यास्क ने दोनों प्रकार माने हैं।

(४) आशा—निरु० ६।१।।

यहां यास्क लिखते हैं—'आशा दिशो भवन्त्यासदनात्। आशा उपदिशो भवन्त्यभ्यशनात्।' यहां दुर्ग लिखता है—'आशाभ्यः इत्यनवगतमनेकार्थं च। आसदनात् इत्यवगमः।' यहाँ आशा शब्द का निर्वचन यास्क ने आ+सद् तथा आ+अश् दो धातुओं वा दो क्रियावाची शब्दों से

दिखाया है। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने 'आशा' शब्द को 'Words the etymologies of which are absurd.'

अर्थात्—जिन शब्दों के (यास्क द्वारा दिखाये) निर्वचन बेहूदा (मूर्खतापूर्ण) हैं, उनमें इस शब्द को भी दिखाया है। (देखो एटीमा० पृ० ११९)। निरुक्तकार ने जो मन्त्र इस निर्वचन का अर्थ प्रकरण और पूर्वापराविरोध और अर्थोपपत्ति वा अनेकार्थता को ध्यान में रखते हुए दिया है, सो वह मन्त्र हम दर्शाते हैं—

'इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्योऽभयं करत्। जेता शत्रून् विचर्षणिः॥'

—ऋ० २।४१।१२॥

पाठक वृन्द इस मन्त्र के पदों को परस्पर विचारें तो यहाँ 'आशा' का अर्थ 'दिशा' ही ठीक बैठता है। यद्यपि 'अश्' धातु से भी अर्थ ठीक बैठ सकता है। परन्तु उपदिशा और दिशा में तो प्रवृत्तिनिमित्त का कुछ अन्तर है। अतः यह भेद दिखाने के लिये यास्क ने दोनों में दो प्रकार की व्युत्पत्ति दिखाई। यदि दोनों दिशा और उपदिशा एक होतीं तो एक ही दिखा सकते थे। शेष रहा यह कि आ+सद् का आश कैसे बना, सो पृषोदरादीनि से यह सब बनते हैं, सभी वैयाकरण जानते हैं। जिनके मत में कांए-कांए आदि के अनुकरण से शब्द बने, वे भले ही इस पर आक्षेप कर सकते हैं। शब्दों का अनेकार्थत्व और नाम को धातुज मानने वाले भिन्न-भिन्न अर्थों में भिन्न-भिन्न धातुओं से निर्वचन दिखायेंगे ही, इस में आक्षेप की बात ही कुछ नहीं। यह तो उनका भूषण है दूषण नहीं, दूषण देखनेवालों के नेत्र में दोष है, जो दूर होना चाहिये।

(५) निरु० ४।१९—'व्यन्तः—इत्येषोऽनेककर्मा। यस्माद् धातोरयं शब्दो निष्पद्यते, स धातुरनेककर्मा = अनेकार्थः। वी गतिव्याप्तिप्रजन-कान्त्यसनखादनेषु इति'। तद्यथा—

पदं देवस्य नमसा व्यन्तः श्रवस्यवः श्रव आपन्नमृक्तम्।
नामानि चिद् दधिरे यज्ञियानि भद्रायां ते रणयन्त संदृष्टौ॥

—ऋ० ६।१।४॥

........एवमेतस्मिन् मन्त्रे 'पदं' 'देवस्य' 'नमसा' 'व्यन्तः' 'श्रवस्यवः' 'श्रवः' 'आपन्' इत्येतेषां पदानामेकवाक्ययोगात् 'व्यन्तः' इत्यस्य शब्दस्य पश्यत्यर्थतोपपद्यते।

अर्थात्—इस मन्त्र में उपर्युक्त ७ पदों की एकवाक्यता को लक्ष्य में रखकर 'व्यन्तः' का अर्थ यहां पर 'पश्यन्तः जानानाः'—देखते हुए या जानते हुए—यह है। यदि इसका कोई दूसरा अर्थ करेंगे तो शेष पदों के अर्थों के साथ समन्वय नहीं हो सकता। समूहावलम्बन से पदों का जो अर्थ ठीक बैठेगा, वही उपयुक्त हो सकता है। 'अर्थनित्यः परीक्षेत' का कितना अच्छा उदाहरण है। 'वी' के अनेक अर्थ हैं, यहां कौनसा अर्थ उपयुक्त है, यह बात अर्थ के अधीन है, जिस पर यास्क ने सबसे अधिक बल दिया है। और अर्थ भी हो तो सकते हैं, पर इस मन्त्र में नहीं। क्योंकि यदि हम इस अर्थ को छोड़कर और अर्थ करने लगेंगे तो शेष बचे ६ पदों के अर्थ गड़बड़ा जायेंगे। सो यहां 'व्यन्तः' का 'पश्यन्तः जानानाः' ही अर्थ करना होगा। क्या रिसर्चस्कालर कोई दूसरा अर्थ करके घटा सकते हैं? प्रकरण वा देवतादि देखकर दूसरा अर्थ क्या करेंगे? ऊपर के जितने भी उदाहरण हमने उपस्थित किये हैं, सब में यही बात यास्क ने घटाई है। कोई भी घटा कर देख ले। वह-वह अर्थ ही उपर्युक्त सब स्थलों में सङ्गत बैठता है। यह दूसरी बात है कि तीनों प्रक्रियाओं में मन्त्रों के अर्थ होने पर वैसी-वैसी योजना की जायगी। तदनुसार निर्वचन भी भिन्न हो सकते हैं। इस स्थल में दुर्ग लिखता है—

'मन्त्रपरिज्ञानादेव ह्यग्नेराध्यात्माधिदैवाधिभूताधियज्ञेष्ववस्थानं याथात्म्यतो दृश्यते।'

दुर्गाचार्य 'अग्नि' शब्द का सब प्रक्रियाओं में अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आधियज्ञिक अर्थ होता है, यह स्पष्ट कह रहे हैं, जो निरुक्तकार का सिद्धान्त है। देखो स्कन्द निरुक्तटीका ७।५ पृ० ३६—

'सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय अर्थं वाचः पुष्पफलमाह इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्।'

अर्थात्—सब दर्शनों (प्रक्रियाओं) में सब मन्त्रों की योजना करनी चाहिये। क्योंकि स्वयं भाष्यकार यास्क ने सब मन्त्रों का अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में होता है, यह दिखाने के लिये निरु० १।२० में 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' अर्थ को वाणी का पुष्प फल कहा है। इत्यादि वचनों में तीन प्रकार के अर्थों की प्रतिज्ञा की है।

(६) निरु० ५।३—श्वात्रम्। मन्त्र इस प्रकार है—

यो होतासी॑त् प्रथ॒मो दे॒वजु॑ष्टो यं स॒माञ्ज॒न्नाज्ये॑ना वृणा॒नाः।
स प॑त॒त्रीत्व॒रं स्था जग॒द् यच्छ्वा॒त्रम॒ग्निर॑कृणोज्जा॒तवे॑दाः॥

—ऋ० १०।८८।४॥

दुर्ग कहता है—

'श्वात्रम्—इत्येतदनवगतम्। आशु अतनं भवति इति शब्दसमाधिः। क्षिप्रनाम इत्यभिधेयवचनम्।.........एवमेतस्मिन् मन्त्रे श्वात्रम् इत्येतद् क्षिप्रनाम। पतत्रि-स्थावर-जङ्गमानां क्षिप्रदहनादग्निः किमन्यत् कुर्यात्? तस्मादुपपद्यते क्षिप्रनामेति।' —दुर्ग पृ० ३६०।

अर्थात्—यहां उपर्युक्त मन्त्र में 'श्वात्रम्' यह पद अनवगत संस्कार है। 'आशु अतनम्' इस निर्वचन द्वारा इसका समाधान है। क्षिप्र इसका अर्थ है।......(मन्त्र के सब पदों का अर्थ दिखा देने पर) इस प्रकार पतत्रि—स्थावर जंगमों के सम्बन्ध से अग्नि क्षिप्र=शीघ्र दहन कर देता है, इससे अतिरिक्त और क्या अर्थ यहां समन्वित हो सकता है? इसलिये 'श्वात्र' का अर्थ यहां 'क्षिप्र' ही ठीक बैठता है। यहां राजवाड़े निरु० टिप्पणी पृ० १५७ पर 'श्वात्रं जगच्छब्दस्य विशेषणम्' है। यह लेख इसलिये ठीक नहीं है, क्योंकि प्रकरण तथा पूर्वापर के अविरोध से 'आशु' अर्थ ही उपयुक्त है।

(७) निरु० ५।१—सस्निम्—'संस्नातं मेघम्' इति यास्कः।

अत्र दुर्गाचार्यः—'सस्निम् इत्येतदनवगतम्। अर्थाप्रतीतिरप्यनवगम इत्युच्यते। लक्षणासम्पन्नश्च संस्कारः खल्वपि अविज्ञानमित्युच्यते। तत्रैवं सति क्वचित् प्रकृत्यादेः संस्कारस्यानवगमः। क्वचिदर्थाप्रतीतिरेव, क्वचिदुभयस्याप्यनवगमः, यथास्मिन्नेव सस्निमिति न विज्ञायते। किमप्युक्तं भवति? प्रकरणादत्र मेघाभिधेयम्। अन्यत्रान्योऽपि कश्चित् स्यात् प्रकरणविशेषादेव, एवं सर्वत्रैवोपेक्षितव्यम्। प्रकरणसामर्थ्याच्छब्दोऽप्यर्थान्तरं भजते।'

'सस्निम्'—यह पद अनवगत है। जहां अर्थ की प्रतीति न हो, वह भी 'अनवगम' कहलाता है। लक्षण (सूत्र) से सम्पन्न न होनेवाला (न बननेवाला) संस्कार (प्रकृति प्रत्यय सम्बन्ध) भी अविज्ञान=अनवगम कहलाता है। इसमें ऐसा होने पर कहीं तो प्रकृति आदि के सम्बन्ध का

अनवगम (न जानना) कहलाता है। कहीं अर्थ की अप्रतीति ही और कहीं पर दोनों (प्रकृत्यादि तथा अर्थ) की अप्रतीति ही अनवगम कहलाता है। जैसा कि इस मन्त्र में 'सस्निम्' पद का पता नहीं लग रहा है। तात्पर्य क्या है ? सो यह है कि प्रकरण से यहां 'मेघ' अर्थ है। अन्य मन्त्र में इस शब्द का अन्य अर्थ भी हो सकता है, प्रकरण विशेष के कारण सब जगह ऐसा होता है, यह समझ लेना चाहिये। प्रकरण के सामर्थ्य से शब्द भिन्न अर्थ को भी कहने लगता है। (दुर्ग पृ० ३४६)। दुर्ग का यह कथन सर्वथा स्पष्ट और सत्य है।

सस्निंमविन्दुच्चरणे नदीनामपावृणोद् दुरो अश्मव्रजानाम् ।
प्रासां गन्धर्वो अमृतानि वोचदिन्द्रो दक्षं परि जानादहीनाम् ॥
—ऋ० १०।१३६।६॥

इस मन्त्र का दुर्गाचार्य का अर्थ हम यहां देना चाहते थे, पर लेख दीर्घकाय हो जाने के कारण छोड़ते हैं। दुर्गटीका में यह अर्थ देख लेवें।

यहां विचार यह है कि 'सस्नि' शब्द मेघ अर्थ में न लोक में विदित है, न ही निघण्टु में मेघनामों में पढ़ा है। इस मन्त्र में यास्क ने इसका अर्थ (संस्नातं मेघम्) मेघ किया है। सो यहां इसका मेघ अर्थ कैसे हुआ या हो सकता है ? इस प्रश्न के उपस्थित होने पर यास्क ने नैगम काण्ड में पञ्चमाध्याय के आरम्भ में सर्वप्रथम इसको अनवगत संस्कार मान कर इसकी व्युत्पत्ति की है। उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि यास्क—दुर्ग—स्कन्द आदि नैरुक्त लोगों के मत में मन्त्र में आये अन्य पदों के पूर्वापर प्रकरण आदि के आधार पर एक शब्द अन्य अर्थों का वाचक भी हो जाता है, केवल अकेला पढ़ने से उक्त अर्थ को नहीं कहता। अर्थात् प्रकरणादि के आधीन होने से शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन यास्क ने किया तथा दुर्ग, स्कन्दादि भी इस सिद्धान्त का बड़ी प्रबलता से प्रतिपादन कर रहे हैं। यहां भिन्न अर्थ का तात्पर्य जो सामान्यतया प्रसिद्ध अर्थ समझा जाता है या समझा जा सकता है, उससे भिन्न अर्थ है।

इस प्रकरण में यह स्थल दुर्गाचार्य का निरुक्तकार (यास्क) के हृदय की बात बहुत ही स्पष्ट रूप में रखने से बड़े महत्त्व का है। हमारा कहना यही है कि यहां इस मन्त्र के प्रकरण-पूर्वापरार्थाविरोध-अर्थोपपत्ति आदि को लक्ष्य में रखते हुये 'सस्नि' का अर्थ 'मेघ' ही होगा,

(आध्यात्मिकादि में 'मेघ' का अर्थ भिन्न हो सकता है यह दूसरी बात है, आध्यात्मिक आदि में सम्पूर्ण मन्त्र का अर्थ भिन्न हो ही जायगा)। अतः 'संस्नातं' निर्वचन वा व्युत्पत्ति सर्वथा ठीक है। ऐसे निर्वचनों को absurd (मूर्खतापूर्ण-बेहूदा) कहना तो सर्वथा अनुचित है ही, obscure (दुर्बोध या अस्पष्ट) कहना भी अनुचित ही कहा जायगा। क्योंकि जब यास्क ने स्वयं इन्हें 'अनवगत संस्कारों' में मान लिया तो फिर obscure कहकर दोष दर्शाना बुद्धिमत्ता नहीं कहा जा सकता। यदि अनवगत का अर्थ भी दुर्बोध, या अस्पष्ट ही है, तो दोष दिखाना और भी हास्यास्पद ही कहा जायगा।

पाठक दुर्ग के इस मन्त्र में आये अन्य पदों का परस्पर सम्बन्ध भी उसके भाष्य से देखें। स्कन्द टीका से भी देख सकते हैं। नहीं तो सायण-भाष्य से देख लें, स्पष्ट विदित हो जाता है कि मन्त्र के प्रकरण, आगे-पीछे के शब्दों और अर्थ की उपपत्ति से यहां 'सस्नि' का अर्थ 'मेघ' ही ठीक बैठता है। इसी प्रकार हमारे दर्शाये उपर्युक्त सब अनवगत शब्दों के विषय में भी यही बात स्पष्ट समझ में आ जाती है। यही बात सम्पूर्ण नैगमकाण्ड में यास्क द्वारा दर्शाये अनवगत शब्दों के विषय में है, यही दर्शाना हमारे इस लेख का मुख्य प्रयोजन है।

जब अनवगत संस्कारवाले इन शब्दों की यह बात समझ में आ जाती है, हृदय में बैठ जाती है तो इससे निम्नाङ्कित मूलभूत सिद्धान्त स्वतः वा अर्थापत्ति से निकलते हैं—

(१) 'अर्थनित्यः परीक्षेत' (निरु० २।१)।

अर्थात् निर्वचन करने में अर्थ की प्रधानता से निर्वचन करना चाहिये। यहां यह विदित रहे कि हम यास्क के दिखाये निर्वचनों पर निर्वचनों की समाप्ति नहीं मानते हैं, अपितु उन्हें उपलक्षण मात्र समझते हैं। अर्थात् अर्थ को लक्ष्य में रखकर अन्य निर्वचन भी किये जा सकते हैं, करने ही चाहिये। हां प्रकरण-पूर्वापराविरोध-और अर्थ की उपपत्ति आदि इन सब बातों का हमें पूरा ध्यान रखना होगा।

(२) अर्थ की प्रधानता से प्रकरणादि के आधार पर शब्द व्याकरणादि में प्रकृति प्रत्यय द्वारा दर्शाये अर्थ से भी भिन्न अर्थ देता है, क्या इससे स्पष्ट सिद्ध नहीं हो जाता कि यास्क ने ठीक लिखा है कि—

'अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यतेऽर्थमप्रतियतो नात्यन्तं

स्वरसंस्कारोद्देशः। तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्। स्वार्थसाधकं च।'

(निरु० १।१५)।

अर्थात् इस (निरुक्त या निर्वचन शास्त्र) के विना मन्त्रों में अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। जो अर्थ को नहीं जानता (नहीं समझ रहा) उस को केवल प्रकृति प्रत्यय का संस्कार (सम्बन्ध ज्ञान मात्र) अर्थ तक नहीं पहुंच सकता। इसलिये यह (निर्वचन शास्त्र) एक विद्या स्थान (विज्ञान व साइंस) है तथा व्याकरण की पूर्ति करता है, जहां व्याकरण नहीं पहुंच सकता, मन्त्र का अर्थ करने में वहां निरुक्त उस कमी को पूरा करता है मन्त्र के अपने अर्थ को (यह निरुक्त) सिद्ध करता है।

क्या अनवगत संस्कारवाली उपर्युक्त बात समझ में आ जाने पर 'अर्थनित्यः परीक्षेत' तथा 'व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्' 'विद्यास्थानम्' ये सब बातें स्वयं ही सिद्ध नहीं हो जातीं? रिसर्चस्कालर जड़ (मूल) को न पकड़ कर पत्तों को देखते हैं, अतः इनकी बुद्धियां यथार्थ तत्त्व पर न पहुंच कर इधर-उधर भटक रही हैं। 'स्वयं नष्टः परान् नाशयति' ये स्वयं इन रहस्यों को न जानते हुए (जानें भी कैसे?) इन विषयों के (अङ्गरेजी राज्य की देन से) प्रमाणभूत आचार्य माने जा रहे हैं। ये लोग कुछ न जानते हुए भी सर्वज्ञकल्प समझे जा रहे हैं। 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' की उक्ति को चरितार्थ कर रहे हैं।

(३) इतना ही नहीं अपितु अनवगत संस्कार को मानकर प्रकरणादि से अर्थ के उपर्युक्त सिद्धान्त को मानकर यास्क का निर्वचनप्रकार भी बुद्धि में ठीक बैठ जाता है। वह निम्नाङ्कित है कि—

'अथ निर्वचनम्। तद् येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्। अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत। केनचिद्वृत्तिसामान्येन। अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्। न त्वेव न निर्ब्रूयात्, न संस्कारमाद्रियेत। विषयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति, यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्।'

—निरु० २।१॥

अर्थात्—अब निर्वचन का प्रकार कहते हैं। जिन पदों में स्वर (उदात्तादि) और संस्कार (प्रकृति-प्रत्ययादि विभाग) सङ्गत हों और क्रियावाची धातु के विकार से अन्वित (सुसम्बद्ध) हों, जैसे पाठक-पाचक

आदि, उनका तो उस प्रकार से निर्वचन कर दे। यदि अर्थ ठीक न बैठता हो और क्रियासम्बन्धी धातु का विकार (रूप) भी ठीक न बैठ रहा हो तो 'अर्थ नित्य है' इस को परीक्षण द्वारा अच्छी तरह देखे। किसी वृत्ति (अर्थं इति दुर्गः) सामान्य से निर्वचन करे। उक्त सामान्य के न होने पर अक्षर-वर्ण सामान्य से निर्वचन करे, ऐसा न करे कि निर्वचन ही न करे, अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय विभाग का आदर न करे (प्रकृति-प्रत्यय के ज्ञात होने पर ही निर्वचन हो सकता है, जैसा कि कोरे वैयाकरण समझते हैं, इसी पर न बैठा रहे 'व्याकरणस्य कात्स्न्यर्म्' का यही अभिप्राय है)। अर्थ में संशय होते रहते हैं, अर्थ के आधीन विभक्तियों को बदल लेना चाहिये।

अनवगत संस्कार में नैगमकाण्ड का उपर्युक्त सिद्धान्त समझ में आ जाने पर अनायास अर्थात् यह स्वयं सिद्ध है कि निर्वचन तो हर अवस्था में करना ही चाहिये, क्योंकि अर्थ प्रधान होने से निर्वचन के पीछे अर्थ नहीं होगा, अर्थानुसारी निर्वचन होगा, जो प्रकरणादि से ठीक बैठेगा। इसके रहस्य वा वास्तविक स्थिति को आर्ष वैयाकरण ही समझ सकता है, क्योंकि यह व्याकरण ज्ञान से आगे का ज्ञान है। जो व्याकरण नहीं जानता, वह यास्क के निर्वचनों को भी नहीं समझ सकता। इस मूलभूत सिद्धान्त को न समझकर ही डा० राजवाड़े निम्न प्रकार लिखते हैं—

(i) 'Derivation is not at all necessary for that purpose, to insist that every noun in sanskrit shall be derived by any device whatsoever is irrational.'

-- राजवाड़े भूमिका पृ० ३९।

अर्थात् -- निर्वचन उक्त प्रयोजन (अर्थ) दिखाने के लिये सर्वथा आवश्यक नहीं। इस बात पर बल देना कि संस्कृत में हर एक 'नाम' का निर्वचन किया ही जायेगा, चाहे कुछ भी कल्पना करनी पड़े—यह एक मूर्खतापूर्ण बात है।

(ii) 'However though a word may be, it must be made amenable to a root. It was on account of this terrible injunction that so many underivable words have been derived.'

अर्थात् -- कितना भी कठिन शब्द हो, उसे किसी धातु से अवश्य

बनाना चाहिये। इस घोर शास्त्राज्ञा का ही परिणाम है कि बहुत से निर्वचन के अयोग्य शब्दों का भी निर्वचन किया गया है।

(iii) अनुपसन्नाय, अनैयाकरणाय—पर राजवाड़े लिखता है—

'Their theory was not to be questioned ··'

'It was a great science and one who wanted to study it must know that it was great, those who were ignorant of this greatness were not worthy of the name of student, vide अनिदंविदे. But one is constrained to say that the Nirukta is not a science and that imqlicit faith in its truth is impossible.'

अर्थात्—यह (निरुक्त) एक बड़ा विज्ञान है और जो व्यक्ति इसका अध्ययन करना चाहता है, उसे इस बात को जानना चाहिये। जो नहीं जानते वह विद्यार्थी होने योग्य नहीं। परन्तु विवशता से कहना पड़ता है कि निरुक्त एक विज्ञान नहीं और इसकी सत्यता में असन्दिग्ध विश्वास हो ही नहीं सकता। (राज० भूमि० पृ० ४०)।

(iv) 'It is not rite to say that every noun is root-born......The Nairukta's insistance on the derivation of every declinable from a root or roots is nothing but extremism, it is a kind of fanaticism and therefore serves no purpose,......I venture to say that the Nirukta method of derivation is absurd, and yet has held its ground to this day.'

—रा० भू० पृ० ३९-४०।

अर्थात्—यह कहना ठीक नहीं कि हर एक नाम धातुज (धातु से उत्पन्न होनेवाला) है।·······नैरुक्तों का यह आग्रह कि हर एक नाम धातु से वा धातुओं से उत्पन्न होता है, यह एक प्रकार की मतान्धता है, अत एव इससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।·········मैं साहस से कह सकता हूं कि निरुक्त का निर्वचन-प्रकार मूर्खतापूर्ण (बेहूदा) है, और इस की जड़ अभी तक जमी हुई है। इसका उत्तर यही है कि भाषाविज्ञान के योरुपीय तथा उनके शिष्य भारतीय यूनिवर्सिटियों के हैड (अध्यक्षों) ने योरुपीय ढङ्ग पर लिखना स्वीकार करनेवालों को ही बड़े-बड़े पदों पर

नियुक्त किया या कराया। उनसे हर विषय में योग्य विद्वानों को नियुक्त नहीं किया। भारतीय संस्कृति और साहित्य पर कुठाराघात करनेवाले इन डाक्टरों की एक भारी सेना भारतवर्ष में भारतीय संस्कृति के विरोध में खड़ी कर दी गई है। यह तो सौभाग्य की बात समझनी चाहिये कि इनमें कुछ एक पूर्णतया अभारतीय नहीं बने। जब पुनः योरुप के विद्वान् भारतीयों के पास आकर ज्ञानोपार्जन करेंगे और भारत उन्हें कम से कम संस्कृत और हिन्दी में 'प्रमाणपत्र' देगा, तब हम समझेंगे कि भारत ने वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त की।

अब हम डा० सिध्येश्वर वर्मा के इस विषय के कुछ शेष पूर्वपक्ष के विचार भी उपस्थित करते हैं—

उपर्युक्त विषय में डा० सिध्येश्वर वर्मा के आक्षेप

(i) 'The theory that all nouns were derived from verbs... . dominated the etymologies of Yaska..... but this theory was psychologically wrong.........it must be admitted that the great blunder committed by Yaska and other etymologies of his school was the adherence to this theory.'

(एटीमा० पृ० २१)

अर्थात्—'नाम धातुज हैं' यास्क के निर्वचनों में इसी का बोल-बाला है। पर यह सिद्धान्त मनोविज्ञान की दृष्टि से गलत है····· यह मानना ही पड़ेगा कि यास्क तथा अन्य नैरुक्तों की सबसे भारी भूल यह है कि वह 'सब नाम धातुज हैं' इस सिद्धान्त का अवलम्बन करते हैं।

(ii) 'In many cases Yaska himself gives many alternative etymologies for such words, so that he himself is not sure of these etymologies'

(एटीमा० पृ० २९)

अर्थात्—अनेक स्थलों में यास्क निर्वचन करते हुये 'वा' शब्द द्वारा निर्वचनों में विकल्प दिखाता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि उसे अपने दिखाये निर्वचनों पर विश्वास नहीं है।

डा० सिध्येश्वर वर्मा को यह भी पता नहीं कि 'वा' समुच्चयार्थक

भा होता है। पता नहीं शास्त्री होते हुए भी डा० वर्मा ने निरु० १।४ पर ध्यान क्यों नहीं दिया। वहां लिखा है—'अथापि समुच्चयार्थं भवति'।

एक विशेष विचार

हम और उपस्थित करते हैं। डा० सिध्येश्वर वर्मा ने जो विवेचन किया है, उसकी एक तालिका भी उन्होंने उपस्थित की है, जो बहुत अच्छा कार्य किया है। वह गणना इस प्रकार है—२२३ ऐसे निर्वचन हैं जो वर्त्तमान तुलनात्मक भाषाविज्ञानवालों द्वारा स्वीकृत या स्वीकरणीय हैं।

३७ उच्चारणविज्ञान द्वारा ठीक हैं+२८ आंशिक स्वीकृत+८९ प्रायः स्वीकृत+५२ सम्भवत: स्वीकृत+१४७ प्राचीन हैं+४८ प्रसिद्ध निर्वचन हैं=६७८ तो स्वीकरणीय हैं।

(ii) अब रहे आक्षेपार्ह। इनमें से—

१४ निर्वचन Contaminations भ्रष्टतावाले हैं+११ machanical+२० poverty of imagination विचार शून्य+३२ primitive and erroneous पुराने और दोषपूर्ण+५९ absurd बेहूदा (मूर्खतापूर्ण)+२२५ obscure दुर्बोध हैं=३६१ पूर्णतया आक्षेपार्ह हुये।

(iii) १११ नाम धातुज मानकर हैं+७ अन्त में धातुज+५१ अचों के कारण+८० loose vowels+३६ loose consonents+४ insuals+२१ both vowels and consonents=३१० कुल।

=कुल जोड़—१२८९ है। जिनमें आधे (६१८) तो स्वीकरणीय हैं। ३१० धातुज सिद्धान्त के कारण हैं। शेष ३६१ आक्षेपार्ह रह जाते हैं। इनमें भी डा० सिध्येश्वर वर्मा ने १९९ ही माने हैं।

एक दूसरी दृष्टि

एक दूसरी दृष्टि से भी हम वर्मा जी वा राजवाड़े जी के आक्षेपों पर विचार उपस्थित करते हैं। हमारा कहना है कि इनके आक्षेप जितने भी हैं, वे प्रायः करके अनवगत संस्कार नैगम काण्ड वा नैघण्टुक काण्ड पर ही हैं। जब हमारा उपर्युक्त प्रदर्शित अनवगत-संस्कार-प्रकरण माना जाये वा समझ में आ जाता है तो ये सब आक्षेप अपने आप मिट जाते

हैं। हमने इसका जहां तक परीक्षण किया, हमें यही विदित हुआ कि इन महानुभावों के प्रायः (अधिकतर) आक्षेप इसी उपर्युक्त प्रकरण के हैं। जो मन्त्रों के पूर्वापर पदों, अर्थाविरोध और अर्थोपपत्ति से विशिष्ट अर्थ को देते हैं, तदनुसार ही उनका निर्वचन होना उपयुक्त है, जिसे समझने में ये असमर्थ रहे हैं। डा० वर्मा की तालिका देखने से निम्न प्रकार विवेचन है—Type A में १४ में से १० नैघण्टुक तथा नैगम काण्ड के आक्षेपार्ह पद हैं, ४ दूसरे हैं+B. में ११ में से ८, C. में २० में से ११+D में २२३ में से १६२ नैघण्टुक नैगम हैं+E ३७ में से ३०+F २८ में से २१+G. ८९ में से ६७+H ५२ में से ३१+I. १४७ में से ११३+J १११ में से ६१+K ७+L ५१ में से ३५+M ४२ में से २७+N ८० में से ५४+O ३६ में से २५+P २+Q २+R २१ में से १४+S ३२ में से २६+T ५९ में से ५०+U २२५ में से १७५=१२८९ में ९६० नैघण्टुक तथा नैगम काण्ड के निर्वचन हैं। शेष ३२९ अन्य हैं। इस प्रकार एक चौथाई अन्य निर्वचन हैं, तीन चौथाई ऐसे हैं जो नैघण्टुक तथा नैगम काण्ड के हैं। इनमें भी नैगम काण्ड के ही अधिक हैं, जिन पर आक्षेप उठाया गया है। इसका मूल कारण है कि इन अनवगत संस्कारवाले निर्वचनों में प्रकरणादि के आधार पर ही अर्थ होगा—यह सब बात न समझ कर ही इतने आक्षेपार्ह निर्वचन डा० वर्मा ने दिखाये हैं। डा० राजवाड़े का वश चले तो वह तो निरुक्त को न जाने कहां सात समुन्दर पार फेंक दें।

हमारा यहां पुनः यही कहना है कि यास्क के निर्वचनों के विरोध में डा० राजवाड़े के प्रायः सभी आक्षेपों का उत्तर 'अनवगत संस्कार' विषयक हमारे पूर्व निरूपित प्रकरण से हो जाता है। प्रकरणादि द्वारा वह-वह अर्थ वहां-वहां करना अनिवार्य है। अतः अर्थ की नित्यता, निर्वचन करना ही चाहिये, नहीं करना सो नहीं, नाम सब धातुज हैं, 'वा' शब्द समुच्चयार्थक है, वैयाकरण को ही निर्वचनशास्त्र पढ़ाना—ये सभी सिद्धान्त निश्चित रूप से ठीक बैठ जाते हैं। जो धारणायें हमने अपने लेख के प्रारम्भ के भाग में दी हैं, उनमें आस्था होने पर ही वेद का यथार्थ ज्ञान हमारी दृष्टि में हो सकता है।

इसी प्रसङ्ग में धातुओं का अनेकार्थत्व, धातुओं का आकृतिगणत्व, पाणिनि पतञ्जलि तथा निरुक्त का परस्पर समन्वय, उणादि तथा

पृषोदरादिगण की व्यवस्था आदि ग्रन्थियां भी ग्रनवगत संस्कार विषय के समझ में ग्राने से स्वयं खुल जाती हैं। शाकटायन का तो निरुक्त-परिवार में परिगणन हो जाता है, गार्ग्य का नहीं। सो यह सब विषय ग्रर्थात् इनका समन्वय व्याकरणशास्त्र ग्रौर निरुक्तशास्त्र के मर्म से ग्रनभिज्ञ, भाषाविज्ञान जैसे ग्रनिश्चित सिद्धान्तोंवाले विषय के जाल या चक्र में फंसे हुए ये वेचारे योरुप के रिसर्चस्कालर नहीं समझ सकते तो इनके ग्रनुगामी ये भारतीय स्कालर क्या समझेंगे।

सोचने की वात है कि यदि प्रकृति-प्रत्यय-विभाग द्वारा किये गये निर्वचन ही ठीक होते, शेष सब गलत या अमाननीय (इन लोगों के मत में मूर्खतापूर्ण ग्रादि) होते तो भला व्याकरणशास्त्र था ही, पाणिनि ने प्रकृति प्रत्यय सम्बन्ध दर्शाया ही था, फिर निरुक्तशास्त्र ग्रलग वेदाङ्ग की क्या आवश्यकता थी। ग्रौर उणादिसूत्र, पृषोदरादीनि, धातुओं का ग्रनेकार्थत्व, धातुग्रों का ग्राकृतिगणत्व, बहुलं छन्दसि इत्यादि, तथा महाभाष्यकार द्वारा नामों को धातुज मानना तथा प्रकृति-प्रत्यय की ऊहा करना और उधर निरुक्त का ग्रनवगतसंस्कारों के निर्वचन दिखाना —इनका समन्वय ग्रन्य किसी भी प्रकार से नहीं लग सकता। हमारी दृष्टि में तो ग्रनवगतसंस्कारों के निर्वचनों को दिखाना निर्वचनविद्या है, निर्वचनशास्त्र है, इसी का नाम निरुक्त है। ग्रन्य सब गौण वर्णन है। कहा भी है—

'वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगः तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥'

(काशिका पृषोदरादि सूत्र में)

जहां वैयाकरणों में पाणिनि, पतञ्जलि ने ऐसे शब्दों के लिये भ्वादि ग्रादि गणों को आकृतिगण माना, उणादयो वहुलम् एक शास्त्र ग्रलग वना दिया—इतना लम्बा चौड़ा वना देने पर भी ग्रन्त में 'वहुलम्' रख दिया। जो उनकी (ग्रज्ञ रिसर्च स्कालरों द्वारा) ग्रज्ञता का वोधक नहीं, ग्रपितु गम्भीर वहुज्ञता ग्रौर सूक्ष्मेक्षिका का परिचायक है। वर्त्तमान रिसर्चस्कालरों को बहुलं छन्दसि—'बाऊला छन्दसि' दीखता है, पाणिनि पतञ्जलि ही इसके मर्म तक पहुंचे थे। 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' भी इसी 'ग्रनवगत संस्कार' कड़ी की माला का एक दाना है, जो गार्ग्य की श्रेणी में आ जाता है। चाहे तो कुछ शब्दों को रूढ़ि मान लिया जावे वा

उन्हें भी पृषोदरादीनि-उणादयो वहुलम् के अन्तर्गत मान लिया जावे। इसमें भेद कुछ भी नहीं पड़ता। इसीलिये महाभाष्यकार ने कहा है—

'बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः। तन्वीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते, न सर्वाभ्यो दृश्यन्ते। प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम्। प्रायेण खल्वपि ते समुच्चिता न सर्वे समुच्चिताः। कार्यसशेषविधेश्च तदुक्तम्। कार्याणि खल्वपि सशेषाणि कृतानि न सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि। किं पुनः कारणं तन्वीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते न सर्वाभ्यः। किं च कारणं प्रायेण समुच्चिताः, किं च कारणं कार्याणि सशेषाणि कृतानि न सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि। नैगमरूढिभवं हि सुसाधु। नैगमाश्च रूढिभवाश्चौणादिकाः सुसाधवः कथं स्युः ? नाम च धातुजमाह निरुक्ते। नाम च धातुजमेवाहुः नैरुक्ताः। व्याकरणे शकटस्य च तोकम्। वैयाकरणानां च शाकटायन आह धातुजं नामेति। अथ यस्य विशेषपदार्थो न समुत्थितः, कथं तत्र भवितव्यम् ? यन्न विशेषपदार्थसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्। प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊहितव्यः। प्रत्ययं दृष्ट्वा प्रकृतिरूहितव्या'। (अ० ३।३।१ महाभाष्ये)।

इस का संक्षेपार्थ इतना ही है कि 'उणादि में प्रकृति तथा प्रत्यय सब नहीं पढ़े हैं। न ही कार्य सब कह दिये। ये सब प्रायः कहे हैं। नाम सब धातुज होते हैं। जहां विशेष अर्थ भासित न हो, वहां प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना कर लेनी चाहिये, यही शास्त्र की आज्ञा है।'

कहिये अनवगतसंस्कारों में निर्वचन अवश्य करना चाहिये और महाभाष्य के उपर्युक्त वचन में है कुछ भेद ? प्रकारान्तर से दोनों ने एक ही वात कही है। व्याकरण और निरुक्त का कैसा उत्तम समन्वय है। निरुक्त ने इस कार्य को खुलकर दिया। इतना ही भेद कहा जा सकता है। इसीलिये यह अलग शास्त्र के रूप में ऋषियों द्वारा प्रचरित हुआ।

यौगिकवाद-शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता, धातुओं का अनेकार्थत्व-त्रिविध प्रक्रिया (सव मन्त्रों के अर्थ आध्यात्मिक-आधिदैविक-अधियज्ञ आदि सव प्रक्रियाओं में होते हैं)—देवतावाद-वेद में इतिहास-व्यत्यय और पदपाठ आदि की व्यवस्था के लिये पाठक हमारी बनाई यजुर्वेद-भाष्य विवरण की भूमिका पृ० ७१ से ९६ तक में देखें। लेख दीर्घकाय हो जाने से उनका विवेचन हम यहां नहीं करते।

निरुक्त के सब निर्वचनों पर हम अवसर मिलने पर कभी विचार

करना चाहते हैं। डा० फतहसिंह कोटा ने वैदिक निर्वचनों पर कुछ विचार किया, पर हम उसे अभी ठीक समझ नहीं सके हैं, इसीलिये इस विषय में अधिक विचार नहीं किया जा सकता। विद्वन्महानुभाव भी इस विषय पर अपने विचार उपस्थित करें।

हम यह नहीं चाहते हैं कि इन विषयों पर कोई विचार ही न करे। या इस पर ग्रन्थ ही न लिखे जावें। यास्क आदि की आलोचना न की जावे सो भी नहीं। हम यह कहते हैं कि तुलनात्मक भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों या नियमों की कसौटी पर (जो अभी स्वयं अनिश्चित हैं) आप यास्क का परीक्षण करेंगे तो भला वह ठीक उतर ही कैसे सकता है ? जबकि उभयत्र विचारप्रणाली भिन्न है। और हजारों वर्षों के लेख को आज के अनिश्चितता प्रधान वादों वा सिद्धान्तों की कसौटी पर परखना मूर्खता, अज्ञता वा अयुक्तता ही कहा जावेगा या कुछ और ? यदि उसी कसौटी पर परखना ही है तो इतना तो लिखना चाहिये कि यास्क वा कोई अन्य वर्तमान तुलनात्मक भाषाविज्ञान की कसौटी पर ठीक नहीं उतर रहा। और फिर उस अवस्था में जब तुम्हारी कसौटी ही परखने योग्य है कि वह ठीक भी है या नहीं। इतना ही नहीं, न जाने जब से भाषाविज्ञान की शैली चली तब से कितनी वदल चुकी है। अनिश्चित से निश्चत की परीक्षा करते हो। यथार्थ ज्ञान हो कैसे !!! इसी लिये हम इसे पाश्चात्यों की मौलिक भूल तथा अनधिकार चेष्टा कहते हैं। अब इन्हें भारतीय पूर्वजों के औरस पुत्र बनना चाहिये, न कि विदेशियों के !!! अन्त में भारतीय रिसर्चस्कालरों की सेवा में भी हम नम्र निवेदन करेंगे कि वह समझें कि भारत अब स्वतन्त्र हो गया है। विदेशियों की मस्तिष्कदासता अब भारत में अधिक समय तक सह्य न रह सकेगी। उन्हें अपने पदों पर रहते हुए भारतीय नवयुवकों को तथा स्वयं भारतीय परम्पराओं के प्रति समादर उत्पन्न करना चाहिये। अपने ऋषिमुनियों की बातों को सहसा गलत या मूर्खतापूर्ण कहने का दुःसाहस तथा अनधिकार चेष्टा न करना चाहिये। मार्जन रखना चाहिये कि अभी हमारी समझ में नहीं बैठ रहा। विश्व में सारी बुद्धि योरुप या अमेरिका आदि में ही पहुंच गई है, भारत निर्बुद्धि ही रह गया, सो बात नहीं। हम तो उस दिन की प्रतीक्षा में हैं (और हम समझते हैं कि वह दिन दूर नहीं), जब विदेशी यहां भारत में आकर डिग्रियां लेंगे।

प्राचीत वाङ्मय, भारतीय संस्कृति, सभ्यता और भारतीय साहित्य

में निष्ठा रखनेवाले भारतीयों का भी कर्तव्य है कि वे अपने प्राचीन ऋषि-मुनियों के ऊंचे साहित्य का गहरा अध्ययन भारतीय दृष्टि से करें और भारतीयता के विरोधी विचारों के उत्तर के लिये गम्भीर तथा विवेचनात्मक अध्ययन करें। भिन्न-भिन्न विषयों में भिन्न-भिन्न विद्वान् जुट जायें। क्या आर्यसमाज इस ओर कुछ करेगा? योजनायें बनाने मात्र से तो काम नहीं चलेगा। धियो यो नः प्रचोदयात् !!!

[वेदवाणी, वर्ष ६, अङ्क १, २]

यास्क और देवतावाद

यह सर्वविदित है कि यास्क का निरुक्त निर्वचनशास्त्र है, वेद का अङ्ग है और 'व्याकरणस्य कात्स्न्र्यम्' व्याकरणशास्त्र का पूरक है। जहां व्याकरण का प्रकृति-प्रत्यय विभाग शब्दप्रधान व्युत्पत्ति करता है, वहां निरुक्तशास्त्र अर्थप्रधान व्युत्पत्तियाँ दर्शाता है। व्याकरण और निरुक्त मिलकर ही वेद का अर्थ दर्शाते हैं। विद्वान् इस बात को जानते हैं कि सृष्टि के आदि में कोई व्याकरण न था। शक्ति और बुद्धियों में ह्रास होते देख दयालु ऋषियों ने वेदाङ्गों की रचना की। वेद के शब्द तो नित्य हैं, घड़े नहीं जाते। ऋषियों ने इन शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना द्वारा उनके अर्थों को दर्शाने का प्रयास किया। धातुओं की कल्पना की गई। उनके अर्थों का निर्धारण वेद के आधार पर किया। साथ में लौकिक वैदिक शब्दों की व्यवस्था भी ऋषियों द्वारा की गई। प्राचीन ऋषियों की परम्परा से अनभिज्ञ आजकल के कुछ एक स्कालर अधूरे व्याकरण-ज्ञान के आधार पर प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना द्वारा यास्कप्रदर्शित निर्वचनों को बेहूदा, अनर्गल वा बुद्धि-अग्राह्य कहने लगे हैं, जो उनकी सर्वथा अनधिकार चेष्टा, अज्ञता और मिथ्या अभिमान ही है।

आज हम यास्क के देवतावाद पर कुछ विचार उपस्थित करते हैं।

यास्क से पूर्व का देवतावाद

यास्क से पूर्व देवतावाद का स्वरूप हमें ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों में दृष्टिगोचर होता है। इसका वास्तविक स्वरूप क्या है, इस पर विशद विवेचन होने की आवश्यकता है। हम चाहते हैं इस विषय में विशेष सामग्री संगृहीत की जावे। इस समय तो हम इतना ही कह सकते हैं कि यास्क के समय में 'अधियज्ञ' प्रक्रिया भी थी। चाहे उसका स्वरूप कुछ भी रहा हो, यह बात पृथक् विचारने की है। वेदों में भी यत्र-तत्र अथर्व-वेदादि में याज्ञिक प्रक्रिया का आधार मिलता है, उसका स्वरूप निश्चय ही भिन्न है और विवेचनीय है।

यास्क के देवतावाद का स्वरूप

यास्क ने अपने निरुक्त को तीन काण्डों में विभक्त किया। नैघण्टुक

काण्ड में 'समाम्नायः समाम्नातः' वेद में आये विशिष्ट अप्रसिद्ध शब्दों को बताया कि ये किस-किस के नाम हैं। नैगम काण्ड में अर्थ के आधार पर अर्थात् प्रकरणानुसार शब्दों के अर्थ निरुक्तकार ने दर्शाये। तीसरे दैवतकाण्ड में देवतावाची शब्दों का निरूपण किया। निर्वचनशास्त्र होने से तीनों ही काण्डों में यास्क मुनि ने निर्वचन द्वारा उन-उन शब्दों के अर्थ दर्शाये। निर्वचन द्वारा अर्थ दर्शाने का स्पष्ट तात्पर्य यही है कि ये शब्द लोकवत् रूढ़ि न समझ लिये जायें, अपितु प्रकृति प्रत्यय वा भिन्न-भिन्न धात्वर्थ के आधार पर यौगिक, अर्थात् उन-उन गुणों के कारण तत्तद् अर्थ के वाचक हैं, यह जाना जाये। दैवतकाण्ड में जो निर्वचन द्वारा अर्थ दर्शाने तथा निरुक्त प्रथमाध्याय में 'नामान्याख्यातजानि' लिखा, इससे स्पष्ट है कि यास्क सब शब्दों को आख्यातज मानते हैं। यास्क देवता का लक्षण करते हैं—

'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।'

'जिस कामनावाला ऋषि जिस देवता के आधार पर आर्थपत्य की (अर्थ का स्वामी होऊं ऐसी) इच्छा करता हुआ स्तुति करता है, उस देवतावाला वह मन्त्र होता है।'

सर्वानुक्रमणीकार ने भी 'या तेनोच्यते सा देवता' से यही अर्थ व्यक्त किया है। दैवतकाण्ड में प्रधान स्तुतिवाले देवताओं का निरूपण किया गया है, ऐसा यास्क ने इस काण्ड के आरम्भ में ही कह दिया। बृहद्देवताकार शौनक का भी यही विचार है।

कल्पित यजुःसर्वानुक्रमणी

हमारा विचार है कि यजुर्वेद की सर्वानुक्रमणी, जो कात्यायनकृत कही जाती है, यह उवटादि के पीछे की रचना है (देखो मेरे द्वारा सम्पादित यजुर्वेदभाष्यविवरण, पृ० ७ नवीन सं०)। इसमें मुख्य हेतु यह है कि उवट ने उसको देवतानिर्णय में नहीं माना। इतना ही नहीं, उसके नाम तक का भी उल्लेख नहीं किया। दूसरा यह भी है कि उसने प्रथम मन्त्र में शाखा को भी देवता माना है, जो ठीक नहीं। क्योंकि 'शाखा' छेदनादि में उक्त मन्त्र का विनियोग है, न कि यह उस मन्त्र का देवता है। शतपथब्राह्मण में कहा है—

'यस्यै हविर्दीयते सा देवता'

अर्थात् जिसके लिये हवि दी जावे, वह देवता कहलाता है। श्रौत प्रक्रिया के जाननेवाले विद्वान् जानते हैं कि शाखा को हवि नहीं दी जाती अपितु मन्त्र का उक्त भाग बोलकर शाखा छेदनादि क्रिया की जाती है।

यास्क का मत है—**'इतीमानि सप्तविंशतिर्देवतानामधेयान्यनुक्रान्तानि। सूक्तभाञ्जि हविर्भाञ्जि। तेषामेतान्यहविर्भाञ्जि वेनोऽसुनीतिऋ॑त इन्दुः।'** नि० १०।४२॥

अर्थात् वेन-असुनीति-ऋत-इन्दु इनको छोड़कर देवता हविर्भाक् होते हैं। याज्ञिक प्रक्रिया में हविर्भाक् देवतावाची है, ऐसा निरुक्तकार ने भासित किया है। शतपथ का उपर्युक्त वचन तो सर्वथा स्पष्ट है ही।

यास्क का मुख्य देवता 'आत्मा'

देवतकाण्ड (निरुक्त ७।४) में यास्क लिखते हैं:—

'माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति ॥'

अर्थात् देवता के परम ऐश्वर्यशाली होने से एक आत्मा की बहुत प्रकार से स्तुति की गई है। अन्य सब देवता एक आत्मा के ही प्रत्यङ्ग (अवयभूत वा अन्तर्भूत) हैं। यास्क इसी को मुख्य देवता मानते हैं। अग्नि वायु सूर्य मित्र वरुण रुद्र आदि सब के सब एक आत्मा की भिन्न-भिन्न विभूतियां (शक्तियां) हैं। यास्क का हृदय देवतावाद के विषय में क्या है, इससे स्पष्ट विदित हो जाता है। इससे भी सिद्ध है कि ये उपर्युक्त शब्द जहां प्रधान की विवक्षा में विशेष्य हैं, वहां गौण की विवक्षा में विशेषणवाची भी हैं, क्योंकि इनका निर्वचन बराबर मिलता है। वेद के अनेक मन्त्रों में ये विशेषणवाची भी हैं।

इस विषय में वेद में **'उर्वी पृथिवी'** ऋ० ६।४७।२०, १।१८५।७; **'येयं पृथिवी दाधार'** ऋ० १०।६०।६; **'अघ्न्याया धेनोः'** ऋ० ४।१।६; **'गावो धेनवः'** ऋ० ६।४५।२८ —इनमें 'उर्वी पृथिवी' 'पृथिवी मही' में दोनों पृथिवी के नाम हैं। गौ और धेनु दोनों गोनाम हैं। उपर्युक्त वेद-मन्त्रों में दोनों नामों के आने का कोई प्रयोजन नहीं, सिवाय इसके कि ये विशेष्य-विशेषणरूप हैं, नहीं तो वेदमन्त्रों में पुनरुक्त दोष आवेगा। विशेषण विना निर्वचन के बन नहीं सकते। अतः यहां विशेष्य-विशेषण भाव अनिवार्य है।

देवताकाण्ड पर विचार

यास्क के देवतावाद का स्वरूप हम ऊपर दर्शा चुके। यह भी बता चुके कि निरुक्त के तीनों काण्डों का महत्त्व अपना-अपना पृथक् है। दैवतकाण्ड में यास्क ने यद्यपि प्रायः याज्ञिक प्रक्रियान्तर्गत देवतावाची शब्दों का विवेचन किया है। पर आरम्भ में ही यास्क ने 'एक आत्मा बहुधा स्तूयते' कहकर मुख्य देवता 'एक आत्मा' है, अन्य देवता इसके अङ्ग हैं, यही कहा। याज्ञिक देवताओं को लोग उलटा न समझने लग जावें (जो कालचक्र से समझने लग ही गये) इसलिये यास्क ने दैवतकाण्ड को रचना की। इसमें अपनी मुख्य आधिदैविक प्रक्रिया 'दृष्टि' के कारण कहा—

'तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः, अग्निः पृथिवीस्थानो, वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः। तासां माहाभाग्यादेकैकस्यां अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति' अपि वा कर्मपृथक्त्वाद्यथा होताध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतः।'

नैरुक्तों के मत में तीन ही देवता होते हैं—अग्नि पृथिवीस्थानी, वायु या इन्द्र अन्तरिक्षस्थानी और सूर्य द्युस्थानी।

त्रिविधस्थानी का विचार आधिदैविक पक्ष में है। आध्यात्मिक पक्ष में एक आत्मा ही सर्वा देवता है। अधियज्ञ पक्ष में भी ये देवता एक आत्मा के ही अवयवभूत समझने चाहिये। आधिदैविक पक्ष में सब को तीन के भीतर=अन्तर्भूत ही यास्क मानते हैं।

निरुक्त और ऋक्सर्वानुक्रमणी में देवताओं का भेद

यह बात अभी द्रष्टव्य है कि सर्वानुक्रमणी बृहद्देवता में निर्दिष्ट सभी देवता निरुक्त में वर्णित हैं या नहीं। साथ ही ब्राह्मणग्रन्थों के सब देवता सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता में आ गये हैं या नहीं, यह भी विचारणीय है। पर इतनी बात तो कही जा सकती है कि निरुक्त में प्रतिपादित देवतावाची शब्द सर्वानुक्रमणी बृहद्देवता में प्रायः आ चुके हैं। इतना और भी कहा जा सकता है कि बृहद्देवता में तो निर्दिष्ट देवता निरुक्त में सब आ गये हैं, यद्यपि कहीं-कहीं भेद है। निरुक्त और सर्वानुक्रमणी बृहद्देवता में जहां-जहां भेद है, वह संक्षेप में दर्शाते हैं—

	ऋग्वेद	निरुक्त का देवता	सर्वानु० का देवता
१.	१।५०।६७	वरुणः—निरु० १२।२२	सूर्यं
२.	६।४६।८	पूषा— ,, १२।१८	विश्वेदेवाः
३.	११०।८५।२०	सूर्यः— ,, १२।७	आशीःप्रायः
४.	५।५६।८	रोदसी— ,, ११।५०	मरुतः
५.	५।४१।१६,२०	इडा— ,, ११।४८	विश्वेदेवाः
६.	१।१६४।४२	गौरी — ,, ११।४०	,,
७.	१०।८६।११	इन्द्राणी—,, ११।३७	इन्द्रः
८.	१०।१४।६	पितरः अथर्वाणः ,, ११।१९	वशिष्ठपुत्र इन्द्रो वा
९.	५।५७।१	रुद्राः निरु० ११।१५	मरुतः सर्वसूक्तस्य
१०.	१०।१६७।३	विधाता ,, ११।१२	सोमः वरुणः बृहस्पतिः आदि
११.	७।१७।२	धाता अग्निः	
१२.	१०।११४।३	सुपर्णः निरु० १०।४६	विश्वेदेवाः सूक्तस्य
१३.	४।२३।८	ऋतः— ,, १०।४१	इन्द्र ऋतं वा
१४.	११५५।१९	त्वष्टा— ,, १०।३४	विश्वेदेवाः सूक्तस्य
१५.	६।३७।६	वायुः - ,, १०।१	इन्द्रः
१६.	१।२२।१२	अग्नायी—,, ९।३४	इन्द्राणी वरुणानी अग्नायी
१७.	१।१८७।१	पितुः— ,, ९।२४	अन्नम्
१८.	१०।१०२।९	द्रुघणः— ,, ९।२३	द्रुघण इन्द्रो वा
१९.	६।७५।६	अभीशवः—,, ९।१६	सारथी=पूर्वार्धस्य, रथः=उतरार्धस्य
२०.	१।१२६।१	नाराशंसः—,, ९।१०	स्वनयो भावयव्यः
२१.	१।१६२।२	अश्वः— ,, ९।२	इन्द्रः

ऋक्सर्वानुक्रमणी तथा बृहद्देवता में देवताओं का भेद

सर्वानुक्रमणी तथा बृहद्देवता में भी देवता का परस्पर भेद है। तद्यथा—ऋ० १।५० में सर्वानुक्रमणी में सूर्यदेवता है, तो बृहद्देवता में वरुण है। ऋ० २।३०।८ का सरस्वती सर्वानुक्रमणी में है, बृहद्देवता में वाक् है। ऋ० ४।४।२ में क्रमशः रुद्र और अग्नि है। ऋ० ५।५६।८ में मरुतः और रोदसी है। ऋ० २।३३।११ में क्रमशः रुद्र और मृग हैं। ऋ० २।३३।६ में इन्द्र और विश्वामित्र तथा ७ मन्त्र में इन्द्र और नद्यः हैं। ऋ० ५।५७।१ में क्रमशः मरुतः और रुद्राः हैं।

देवतावाद में यह अवश्य विचारणीय है कि सर्वानुक्रमणी और बृहद्-देवता ही देवतावाद में अन्तिम प्रमाण हैं, सो नहीं। इसका विवेचन हमारी लिखी यजुर्वेदभाष्य-विवरण की भूमिका में देख सकते हैं तथा हमारे लेखों में भी।

दैवतकाण्ड के कुछ विशेष शब्द

निरुक्त ७।१४ से ८।२१ तक पृथिवीस्थानी देवताओं का निरूपण यास्क ने किया है। आगे ६ अध्याय के अन्त तक 'पृथिव्यायतनानि' का। १०।१ से ११।१२ तक मध्यमस्थानी देवताओं का प्रतिपादन है। आगे ११वें अध्याय के अन्त तक मध्यमस्थानी देवगण तथा देवस्त्रियों का वर्णन है। १२वें अध्याय में द्युस्थानीदेवता तथा देवगण आदि का निरूपण किया गया है।

इनमें १—पृथिवी, २ त्वष्टा—इन दो का निरूपण पृथिवीस्थानी, अन्तरिक्षस्थानी तथा द्युस्थानी—तीनों स्थानी देवताओं में निरुक्तकार ने किया है। हम यह आगे लिखेंगे। इन दोनों से अतिरिक्त चार और देवतावाची शब्दों का प्रतिपादन दो-दो स्थानी देवताओं में किया गया है, जैसा कि—

वरुण—नि० १०।४ में मध्यमस्थानी, १२।२२ में द्युस्थानी देवता।
यमः—नि० १०।२० में ,, १२।२६ में ,, ,,
सविता—नि० १०।३२ में ,, १२।१३ में ,, ,,
उषाः—नि० ११।४७ में ,, देवगण, १२।६ में ,, ,,

यहां यह बात विशेष विचारणीय है कि वरुण यदि मध्यमस्थानी वायु या विद्युत् है तो फिर द्युस्थानी होने पर विद्युत् या वायु ही है या आग्नेय या कुछ और भी है। इस अवस्था में मध्यमस्थानी और द्युस्थानी उपर्युक्त सब वरुण, यम, सविता, उषा के स्वरूप में भेद होना आवश्यक है।

साथ ही त्वष्टा और पृथिवी तीनों स्थानी हैं। इनका परस्पर भेद क्या है? भला पृथिवी द्युस्थानी कैसे है, यह भी विचारना ही होगा। यदि कहें कि द्युस्थानी अधिक आग्नेय हो, गौण पार्थिव हो, सो भी नहीं, क्योंकि यास्क ने दैवतकाण्ड के आरम्भ में कहा है—'तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते।' दैवतकाण्ड में प्रधान देवतावाची पदों का ही निरूपण किया गया है।

अन्त में हमें इसी परिणाम पर पहुंचना पड़ता है कि निर्वचन के आधार पर ये शब्द पृथिवीस्थानी हैं तो शेष दोनों विशेषणवाची होने चाहिये, ऐसे ही मध्यमस्थानी और द्युस्थानी में भी समझना चाहिये। यास्क ने इसीलिये इन शब्दों का निर्वचन किया है। निर्वचन करने से यही सिद्ध होता है कि ये विशेषणवाची भी हैं और विशेष्यवाची भी। ब्राह्मणग्रन्थों में इन जैसे अन्य अनेक शब्दों के अर्थ तथा निर्वचनों का आधार भी हमारी दृष्टि में यह विशेषण-विशेष्यभाव ही है। इन देवतावाची शब्दों का समन्वय इस प्रकार से बहुत अच्छा बैठता है। हम ऊपर भी दर्शा चुके हैं कि ये 'पृथिवी' आदि शब्द विशेषणवाची भी हैं, क्योंकि वेदमन्त्रों में उर्वी पृथिवी दोनों ही एकार्थक पृथिवीवाची शब्द आने से सिद्ध हो जाता है कि ये पृथिवी-उर्वी, त्वष्टा-यम आदि शब्द कहीं पर विशेष्य हैं कहीं पर विशेषण।

'त्वष्टा' शब्द पर विचार

हमने ऊपर दर्शाया कि त्वष्टा देवतावाची शब्द है और यह पृथिवी-स्थानी, मध्यमस्थानी तथा द्युस्थानी तीनों प्रकार के देवतावाची शब्दों में यास्क ने दर्शाया है। निश्चय ही तीनों स्थानों में त्वष्टा का भिन्न-भिन्न अर्थ तथा स्वरूप होना अनिवार्य है। जहां ब्राह्मणग्रन्थों में इसके अनेक अर्थ दर्शाये गये हैं, जो निर्वचन के आधार पर ही हो सकते हैं, वहां वेदों में भी त्वष्टा शब्द के विविध अर्थ भासित हो रहे हैं। जैसा कि 'इन्द्रो वै त्वष्टा' (ऐ० ६।१०) ब्राह्मण ने कहा, वहां ऋग्वेद १।३२।२ में त्वष्टा को इन्द्र कहा।

त्वष्टा = अग्निः (ऋ० २।१।५) में

,, = माता-पिता १०।६४।१०

,, = वाणीपतिः १०।६६।३

,, = विश्वेदेवाः ६।५५।१६

,, = सुदत्रः ७।३४।२२

त्वष्टा रूपाणि पिंशतु (ऋ० १०।१८४।१), त्वष्टा वै पशूनां रूपाणां विकर्ता (तां० ६।१६।३), त्वष्टारमग्निं (ऋ० १।१३।१०), त्वष्टार-मग्रजां गोपां (ऋ० ६।५।६), त्वष्टारं होतारं (ऋ० १०।११०।६), त्वष्टुर्जामातरं वायुं (ऋ० ८।२६।२२), त्वष्टा जवं दधातु (य० ६।८), इन्द्राय त्वष्टा दधदिन्द्रियाणि (य० २१।५५)।

इन सब में निर्वचन के आधार पर ही इन शब्दों के प्रकरणानुसार भिन्न-भिन्न अर्थ हो रहे हैं। उपर्युक्त सब शब्दों का निर्वचन भी इसी प्रकार हो सकता है। निर्देशार्थ एक-दो ही पर्याप्त हैं।

निर्वचन शास्त्र का महत्व

उपर्युक्त सब निर्वचनशास्त्र का ही महत्त्व कहा जा सकता है। अन्यथा इन शब्दों के अर्थों का समन्वय हो नहीं सकता। इसीलिये यास्क ने निरुक्त के तीनों काण्डों में निर्वचन पर निर्वचन दर्शाये हैं। इसीलिये यौगिकवाद की स्थापना में प्रमुख स्थान यास्क के निरुक्त का ही है, जिनके आधार पर वेदमन्त्रों के अर्थों में आध्यात्मिक आधिदैविक अधि-यज्ञादि सब प्रक्रियाओं में मन्त्रों के अर्थ हैं। यह बात वेदार्थविषय में एक नया प्रकाशस्तम्भ कही जा सकती है। जिसमें मन्त्रों के अर्थों की व्यापकता का विज्ञान भरा हुआ है। इससे ही वेद मानवसमाज के लिये कल्याणकारी और काम की वस्तु सिद्ध हो सकते हैं। विदित रहे कि ये तीनों प्रकार की प्रक्रियायें नष्टप्राय: हो जाने पर भी इनका आधार परम्परा से भी सिद्ध हो रहा है। आज से लगभग १५०० वर्ष पूर्व इस की परम्परा मिलती है, जिसे उपलब्ध होनेवाले प्रथम वेदभाष्यकार आचार्य स्कन्द ने अपनी निरुक्तटीका में दर्शाया। विग्रहवती देवताओं का तो मीमांसा ने ही खण्डन कर दिया।

अत: निर्वचन के आधार पर यास्क ने देवतावाद का जो प्रतिपादन किया है, और 'माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते' द्वारा एक आत्मा को ही मुख्य देवता मानकर पृथिवीस्थानी, मध्यमस्थानी और द्युस्थानी देवताओं का निरूपण किया है। इन सब का समन्वय निर्वचन के आधार पर ठीक हो जाता है। इस युग में इसके पुनरुद्धारक महर्षि दयानन्द सरस्वती हैं, जिनके प्रति संसार को अपनी कृतज्ञता स्वीकार करनी चाहिये।

[वेदवाणी, वर्ष १०, अङ्क १, २]

वेद का स्वरूप

एक आवश्यक और गम्भीर विचारणीय विषय

सनातनधर्मी विद्वान् गम्भीरता से और प्रेमपूर्वक विचार करें

गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार के वेद-सम्मेलन पर १६ अक्तूबर १६५८ को मैंने अपना जो सभापति-भाषण पढ़ा, उसमें मैंने लिख दिया था कि सम्मेलन का समय अत्यल्प होने से प्रेस में छपते-छपते मैंने १०-१२ पृ० का लिखित मैटर (सामग्री) निकाल दिया है। कुछ विद्वानों ने मुझे लिखा कि वह सामग्री भी आप अवश्य शीघ्र प्रकाशित करें। इस प्रेरणा से मैं अपने उन विचारों को उपस्थित करने लगा हूं।

वेद का अनुशीलन—स्वाध्याय करनेवालों की दो श्रेणी हैं। एक तो वे हैं, जो वेद को ईश्वरीय ज्ञान वा अपौरुषेय मानते हैं, नित्य मानते हैं। दूसरी श्रेणी उन लोगों की है, जो वेद को ऋषियों की कृति मानते हैं। इनकी भी आगे दो कोटि हैं—एक तो वे जो ईश्वर को तो मानते हैं, पर वेदों को ऋषियों के बनाये ही मानते हैं। दूसरे वे हैं, जो ईश्वर को भी नहीं मानते, वेद को ऋषियों का बनाया मानते हैं। जो ईश्वर को ही नहीं मानता, वह वेद को ही क्या मानेगा।

वैदिक धर्म और आर्यसमाज के सिद्धान्त को माननेवाले वेद को ईश्वरीय ज्ञान, अपौरुषेय, नित्य मानते हैं। सनातनधर्मी भाई भी प्रायः ऐसा ही मानते हैं, क्योंकि ब्रह्मा से ले के जैमिनि मुनि पर्यन्त सब ऋषि-मुनि वेद को ईश्वरीय ज्ञान, अपौरुषेय और नित्य मानते हैं। इन ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों को सनातन धर्म और आर्यसमाज प्रमाण मानता है। चाहे आगे उनमें थोड़ा सा भेद है। ऊपर 'प्रायः' शब्द मैंने इसलिये कहा कि सनातनधर्मी उद्भट विद्वान् जयपुरनिवासी श्री पं० मधुसूदन झा जी जैसे वेद को ऋषियों की कृति मानते हैं। अपने को आर्यसमाजी न कहने वाले वयोवृद्ध श्री पं० दामोदर सातवलेकर जी भी वेद को अपौरुषेय

नहीं मानते, हृदय से ऋषियों की कृति मानते हैं, चाहे वह स्पष्ट शब्दों में किन्हीं कारणों से नहीं कहते। जो कि उनके द्वारा सर्वथा कपोल-कल्पित वा मनघड़न्त 'दैवतसंहिता' के बना डालने और छापने से स्पष्ट विदित हो जाता है। और भी इस विषय के द्योतक प्रमाण मिल रहे हैं।

विदेशी स्कालर और उनके अनुगामी भारतीय विद्वान् प्रायः वेद को ऋषियों की कृति ही मानते हैं। हां, उनमें ऐसा मानते हुए भी कुछ एक भारतीय स्कालर हैं, जो वेद के प्रति आस्था रखते हैं, जो ईश्वर में भी निष्ठावान् हैं। कहना हमें यह है कि जहां सनातनधर्म और आर्यसमाज के बहुत से कार्य एक जैसे अभीष्ट हैं, जैसे वेद शास्त्रों का प्रमाण—उन की रक्षा तथा प्रचार—गोवध को बन्द करना—भारतीय संस्कृति की रक्षा, संस्कृत का उत्थान—सन्ध्या वन्दन होम यज्ञ याग आदि उभय सम्मत करने योग्य कार्य हैं, वहां वेद का अपौरुषेयत्व विषय भी दोनों का अभिमत विषय है, जो अति गम्भीरता से परस्पर मिलकर प्रेमपूर्वक विचार विनिमय करने योग्य है। वेद का स्वरूप निर्णय हमें मिलकर विचारना पड़ेगा।

सर्ववेद-शाखा-सम्मेलन कानपुर

गत वर्ष नवम्बर १९५७ के प्रथम सप्ताह में कानपुर में एक भारी वेदसम्मेलन हुआ, जिसका नाम था 'सर्ववेद-शाखा-महासम्मेलन।' यह वेदसम्मेलन कानपुर में सनातन धर्म के प्रसिद्ध नेता श्री समादरणीय करपात्री जी महाराज के संचालकत्व में हुआ था। जिसमें भिन्न-भिन्न वेदों की भिन्न शाखाओं को सस्वर-घन-जटा पाठादि सहित कण्ठस्थ किये हुए विद्वान् भारत के सभी प्रान्तों से निमन्त्रित किये गये थे। साथ में चातुर्मास्य याग भी हो रहा था। निस्सन्देह यह आयोजन मूल पाठ की दृष्टि से अपूर्व तथा लाभदायक कहा जा सकता है। विज्ञप्तियों में बड़ी भारी योजनायें प्रकाशित हुई थीं। पर उनमें से बहुत कम अंश पर ही कुछ विचार हो सका। मुझे भी उक्त स्वामी जी महाराज ने विशेष रूप से आमन्त्रित किया था। विदित रहे कि इससे पूर्व (काशी में रहते हुये भी) मैंने श्री करपात्रीजी महाराज के दर्शन कभी नहीं किये थे, और न ही कभी उनसे साक्षात् भेंट हुई थी। मेरे कानपुर जाने में श्री समादरणीय काशी के प्रमुख विद्वान् महामहोपाध्याय श्री पं० गिरिधर शर्माजी चतुर्वेदी की भी हार्दिक प्रेमपूर्वक प्रेरणा थी।

'वेद का स्वरूप' इस विषय पर मेरे जाने से पूर्व विचार हो चुका था, जिसकी कि मुझे सूचना नहीं थी। मेरे पहुंचने पर प्रायः सभी विद्वान् एकदम हर्षित हो उठे, पता नहीं क्यों, कहने लगे कि आपकी बड़ी प्रतीक्षा हो रही थी। निस्सन्देह करपात्रीजी महाराज का मेरे साथ अतीव प्रेम और सौहार्दपूर्ण व्यवहार रहा। मैंने बड़े दुःख और आश्चर्य से अनुभव किया कि आर्यसमाज कानपुर की ओर से कुछ भी प्रयास इस समय नहीं किया गया, न ही मुझे किसी प्रकार का सहयोग मिला, यद्यपि मैंने वहां पहुंचने से पहिले उन्हें सूचना दे दी थी कि आर्यसमाज का पक्ष उपस्थित करने के लिये मैं आ रहा हूं। यही सूचना मैंने श्री करपात्री जी को भी दी थी। उक्त सम्मेलन का कुछ भी स्पष्ट प्रकाशित कार्यक्रम न था। इसीलिये मैं देरी में पहुंचा।

मुझे इस बात का बड़ा ही खेद रहा कि मैं ३-४ दिन पहिले पहुंचता तो बहुत ही अच्छा होता। 'वेद का स्वरूप' इस विषय पर २-३ दिन पूर्व विद्वानों का विचार-विनिमय हो चुका था। पुनरपि श्री करपात्री जी ने मेरे पहुंचने पर पर्याप्त उदारता दर्शाई और विचार चला। मेरे द्वारा 'वेदवाणी' का विशेषाङ्क भेंट में देने के पश्चात् मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि वह मेरे प्रति कुछ सङ्कुचित अवश्य हो गये, न जाने मेरी यह भ्रान्ति ही हो। विचार करने का वचन देकर भी उन्होंने अन्त में विचार न किया, चाहे उसमें कोई भी कारण रहे हों। जो किया, वह भी बहुत ही अल्प था। इस विषय पर विचार होना सनातन धर्म की दृष्टि से भी बहुत ही आवश्यक था और है।

यहां इतना और विदित रहे कि उक्त विचार चलते समय दो एक विद्वान् ऐसे भी थे, जिनका यह कहना था कि 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' में ब्राह्मणभाग का ही मुख्य वेदत्व है, जिस पर सनातनधर्म के प्रमुख गम्भीर विद्वान् सर्वश्रेष्ठ नेता महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा जी ने इस मत का प्रबल खण्डन किया, जिससे उक्त अवसर पर उन्होंने सनातन धर्म की भारी रक्षा की। नहीं तो यह वेद-सम्मेलन सनातनधर्म को कहां से कहां पहुंचा देता। मैं सामान्यतया उक्त सम्मेलन के कार्यकर्त्ताओं को विशेषतया श्री करपात्री जी महाराज को उनके प्रेमपूर्वक शिष्ट व्यवहार के लिये आज भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता। इस सम्मेलन में आके अनेक विद्वानों ने मेरे प्रति एकान्त में बड़ा गहरा प्रेम प्रकट किया, जिससे मुझे स्वभावतः प्रसन्नता हुई और ऐसा प्रतीत

हुआ कि अपने विचार प्रेमपूर्वक और सप्रमाण प्रौढ़ता से रखने में अवश्य गहरा लाभ होता है। विद्वानों को अनेक प्रकार की जानकारी प्राप्त होती है।

मैंने उक्त सम्मेलन में निम्न प्रकार विचार उपस्थित किये—

(१) सनातन धर्म वेद की शाखाओं को वेद मानता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि 'तेन प्रोक्तम्' (अ० ४।३।१०१) के भाष्य में—

'या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकम्, कालापकम्, मौदकम्, पैप्पलादकम् इति ॥'

अर्थात् काठक, कालापक, पैप्पलादक आदि प्रोक्त हैं, अर्थात् ऋषियों द्वारा प्रवचन किये हुए या ऋषिकृत हैं, इस विषय पर मैंने पर्याप्त प्रकाश डाला था।

(ii) ऋग्-यजुः-साम और अथर्व की आनुपूर्वी को—

'स्वरो नियत आम्नायेऽस्यवामशब्दस्य। वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता' [अ० ५।२।५६]

यहां अस्यवाम ऋग्वेद १।१।१६४ सूक्त के आरम्भ का शब्द है। सो इस मन्त्र की आनुपूर्वी तथा स्वर को महाभाष्यकार पतञ्जलि नित्य मानते हैं।

इस प्रकार सनातन धर्म के मत से वेद माने जानेवाली शाखायें मैत्रायणी काठक पैप्पलादक आदि प्रोक्त अनित्य सिद्ध होती हैं, न कि ईश्वरोक्त।

(२) दूसरा प्रश्न यह था, जो कि शतपथब्राह्मण में है—

'तदु हैकेऽन्वाहुः। होता यो विश्ववेदस इति। नेदरमित्यात्मानं ब्रवाणीति तदु तथा न ब्रूयान्मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति। व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं...। —शत० १।४।१।३५

इसका भाव यह है कि किसी शाखावाले 'होता यो विश्ववेदस इति' ऐसा पाठ पढ़ते हैं, सो ऐसा पढ़ना ठीक नहीं। यह मनुष्यकृत पाठ है। यज्ञ में मानुष पाठ पढ़ना यज्ञ की हीनता है। इससे इतना पता लगता है कि शाखाओं का पाठ मानुष है और ग्राह्य नहीं। 'होतारं विश्ववेदसम्' यह पाठ ही ठीक मानते हैं। 'होता यो विश्ववेदसः' नहीं, क्योंकि वह

मानुष है। शतपथकार के समय में ऐसा पाठ प्रचलित हो रहा था, यह स्पष्ट है। उसे वह मानुषपाठ होने से त्याज्य मानते हैं।

(ii) तैत्तिरीयसंहिता के पाठ का स्पष्ट खण्डन भी शतपथकार करते हैं, जैसा कि—

शतपथब्राह्मण १।६।५।३ में है—

'उपायवस्थेत्यु हैक आहुरुप हि द्वितीयोऽयतीति। तदु तथा न ब्रूयात्॥'

यहां शतपथकार 'वायवस्थ' के स्थान में जो 'उपायवस्थ' ऐसा पाठ बोलते हैं, उसका खण्डन करते हैं। विदित रहे कि यह 'उपायवस्थ' पाठ तैत्तिरीयसंहिता का है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं और 'तदु तथा न कुर्यात्' वा 'तदु तथा न ब्रूयात्' ऐसा लेख शतपथब्राह्मण में अनेक स्थलों में है। इससे यह सिद्ध होता है कि तैत्तिरीयसंहिता शतपथकार को मान्य नहीं थी।

यहां यह भी सोचना चाहिये कि मीमांसा के 'शाखान्तर अधिकरण' (अध्याय २, पाद ४) के अनुसार सब शाखाओं का अपना-अपना विधान अपनी-अपनी इतिकर्तव्यता और अपना-अपना पाठ पृथक् है और वह काठक शाखा वाले काठक क्रम से, कालापक शाखा वाले कालापक के क्रम से करेंगे ही, उनको ऐसा करने की शास्त्र अनुमति देता है। तब 'तदु तथा न कुर्यात्' कहने की आवश्यकता ही क्या है। ऐसा होना अर्थात् 'उपायवस्थ' पाठ की प्रसक्ति (प्राप्ति) ही कैसे है, जो इतना घोर खण्डन करना पड़े। वास्तविक बात यही है कि शतपथकार ने तैत्तिरीयसंहिता का खण्डन किया है।

सनातन धर्म मनुष्य-कृत पाठ को ईश्वर-कृत कैसे सिद्ध कर सकता है।

(३) तीसरा विचारणीय विषय है—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।'

यह वचन केवल तैत्तिरीयसंहिता (कृष्णयजुर्वेद) अन्तर्गत शाखाओं के आपस्तम्ब, सत्याषाढ, बौधायनादि श्रौतसूत्रों में ही उपलब्ध होता है। ऋग्वेद के शांख्यायन-आश्वलायन, शुक्लयजुर्वेद के कात्यायन, सामवेद के द्राह्यायन तथा लाटचायन श्रौतसूत्रों में उक्त सूत्र या उसके अर्थ का वचनान्तर नहीं मिलता। जिन उपर्युक्त श्रौतसूत्रों में 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' वचन मिलता है, उनमें भी उनके परिभाषा-प्रकरण में

ही मिलता है। इसका कारण कृष्णयजुर्वेद में ब्राह्मणभाग का मिश्रण है, इसी कारण कृष्णयजुर्वेद के श्रौतसूत्रकारों को अपनी यज्ञप्रक्रिया के लिये मन्त्र और ब्राह्मण को मानना पड़ा। ऋग्वेद शुक्लयजुर्वेद सामवेद में ब्राह्मणभाग नहीं, अतः उन्होंने ऐसी परिभाषा नहीं बनाई। कात्यायन के नाम से कही जनेवाली सर्वानुक्रमणी ने जो शुक्लयजुर्वेद में ब्राह्मण-भाग माना है, सो वासिष्ठी[1] शिक्षा में उन सब को मन्त्र माना गया है, ब्राह्मणभाग नहीं। साथ ही मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयं परिभाषा वचन वाले आपस्तम्बश्रौतसूत्र के टीकाकार हरदत्त ने **'केश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाख्यातम्'** ऐसा कहा। यही बात इससे पूर्ववर्त्ती धूर्त स्वामी ने भी लिखी। बृहदारण्यकोपनिषद् के प्राचीन भाष्यकार द्विवेदगङ्ग ने भी शुक्लयजुःसंहिता में ब्राह्मणभाग नहीं माना—**'शुक्लानि यजूंषि शुक्लानि, यद्वा ब्राह्मणेन मिश्रितमन्त्रकाणि कृष्णानि।'**

सारभूत इतना ही है कि कृष्णयजुर्वेद में मन्त्रब्राह्मण मिश्रित होने से उसके विनियोजक श्रौतसूत्रकारों ने ही अपनी यज्ञ प्रक्रिया के लिए 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इस परिभाषा को घड़ा (बनाया), पाणिनि के गुणवृद्धि संज्ञा के समान। ऋग्-यजुः-साम के किसी श्रौतसूत्र ने 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' को नहीं माना। अतः यह सर्वत्र लागू नहीं हो सकता।

जो 'कात्यायन श्रौत' के प्रतिज्ञापरिशिष्ट में है, सो भी परिभाषा प्रकरण में न होने से तथा परिशिष्ट में होने से इसके कर्त्ता को मतान्तर दर्शाना मात्र अभिप्रेत है, अपने सूत्र में अभिमत नहीं।

इन उपर्युक्त तीनों विषयों में से पहिले दो विषयों पर कुछ थोड़ा सा विचार हुआ, जो अपूर्ण ही रह गया। सम्मेलन के संचालकों ने न जाने क्या सोचकर उस पर गम्भीरता से विचार नहीं किया, अन्त में मुझे कहना पड़ा कि आप महानुभाव इनका उत्तर जब चाहें जैसे चाहें प्रकाशित करें तो मैं उस पर अपने विचार पुनः उपस्थित करूंगा।

इस विचार विनिमय के बीच में ही कानपुर आर्यसमाज की ओर से

---

१. इस विषय का सविस्तर विवेचन पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' लघु पुस्तिका में देख सकते हैं, जो वेदवाणी में छप चुकी है। यह लेख सब को पढ़ना चाहिये।

एक विद्वान् पहुंचे तो वह मेरे पक्ष को, पता नहीं न समझ कर या कैसे सम्मेलनवालों के पक्ष का ही समर्थन करने लगे। अपना पक्ष न समझ कर बोलना लाभकर तो होता नहीं, हानिकर ही होता है। पर मैं तो डटा ही था, अकेला ही था, अकेला ही रहा। १०-१० वा १२-१२ विद्वान् एक साथ मेरा उत्तर देने लगते थे तो मैं नम्रता से ही कहता था कि आप महानुभाव एक-एक बोलें तो मैं सबका उत्तर दूं। सम्मेलन में आये विद्वानों में कई एक मेरे पुराने सहयोगी थे और वे कई भिन्न-भिन्न प्रान्तों से आये थे। विद्वानों के बीच में पहुंचकर मुझे कितनी प्रसन्नता हुई, यह मैं वर्णन नहीं कर सकता। ऐसा उपयोगी समारोह वेदवाणी के उद्धार की दृष्टि से अत्यन्त लाभप्रद है और बनाया जा सकता है। चाहे कानपुर का सम्मेलन ५ या १०% प्रतिशत ही सफल कहा जा सकता है। पुनरपि बहुत अच्छा था। मेरे नेत्रों के समक्ष आज भी कानपुर का वह सम्मेलन घूम रहा प्रतीत होता है।

३—तीसरा विषय 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' तो उन्होंने उठाया ही न। मेरे विचार केवल सुन लिये। मेरी यह सब बात उनके साथ मैत्रीपूर्ण और शान्त वातावरण में हुई। इसमें सन्देह नहीं। काशी लौटने पर उन्होंने मेरे यहां से उक्त विषय की सामग्री प्राप्त की। सम्भव है इस विषय पर आगे चर्चा चलायें।

कानपुर का वेदसम्मेलन केवल भिन्न-भिन्न शाखाओं के उच्चारण की प्रक्रिया दर्शाने तक ही सीमित रहा। अर्थ विषय में तो कुछ भी विचार वहां नहीं हुआ। वाह्य प्रदर्शन अत्यधिक रहा। यद्यपि गम्भीरता का वातावरण सुगमता से बन सकता था।

यह सब मैं इसलिये कह रहा हूं कि इन विषयों पर आर्यसमाज की ओर से शान्त वातावरण में मैत्रीपूर्ण ढंग से सनातनधर्मी विद्वानों के साथ विचार होना चाहिये, जिससे ऋषि दयानन्द प्रदर्शित वेदार्थ-प्रक्रिया के विषय में मिथ्या भ्रान्तियां दूर हों और वेद के विषय में विद्वानों का दृष्टिकोण ठीक मार्ग पर आवे।

विदित रहे कि समस्त ऋषि-मुनियों के आधार पर आर्यजाति सदा से वेद को अपौरुषेय मानती चली आ रही है। वेद में भी इसे—

'वाचा विरूपनित्यया' ऋ० ८।७५।६ में नित्य कहा गया है।

महाभारत शान्तिपर्व २३२।३४ में कहा है—

'अनादिनिधना वाग् नित्या उत्सृष्टा स्वयंभुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥'

अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में उस स्वयम्भू परमात्मा से वेद का प्रादुर्भाव हुआ, जो नित्य है, अनादि है, जिसका कभी नाश नहीं होता, जो दिव्य है। उसी से संसार में सब प्रवृत्तियां चलती हैं।

आगे वेद का प्रवचन ऋषियों ने किया। वे ऋषियों के प्रवचन ही शाखायें बन गईं। ये ऋषिप्रोक्त हैं, अनित्य हैं। ये सब विचार हमने उक्त सर्ववेदशाखासम्मेलन कानपुर में संक्षेपतः उपस्थित कर दिये थे। पुनरपि हम अपने विचारों को कुछ और विस्तार से तथा कुछ अधिक स्पष्ट रूप में उपस्थित कर रहे हैं, जिससे शाखाविषय पर विचार करने वालों को सुगमता रहे और वे अधिक गहराई से इस विषय पर विचार कर सकें।

वेद और उसकी शाखायें

शाखायें वेद के व्याख्यानग्रन्थ हैं, ऐसा महर्षि दयानन्द का मन्तव्य है (देखो ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ० २६१), अर्थात् चार वेद मूल हैं और ११२७ उनकी शाखायें हैं, दूसरे शब्दों में उनके व्याख्यानग्रन्थ हैं।

शाखाओं की आनुपूर्वी अनित्य है 'या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या' (अ० ४।३।१०१ महाभाष्य) यह महाभाष्यकार का मत है और इसमें उदाहरण 'काठकम्, कालापकम्, मौदकम्, पैप्पलादकम्' ये दिये हैं, जो स्पष्टतया शाखाग्रन्थ हैं। वेद की आनुपूर्वी को पतञ्जलि मुनि नित्य मानते हैं—'स्वरो नियत आम्नायेऽस्यवामशब्दस्य, वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता' (अ० ५।२।५६ महाभाष्ये)। इन दोनों प्रमाणों से वेद और शाखाग्रन्थों का भेद भी भगवान् पतञ्जलि के मत में सूर्य के प्रकाश की भांति स्पष्ट सिद्ध है।

निरुक्त के 'पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' (निरु० १।१) तथा 'नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति' (निरु० १।१६) इन वचनों से भी वेद की आनुपूर्वी नित्य है, ऐसा यास्क का सिद्धान्त है, यह अवश्य मानना पड़ेगा। यद्यपि शाखा के विषय में यास्क ने स्पष्टतया नहीं लिखा, तथापि 'यदरुदत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकम्, यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकम्' (निरुक्त १०।५)।

इन उदाहरणों से व्यक्त होता है कि यहां अर्थ की समानता होने पर

भी शाखाओं की वर्णानुपूर्वी का भेद दर्शाने के लिये ही इन्हें लिखा है। इनकी व्याख्या करता हुआ दुर्गाचार्य लिखता है--'स एवार्थः, केवलं शाखान्तरमन्यत्'। अर्थात्—अर्थ समान है, केवल शाखाभेद से वर्णानुपूर्वी का भेद है। निरुक्त के इस स्थल की यदि महाभाष्यकार के 'योऽसावर्थः स नित्यः, या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या' के साथ तुलना की जाय तो यास्क का अभिप्राय भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि यास्क भी मूल वेदों की आनुपूर्वी को नित्य और शाखाओं की आनुपूर्वी को अनित्य मानता है।

शाखाएं ऋषि-प्रोक्त हैं और उनकी आनुपूर्वी अनित्य है। इसको स्पष्ट करने के लिये एक और प्रमाण देते हैं—

महाभाष्यकार पतञ्जलि **'अनुवादे चरणानाम्'** (अ० २।४।३) के भाष्य में लिखते हैं—'अनुवदते कठः कलापस्य' अर्थात् कठ कलाप के प्रवचन का अनुवाद करता है। इससे व्यक्त है कि कठादिशाखाएं ऋषियों के प्रवचन हैं और उनमें किन्हीं-किन्हीं शाखाओं की परस्पर पर्याप्त समानता है।

इन प्रमाणों से शाखाग्रन्थों की आनुपूर्वी के अनित्य होने में यत्-किञ्चित् भी सन्देह नहीं रह जाता, यही हम कहना चाहते हैं। शाखाओं का स्वरूप भी हमारे इस कथन से बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है।

अब रह जाती है यह बात कि शाखा व्याख्यानरूप ग्रन्थ हैं, यह कैसे जानें? इसका उत्तर तो यही है कि जब सूक्ष्म दृष्टि से हम इन शाखाग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं, तो इनके भिन्न-भिन्न पाठों से यह बात बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है। इससे अनेक उदाहरण हैं। अत्र हम **'तेन प्रोक्तम्'** (अ० ४।३।१०१) पाणिनि के इस सूत्र का न्यासकार का अर्थ दर्शाते हैं। वह लिखता है -

'तेन व्याख्यातं तदध्यापितं वा प्रोक्तमित्युच्यते'

—अ० ४।३।१०१। न्यास पृ० १००५।

जिसका स्पष्ट अर्थ यही होता है कि ये कठ, कलाप, पैप्पलाद आदि शाखायें वेदों के व्याख्यानरूप ग्रन्थ ही हैं। प्रोक्त ग्रन्थ वह है जो व्याख्यानरूप हो या पढ़ाया गया हो। प्रवचन और व्याख्यान समानार्थक शब्द हैं, ऐसा न्यासकार का कहना है।

कहने का तात्पर्य यह है कि ऋग् यजुः साम और अथर्व ये चार वेद

स्वतः प्रमाण हैं और शाखायें प्रोक्त होने से परतः प्रमाण हैं। इन शाखा ग्रन्थों की कोटि (दर्जा) वह नहीं, जो वेद की है। यह है भेद वेद और शाखाग्रन्थों का, जिनको संहिता के नाम से कहा जा रहा है।

इतना ही नहीं अपितु कठसंहिता के प्रवचनकर्त्ता के मत में ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा थे और वह मन्त्र की प्रतीक देकर इस सूक्त का ऋषि वामदेव है, ऐसा कहते हैं— जैसा कि—

'वामदेवस्यैतत् पञ्चदशं रक्षोघ्नं सामिधेन्यो भवन्ति……स वामदेव उख्यमग्निमबिभस्तमवैक्षत स एतत् सूक्तमपश्यत् कृणुष्व पाज प्रसितिं न पृथिवीमिति' —का सं० १०।५।

अर्थात् 'कृणुष्व पाजः' इस सूक्त का द्रष्टा वामदेव ऋषि है। जो स्वयं वेद की प्रतीक देकर उसका ऋषि बताता है, वह ग्रन्थ स्वयं वेद कैसे हो सकता है? यह बात साधारण बुद्धिवाले भी तत्काल समझ सकते हैं।

अब प्रसङ्गात् यहां एक और आवश्यक शङ्का पर विचार कर लेना भी समुचित होगा। वह यह है कि गोपथब्राह्मण (पूर्वार्ध १।२९) में अथर्ववेद का आरम्भ 'शन्नो देवी०' इस मन्त्र से होता है, ऐसा माना गया है। जब ऋग् यजुः साम के आरम्भिक मन्त्रों का पाठ वैसा का वैसा हमें वर्त्तमान में भी उपलब्ध हो रहा है, तो अथर्ववेद का प्रथम मन्त्र 'शन्नो देवी०' क्यों न माना जावे? इतना ही नहीं, महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने भी महाभाष्य के आरम्भ में लौकिक वैदिक शब्दों का भेद दर्शाते हुये जहां ऋग् यजुः साम के आरम्भ के मन्त्रों का पाठ वही दिया है जो वर्त्तमान में मिलता है, वहां चतुर्थ वेद का पाठ उन्होंने 'शन्नो देवी०' ही दिया है, इससे पता लगता है कि अथर्ववेद का आरम्भ 'शन्नो देवी' से ही होना चाहिये।

वादी की यह शङ्का पर्याप्त बलवती है, परन्तु थोड़ा विचार करने से यह स्वयं दूर हो जाती है। 'तेन प्रोक्तम्' (अ० ४।३।१०१) सूत्र के भाष्य में लिखा है—

'या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकम्, कालापकम्, मौदकम्, पैप्पलादकमिति।'

महाभाष्यकार के इस वचन से स्पष्ट सिद्ध है—

(क) काठक, कालापक, पैप्पलादादि प्रोक्त हैं अर्थात् ऋषियों द्वारा प्रवचन किये हुए वा ऋषिकृत हैं।

(ख) ये काठक, पैप्पलादादि शाखाग्रन्थ हैं, वेद नहीं, क्योंकि महाभाष्यकार इनकी आनुपूर्वी (पाठक्रम) को अनित्य मानते हैं।

(ग) ऋग् यजुः साम और अथर्व की आनुपूर्वी को 'स्वरो नियत आम्नायेऽस्यवामशब्दस्य। वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता' (अ० ५।२।५९ महाभाष्य) इस प्रमाण से महाभाष्यकार नित्य ही मानते हैं, अनित्य कदापि नहीं, यही कहना पड़ेगा।

(घ) प्रोक्त, व्याख्यात, प्रवचन और व्याख्यान पर्यायवाची शब्द हैं, यह न्यासकार का मत हम पूर्व दर्शा चुके हैं।

इन सबसे यह सिद्ध है कि पतञ्जलि मुनि पैप्पलाद को शाखा मानते हैं, उसकी आनुपूर्वी को अनित्य मानते हैं, उसे वेद नहीं मानते।

अब रही 'शन्नो देवी०' के आरम्भ में आने की बात, सो महाभाष्य के आरम्भ में वैदिक शब्दों का उदाहरणमात्र देना अभिप्रेत है। वहां वेदों की आरम्भिक प्रतीक दर्शाना मुख्य नहीं। यदि वह वेद की आरम्भिक प्रतीक मानी जावे तो पतञ्जलि भगवान् के स्ववचनों में ही परस्पर विरोध आवेगा। अतः लौकिक वैदिक शब्दों का भेदमात्र दर्शाना यहां अभिप्रेत है, यही मानना होगा।

अब रही गोपथब्राह्मण में आये 'शन्नो देवी०' इस पाठ की बात। सो यह 'शन्नो देवी०' पाठ पैप्पलादसंहिता का है, यह छान्दोग्यमन्त्रभाष्य के कर्त्ता गुणविष्णु ने माना है (पृ० ६, ४८, ११७)। पैप्पलाद शाखा महाभाष्यकार के मत से ऋषिप्रोक्त है, उसकी आनुपूर्वी अनित्य है, यह भली भांति सिद्ध हो चुका। अतः गोपथब्राह्मण में 'शन्नो देवी०' से अथर्ववेद का आरम्भ उस को पैप्पलादशाखा का ब्राह्मण होने से, वा किसी अवान्तर शाखा का आरम्भिक पाठ होने से है, ऐसा ही मानना पड़ेगा।

यहां यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि 'ये त्रिषप्ताः' आदि अथर्ववेद के आरम्भ की प्रतीकें हमें श्रौत, गृह्य तथा अन्य अनेक स्थानों में मिलती हैं।

अरविन्दाश्रम पाण्डीचरी से श्री कपाली स्वामीकृत ऋग्वेदभाष्य का प्रथम खण्ड प्रकाशित हुआ था। उसके अवलोकन से ज्ञात होता है कि

उन्हें भी महाभाष्यकार पतञ्जलि के 'यद्यप्यर्थो नित्यः या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादकम्' इस वचन के समझने में भ्रान्ति हुई है। वे महाभाष्य के इस वचन को उद्धृत करके लिखते हैं—

'वेदशब्दार्थनित्यत्वमभ्युपगच्छन् भगवान् पतञ्जलिः पदवर्णवाक्यबन्धव्यवस्थानित्यतां नाङ्गीचकार। सा च व्यवस्था प्रकाशनरूपा ऋषिकर्तृका। एवं वेदानां कृतकत्वाकृतकत्वयोरुपपत्तिर्द्रष्टव्या।'

अर्थात् 'वेद के शब्दार्थ को नित्य मानकर भी पतञ्जलि ने वेद के पद वर्ण वाक्य आदि व्यवस्था की नित्यता को स्वीकार नहीं किया। वह पद वर्ण वाक्य व्यवस्था प्रवचनरूप ऋषियों की है। इस प्रकार वेद का अपौरुषेयत्व और ऋषिकर्तृत्व दोनों की संगति समझ लेनी चाहिये।'

वस्तुतः कपालीस्वामीजी का उपर्युक्त लेख अयुक्त है, क्योंकि उन्होंने पतञ्जलि के एक वचन को उद्धृत करके पतञ्जलि के मत में वेद की वर्णानुपूर्वी की अनित्यता को दर्शाया है। पतञ्जलि का दूसरा वचन जिसमें स्पष्ट रूप से पतञ्जलि ने वेद की वर्णानुपूर्वी को नित्य माना है 'स्वरो नियत आम्नायेऽस्यवामशब्दस्य। वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता' को छूआ तक नहीं। सम्भव है उन्हें इस वचन का ज्ञान ही न रहा हो, अस्तु।

पतञ्जलि के उपर्युक्त दोनों वचनों में विरोध स्पष्ट भास रहा है। उसका परिहार करना आवश्यक है, अन्यथा पतञ्जलि का लेख उन्मत्त-प्रलापवत् मानना होगा। इस विरोध का परिहार हमारी ऊपर दर्शाई संगति के अनुसार ही हो सकता है। अर्थात् पतञ्जलि के मत में पैप्पलाद आदि शाखाएं ऋषिप्रोक्त हैं, अतः वे उनकी वर्णानुपूर्वी को अनित्य मानते हैं, यह उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है।

शाखाएं प्रोक्त हैं, वेद का व्याख्यान हैं, यह ऊपर भली प्रकार दर्शा चुके। अब यहां हम एक और प्रबल शङ्का का समाधान कर देना भी आवश्यक समझते हैं, जो बहुत-से विद्वानों के मन में भी यत्र-तत्र देखी जाती है।

ऋषि दयानन्द स्वीकृत शाखा के स्वरूप पर उठाई गई शंका का समाधान

ऐतरेयालोचन पृ० १२७ पर श्री पं० सत्यव्रत सामश्रमी जी ने श्री

स्वामीजी के 'शाखा वेदव्याख्यान हैं' इस मत का खण्डन करते हुए लिखा है—

'हन्त का नाम संहिता शाखेति व्यपदेशशून्या तेन महात्मनोररीकृता यस्या मूलवेदत्वं मत्वा शाखेति प्रसिद्धानामन्यासां तद्व्याख्यानग्रन्थत्वं मन्तव्यं भवेदिति त्वस्माकमज्ञेयमेव।'

अर्थात् 'स्वामी दयानन्द ने किसको मूलवेद माना है, जिसमें कि शाखा शब्द का व्यवहार न होता हो और जिसको मूल मानकर अन्य शाखाओं को उनका व्याख्यान रूप ग्रन्थ माना जा सके।'

इस आक्षेप के दो भाग हैं। एक तो यह कि मूल वेद कोई नहीं। दूसरा कोई ऐसी संहिता नहीं, जिसका कि शाखा शब्द से व्यवहार न हो।

अब हम इन दोनों आक्षेपों का उत्तर क्रमशः देते हैं—

(क) शतपथब्राह्मण का कर्त्ता याज्ञवल्क्य लिखता है—

'तदु हैकेन्वाहुः। होता यो विश्ववेदस इति। नेदरमित्यात्मानं ब्रवाणीति तदु तथा न ब्रूयान्मानुषं ह ते यज्ञं कुर्वन्ति। व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं तद् व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्माद् तथैवर्चानूक्तमेवमेवानुब्रूयाद्धातारं विश्ववेदसमिति।'

—शत० १।४।१।३५। तु० काण्व शत० २।३।३।४।२५।

इसका भाव यह है कि किसी शाखावाले 'होता यो विश्ववेदसः' ऐसा पाठ पढ़ते हैं। सो ऐसा पढ़ना ठीक नहीं। यह मनुष्यकृत पाठ है। वे यज्ञ में मानुषपाठ करते हैं। यज्ञ में मानुषपाठ पढ़ना यज्ञ की हीनता है। यज्ञ में हीनता न हो, इसलिये जैसा ऋचा का पाठ है, वैसा ही बोले 'होतारं विश्ववेदसम्' (ऋ० १।१२।१)।

इस प्रमाण से दो बातें सिद्ध होती हैं, प्रथम—शाखायें जितनी हैं, वे सब मनुष्यप्रोक्त वा मनुष्य-सम्बन्ध से युक्त हैं। दूसरा—कोई ऋक् पाठ ऐसा है, जिसमें मनुष्य का कोई सम्बन्ध नहीं और वही मनुष्य सम्बन्ध से रहित मूलवेद है। शतपथ के इस स्थल के व्याख्यान में—

'होता य इति पाठविपरिणामस्य मनुष्यबुद्धिप्रभवतया मानुषत्वम्। यथैव वेदे पठितं तथैवानुवक्तव्यमित्युपसंहरति तस्मादिति। कीदृग्विधं तर्हि वेदे पठितमिति तदाह होतारमिति।'

—शतपथ १।४।१।३५ सा० भा० पृ० १४४।

सायण भी 'होता यो विश्ववेदसः' शाखान्तर के इस पाठ को मानुष मानता है और 'होतारं विश्ववेदसम्' को वेद का पाठ मानता है।

(ख) शतपथब्राह्मण का सबसे प्राचीन भाष्यकार हरिस्वामी (सन् ६३९ ई०) जो कि स्कन्द स्वामी का शिष्य था, शतपथब्राह्मण-भाष्य के उपोद्घात के प्रारम्भ में लिखता है—

'वेदस्यापौरुषेयत्वेन स्वतःप्रामाण्ये सिद्धे तच्छाखानामपि तद्धेतुत्वाद् प्रामाण्यमिति बादरायणादिभिः प्रतिपादितम्।'

शतपथ हरिस्वामीभाष्य हस्तलेख पृ० २।

अर्थात् 'वेदों के अपौरुषेय होने से ही उनका स्वतःप्रामाण्य सिद्ध है। उनकी शाखाओं का भी प्रामाण्य तद्हेतुता से अर्थात् वेद के अनुकूल होने से बादरायणादि ने स्वीकार किया है।'

हरिस्वामी के इस वचन से दो बातें स्पष्ट सिद्ध होती हैं। एक तो यह है कि कोई अपौरुषेय वेद अपनी पृथक् सत्ता रखता है और शाखायें उनसे भिन्न हैं। दूसरे उन शाखाओं का प्रामाण्य भी वेदानुकूल होने से ही स्वीकार किया गया है।

हमारे उपर्युक्त दोनों प्रमाणों से सूर्य के प्रकाश की भांति यह वात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है कि शतपथकार तथा हरिस्वामी के मत में शाखाओं से अतिरिक्त मूल वेद अवश्य थे।

अब सत्यव्रत सामश्रमी जी के दूसरे आक्षेप का उत्तर लिखते हैं— वैदिक साहित्य में 'शाखा' शब्द का व्यवहार दो कारणों से होता है। एक तो पाठभेदादि करके जो अपूर्व प्रवचन किया जाता है, वह शाखा का रूप धारण कर लेता है, जैसे तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता तथा काण्व संहितादि। दूसरा शाखा शब्द का व्यवहार मूल ग्रन्थों में बिना किसी परिवर्तन या परिवर्द्धन के उसके पदपाठ कर देने मात्र से भी पदकार का नाम उस संहिता के साथ में संयुक्त हो जाता है। इसका उदाहरण ऋग्वेद की शाकल संहिता है, शाकल्य ने संहिता पाठ में कोई परिवर्त्तन वा परिवर्द्धन किया हो, ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। हां निरुक्त अ० ६।२८ के 'वा इति च य इति च चकार शाकल्यः' इस पाठ से ऋग्वेद के पदपाठ का कर्तृत्व शाकल्य का सिद्ध होता है। पुराणों में भी इस शाकल्य को 'पदवित्तम' नाम से पुकारा गया है। पदपाठ का कर्त्ता होने मात्र से ऋक्संहिता के साथ शाकल्य का

नाम जोड़ दिया गया और उसका शाकलसंहिता या शाकलशाखा के नाम से व्यवहार होने लगा। (कई लोगों ने शाकल को शाकल संहिता का प्रवचनकर्त्ता माना है, वह प्रमाणाभाव से चिन्त्य है)। किसी संहिता का पदपाठ मात्र कर देने से भी उसमें शाखा शब्द का व्यवहार होता है, इसके लिये हम एक स्पष्ट प्रमाण उपस्थित करते हैं—

> **उखः शाखामिमां प्राह आत्रेयाय यशस्विने।**
> **तेन शाखा प्रणीतेयमात्रेयीति च सोच्यते॥**
> **यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः।**
> **तां विद्वांसो महाभागां भद्रमश्नुवते महत्॥**
> —तैत्तिरीय काण्डानुक्रम पृष्ठ ६, श्लोक २६, २७।

अर्थात् तित्तिरि ने तैत्तिरीय संहिता को उख को पढ़ाया। उसने इस शाखा को आत्रेय को पढ़ाया। आत्रेय द्वारा बनाई हुई यह शाखा आत्रेयी कहलाती है, जिसका पदकार आत्रेय है और वृत्तिकार कुण्डिन है। इस प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि आत्रेय के द्वारा पदपाठ कर देने मात्र से यह तैत्तिरीय संहिता 'आत्रेयी' संहिता के नाम से भी व्यवहृत होने लगी। ठीक वैसी ही दशा शाकल संहिता की भी समझनी चाहिये।

मीमांसाकार महर्षि जैमिनि शाखा को ऋषिप्रोक्त मानते हैं

महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ही शाखाओं को ऋषिप्रोक्त (ऋषि की कृति) मानते हैं सो नहीं, अपितु मीमांसा के कर्त्ता महर्षि जैमिनि भी शाखाओं को अनित्य-ऋषिप्रोक्त-कृतक मानते हैं। मीमांसा के अन्य आचार्य भो वैसा ही मानते हैं। इसके लिये हम मीमांसा के दूसरे अध्याय के चौथे पाद के द्वितीयाधिकरण (शाखान्तराधिकरण) के कुछ अंश उपस्थित करते हैं—

प्रसङ्ग यह है—शबर स्वामी लिखते हैं—

'इह शाखान्तरमप्युदाहरणं काठकं कालापकं पैप्पलादकमित्येवमादीनि। तत्र संदेहः। किमेकस्यां शाखायां यत्कर्माग्निहोत्रादि श्रूयते तच्छाखान्तरे पुनः श्रूयमाणं भिद्यते तस्माद्युत न भिद्यते।'

अर्थात् काठक-कालाप पैप्पलाद आदि शाखाओं में यह सन्देह उपस्थित होता है कि एक शाखा में जो अग्निहोत्रादि कर्म का विधान किया गया है, वही अग्निहोत्रादि कर्म का विधान जब अन्य शाखाओं में

भी मिलता है, उसे हम भिन्न कर्म कहें या एक ही मानें। पूर्वपक्षी कहता है कि काठक-कालाप आदि नामवाली शाखाओं के नाम से वह-वह कर्म 'काठक अग्निहोत्र' या 'कालापक अग्निहोत्र' कहलायेगा सो भिन्न ही होगा। शवरस्वामी के शब्दों में पूर्वपक्षी कहता है—

'भिद्येतेति पश्यामः। कुतः? नामभेदाद् एकं काठकं नाम, अन्यत् कालापकं नाम। एवं नामभेदाद् भेदः।'

इसका उत्तर सिद्धान्त पक्ष का सूत्र मीमांसा अध्याय २ पाद ४। सूत्र ९ है—'एकं वा संयोगरूपचोदनाख्यविशेषात्' अर्थात् संयोग-रूप-विधान-नामधेय, ये सब विशेष न होने से एक ही कर्म कहलायेगा। सिद्धान्त पक्ष का चौथा सूत्र है 'कृतकं चाभिधानम्' (मी० अ० २। पाद ४। सू० १२) इसका अर्थ यह है कि नाम (काठकादि) कृतक है (बनाया गया है, नित्य नहीं है) इस सूत्र पर जो-जो भाष्यादि मिलता है सो हम उपस्थित करते हैं, साथ में उसका भावार्थ भी दे रहे हैं। पाठक धैर्य से पढ़ें।

(२) शबर-भाष्य पृ० ६३७—

'इदानींतनं चैतदभिधानं भवेत्। अस्य न पूर्वमासीत्। यतः प्रभृति कठस्य प्रकृष्टं वचनं ततः प्रभृति प्रवृत्तम्। पूर्वं नासीद् भेद इदानीं भेद इति विरुद्धम्॥'

अर्थात् ये नाम सदा से नहीं, कृतक हैं, आज-कल के हैं। पहिले ये नाम नहीं थे। जब से कठ ऋषि ने प्रवचन किया (पढ़ाया), तब से ये शाखा कठादि नामों से कही जाने लगीं। इनमें पहिले भेद नहीं था, अब है, जो ठीक नहीं।

(३) रामेश्वर सूरि विरचित सुबोधिनीवृत्ति, पृ० ७६—

'इतोऽपि न संज्ञया कर्मभेदः। कृतेति। कृतकम् अनित्यम्। अभिधानं काठकादिसंज्ञा। यदा कठेन प्रवचनं कृतं तदारभ्य प्रवृत्ता संज्ञा, तत्पूर्वं भेदकसंज्ञाभावादेकं कर्म पश्चाद् भिन्नमिति स्यादिति भावः ॥१२॥'

यह लेख ऊपरवाले लेख से भी अधिक स्पष्ट है कि जब कठादि ने प्रवचन किया तब से यह नाम चला, अतः ये अनित्य हैं।

(४) कुमारिल भट्ट-तन्त्रवार्तिक मी० २।४।१२ पृ० ६३७ आनन्दाश्रम सं० -

'कृत्रिमं काठकाद्युक्तमाख्याप्रवचनादिति ।
न वाऽनादीनि भिद्यन्ते कर्माण्यादिमता सहा ॥

यद्यपि काठकादेर्जातेर्नित्यत्वान्नित्यैवाऽऽख्या तथापि प्रवचननिमित्तेयं स्मर्यते न च कर्माणि प्रोच्यन्ते । शब्दविषयत्वात् प्रवचनस्य । तस्मादपि न संज्ञया कर्मभेदः ॥'

(५) भट्ट सोमेश्वर कृता तन्त्रवार्तिक टीका न्याय सुधा पृ० ९८७ मी० २।४।१२—

'यथा भाष्यं तावत् सूत्रं व्याचष्टे । कृत्रिममिति । कठस्य वैशम्पायनान्तवासित्वात् कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्चेति तेन प्रोक्तमित्यस्मिन्नर्थे पाणिनिप्रत्ययस्मृतेस्तस्य कठचरकाल्लुगिति लुक्स्मृतेः कठेन प्रोक्तं याऽधीते स कठ इति स्थिते तस्येदमित्यस्मिन्नर्थे काठकशब्दव्युत्पत्त्यवगमादाख्येति वेदाधिकरणसूत्रे काठकाद्यभिधाने पुरुषविशेषप्रवचनकृतमित्युक्तं ततश्चादिमत्ता सताभिधाननानादीनि कर्माणि न भिद्यन्त इत्यर्थः । 'ननु यथा······माशङ्क्य' स्वयं—प्रवचनकृतत्वात् काठकाद्यभिधानस्याकर्मणश्चाप्रवाच्यत्वात् न ····· ।

॥यद्यपीति॥ नाम्नो भेदकत्वायोगमुपसंहरतीति ॥तस्मादपीति॥ कठप्रोक्ताध्येतृसम्बन्धनिमित्तत्वात् प्रवचननिमित्तत्वेऽपि पूर्वोक्तन्यायात् कर्मविषयत्वासम्भवसूचनार्थोऽपि शब्दः ॥१२॥

(६) अध्वरमीमांसा कुतूहलवृत्तौ मी० २।४।१२

पृ० २३६—

'कृतकं चाभिधानम् ॥१२॥

च शब्द उक्तसमुच्चये । 'तेन प्रोक्तम्' इति तद्धितप्रत्ययान्तकाठकादिनामधेयं प्रवचननिमित्तत्वात् कृतकम् इदानींतनम् । कर्माणि त्वनादिसिद्धत्वादनादीनि । न हि तानीदानींतनसंज्ञावशाद् भेदमर्हन्ति । न हि प्रवचनात् प्राङ् न भेदः पश्चाद् भेद इति युज्यते । तस्मादपि न काठकादिनाम्ना कर्मभेदः ॥'

(७) मीमांसा कौस्तुभ (श्री खण्डदेव विरचितः) —पृ० ११९—

'सू—कृतकं चाभिधानम्' ॥१२॥

पूर्वपक्ष्युक्तरीत्या काठकादिपदस्य वैशम्पायनान्तेवासिपुरुषविशेषवाचिकठशब्दघटितत्वात् तस्य च सादित्वेन समाख्या अपि तत्त्वापत्तेः । तादृश्या च तया न अनादिवाक्यविहितकर्मभेदोपपत्तिः ॥

वस्तुतस्तु—अवध्यस्मरणात् वैशम्पायनान्तेवासिपुरुषविशेषस्य प्रवाहानादित्वमभ्युपगम्य संज्ञाया अनादित्वम् ॥'

यहां खण्डदेव ने यद्यपि डरते-डरते कहा कि इन शाखाओं की प्रवाहनित्यता मानते थे। पर प्रवाहनित्यता कैसी हास्यास्पद है, सो विचारें—

देहरादून में एक आर्य सज्जन बा० गुरुचरणदासजी हैं। वह कहा करते हैं जैसे आप मोतीझील में बैठे दक्षिण को मुख किये ट्रंक के साथ सिरहाना डालकर नीले रंग की काली पेंसिल से १९ नवम्बर ११ बजे दिन में यह पंक्तियां लिख रहे हैं, ऐसे ही पूर्व जन्म में लिखते थे और अगले जन्म में भी लिखेंगे और उसी प्रकार गेहूं की रोटी परवल के शाक से लकड़ी के पटरे पर बैठ कर कांसे की थाली में खायेंगे। मेरी स्त्री पूर्व जन्म में यही थी, इतने ही बच्चे यही नामवाले पहिले जन्म में थे और आगे भी होंगे। 'यथापूर्वमकल्पयत्' का कैसा वढ़िया अर्थ यह समझे हैं, स्त्री सदा स्त्री ही रहेगी। वाह महाराज! वलिहारी है इस कल्पना की। सो यह निराधार ही शास्त्र के सर्वथा विपरीत प्रलाप है, ऐसा ही कहना पड़ता है।

मीमांसा के इन जैमिनि मुनि के सूत्र तथा उनके ६ छः टीकाकारों का सवका एक ही अभिप्राय है कि काठक कालापक पैप्पलादादि शाखायें उन-उन ऋषि द्वारा प्रवचन की गईं=प्रोक्त (रची गईं) हैं और ये अनित्य हैं। इनके नाम उनके प्रवचन के पश्चात् ही चले। इस विषय में सभी मीमांसक एक मत हैं। यह सारा प्रकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि के 'तेन प्रोक्तम्' के हमारे दर्शाये उपरिनिर्दिष्ट लेख से सर्वथा मिलता है। दोनों ऋषियों का शाखाओं के विषय में एक ही मत है। महाभाष्य-कार ने तो स्पष्ट ही इनकी आनुपूर्वी को भी अनित्य कहा।

ऐसी अवस्था में शाखाग्रन्थों की आनुपूर्वी अनित्य होने से, इनको वेद माननेवाले सनातनधर्मी वेद को मनुष्यकृत मानते हैं, ऐसा कहना पड़ता है, यह मानना पड़ता है। जिसे वे मानने को तय्यार नहीं हो सकते। वे वेद को तो नित्य मानते हैं पर इस उलझन से बचने का उनके पास क्या उपाय हो सकता है, सो वे जानें। यदि वे वेद को मनुष्यकृत मानते हैं, तो फिर सीधी स्पष्ट उन्हें घोषणा कर देनी चाहिये ताकि जनता तो भ्रम में न रहे। जनता फिर नये 'सत्य सनातनधर्म' की स्थापना करेगी।

इस विचार पर बहुत धैर्य और गम्भीरता से विचार करना पड़ेगा। किसी को बुरा भला कह देने मात्र से तो काम चलने का नहीं, क्यों नहीं सनातनधर्मी विद्वान् आर्यसमाज के साथ मिलकर इस पर परामर्श कर लेते। वेद के नित्यत्व पर जब दोनों सहमत हैं तो बीच की विषमता क्यों बनी रहे।

हम हृदय से चाहते हैं कि वेद में निष्ठावान् सनातनधर्मी भाई और आर्यसमाजी मिलकर इस विषय पर विचार करें तभी वर्तमान समय में वेद शास्त्र की पूछ जनता में होगी, नहीं तो भारत स्वतन्त्र होने से नास्तिकता, धर्म के प्रति घृणा, भारतीय संस्कृति की उपेक्षा, प्रच्छन्न बौद्ध मत का प्रचार सरकार की ओर से हो रहा है। गोवध का वचन देकर भी वर्तमान सरकार भारतीय जनता को आंखें दिखाना चाहती है कि चुप रहो। भ्रष्टाचार धर्म की भावना से ही दूर हो सकेगा। हम पर सेक्यूलर की तलवार सदा तय्यार खड़ी रहती है। ये सब आर्य-समाज और सनातन धर्म के विचारने के सांझे विषय हैं, नहीं तो याद रखो कभी किसी का पक्ष, कभी किसी का पक्ष लेकर दोनों कोप ङ्गु बना दिया जायेगा। समय को पहिचानना ही बुद्धिमत्ता है।

अन्त में आर्यसमाज के प्रति मेरा यह कहना है – आर्यसमाज को ऐसे वेदसम्मेलनों की गम्भीर योजना बनानी चाहिये, जो प्रदर्शनमात्र न रह कर १०-२० दिन हों और विचारणीय विषय की पहिले ही सूचना और विषयों के संक्षेप सब विद्वानों के पास विचारार्थ भेजे जावें ताकि वे घर से उन विषयों पर विचार कर पहुंचें, तत्काल हाथ उठाये न पहुंचें। इस में आर्यसमाज के विद्वानों का सम्मेलन पहिले २-३ बार हो और सर्व-सम्मत होकर पीछे विदेशीय स्कालरों तथा उनके अनुगामी भारतीय विद्वानों के साथ प्रेमपूर्वक विचार किया जाये। जैसा कि आर्यसमाज के वयोवृद्ध नेता श्री पं० गङ्गाप्रसाद जी एम० ए० चीफ जज बहुत दिनों से कह रहे हैं। उक्त सम्मेलनों में आर्यसमाज के नेता भी बुलाये जायें और एक सर्वसम्मत धारणा निश्चित की जावे। आशा है इस पर उचित और समय पर ध्यान दिया जावेगा।

[वेदवाणी, वर्ष ११, अङ्क १, २]

वेद का अनुसन्धान

तीन दिन पूर्व १७ अक्तूबर १९६० को वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के किसी कार्य से वहां जाने का अवसर हुआ। वहां विद्वद्वर्य महामहोपाध्याय श्री पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी से अकस्मात् भेंट हुई। उन्होंने कहा कि—'अभी विद्वद्गोष्ठी में वेदविषय पर एक निबन्ध पढ़ा जानेवाला है, आप भी आइये।' मैंने कहा कि ठीक है, मैं यहां के कार्य से निवृत्त होकर आता हूं। इस कार्य में कुछ समय लग जाने के कारण मैं उक्त वेदगोष्ठी में विलम्ब से पहुंच पाया। महामहोपाध्याय जी उस सभा के सभापति थे। निबन्ध लगभग आधा पढ़ा जा चुका था, जिससे मुझे खेद ही रहा। आरम्भ से सुन पाता तो मुझे अधिक हर्ष होता।

लगभग आधे निबन्ध को मैंने ध्यान से सुना। विषय था—'वेद में विज्ञान'—जो मुझे स्वभावतः अत्यन्त अभीष्ट वा प्रिय था। उसमें अग्नि, विष्णु, रुद्र आदि वैदिक शब्दों के निर्वचन ही निर्वचन दर्शाये गये, सो भी प्रायः अपनी कल्पना से, प्राचीनों के आधार पर नहीं। अन्त में किसी-किसी शब्द पर दर्शाये निर्वचन के आधार पर, 'इसमें बड़ा रहस्य है' 'बड़ा विज्ञान है' यह टेक दर्शायी गयी थी। 'वेद में विज्ञान' का नाम सुनकर ही प्रत्येक भारतीय को एक अपूर्व प्रसन्नता वा उत्सुकता होने लगती है। हम लोगों को तो और भी उल्लास का अनुभव होने लगता है। बहुत ही अच्छा होता यदि मैं आरम्भ से ही उस लेख को सुन पाता। गोष्ठी के ठीक समय का ज्ञान न था। अकस्मात् ही मैं वहां पहुंच गया था। पहिले से पता होता तो मन से तय्यार होकर जाता। जितना भी मैंने सुना, उसमें मुझे बहुत कम उपयोगी अंश प्रतीत हुआ। सम्भव है पूर्वार्द्ध में अधिक उपयोगी अंश रहा हो। मैं प्रतीक्षा करूंगा कि यह लेख छप जावे और पढ़ने वा विचार करने को मिले, तब कुछ लिखा जावे।

यह लेख वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में अनुसन्धान कार्य करने वाले एक सुयोग्य विद्वान् द्वारा लिखा गया और उपस्थित किया गया

था। जहां तक परिश्रम वा विषय की दुरूहता वा उपयोगिता का सम्बन्ध है, लेखक का उद्योग प्रशंसनीय है। पर निर्वचनों के आधार पर अर्थ की प्रक्रिया का सिद्धान्त यदि दृढ़ प्रमाणों द्वारा उपस्थित किया जाता, निर्वचन चाहे थोड़े से ही दर्शाये गये होते, तो अधिक अच्छा होता। थोड़े निर्वचन प्रौढ़तापूर्वक दर्शाये जाते, जिनसे हर किसी को मानना पड़े कि हां निर्वचन के आधार पर अर्थ की प्रक्रिया वेदार्थ के लिये अनिवार्य और अत्यन्त उपयोगी वा लाभप्रद है, तो बहुत अच्छा होता। अब पूरा लेख छप जाने पर ही इस विषय का विवेचन करना उचित वा लाभकर होगा।

निबन्ध के अन्त में एक विद्वान् ने कुछ आलोचनारूप में कहा। काशी के अनेक बड़े-बड़े विद्वान् बैठे थे, जिनका मेरे साथ प्रेम-परिचय पर्याप्त है, वे प्रेमवश मुझे प्रेरणा करने लगे कि मैं कुछ बोलूं। 'वेद में विज्ञान' मेरे लिये प्रिय विषय था, पर अधूरी बात सुनकर बोलना मैंने उचित न समझा, चाहते हुए भी मैं नहीं बोला। मैं इसलिये भी नहीं बोला कि देखना तो चाहिये इस विषय पर काशी के विद्वान् क्या बोलते हैं। बोलने से सुनना अच्छा होगा, ऐसा मन में निश्चय किया। तत्पश्चात् ३-४ विद्वान् कुछ बोले। एक-दो विद्वानों ने तो कुछ अच्छे ढङ्ग से आलोचना की। शेष तो ऐसा बोले जैसे एक वेद का दर्शन भी न किया हुआ व्यक्ति बोलता है।

एक महानुभाव, जो काशी के बड़े योग्य विद्वान् समझे जाते हैं, तो विचित्र ही बोले—'वेद में विज्ञान है वा नहीं, यह सब तो एक प्रकार का अध्यास है, अध्यास मिथ्या में ही होता है। हमें इसमें पड़ने की आवश्यकता ही नहीं है' इत्यादि, इसी भाव का वह कथन था, जिसे सुनकर मैं तो एक दम आश्चर्यचकित हो गया। मेरे सामने ऐसा चित्र सा आने लगा कि पहिले तो यहां काशी में लगभग १५००० छात्र परीक्षा देते हैं, जिनमें १४००० तो व्याकरण के ही छात्र होंगे १००० में अन्य सब विषयों के होंगे। लगभग १००-१२५ परीक्षार्थी वेद विषय में सब होंगे। प्रति वर्ष अधिक-से-अधिक १-२ आचार्य वेदविषय में बनते होंगे। जो है उनकी विद्वत्ता का हाल कहां तक है, वा काशी में किसी विषय की प्रौढ़ता-विज्ञता का इस समय क्या हाल है, सो पाठक सुनें। कुछ वर्षों की बात है कि निरुक्त पढ़ाने के लिये संस्कृत ग० कालेज

बनारस (वर्त्तमान संस्कृत विश्वविद्यालय) में एक अध्यापक की आवश्यकता होने पर विज्ञप्ति निकाली गई, तो लगभग ३०० विद्वानों ने प्रार्थना पत्र दिये। साक्षात्कार समिति (इण्टरव्यू कमेटी) में पण्डित लोग आये। कमीशन के एक विशेषज्ञ सदस्य ने काशी के एक पण्डित जी से पूछा—'कहिये पण्डितजी! आप निरुक्त पढ़ा सकेंगे?' पण्डितजी—'हां मैं पढ़ा सकता हूं।' विशेषज्ञ सदस्य—'पण्डितजी! आपने निरुक्त कभी पढ़ाया है?' पण्डितजी—'पढ़ाया तो नहीं है।' सदस्य—'क्या कभी पढ़ा है?' पण्डितजी—'पढ़ा भी नहीं है।' सदस्य—'अच्छा पण्डित जी! आपने निरुक्त ग्रन्थ कभी देखा भी है कि कितना मोटा या पतला है?' पण्डितजी (जो बड़े सच्चे सरल स्वभाव के थे) कहने लगे—'देखा भी नहीं है।'

पाठक विचार करें कि यह कितनी विडम्बना है। जिस ग्रन्थ को देखा भी नहीं, उसको कहना कि पढ़ा सकता हूं या पढ़ाने का उत्तरदायित्व लेना और देना कितना पाप है। यह काशी में होता रहा, अब भी हो रहा है। आप किसी भी पण्डितजी के पास कोई भी पुस्तक लेकर जावें कि पढ़ना चाहता हूं, तो काशी का पण्डित तीन काल में भी नहीं कहेगा कि मैं यह पुस्तक नहीं पढ़ा सकता। विद्यार्थी की जान मारेगा। जब छात्र कहेगा कि गुरुजी! इसको पुनः समझा दें, समझ में आया नहीं, तो पहिले तो आग बगूला होकर पुस्तक पटक देगा कि 'जा तू पात्र नहीं, गुरु पर तेरी आस्था नहीं है। बिना श्रद्धा और सेवा के कुछ नहीं आता।' यदि क्रोध न हुआ तो कह देगा, 'तेरी बुद्धि अभी निर्बल है। कई बार पढ़ने से समझ में आवेगा।' छात्र बेचारा चुप रह जाता है। करे भी तो क्या करे। झक मार कर जो ३-४ मास में समझा जा सकता है, वह तीन-चार वर्ष में भी नहीं हो पाता। हो भी कैसे, गुरुजी ने तो चेला बनना न हुआ। अर्थात् किसी योग्य विद्वान् के पास जाकर पढ़ना भी न हुआ, उसमें अपकीर्ति होती है कि इनको कुछ नहीं आता या अयोग्य हैं। काशी की इस परम्परा का हमें व्यक्तिगत रूप से भी अनुभव सन् १९२५ ई० से अर्थात् लगभग ३५ वर्ष का है। सुनी सुनाई बात हम नहीं लिख रहे हैं। स्वयं भुक्तभोगी हैं।

तात्पर्य कहने का यह है कि वर्त्तमान विद्वानों (कुछ एक विद्यारसिकों को छोड़कर) के सामने वेदसम्बन्धी विचार उपस्थित किया

जावे तो वह उस पर कहां तक और क्या ऊहापोह कर सकते हैं। हां, उनके अपने विषय पर, वह भी उनके अपने ढंग से हो तो कुछ सम्भव भी है। कुछ इस लिए कि अनुसन्धान के ढंग का तो पता नहीं। उन ग्रन्थों का प्रौढ़ ज्ञान हो तो भले ही कुछ लाभ हो सकता है। काशी में तो विद्वान् बनता ही ऐसे है कि किसी भी ग्रन्थ को (जितना कि वह परीक्षा में है) वर्ष भर में कई वार पाठ पढ़ा दे, स्वयं प्रयत्न करने पर नहीं। उक्त विषय की प्रौढ़ता तो स्वयं अनुशीलन करने पर ही होती है। यह भी विदित रहे कि उक्त गोष्ठी के अन्त में संस्कृत विश्वविद्यालय के सुयोग्य वाइस चांसलर महोदय का संस्कृत में बहुत उपयोगी विद्वत्तापूर्ण और सारगर्भित भाषण हुआ, जिसमें वह गोष्ठी सार्थक प्रतीत हुई।

'वेद में विज्ञान' विषय पर ऊहापोह करने के लिये उपस्थित विद्वानों (जिनमें कई एक के प्रति अपने विषय के प्रौढ़ विद्वान् होने के नाते हमें गहरा सम्मान और आदर है) को देखकर मुझे तो गहरी निराशा हो रही थी कि जो किसी का विषय नहीं, उस पर विचार-विनिमय कैसे हो। इसी चक्रव्यूह में मन फंसा था कि 'अध्यास की बात सुनकर तो रही-सही आशा भी विलुप्त होने लगी। काशी में नवीन वेदान्त का इतना प्रसार है कि जहां कङ्कर वहां शङ्कर। काशी की एक-एक गली में विद्वान् समझा जानेवाला व्यक्ति जगन्मिथ्या वा अध्यास के चक्र में हैं। कुछ तो वास्तव में हैं, जो इस भ्रमजाल में फंसे हैं, कुछ केवल दिखाने के लिये अध्यासी (अभ्यासी नहीं) वन रहे हैं। हमें समझ में नहीं आता कि यह अध्यास लौकिक सभी व्यवहारों में रत व्यक्तियों को भी अपना स्वरूप क्यों नहीं दर्शा पाता। इसमें कुछ तत्त्व होता तो ऐसी बातों से तो उपरति हो ही गई होती। हम समझते हैं,आत्मा में अध्यास ठीक जमा नहीं। लोगों में कीर्ति के लिये ही अध्यास का आश्रय लिया जाता है।

विचारणीय तो यह है कि ऐसी विद्वद्गोष्ठियों से क्या लाभ हो सकता है, जैसी कि चल रही हैं। हां, यदि इनसे जिज्ञासा उत्पन्न हो जाये और विद्वान् कहे जानेवाले सज्जन उन विषयों की जानकारी वा स्वाध्याय आदि में तत्पर होने लगें, तब तो कुछ लाभ भी है, चाहे वह देरी में हो।

वेदविषय की कुछ प्रारम्भिक और मौलिक धारणायें हैं, परम्परायें

है, जिन पर पहिले गम्भीरता से विचार कर लेना होगा, जिसमें वेद का अपौरुषेयवाद सर्वप्रथम विषय है। इस पर गम्भीरता-उदारता-निष्पक्षपात से विचारने की आवश्यकता है। गतवर्ष श्री करपात्री जी महाराज ने काशी में वेदसम्मेलन की योजना १५-२० दिन के लिये रखी। विचार बहुत ही अच्छा था। इमसे महान् लाभ की आशा की गई थी। पर वह भी अन्त में एक प्रदर्शनमात्र ही बन कर रह गया। उस में भी कई लोगों के मत में कुछ राजनीति प्रधान रही। दाक्षिणात्यों की प्रधानता से अन्य पारियां (सरजूपारी-गङ्गापारी-यमुनापारी) का सहयोग नहीं प्राप्त हो सका, जितना होना चाहिये था वा हो सकता था। वेद की सब शाखाओं के विद्वान् बुलाये गये थे, यह बहुत प्रशंसा की बात थी। कानपुर में दो वर्ष पहिले इसका प्रथम अधिवेशन होने पर एक विद्वान् ने 'वेद का स्वरूप' विषय विचारार्थ उपस्थित होने पर बहुत ही स्पष्ट शब्दों में (क्योंकि वह हृदय से ऐसा ही मानते थे) कहा कि 'वेद' तो 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' नहीं, अपितु ब्राह्मण ही वेद हैं, संहिताभाग जो कहलाते हैं, उनका तो गौण वेदत्व है। इन पंक्तियों के लेखक ने वहां और काशी में 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' का खण्डन किया था। सनातन धर्म वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानता है, अपौरुषेय वेद को मानता है। सो यदि वेद ऋषियों की कृति अर्थात् ऋषियों के बनाये माने जावें तो वेद अपौरुषेय तो रह नहीं सकता।

वेद अपौरुषेय भी कहते जाना और ऋषियों के बनाए भी कहते जाना, यह तो परस्पर विरुद्ध दो अलग-अलग सिद्धान्त हैं। उक्त पण्डित जी ने जब 'ब्राह्मण ही वेद हैं' ऐसा प्रबलता से कहा तो सनातन धर्म के गम्भीर विद्वानों ने उनकी इस बात को स्वीकार नहीं किया, जिससे हमें स्वभावतः प्रसन्नता हुई कि चलो वेद अपौरुषेय विषय में तो सनातनधर्म और आर्यसमाज एकमत रहे, जैसे गोरक्षा के विषय में। पर काशीवाले वेदसम्मेलन में हमारी वह प्रसन्नता विलुप्त हो गई। जब श्रीकरपात्रीजी की ओर से आर्यसमाज के प्रतिनिधि द्वारा वेद के अपौरुषेयवाद का प्रतिपादन करते हुए ब्राह्मण ऋषिकृत हैं, वेदसंहिता नहीं, इसका प्रतिपादन करते हुए वेदसंहिता भी ऋषिकृत हैं, सनातनधर्म की ओर से इस पक्ष की स्थापना की गई, जिसे सनातनधर्म नहीं मानता, तब हमें आश्चर्य और दुःख हुआ। केवल आर्यसमाज के पक्ष का खण्डन करने के

लिये उन्हीं (उनके विद्वानों) ने उस समय वेदसंहिताओं को ऋषिकृत मान लिया, जो उनके अपने सनातनधर्म के सिद्धान्त से भी विरुद्ध है।

यह हम इसलिए लिख रहे हैं कि 'वेद ऋषिकृत हैं या नहीं' इस विषय पर आर्यसमाज और सनातनधर्म दोनों प्रेमपूर्वक मिलकर विचार करें, एक दूसरे के सहयोग द्वारा विरोधियों का मुंह बन्द करने के लिये नहीं, अपितु उनके हृदय में बिठा देने के लिये कि 'वेद का अपौरुषेयवाद' भारत का एक प्राचीन-परम्परागत-मुख्यवाद है, जिस पर भारतीय संस्कृति का आधार है।

समस्त शास्त्रों का अनुशीलन करके जो स्थल सन्दिग्ध वा विचारणीय रह जावें, उन पर आगे विचार होता रहे। यह है अनुसन्धान, जिस पर सबको गम्भीरता और तत्परता से लगने की आवश्यकता है।

जहां तक वेदसम्मेलन के आकार-प्रकार का बात है, श्री करपात्री जी ने एक आदर्श स्थापित किया है। सब प्रान्तों से योग्य विद्वानों को सम्मानपूर्वक आमन्त्रित कर उन्हें आने-जाने के मार्गव्यय देने के अतिरिक्त ठहरने भोजनादि की सन्तोषजनक पूरी व्यवस्था की थी। पूर्वपक्ष के विचारवालों को भी आदरपूर्वक मार्गव्यय दिया गया। हां, उनके साथ विचार करने में कुछ पक्षपात अवश्य हुआ और उत्सव की सफलता वा रोचकता का भाव न रहता तो बहुत लाभ होता। लोगों पर यह प्रभाव पड़ा कि यह तो एक प्रदर्शनमात्र ही रह गया। वाह-वाह ही प्रधान रही। ठोस कार्य बहुत ही कम हुआ। श्री करपात्री जी चाहें तो इसका स्वरूप सुन्दर बना सकते हैं। वेदसम्मेलन का उपक्रम बहुत अच्छा था। उपसंहार में कमी रही, यह हमारा विचार है।

अब रही आर्यसमाज की बात! सो भी सुनिये! आर्यसमाज के स्थानीय कार्यकर्त्ताओं को अपनी समाज की प्रगति जनता के सामने रखनी होती है, क्योंकि जनता से चन्दा लेना होता है, अतः वार्षिक उत्सव करना ही पड़ता है। इनको बुला लिया, उनको बुला लिया, चाहे पीछे ५-५ वा ७-७ मिनट ही समय दूर-दूर से आनेवाले विद्वानों को मिले। इसके लिये इन्होंने एक नया ढंग निकाला है कि भिन्न-भिन्न रुचिवालों को प्रसन्न करने के लिये भिन्न-भिन्न नामों से सम्मेलन रख दिये। जैसे व्यापारी वा वैद्य अपनी औषधियों के विज्ञापन आकर्षक ढंग से छापते हैं। इसी प्रकार इन सम्मेलनों की योजना आर्यसमाज में चल

गई है। उन सम्मेलनों में बोलने के लिये किसी विशेष विद्वत्ता की आवश्यकता ही नहीं होती। बोलने की कला थोड़ी बहुत आती हो तो भी काम चल जाता है। बस दो घण्टे का सम्मेलन रख दिया, २० मिनट सम्मेलन के सभापति को, शेष १०० मिनट में ६ वक्ता और ८ उपवक्ता —१४ व्यक्तियों को अपनी भाषण करने की खुजली मिटाने का अवसर मिल जाता है। अखबारों में छप जाता है। नहीं तो १५-२० दिन का समय रखा जावे। सब अपने मौलिक-सुविचारित वक्तव्य किसी एक विषय पर लिखकर लावें। उस पर प्रेमपूर्वक आलोचना-प्रत्यालोचना होकर वह छपे। आगे उस विषय पर पुनः अन्तिम निर्णय करके छाप दिया जावे। यह सब तो परिश्रम और गम्भीर अध्ययन साध्य है। कौन इसमें पड़े। वेदसम्मेलन का नाम सुनकर आर्यजनता बड़ी-बड़ी आशायें लेकर आती है कि हमें वेदविषय में कुछ आगे नई सामग्री मिलेगी, जिस को समझनेवाले भी अत्यल्प ही होते हैं। वेद के नाम पर जनता इकट्ठी हो जाती है। मथुरा में अपार भीड़ हुई। विद्वान् समझे जानेवाले वक्ता (चाहे संस्कृत वा वेद का एक अक्षर भी न जानते हों, अधिकारी होने के नाते) हर कोई बोलने के लिये आ खड़ा होता है। व्यवस्था पहिले निर्धारित न होने के कारण विद्वान् भी क्या करें, हाथ हिलाते हुए बिना पहिले कुछ विचारे सभापति के पास आ उपस्थित होते हैं। कुछ बोलना है, कुछ तो बोल ही देते हैं। आर्यसमाज में वेदसम्मेलन के नाम से वा वेद के नाम पर यह विडम्बना कब तक चलती रहेगी, कब समाप्त होगी, विचारने की बात है।

सनातन धर्म तो एक चूं-चूं का मुरब्बा है जिसमें महीधर जैसे वामी भी खप जाते हैं। नवीन वेदान्त के पचड़े ने जनता की विचारशक्ति का लोप कर दिया है। बड़े-बड़े विद्वान् गोते खा रहे हैं। श्री करपात्रीजी जैसे विद्वान्—गम्भीर विचारक हृदय में यथार्थ समझते हुए भी वही लकीर क्यों पीटते चले जा रहे हैं। वह सब बातों को वा सब ग्रन्थों को सनातन धर्म मान चुके हैं। करें तो क्या करें। सब का पक्ष समर्थन करना हुआ। न करें तो सनातन धर्म नहीं रहता। समर्थन सबका हो नहीं सकता। सब को ठीक मान लिया जाना सम्भव नहीं, किसी न किसी को तो छोड़ना ही पड़ेगा। विद्वान् तो यदि सत्यपक्ष का ही अवलम्बन करेंगे तो संसार का हित हो सकता है। आर्यसमाज वेद पर यथार्थरूप में कार्य

करे तभी कुछ हो सकता है। सौभाग्य से ऋषि ने लगभग सभी आवश्यक विषयों पर विवेचनापूर्वक सिद्धान्त निश्चित कर दिये हैं। हमारी दृष्टि से वेद की शाखाओं का एक विषय ऐसा अवश्य है, जिस पर आर्यसमाज को गहरा अनुसन्धान वा गहरा अनुशीलन करना होगा। अन्य विषय तो प्रायः निर्णीत से ही हैं, जिन पर ऋषि दयानन्द ने शास्त्रों के आधार पर बहुत कुछ निर्धारित कर दिया है, चाहे वे संक्षेप में हैं। इस पर आगे भी अनुसन्धान होना चाहिए। आर्यसमाज द्वारा जो अनुसन्धान हो सकता है, वह होना चाहिए। उसका बड़ा भारी महत्त्व है। वह एक सुदृढ़ नींव पर आधारित होने से वेद की गहराई तक पहुंचनेवाला है, वर्त्तमान सनातन धर्म में यह बात नहीं। अध्यास में कुछ रहता ही नहीं।

अनुसन्धान और वह भी वेद का अनुसन्धान — इतना आकर्षक है कि इस नाम से अनेकों चतुर व्यक्ति जनता की आंखों में धूल डालकर अपनी-अपनी दुकानें चलाने में लग जाते हैं और जनता की अल्पज्ञता वा अज्ञता का दुरुपयोग कर वास्तविक अनुसन्धान करनेवालों का मार्ग भी अवरुद्ध कर देते हैं। जो अधिक जोर-जोर से चिल्लाता है, सच-झूठ सब से काम लेनेवाला होता है, जनता उसी के चक्र में फंस जाती है और बड़े सौभाग्य से ही छूट पाती है। अन्यत्र तो है ही, आर्यसमाज में भी ऐसे लोगों की दाल गलती देखी जाती है। अच्छे-अच्छे समझदार लोग भी ऐसे व्यक्तियों से डरकर न्यायपथ से विचलित होते देखे जाते हैं, जिससे कालान्तर में समाज को भारी धक्का लगता है।

अनुसन्धान का ढङ्ग आर्यसमाज की बड़ी-बड़ी संस्थाओं तक में भी नाममात्र को ही है। आर्यसमाज की दृष्टि से गम्भीर अध्ययन इसके लिये अनिवार्य है। इसकी व्यवस्था बने तो काम चले। प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी है, ऐसा समझनेवाले गम्भीर अध्ययन कर नहीं सकते। उधर गम्भीर अध्ययन-युक्त वेद के अनुसन्धान का कोई कार्य सौभाग्य से कहीं आरम्भ भी होने लगता है तो टांग पकड़कर पीछे घसीटते हैं। उनको येन केन प्रकारेण नष्ट वा तारपीडो करने की पूरी चेष्टा की जाती है। एक लकीर (रेखा) खिंची है, उसे छोटा करने का तो उपाय सीधा है कि उसके पास बड़ी रेखा खींच दो (तुम अधिक अच्छा काम करके दिखाओ), वह अपने आप छोटी हो जायगी। पर नहीं यह नहीं करना, क्योंकि ऐसा करने में तो परिश्रम करना वा शक्ति लगानी पड़ती है।

इसलिये उस रेखा को मिटा देना ही परम लक्ष्य आजकल के विद्वान् समझे जानेवालों का देखा जाता है। यूरोपीय अनुसन्धान और उन पाश्चात्यों के मानसपुत्र भारतीय विद्वानों की रिसर्च के विषय में हम पुनः कभी अपने विचार उपस्थित करेंगे। जैसे सांस्कृतिक पुरोग्रामों (कार्यक्रमों) के नाम पर अनाचार-दुराचार का प्रचार हो रहा है, इसी प्रकार अनुसन्धान के नाम पर असत्य, सर्वथा झूठा कार्य-प्रदर्शनमात्र, स्वतन्त्र भारत के धन की लूट, चचा-भतीजों वा निजी परिवारवालों की पालनारूपी मिथ्या कार्य का प्रचार हो रहा है, जिस पर कहां तक लिखा जावे। विचारने से दुःख भी होता है।

यह सब छोड़कर हम तो आर्यसमाज के गम्भीर विचारकों वा नेताओं के समक्ष यह बात उपस्थित करते हैं कि वेद का सच्चा अनुसन्धान तो आर्यसमाज ही कर सकता है। उसे ही मथुरा-शताब्दी जैसे समारोहों द्वारा सच्चा अनुसन्धान करने-कराने की व्यवस्था करनी चाहिये। पक्षपात वा पार्टीबन्दी से ऐसे काम सफल कदापि नहीं हो सकते। वर्ष में दो वार आर्यसमाज ऋषि दयानन्द को आप्त माननेवाले आर्य विद्वानों को किसी एक वा दो स्थानों में १५-२० दिन के लिये इकट्ठा करे। पहिले सिद्धान्त-पक्ष वालों के निर्णय हो जावें। पीछे आर्यसमाज में पूर्वपक्ष मात्र उपस्थित करनेवालों (जिनकी संख्या भी पर्याप्त है) से भी १५-२० दिन का समय लगा कर बात की जावे। उसके पश्चात् अन्य भारतीय विद्वानों से भी विचार-विनिमय किया जावे, पीछे पाश्चात्यों से भी। पुस्तकालय बड़े-बड़े (उपयोगी आवश्यक पुस्तकों सहित) हों।

यह है 'वेद-अनुसन्धान' का एक प्रकार, जिस पर आर्यसमाज के नेता वा अधिकारी तथा आर्यविद्वान् विचार करें। इस विषय में आगे भी बहुत कुछ परस्पर मिलकर विचारा जा सकता है। आशा है हमारे इस लेख को उसी भावना से पढ़ा जायेगा, जिससे प्रेरित होकर हमने यह थोड़ा सा लिख दिया है। धियो यो नः प्रचोदयात्!!

[वेदवाणी, वर्ष १३, अङ्क १, २]

वेदार्थ की मूल भित्ति

लौकिक और वैदिक शब्दों का भेद

क्या कारण है कि प्रायः लोग वेदमन्त्रों के अर्थ में भ्रान्त होने लगते हैं। जिनका मन पक्षपातपूर्ण नहीं भी होता, तो भी जब उनके सामने अग्नि वायु आदि शब्द आते हैं, तो सर्वप्रथम उन को आग और हवा अर्थ ही प्रतीत होने लगता है। उनकी बुद्धि वहीं अटक जाती है, आगे जाती ही नहीं। 'अहि' और 'पर्वत' शब्द आने पर 'सांप' और 'पहाड़' ही अर्थ बुद्धि में आता है, दूसरा नहीं।

इसका मुख्य कारण यही होता है कि संस्कृत पढ़नेवालों के सामने अमरकोष, मेदिनी आदि लौकिक कोष ही होते हैं। उन्हें यह पता भी नहीं होता कि वैदिक शब्दों के लिये अलग 'वैदिक निघण्टु' यास्क मुनि का बनाया है, जिसकी व्याख्या 'निरुक्त' भी यास्क मुनि का बनाया है। जब अहि पर्वत आदि प्रचलित शब्द उनके सामने आते हैं, तो उन्हें तत्काल यही सूझता है कि इनका अर्थ संस्कृतसाहित्य में प्रचलित कोषों के आधार पर अहि=सांप, पर्वत=पहाड़ ही होगा। यदि उन्हें यह पता हो कि लौकिक और वैदिक संस्कृतसाहित्य कई अंशों में समान होता हुआ भी परस्पर भिन्न है, तो उन्हें ऐसी भूल न लगती।

लौकिक-वैदिक शब्दों के अर्थभेद

पाठक देखें वैदिक निघण्टु में अहि=मेघ का नाम है लौकिक संस्कृत वा लौकिक कोषों में अहि=सांप का नाम है। पर्वत=मेघ का नाम है वैदिक निघण्टु में, पर पर्वत=पहाड़ को कहते हैं लौकिक संस्कृत वा लौकिक कोषों में। सो जब वेद में अहि या पर्वत शब्द आयेगा तो पाठक को विचारना होगा कि मन्त्र में इन दोनों शब्दों का अर्थ सांप या पहाड़ न होकर मेघ है। तभी वह सत्य अर्थ तक पहुंच सकेगा।

कहने का तात्पर्य यही है कि लौकिक अमरकोष आदि के आधार पर वैदिक शब्दों का अर्थ कदापि नहीं हो सकता।

बड़े-बड़े विद्वान् भ्रान्ति में

इतनी सी बात, जो देखने में तो बहुत छोटी सी प्रतीत होती है, न जानकर या न समझ कर भारी भ्रम में बड़े-बड़े विद्वान् कहे जानेवाले वा समझे जानेवाले घोर अन्धकार में देखे जाते हैं। लौकिक संस्कृत-साहित्य वा लौकिक कोषों के आधार पर वैदिक शब्दों के अर्थ करने वाले सभी विद्वान् वा अविद्वान् भ्रान्ति के गड्ढे में नहीं गिरेंगे तो और कहां गिरेंगे।

इस विषय में हम अपनी कल्पना मात्र से ऐसा कहते हों, सो बात नहीं, हम इस विषय में एक ही उदाहरण उपस्थित करते हैं—

श्री पं० महेशचन्द्र जी न्यायरत्न कलकत्ता यूनिवर्सिटी के संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष थे। बड़े भारी पण्डित माने जाते थे। उनका लिखित शास्त्रार्थ महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी से हुआ था। जो 'भ्रान्ति-निवारण' के नाम से वैदिक यन्त्रालय अजमेर में छपा है। इसमें लिखा है—

"खैर ये तो साधारण बातें थीं, अब मैं भारी-भारी दोषों पर आता हूं। मन्त्रभाग के संस्कृतखण्ड में 'अग्निमीडे पुरोहितम्०' के भाष्य में स्वामी जी ने अग्नि शब्द से ईश्वर का ग्रहण किया है, जब कि प्रसिद्ध अर्थ अग्नि शब्द के सिवाय आग के दूसरे कोई नहीं ले सकता ..... ।"

पाठक देखें 'अग्निमीडे पुरोहितम्०' ऋग्वेद १।१।१ में पं० महेशचन्द्र जी न्यायरत्न के कथनानुसार अग्नि शब्द का अर्थ परमेश्वर नहीं हो सकता। हेतु वह क्या देते हैं कि 'प्रसिद्ध अर्थ अग्नि शब्द के सिवाय आग के दूसरे कोई नहीं ले सकता।' अर्थात् चूंकि संस्कृतसाहित्य वा लौकिक कोषों में अग्नि के अर्थ सिवाय आग के कुछ नहीं। जबकि निरुक्त (वैदिक निघण्टु की व्याख्या) में अग्नि का अर्थ 'अग्रणी' किया है, जिसका अर्थ है आगे ले जानेवाला। जब कि ऋग्वेद में—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
—ऋ० १।१६४।४६॥

इस मन्त्र में एक ही परमेश्वर के मित्र-वरुण-अग्नि-यम और मातरिश्वा आदि नाम कहे गये हैं। इतना ही नहीं कि स्वामी दयानन्द ने

अग्नि शब्द का अर्थ परमेश्वर किया है, सायणाचार्य से भी पूर्ववर्ती आत्मानन्द ने भी अस्यवामीय सूक्त की व्याख्या (पञ्जाब यूनिवर्सिटी मुद्रित) में लिखा है—

'एकैव परमात्मा सर्वदेवता इन्द्रं परेशमाहुः ·······मित्रं परेशमाहुः। वरुणं परेशमाहुः। ·· ····अग्निं परेशमाहुः।··· ··· ····गत्यर्था ज्ञानार्थाः।'—पृष्ठ ५०

इन्द्रादिशब्दा गुणयोगतो वा व्युत्पत्तितो वाऽपि परेशमाहुः।
विप्रास्तदेकं बहुधा वदन्ति प्राज्ञास्तु नानापि सदेकमाहुः॥
—पृष्ठ ५५

इनसे अधिक स्पष्ट क्या हो सकता है।

यजुर्वेद में भी—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रस्तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
—यजुर्वेद ३२।१॥

क्या इन प्रमाणों को कोई भी त्रिकाल में अन्यथा सिद्ध कर सकते हैं? क्या स्वामी दयानन्द सरस्वती से पहिले होनेवाले, नहीं-नहीं सायणाचार्य से भी पहिले होनेवाले व्याख्याकार आत्मानन्द का प्रमाण नहीं? आधुनिक सनातनधर्मी विद्वान् श्री भगवदाचार्यजी (अहमदाबाद) ने अपने साम-संस्कारभाष्य और यजुर्वेदभाष्य में 'अग्नि' से सर्वत्र परमात्मा का ग्रहण किया है।

हमारा कहना इतना ही है कि लौकिक संस्कृत वा लौकिक कोषों के आधार पर यह समझ लेना कि अग्नि शब्द का अर्थ सिवाय आग के दूसरा नहीं हो सकता, कितनी भारी भूल है। जो बड़े-बड़े विद्वानों की बुद्धि को भी भ्रान्त कर देती है। इतनी एक भ्रान्ति निकल जाने से ऋग्वेद में आये अग्नि शब्द, जो सबसे अधिक आया है, का यथार्थ अर्थ ज्ञात हो जाने से कितना महान् लाभ हो जाता है। केवल इतनी बात समझ लेने से ही कि अग्नि-मित्र-वरुण-रुद्र आदि नाम ब्रह्म के हैं, भारत की एक महान् विभूति महात्मा अरविन्द का वेदविषय में दृष्टिकोण ही बदल गया और उन्होंने लिखा कि दयानन्द की यह एक बड़ी भारी देन है। इतने में ही उनका ऋषित्व हो जाता है, और लोग चाहे मानें या न मानें।

पतञ्जलि और लौकिक-वैदिक भेद

इसीलिये महाभाष्यकार पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रारम्भ में लिखा—

केषां शब्दानां लौकिकानां वैदिकानां च ।
रक्षार्थं च वेदानामध्येयं व्याकरणम् ।

शब्द दो प्रकार के होते हैं, लौकिक और वैदिक । अर्थात् व्याकरण के नियम जो लौकिक शब्दों में लगते हैं सो ही वैदिक शब्दों में लगेंगे, सो बात नहीं । जैसे 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः··· ' में 'कर्णैः' लौकिक संस्कृत में बनता है, वैदिक में 'कर्णेभिः' भी होता है । इसके लिये पाणिनि मुनि ने 'बहुलं छन्दसि' सूत्र बनाया । सो यदि कोई यह समझ बैठे कि जो नियम लौकिक शब्दों में लगते हैं वही वैदिक शब्दों में भी अवश्य लगेंगे, तो उसका ऐसा समझना भारी भूल होगी । अतः लौकिक और वैदिक शब्दों के भेद को समझ लेना परमावश्यक है ।

इसके अतिरिक्त लौकिक और वैदिक शब्दों में यौगिक और योगरूढ़ का भेद भी समझ लेना परमावश्यक है । वेद में रूढ़ि का सर्वथा अभाव है । लौकिक शब्दों में रूढ़ियां हैं । व्याकरण शब्दों के प्रकृति प्रत्यय को बता देगा । जो अनवगत संस्कार (प्रकृति प्रत्यय) वाले शब्द हैं, उनका अर्थ प्रकरण और पूर्वापर सम्बन्ध से निर्धारित होगा । यह निर्वचन शास्त्र (निरुक्त) का मर्मस्थल है । जिसको न जानकर पाणिनि-पतञ्जलि और यास्क के निर्वचनों को बेहूदा-भद्दे और अनुपादेय कहने लगते हैं । अपनी थोड़ी-सी मौलिक भूल से सारा शास्त्र ही हेय दीखने लगता है । इसीलिए शास्त्र कहता है—**व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम् ।**

ऋषियों की बात को एकदम गलत मत कहो । गम्भीरता से उस पर विचार करो । व्याख्यान द्वारा उसकी यथार्थता को समझो ।

[—वेदवाणी, वर्ष १४, अङ्क १]

तमसो मा ज्योतिर्गमय !!

भारत के समस्त रोगों की अचूक औषध, ऋषिप्रणाली

देवस्य पश्य काव्यम् । न ममार न जीर्यति ॥

अथर्ववेद १०।८।३२॥

भावार्थ—अरे मानव ! महा (परम) देव प्रभु वा महापुरुष (ऋषि) की कृति-रचना को ही पढ़ो। तभी तुम नष्ट न होगे और न जीर्णशीर्ण ही !!!

भारतीय संस्कृति—आर्य-संस्कृति (हिन्दू-संस्कृति) का मूलाधार उस का साहित्य है। इस में भी भारतीय शास्त्र मुख्य है। प्राचीन प्रणाली का कुछ न कुछ आश्रय लेकर चलाये जानेवाले गुरुकुलों, विद्यालय, आधुनिक विश्वविद्यालयों वा विद्यापीठ आदि में समावर्त्तन वा कन्वोकेशन के अवसर पर जो उपदेश अन्त समय में स्नातक को दिया जाता है, वह प्रायः सर्वत्र तैत्तिरीयोपनिषद् के आधार पर ही दिया जाता है, जो निम्न प्रकार है—

'वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति—सत्य वद । धर्मं चर।……यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनो युक्ता अयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युर्यथा ते तत्र वर्त्तेरन्, तथा तत्र वर्त्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ।'

—तै० उ० ७।११।१।४॥

अर्थात्—वेद वा विद्या समाप्ति में आचार्य अपने अन्तेवासी (शिष्य) को निम्न प्रकार उपदेश करता है—'सत्य का व्यवहार करना। धर्म का आचरण करना।………यदि तुम्हें अपने जीवन में किसी समय संशय उत्पन्न होने लगे कि मुझे अमुक कार्य करना चाहिये या नहीं वा अमुक व्यवहार मेरे लिए कर्त्तव्य है या अकर्त्तव्य यह विचिकित्सा (संशय) उत्पन्न हो जावे, तब तुम ऐसा करना कि उस

विषय में जो ब्रह्मवित् (वेद के ज्ञाता-ब्रह्मज्ञानी)—विचारवान्—योगी—तपस्वी—निःस्वार्थी—धर्मपरायण हों। उक्त विषय में जैसे वे आचरण करें, तुमने भी उस विषय में वैसा ही आचरण करना। यही आदेश है, यही उपदेश है। यही वेद-शास्त्र की आज्ञा है। यही अनुशासन है। यही करने योग्य है, इसका ही तुम्हें पालन करना है।'

इससे सिद्ध है कि हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृति हमें मानवजीवन में सदैव शास्त्रों का आश्रय (सहारा) लेने का प्रबल उपदेश करती है। देश स्वतन्त्र हो गया है। भारतीयता से ही भारत जीवित रह सकता है। इसके बिना इसकी स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं, अर्थात् इसकी स्वतन्त्रता अपनी संस्कृति-साहित्य-सभ्यता के आधार पर ही सुरक्षित रह सकती है।

जब हम देश की वर्तमान अवस्था पर विचार करते हैं तो सहसा निराशा-सी होने लगती है। यह विचार उठता है कि इस पवित्र भूमि भारत में उत्पन्न हुए हमारे पूर्वज ऋषि-मुनियों की सुदीर्घ काल की सब तपस्या क्या व्यर्थ जायगी। अन्तरात्मा से ध्वनि उठती है कि नहीं। उनकी तपस्या तो व्यर्थ नहीं जा सकती, हां हमें धीरे-धीरे परिश्रम करना होगा। पुण्यभूमि इस भारत में उत्पन्न हुए वैशम्पायन-जैमिनि-पाणिनि-गौतम-कणाद जैसे मुनियों की तपस्या व्यर्थ नहीं जायेगी।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् इस समय हमारे देश का नैतिक पतन कहां तक हो चुका है, दूसरे शब्दों में भारत का रोग कहां तक बढ़ चुका है, रोग जान लेने पर अर्थात् निदान हो जाने पर ही चिकित्सा-उपाय सोचा जाना सम्भव है। अतः इस विषय पर कुछ प्रकाश डालना उपयुक्त होगा।

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत की स्थिति

देश हमें खण्ड-खण्ड प्राप्त हुआ। जैसे किसी शरीर को कोई चोर वा डाकू इतना आहत कर फेंक जावे कि वह किसी काम का न रह जावे, यदि जीवित भी रहे तो आयु भर उठ न सके, या तो रोता रहे या आत्मघात कर ले, यही दशा भारत की अंग्रेजों ने जाते समय की। ऐसी घोर हत्यायें, सम्पत्ति की अनुपम लूट, स्त्रीजाति के पवित्र सतीत्व और मानमर्यादा का घोरतम अपहरण हुआ, जिसकी उपमा संसार के

इतिहास में खोजने से भी नहीं मिल सकती। भारतरूपी वस्त्र को फाड़-फाड़ कर दो-चार नहीं, सैकड़ों की संख्या में चिथड़े-चिथड़े कर दिये गये, इस आशा पर कि न यह वस्त्र (भारत) जुड़ सकेगा, न शक्ति बढ़ेगी, अन्त में ब्रिटिश राज्य के चरणों में आकर स्वयं गिरेगा।

उधर हमारी अवस्था यह थी (और है) कि भारत की स्वतन्त्रता रूपी नौका के खेवा खेंच ले चलनेवाले नाविक अनाड़ी रहे, जिनको जीवन में जेलों में जाने भर का अनुभव था। राज्य चलाने का लेशमात्र भी अनुभव न था। होता भी कैसे, बाप-दादा ने राज्य थोड़े ही किया था, सारा जीवन गुलामी में ही तो विताया था। न इन्होंने आगे के लिये मार्जन ही रखा कि सीखे नहीं हैं तो चलो अब सीखने का यत्न करें, अपने से अधिक योग्य अनुभवी निष्काम निःस्वार्थ सदाचारी तपस्वी गम्भीर विचारक विद्वान्, जो ब्राह्मण वा संन्यासी की परिभाषा में आते हों, चाहे वे किसी वर्ण जाति वा प्रान्त के हों, जो राज्य के वेतनभोगी न हों, ऐसी महान् आत्माओं से अपनी कमियों वा त्रुटियों को समझने का यत्न करते (वा करें) तो इनका ज्ञान बढ़ता, मार्ग की विघ्न-बाधाओं का ज्ञान होता। कितना भी योग्य व्यक्ति हो, उसे अपनी भूलों का ज्ञान स्वयं बहुत कम हो पाता है।

मोरी नाव कैसे उतरे पार !
वार पार कोऊ घाट न सूझत, आन पड़ी मंझधार।
बिजली चमके बादल गरजे, उलटी चलत है ब्यार।
गहरी नदिया नाव पुरानी, नाविक हैं मतवार॥

हमारी पौण्डपावना (जो ऋण हमने इङ्गलैण्ड से लेना था) लगभग समाप्त हो चुकी है। हमारी बरखुरदारी तो यह थी कि हम अपने बाप-दादा की कमाई में कुछ वृद्धि करते, तब हमारी योग्यता समझी जाती। पर हमने तो उलटा उसी को समाप्त करने पर कमर बांध ली। ये किसी भी देश के लिये अच्छे लक्षण नहीं कहे जा सकते।

घोरतम पतन

इधर देश का इतना घोरतम पतन हो रहा है कि सर्वसाधारण जनता में बिना सङ्कोच के प्रायः सर्वत्र ऐसी भावनायें परस्पर की बातचीत में सामने आ रही हैं, जिनकी कोई सीमा नहीं। चलते-फिरते सर्वसाधारण की ऐसी ध्वनि कानों में सुनाई देती है। मिनिस्टरों तक में कहीं-कहीं

घूसखोरी, अपने सगे-सम्बन्धियों को अनुचित लाभ पहुंचाने की बातें सुनाई पड़ती हैं। कांग्रेसी सब नहीं तो ६० प्रतिशत सिफारिशों द्वारा धनसंग्रह में घोर रत हैं। किसी भी विभाग में छोटे से लेकर बड़ा कर्मचारी तक एक दम प्रायः मगरमच्छ की तरह मुंह फाड़े बैठा दिखाई देता है कि कुछ न कुछ कहीं से मुख में पड़े। अफसरों में ७५ प्रतिशत तो इसी टाइप के होंगे। हर कोई अपने-अपने स्थान पर बैठा प्रतिक्षण प्रतिदिन इसी ताक में दृष्टिगोचर होता है कि वेतन से कहीं अधिक ऊपर की (आकाश से गिरनेवाली पाप की कमाई) आमदनी अधिक से अधिक कैसे आवे।

यदि कोई ईश्वरभक्त या देश का सच्चा सेवक राजकर्मचारी या कांग्रेसी ऐसा नहीं करता, तो उसकी सुनवाई नहीं होती, मूर्ख समझा जाता है। यदि एक सच्चा मिनिस्टर (मन्त्री) किसी को काम की आज्ञा वा स्वीकृति देता है तो जब वह आगे आफिस में जाता है तो उसे उस सरकारी सहायता वा लाभ में मिलनेवाली धनराशि का ५० प्रतिशत (कहीं-कहीं इससे भी अधिक) नीचे के अफसरों क्लर्कादि की भेंट में देना पड़ता है। व्यापारी वर्ग भी उस बचे हुए ५०-४० प्रतिशत में ही अपना बहुत कुछ बनता देखकर [क्योंकि वह घूस देता तभी है] फिर घोर भ्रष्टाचार (ब्लैक) द्वारा जनता से उसकी कमी को ही पूरा नहीं करता, अपितु कई गुणा अधिक लाभ उठा, जनता का ही शोषण करता हुआ अपना घर भरता है। अब तो उसे परमिट (ऐसा करने की छूट) मिल ही चुकी है, ऐसा वह समझता है। जब प्रहरी ही चोरी करने लग जावे, तो उस घर का भला क्या बचना है। हमारा कितना घोर नैतिक पतन हो रहा है, जिसकी कोई सीमा नहीं। रुपये के बल पर बड़े-बड़े अपराधी प्रायः छूटते सुनाई देते हैं, छोटे-छोटे कहीं-कहीं पकड़े दिखाई देते हैं। कुछ न्यूनाधिकता से यही विचार प्रायः सर्वत्र कानों में पड़ते हैं। जहां भी जाओ, जिससे भी बात करो, यही विचार छोटे-बड़े प्रायः सब के मुख से सुनाई देते हैं। इनमें कहां तक यथार्थता है, यह भगवान् ही जानें।

सबसे अधिक दुःख की बात तो यह है कि उपर्युक्त यह सारी भावना और विचार जनता में फैल रहे हैं, जो देश के भविष्य के लिए अत्यन्त घातक हैं। सम्भव है इतना भ्रष्टाचार न भी हो, यों ही बढ़ा-चढ़ाकर

लोग ऐसा कहते हों, पर है तो अवश्य ही, चाहे कितनी भी मात्रा में हो, यह तो सभी को मानना पड़ेगा। जनता में अपने देशनायकों के प्रति अविश्वास का उत्पन्न हो जाना देश के भविष्य के लिए अवश्य ही परम घातक है। यदि यह जनरव असत्य हो, तो इसकी घोषणा प्रामाणिक पुरुषों द्वारा होना परमावश्यक है। जनता की भावना को गिरने नहीं देना चाहिये।

उपाय वा रोग की चिकित्सा

जब रोग का निदान हो जाता है, तभी उसका उपाय भी सोचा जा सकता है, चिकित्सा तथा उपचार तभी लाभदायक हो सकते हैं। इस सब अनर्थ (पाप) के दो ही उपाय हैं, एक अस्थायी और दूसरा स्थायी। अस्थायी तो यह है कि निश्चित अपराधियों को पक्षपातरहित होकर दण्ड देना। सच्चे आदमियों को (चाहे वे कांग्रेसी हों या अकांग्रेसी) प्रोत्साहन मिलना चाहिए। सच्चे कर्मचारियों-अफसरों को उन्नति मिलनी चाहिए। अपराधियों की खोज निकालनेवालों को बड़े-बड़े पारितोषिक दिये जावें, चाहे वे लोग जनता के हों या गुप्तचर विभाग (C.I.D.) के कार्य-कर्त्ता। बड़े-बड़े अफसरों-पार्लियामेंटरी-सैक्रेटरी तथा मिनिस्टरों की खोज होती रहनी चाहिए। खोज करनेवालों की परीक्षा पहले होनी चाहिए। तभी उन्हें नियुक्त किया जावे। अपराधी पकड़े जाने पर उसको बड़े से बड़ा मिनिस्टर छोड़ वा छुड़ा न सके। हां, निरपराध फंसानेवाले को कई गुना अधिक दण्ड दिया जावे। साथ ही एक शिष्ट मण्डल हो जो हमारे केन्द्रीय तथा प्रान्तीय मन्त्रि-मण्डलों तथा धनिक वर्ग को (विना पूछे वा मांगे) निर्देश देनेवाला हो, जिसका कोई सदस्य राज्य का वेतनभोगी न हो, वा पदाधिकारी न हो और कभी किसी की सिफारिश न करता हो। जो इन सभी प्रकार के मन्त्रियों (मिनिस्टरों) धनिकों आदि के मस्तिष्क को अपने सच्चे प्रेम, राग-द्वेष से सर्वथा रहित, अन्तर्हृदय की देश के प्रति उत्कृष्ट भावना और सर्वथा निःस्वार्थता के शस्त्र से ठीक करें। इसमें सदस्य वे हों जो निर्लोभी-सदाचारी-निःस्वार्थ-त्यागी-विद्वान्-धर्मात्मा-देशभक्त हों। ये लोग पहले सब प्रान्तीय तथा केन्द्रीय मन्त्रियों और उनके विभागों में भ्रष्टाचार-रिश्वत-कर्त्तव्यपालन न करने आदि की गुप्त खोज करें। पहले तो प्रेमपूर्वक प्राइवेट में सबको चेतावनी दें, न मानें तो पीछे उनके

विरुद्ध जनता में (उचित रीति से) आवाज उठायी जावे और उन्हें पार्लियामेण्ट की सदस्यता से पृथक् होने के लिए जनता द्वारा बाधित वा विवश कर दिया जावे।

क्या भारत में सच्ची आत्मायें नहीं ?

यदि कोई कहे कि ऐसे त्यागी-निर्मल महापुरुषों का इस पुण्यभूमि भारत में अभाव है, तो हम ऐसा नहीं समझते। यह ठीक है, ऐसे अवसर पर महान् आत्मा गांधी होते तो यह समस्या बहुत कुछ हल हो जाती। पर इस समय भी हमें निराश न होना चाहिए। साहस करके इस ओर पग उठाना चाहिए। यदि भारत के कुछ सुपरीक्षित त्यागी-तपस्वी महापुरुषों का एक मण्डल बनाया जावे, जिसके सदस्य राजाधिकारी, राजपुरुष-राजसम्मानित, राजसहायता प्राप्त न होकर पूर्वोक्त गुणविशिष्ट हों, अर्थात् ऐसी अनेक महान् आत्माओं—त्यागी पुरुषों के सहयोग से यह कार्य चल सकता है। ये महानुभाव जिनको और उपयोगी समझें, इस शिष्टमण्डल में सम्मिलित कर सकते हैं। सदा यही मण्डल अन्नसंकट के लिए यथार्थ उपाय बतलाये। कण्ट्रोल हटाये जाने पर उस विभाग में लगे हुये सभी कर्मचारी वा क्लर्कों को सर्वथा न हटाकर दूसरे विभागों में नियुक्ति का पूर्ण विश्वास दिलाया जावे। देश में देशरक्षा के लिए तय्यार रहने की भावना को सुदृढ़ करें। जनता में अपनी सरकार के प्रति विश्वास की भावना उत्पन्न करें। इस मण्डल का कोई सदस्य किसी के पास कभी कोई सिफारिश न करे, यह परमावश्यक है। किसी मन्त्री वा अधिकारी को इस मण्डल में सम्मिलित न किया जावे।

ब्राह्मण की वाणी को राजा (राज्य-सञ्चालक) कभी न रोके

राज्य सरकार अर्थात् हमारे नेताओं का भी कर्त्तव्य है कि वह शुद्ध भावना से बिना किसी संकोच के ऐसे पवित्र शिष्टमण्डल की वाणी पर ध्यान दे, उसको बन्द करने की चेष्टा न करें।

इसी भावना का प्रतिपादन अथर्ववेद में इस प्रकार है—

अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः।
स ब्राह्मणस्य गामद्याद् अद्य जीवानि मा श्वः॥
—अथर्ववेद ५।१८।२॥

अर्थात्—जो अजितेन्द्रिय-पापी-आत्मपराजित (आत्मा से हारा

हुआ) राजा (राज्यसंचालक) होता है, वही ब्राह्मण की गौ (वाणी) को खा जाता है (रोकता है), यद्यपि वह आज जीवित दृष्टिगोचर होता है, पर वह कल नहीं रहेगा।

भारतीय-वैदिक-आर्य संस्कृति का यह (ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवित् की वाणी) एक अमोघ शस्त्र है, जिससे बड़े-बड़े राज्य और राष्ट्रों का भाग्य परिवर्तित हो जाता है। मेरे देश के लिये इस समय इस रामबाण की परमावश्यकता है। यद्यपि यह उपाय इस समय अस्थायी ही प्रतीत होगा, पर आगे चलकर यह उपाय भी देश के कल्याण का स्थायी साधन ही सिद्ध हो सकता है, इसमें कुछ भी सन्देह का स्थान नहीं। इस समय इससे अस्थायी कार्य भी ले लिया जावे, तब भी देश का महाकल्याण हो सकता है।

स्थायी उपाय

प्राचीन (ऋषि) प्रणाली से शिक्षा

अब हम स्थायी उपाय की ओर आते हैं। स्थायी उपाय जनता में स्थायी विचार को उत्पन्न करना है, जिसका मार्ग यह है कि जनता के हृदय में धार्मिक भावना (आचार की प्रधानता), कर्त्तव्य-पालन की भावना, नैतिक वा सामाजिक जीवन की उच्चता अङ्कित कर देना है, कर्त्तव्यपालन वा धर्मपालन में कुछ भी अन्तर नहीं है। इसके लिये सर्वप्रथम हमें शिक्षा में पवित्रता भारतीय संस्कृति के सर्वोत्कृष्ट मूलभूत अङ्गों यम—(अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह) तथा नियमों (शौच-संतोष-तपः-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधान) के प्रति भावना और अनिवार्य श्रद्धा का भाव उत्पन्न करना होगा। यही सच्चा धर्म है अर्थात् इन्हीं सार्वभौमिक सार्वजनिक नियमों का नाम धर्म है। सर्वतन्त्र सिद्धान्त जिनके विरुद्ध कोई भी न हो, उसी का नाम धर्म है। ऐसा धर्म संसार के सभी देश और जातियों को मान्य है। जिसके विरोध में कोई भी न हो, वही सच्चा धर्म है। ऐसा धर्म राज्य (स्टेट) का धर्म होना चाहिए। भारत का यही धर्म है। ऐसे धर्म से निरपेक्ष राज्य संसार में समुन्नत और शान्ति के दूत नहीं हो सकते।

अतः हमें शिक्षा-सच्चरित्रता-पवित्रता-अर्थशुचि और देश-स्वतन्त्रता की तीव्र भावना को सर्वोपरि अपने बच्चे-बच्चियों तथा अध्यापक वर्ग में अनुप्राणित करना होगा।

शिक्षाक्रम में परिवर्तन की आवश्यकता

यह तभी हो सकता है जब हम अपनी शिक्षा में परिवर्त्तन करें। अङ्गरेजी ने तो अपनी सुगमता को मुख्यतया ध्यान में रखकर ही भारत में अङ्गरेजी शिक्षा-दीक्षा को प्रारम्भ किया और उसका विस्तार किया। उन्हें भारत को उठाना अभीष्ट न था, अपितु स्वार्थ-साधन की दृष्टि से गिराना अभीष्ट था। जिसके लिए एक आध उद्धरण ही दे देना पर्याप्त होगा, जिससे भारत में ब्रिटिश राज्य के शासक-वर्ग की मनोभावना का हमें तत्काल पता लग जाता है—

"जिन बड़ी-बड़ी जातियों पर हम राज्य कर रहे हैं, वे सब इस समय पृथक्-पृथक् हैं। कोई भी ऐसी शिक्षा जिससे हमारी भारतीय प्रजा में फैले हुए फूट और कलह के अन्त होने की सम्भावना हो, अथवा जिसके द्वारा अङ्गरेजों के प्रति उनके वर्त्तमानसम्मान के भावों में किसी प्रकार की कमी आवे, ब्रिटिश सरकार के राजनीतिक प्रभुत्व को बढ़ाने में सहायक नहीं हो सकती।"

"हमारी (शासकों की) ही भांति शिक्षित, हमारी ही भांति मनोवृत्ति से युक्त और हमारी ही भांति के कार्यों में प्रवृत्त होने के कारण उन में हिन्दुत्व की अपेक्षा अङ्गरेजीपन अधिक आ जाता है······इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि वे हमारे कट्टर अनुयायी होते ही विरोधी रहने के स्थान पर हमारे चतुर और उत्साही सहायक बन जाते हैं।·· हमारे पास एकमात्र यही उपाय है कि हम भारतवासियों को पाश्चात्य प्रणाली की ओर अग्रसर कर दें।"

"हमें अपनी सारी शक्ति लगाकर ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि हम भारतवासियों की एक श्रेणी ऐसी तैयार कर सकें, जो हमारे और हमसे शासित उन करोड़ों भारतवासियों के बीच में दुभाषिये का काम कर सके। यह केवल रक्त और रङ्ग की दृष्टि से भारतवासी हों, परन्तु रुचि विचार-भाषा और भावों की दृष्टि से शुद्ध इङ्गलिश।"

"वास्तव में हमने अंग्रेजी पढ़े-लिखों की एक पृथक् जाति बना दी है, जिन्हें कि अपने देशवासियों के साथ या तो जरा भी सहानुभूति नहीं है और है तो बहुत ही कम।"

क्या भारत के पुत्र-पुत्री और नर-नारी एक बहुत बड़ी संख्या में

अभी तक भी इस उपर्युक्त धारणा के सर्वथा अनुरूप केवल रक्त और रङ्ग की दृष्टि से ही भारतीय नहीं हैं ? क्या रुचि-विचार-भाषा-भावना की दृष्टि से सर्वथा विदेशीय नहीं हो चुके और आगे भी पूरी तत्परता से इसी के लिए प्रयत्नशील नहीं हैं ? स्वतन्त्रता मिल जाने पर भी देश में सर्वत्र प्रतिदिन कालेज और हाईस्कूलों की वृद्धि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हैं ? लड़कों की ही नहीं, अंग्रेजी पढ़नेवाली लड़कियों की संख्या दुगनी-चौगुनी ही नहीं, वर्ष-वर्ष में सौगुनी तक बढ़ती जा रही है। यह सब देश की पुरानी परतन्त्रता की भावना को ही और भी चिरस्थायी बनाये रखने के ही तो साधन हैं। अंग्रेज चले गये, अंग्रेजीयत अभी भारत में पूरे यौवन पर है। क्या कोई भारतीयता का उपासक सच्चा देशभक्त इस बात को कह सकता है, कि अंग्रेज अपने इस मनोरथ में पूरे सफल नहीं हुये और वे भारत के लिए अपनी विषरूपी देन, सदा के लिए नहीं तो कम से कम कुछ काल के लिए (जब तक कि देश पुनः वस्तुतः भारतीयता की ओर अग्रसर न हो जावे) तो अवश्य ही अपनी भावना और प्रभाव को अपने पीछे छोड़ गये हैं।

आज हम पाठकों के समक्ष अपने विचार इसी विषय में उपस्थित करने लगे हैं कि—

भारतीय संस्कृति के मूलाधार ऋषि-मुनियों का शास्त्र ही भारत के समस्त रोगों की औषध है

जब वैज्ञानिक दृष्टि से अर्थात् बुद्धिपूर्वक हम विचार करते हैं कि क्या प्राचीनकाल के ऋषिमुनि-महापुरुष विद्वान् सब के सब मूर्ख थे, जो उन्होंने सर्वकाल में एक स्वर से भारत को, नहीं-नहीं संसार को, वेद-शास्त्रों के अनुशीलन की ओर सदा प्रेरित किया। वेद को ही—

प्रमाणं परमं श्रुतिः (मनु०)

परम प्रमाण बतलाया। इतना ही नहीं, अपितु—

"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च ॥"

(महाभाष्ये भगवान् पतञ्जलिः)।

षडङ्ग (छः अङ्गों सहित) वेद का अध्ययन निष्काम धर्म अर्थात् परम धर्म बतलाया। निष्कारण=निष्काम धर्म उसे कहते हैं जो हर अवस्था में करना अनिवार्य है, उससे आर्थिक लाभ —मान या सत्कार हो

या न हो। इसमें ऋषियों ने क्या इतना भी न सोचा होगा, क्या उनकी बुद्धि इतनी कुण्ठित थी कि वे यह भी न सोच सके हों, कि अन्ततोगत्वा वेदशास्त्र पढ़नेवाले छात्र खायेंगे कहां से। क्या उनको धनिकों के द्वार पर भटकना तो न पड़ेगा। यह सब उनको सूझा ही न हो, ऐसा कदापि नहीं हो सकता। ऋषि पूर्वापरज्ञ होते हैं। वे आगे-पीछे की सब स्थिति को अपने ज्ञान-चक्षुओं से देख लेते हैं, इसीलिए उन्हें साक्षात्धर्मा कहा जाता है।

ऋषिर्दर्शनात्—(यास्क निरु० २।११) उनका अपने विषय का ज्ञान निर्भ्रान्त निर्विकार होता है। तभी वे ऋषि कहाते हैं।

तो फिर छात्रों और अध्यापकों का निर्वाह कैसे चलता था। सुनो, उस समय सच्चा वैदिक साम्यवाद था। अन्नमात्र का अधिकारी तो प्रत्येक था। राज्य पर उसका उत्तरदायित्व था कि हर एक को अन्न मिले। शिक्षा सब के लिए अनिवार्य थी। फूंस की झोपड़ियों में ऊंचे से ऊंचे विषयों का अध्ययन-अध्यापन होता था। अन्न-धन-धान्य-पशुधन वा अन्य जीवन-सामग्री विपुल मात्रा में थी। उनकी कुछ भी कमी न थी। सब वर्ण तथा आश्रम अपनी-अपनी मर्यादा का पालन करते थे। दिखावे का जीवन न था। जीवन की आवश्यकतायें व्यर्थ में बढ़ाकर उनके लिए हाय-हाय करने की भावना न थी, जैसा कि वर्त्तमान में इसकी प्रचण्डता है। व्यवस्था इतनी सुन्दर थी कि चारों आश्रमों में केवल एक गृहस्थ आश्रम ही और वर्णों में केवल वैश्य ही धन कमाने की चिन्ता में था। ऐसा नहीं था कि सब के सब 'हाय पैसा' की रट ही निरन्तर लगाते रहते हों, जो मस्तिष्क खाने-कमाने की चिन्ता में ही निमग्न रहेगा, भला वह अपने लिये, देश और समाज के लिये सोच ही क्या पायेगा। जिसका सिर ही घूमता रहे, वह जो कुछ भी करेगा—पढ़ायेगा-लिखेगा वह सब दोषपूर्ण ही रहेगा, इसमें सन्देह का यत्किञ्चित् भी स्थान नहीं।

हम इतिहास के आधार पर भी यही देखते हैं कि उपर्युक्त व्यवस्था में हमारा देश सुखी था, स्वाधीन था, धन-धान्य से भरपूर था, तब ऋषि-मुनियों की दर्शाई व्यवस्था तथा पाठप्रणाली नहीं चल सकती, इसमें कोई कारण नहीं।

जनसंख्या का बढ़ जाना कारण नहीं

यदि कोई कहे कि जनसंख्या इस समय बहुत बढ़ गई है, उस समय देश में इतनी घनी जनसंख्या (आबादी) नहीं थी। एक विचार इसमें यह है कि अंग्रेजी राज्य से पहिले जब जनसंख्या नहीं ली जाती थी, तब क्या जनसंख्या बढ़ती नहीं थी? पिछले पचास वर्ष में यदि २१ करोड़ से ४० करोड़ (अखण्ड भारत में) जनसंख्या हो गई; तो क्या सन् १८५० से १९०० ई० तक १० करोड़ से ही २१ करोड़ जनसंख्या हुई और क्या सन् १८०० से १८५० ई० तक ५ करोड़ से १० करोड़ बनी। क्या कोई मान सकता है वा किसी की समझ में यह बात आ सकती है कि सन् १८०० ई० में भारत की जनसंख्या ५ करोड़ थी? अतः हमें इसमें देखना होगा कि वास्तविक बात क्या है। यह वर्त्तमान जनसंख्या बहुत अधिक तो मुसलिमलीग की भारतद्रोही नीति का परिणाम थी। हिन्दू विचारवालों ने भी मुसलिमलीग की नीति के उत्तर में पर्याप्त झूठी संख्या बनाई। मुसलिमलीग की घृणित नीति पर इस समय भी सिख पंजाब में यही खेल खेल रहे हैं। प्रायः लोगों का विश्वास है कि इस जनगणना में बहुत कुछ भूल निकलेगी, यदि ठीक-ठीक जनगणना की जावे। दुर्जनसन्तोष न्याय से यदि मान भी लें कि भारत में जनसंख्या बहुत बढ़ गयी है, तो भी जब हमारे 'पुत्रान् विन्दावहै बहून् ते सन्तु जरदष्टयः' विवाह संस्कार में ऐसा बोला जाता है और ऐसे ही प्रार्थना सब करते हैं, आशीर्वाद भी देते हैं, तब यह जनसंख्या हमारे देश की उन्नति में साधक होनी चाहिये, न कि बाधक। प्रत्येक गृहस्थी को गौ रखनी अनिवार्य थी। विवाह में गोदान अनिवार्य है। पत्नी के साथ वर गौ लेकर आता था। हमारा कहना यह है कि यदि अधिक सन्तान वा जनसंख्या है तो समझना चाहिए कि मानवीय शक्ति हमारी प्रशस्त है और उससे हमें अधिकाधिक काम लेने का यत्न करना चाहिए। अधिक जनसंख्या देश की उन्नति में रुकावट नहीं पैदा कर सकती अपितु उत्तरोत्तर उन्नति की साधिका है।

जनसंख्या का अधिक होना, हमें इसके लिये विवश नहीं करता कि हम अपनी प्राचीन ऋषिप्रणाली को छोड़ दें। जनसंख्या बढ़ जाने के कारण जाति के दुःखों वा रोगों की औषध नहीं हो सकती, यह बात नहीं।

दूसरा आक्षेप जो ऋषिप्रणाली पर किया जाता है कि उससे व्यावहारिक ज्ञान नहीं हो सकता, सो भी ठीक नहीं। कारण यह कि एक तो वर्णाश्रम मर्यादा के अनुसार सभी का धन कमाने में लगना अनिवार्य नहीं रह जाता। तब व्यावहारिकता (धन कमाने के मार्गों का ज्ञान प्राप्त करना ही आज-कल की व्यावहारिकता का वास्तविक स्वरूप है) केवल वैश्यों को वैश्य बनानेवालों के लिए ही बच जाती है। वैश्य का भी शुद्ध स्वरूप ही मानव-समाज के कल्याण का साधक होगा। विकृत स्वरूप का ज्ञान न होना ही क्या सच्ची व्यावहारिकता न होगी !!! सरकार चाहे कितने ही आर्डिनेन्स, कानून, नियम पास करती रहे, व्यापारी चोरी का रास्ता निकाल ही लेता है। दूसरे की जेब से पैसा किसी न किसी तरह निकाल लेना यदि यही व्यावहारिकता है तो इसे यूरोप-अमेरिका के लिए ही छोड़ दिया जावे। भारतवासी इसके बिना जी ही न सकेंगे, ऐसी बात नहीं। सच्ची नागरिकता के लिए सच्ची व्यावहारिकता ही उपादेय है। छल, छिद्र, कपट, जालपूर्ण व्यावहारिकता को कम से कम भारतवासियों को दूर से ही नमस्कार कर देना चाहिए। तभी मानव सच्चा मानव बन सकेगा, तभी मानवसमाज समाज कहलाने के योग्य होगा।

आर्षज्ञान (ऋषिप्रणीत शास्त्र) ही भारत के समस्त रोगों की अचूक औषध

अतः हमें इस समय जब कि हमारा देश स्वतन्त्र हो गया, उसकी सुरक्षा तथा समृद्धि के लिए अपने प्राचीन ऋषि-मुनियों के ज्ञान, शिक्षा, अनुभवों से लाभ उठाना चाहिए, तभी हमारा देश समृद्ध हो सकेगा। यह हमारे लेख का वास्तविक उपक्रम है। जिसे हम सहेतुक अर्थात् सोपपत्तिक पाठकों के समक्ष रखना चाहते हैं। यों ही प्रतिज्ञामात्र नहीं, अपितु हेतु उदाहरणादि द्वारा सिद्ध करना चाहते हैं। जो सज्जन विदेशीय शिक्षा में पले हैं या जिनको उसका ही सदा दर्शन हुआ है, उन्हें तो हमारा कथन कि "ऋषिप्रणाली से ही भारत के समस्त रोग दूर हो सकते हैं" प्रमत्त-प्रलाप समान प्रतीत होगा। पर प्राचीन संस्कृति में आस्था रखनेवाले सज्जनों को भी हमारी इस बात में संशय न रह जावे, अतः हम युक्तियुक्त ही इस विषय का प्रतिपादन करने की चेष्टा करेंगे कि शास्त्र की आवश्यकता अनिवार्य कैसे है ? अशान्तमन अस्थिरमति

शास्त्रनिर्माता नहीं हो सकते। सब शुद्ध वा संयतमन नहीं हो सकते। संयत महापुरुष ही संसार के कर्णधार और समाज के नेता वा जीवन-यात्रा के परिचालक होते हैं। अपनी शास्त्ररूपी कृतियों द्वारा ही ये संसार में चिरजीवी हुआ करते हैं।

शास्त्रों का महत्त्व। शास्त्र की परीक्षा (चरकानुसार)। दो सहस्र वर्ष पहले ऋषियों के ग्रन्थों का ही अध्ययन होता था। शास्त्रों का परित्याग आप्तपुरुषों का परित्याग है। शास्त्ररूपी विशुद्ध और निर्मल दुग्ध में मैल मल-मूत्र आदि का छींटा भी सबको नष्ट कर देगा। शास्त्र के नाम पर क्या-क्या अनर्थ हुए जब तक आर्यजाति का मन-चेष्टा-भाव से सब शुद्ध, संयत और समुन्नत न होंगे, भारत के कल्याण की कोई आशा नहीं। "सब ठीक हैं" यह विचार अतीव दोषपूर्ण है। पतनोन्मुख जाति वा अपने देश के उठाने में शास्त्र की शुद्धि ही अपरिहार्य शस्त्र हो सकता है। विना लेबल की ओषधियों में विष और अमृत का भेद अनिवार्य है। क्या हमारे शास्त्र जीवनसम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्त्ति में समर्थ हैं? क्या अन्य देश-वासियों वा अन्य जातियों को भी भारतीयशास्त्र के अध्ययन द्वारा कोई अपूर्व लाभ हो सकता है? क्या अन्य देशों में ऋषि-मुनि नहीं हुए वा नहीं हैं? क्या भारत ने ही इसका ठेका ले लिया है? इन सब पर आगे विचार करना चाहते हैं, जो क्रमशः चलेगा।

वर्त्तमान शिक्षा में दोष, ऐतिहासिक दृष्टि से इस पर विचार इत्यादि विषयों का सोपपत्तिक उपपादन आगे किया जायगा।

शास्त्र भारत की अपूर्व सम्पत्ति

यद्यपि भारत संसार के उन देशों में से है, जिनमें कि सुकाल रहने पर सबसे अधिक धन-धान्य-पशु-उर्वरा भूमि-कोयला-अभ्रक-हीरा आदि खनिज पदार्थ हैं और जहां नमक-कपास-जूट आदि जीवनोपयोगी सभी सामग्री (कच्चा माल) विपुल मात्रा में उत्पन्न होता है। जिसके कारण ही पिछले २०० वर्षों में अंग्रेज जाति संसार में सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में संसार के सामने आयी और भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर भी इंगलैण्ड, अमेरिका, रूस सबसे बड़ी समझे जानेवाली ये विदेशीय शक्तियां अभी तक दांत लगाये बैठी हैं कि किस प्रकार इस सोने की चिड़िया को वश में किया जावे। साम-दाम-दण्ड-भेद सभी उपायों से इस भारत को परमुखापेक्षी पराश्रित बनाये रखना चाहते हैं। काश्मीर

का मामला इसी बात का ज्वलन्त उदाहरण है। 'चोर-चोर मौसेरे भाई।' सम्प्रति तो यू० एन० ओ० प्रायः लुटेरों के भिन्न-भिन्न गुटों का एक समूह ही कहा जा सकता है। जो लुटेरे नहीं, लूट को रोकना चाहते हैं, उनकी अभी तक विशेष सत्ता नहीं वा इनके कहने का कुछ प्रभाव नहीं। लुटेरे और डाकू इतने संगठित होते हैं कि एक-दूसरे के लिये प्राण तक दे देते हैं, पर लूट का माल बांटने पर ही इनका वास्तविक रूप संसार के सामने आता है। इङ्गलैण्ड पर्याप्त समय आशा लगाये रहा कि भारत विवश होकर ब्रिटिश राज्य को भारत सम्भालने के लिए फिर से बुलावेगा। तभी मित्र राष्ट्रों की सेनाओं के काश्मीर में आने के प्रस्ताव रखे जाते रहे। पाकिस्तान को आक्रामक घोषित आज तक नहीं किया, दस वर्ष से भी ऊपर हो गया। पर उत्तर कोरिया और चीन को आक्रामक घोषित करने में कुछ देर नहीं लगी। क्या ऐसा पक्षपातपूर्ण यू० एन० ओ० कभी जीवित रह सकता है? इसका अन्त भी वही होगा जो लीग आफ नेशन्स का हुआ। 'मुंह में राम बगल में छुरी' यह कदापि सफल नहीं हो सकती। अमेरिका भी ऊपर से तो नहीं, पर हृदय से यही चाहता रहा कि इङ्गलैण्ड नहीं तो अमेरिका ही भारत को पुनः सम्भाले। पर भारत सावधान है और रहेगा!!

भारत आने पर रूस के प्रधानमन्त्री श्री ख्रुश्चेव का भारी सम्मान किया गया। अमेरिकन राष्ट्रपति श्री आइक का अभूतपूर्व स्वागत भारत में हुआ। भारत सभी से मित्रता रखना चाहता है। मित्रता की बड़ी-बड़ी बातें हो रही हैं। पर इनके पीछे कहां तक सहृदयता-सत्यता और वास्तविकता है, यह तो संकट उपस्थित होने पर ही पता लगेगा। चीनी प्रधानमन्त्री का भी भारी स्वागत हुआ था। पञ्चशील और भारत-चीनी भाई-भाई की खूब दुहाई दी गई थी। अब चीन भारत की हजारों वर्गमील भूमि हड़पना चाहता है। रूस चुप क्यों है!! ये सब विश्व-राजनीति के हथकण्डे हैं। भारत सबल होगा तभी इस समस्या का भी हल होगा। प्रत्येक भारतीय को विशेषकर भारतीय नवयुवक को इसके लिये कटिबद्ध होना चाहिये। भारत वीरता में किसी से कम नहीं है।

हमें कहना यह है कि भारत संसार में सोने की चिड़िया समझी जाती है और है भी। निजाम हैदराबाद की सम्पत्ति प्रजा की सम्पत्ति के रूप में भारत की सम्पत्ति बन जाने से यह चिड़िया और भी आकर्षक हो गयी है।

यह सब होने पर भी भारत की अपूर्व सम्पत्ति तो उसका साहित्य है, जो सृष्टि के आरम्भ से वेद और शास्त्र के रूप में उसे वंश-परम्परा द्वारा प्राप्त हुआ है। जिसकी रक्षा में न जाने कितने असंख्य ऋषि-मुनि विद्वान् आचार्यों के त्याग, तपस्या और वलिदान निहित हैं। संसार के पुस्तकालय में ऋग्वेद सबसे पुराना ग्रन्थ है, इतना तो विदेशी भी मुक्त-कण्ठ से स्वीकार करते हैं। भारत के इस प्राचीन साहित्य के अमूल रत्न, सैकड़ों नहीं लाखों की संख्या में यूरोप और अमेरिका आदि देशों की अनेक यूनिवर्सिटियों में विद्यमान होना ही इस बात का प्रवल प्रमाण है कि संसार भारतीय साहित्य के उन रत्नों का मूल्य कितना आंकता है। तभी तो विदेशी लोग चांदी और सोना डाल-डाल कर हमारे वे अलभ्य रत्न (साहित्य) जो हस्तलेखों के रूप में थे, हमारी अज्ञान वा पराधीन अवस्था में भारत से ले गये, जिसके लिए अब हम भारतीयों को, उनका मुख देखना पड़ रहा है। इस साहित्य का इतना ही मूल्य नहीं, जो विदेशी आंक रहे हैं, अपितु समय आवेगा, जब हमारे इस साहित्य का मूल्य संसार को नये सिरे से आंकना पड़ेगा। भारतीय साहित्य के अनेक अङ्ग हैं, जो भिन्न-भिन्न दृष्टियों से पृथक्-पृथक् महत्त्व रखते हैं। एक-एक विषय के ज्ञान की पराकाष्ठा तक पहुंचाते हैं। कई विषय तो ऐसे हैं कि विदेशी ज्ञान जहां समाप्त होता है, वहां हमारे साहित्य के ज्ञान का प्रारम्भ होता है। इस समय हम भारतीय साहित्य के सम्पूर्ण अंशों पर विचार न कर, केवल उसमें के शास्त्रीय अंश पर ही विचार करना चाहते हैं, जो हमारे साहित्यरूपी वृक्ष की एक प्रधान शाखा है।

शास्त्र की आवश्यकता

पाठकवृन्द ! आप हमारी इस विचार-धारा में तत्परता से बुद्धि लगाने का यत्न करें और सोचें कि शास्त्र की आवश्यकता ही क्या है। हम यहां यह बतलाना चाहते हैं कि शास्त्र की आवश्यकता अनिवार्य है। ऐसा नहीं है कि कोई मनुष्य शास्त्र के विना अपना कार्यकलाप सुचारु रूप से चला सके, अपितु इसके विपरीत यह है कि प्रत्येक देह-धारी मनुष्य को शास्त्र का आश्रय लेना अनिवार्य है, चाहे उसका रूप जो भी हो। सो कैसे, यह हम आगे दर्शाना चाहते हैं।

आचार्य कहते हैं ले चलनेवाले को, मार्ग दिखानेवाले को, अज्ञानरूपी ग्रन्थियों को खोलनेवाले को, डूबते प्राणी को ऊपर उठा देनेवाले को,

प्रवाह में बहते प्राणी वा बही जानेवाली जाति को सहारा देकर पार लगा देनेवाले को और विना कहे वा पूछे स्वयं ही संसार को हितमार्ग का निर्देश करनेवाले को। इसलिए यास्कमुनि 'आचार्य' का लक्षण करते हैं—

"आचार्यः कस्मात् ? आचारं ग्राहयति। आचिनोत्यर्थान् आचिनोति बुद्धिमिति वा" (निरु० १।४)।

अर्थात् 'आचार्य' उसे कहते हैं, जो आचार का ग्रहण करानेवाला हो, जो अनेकविध पदार्थ (ऐश्वर्य) का प्राप्त करानेवाला हो। जो ज्ञान-दाता हो अर्थात् जीवननौका को अपने ज्ञान द्वारा पार लगा देनेवाला हो।

विना सिखाये किसी को कुछ नहीं आ सकता

यह नियम है कि प्रत्येक बालक विना सिखाये कुछ भी नहीं सीख सकता। प्रभु की इस सृष्टि में एक को दूसरे से सीखना ही पड़ता है। चाहे वह सिखानेवाला माता हो या पिता हो अथवा कोई अन्य व्यक्ति। विना सीखे छुटकारा नहीं। मनुष्य का स्वाभाविक ज्ञान बहुत ही अल्प होता है। जितना होता है वह भी अनुद्बुद्ध होता है। उद्बुद्ध होने के लिए ही दूसरे की आवश्यकता पड़ती है, जो अनिवार्य है। जिसे प्रत्येक व्यक्ति प्रत्यक्ष देखता है और जानता है, और इस बात से नकार नहीं कर सकता। जैसा कि हमने ऊपर बताया 'आचार्य' उस उत्कृष्ट बुद्धि वाले व्यक्ति का नाम है, जो पहले स्वयं ऊंचा उठकर दूसरों को भी ऊंचा उठाता है। इसके विपरीत जिसका अपना स्तर ही अत्यन्त नीचा है, वह तो 'स्वयं नष्टः परान् नाशयति' स्वयं तो नष्ट है ही, दूसरों को भी नष्ट ही करेगा। ऐसा व्यक्ति 'आचार्य' की परिभाषा में कदापि नहीं आ सकता। देश-जाति वा संसार को अज्ञान-पापरूप गढ़े से निकालकर ज्ञान व प्रकाशरूपी ऊंची स्थिति पर पहुंचानेवाला आचार्य है। भला उस की आवश्यकता से कौन नकार कर सकता है। उसके विना तो मानव-समाज का कोई भी कार्य कुछ भी आगे सरकना असम्भव है, क्योंकि विना सीखे मानव-समाज की कोई भी क्रिया आगे नहीं चल सकती।

जब आचार्य की आवश्यकता अनिवार्य है, तब शास्त्र की आवश्यकता स्वयं अनिवार्य है, क्योंकि आचार्यों की कृति=रचना का नाम ही शास्त्र है। वर्तमान युग में एक आचार्य दयानन्द हुए। पुराकाल के ऋषि-

मुनियों की कृतियां ही प्रत्यक्ष आचार्य के रूप में इस समय हमारे सामने हैं। जब हम उनका कोई ग्रन्थ पढ़ते हैं, उस समय ऐसा प्रतीत होता है जैसे हम उनसे बातें कर रहे हों, हम पूछ रहे हों और वे हमारे प्रश्नों के उत्तर दे रहे हों। जब चाहो जिस ऋषि से बातें कर लो, उपस्थित हैं। जैसे काव्य में कवि, इतिहास में ऐतिहासिक शब्दरूपी होकर विराजमान रहता है, वैसे शास्त्र के भीतर शास्त्रकर्ता शब्दरूप ऋषि वा आचार्य-विशेष होकर विराजमान रहता है। 'शास्त्रं शासनात्' शासन करने (मार्ग दर्शाने) से ही तो शास्त्र है। शब्दरूपी ऋषि वा आचार्य का ही नाम तो शास्त्र है। अब यह बात तो युक्तियुक्त होने से सबकी समझ में आ जाती है कि जब आचार्य-गुरु की आवश्यकता अनिवार्य है, तो शास्त्र की आवश्यकता भी अनिवार्य है, यह स्वतः सिद्ध है। यद्यपि साधारण दृष्टि से यह बात उपर्युक्त रीति से सबकी समझ में आ जाती है, तथापि इस विषय में प्रकारान्तर से सूक्ष्म दृष्टि से भी अधिक विचार करना आवश्यक है।

सब ऋषि आचार्य वा नेता (नायक) नहीं हो सकते

गुरु, आचार्य, माता-पितादि से पढ़-सीख कर भी सब आचार्य वा ऋषि नहीं होते। यह प्रत्यक्ष वा सर्वविदित है। ऐसा क्यों होता है, विवेचना करने पर यह पता लगता है कि अनेक छात्र एक ही श्रेणी में, एक ही समय में, एक ही साथ, एक ही आचार्य वा गुरु से, एक ही शब्द धारा को सुनकर भी समान विद्वान् नहीं बनते। यह बात स्वाभाविक है, सर्वप्रत्यक्ष है। लाख यत्न करने पर भी यह बात अन्यथा नहीं की जा सकती। अर्थात् किसी श्रेणी के छात्र-छात्रायें एक समान योग्य कदापि नहीं बन सकते, न बनाये जा सकते हैं।

इसी में महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि कहते हैं—

"स्वाभाविकमेतत्। तद्यथा। समानमीहमानानां चाधीयानानां च केचिदर्थैर्युज्यन्तेऽपरे न। तत्र किमस्माभिः कर्त्तुं शक्यम्। स्वाभाविकमेतत्।'
(महाभाष्य अ० १।१।३८)

अर्थात् समान रूप से यत्न करते हुए—एक समान अध्ययन करने-वालों में कुछ तो उस विषय को ग्रहण कर लेते हैं, दूसरे यत्न करने पर भी ग्रहण नहीं कर पाते। इसमें भला हम क्या कर सकते हैं, यह तो स्वाभाविक है।

ऐसा होने में कारण क्या है, यह विवेचन करने पर हमें पता लगता है कि इसमें मुख्य कारण मन वा बुद्धि है। संयतमना व्यक्ति ही अधिक कर्मपरायण हो सकता है। दुर्जेय मन पर साधारण जन विजय पाने में अपनी निर्बलता से पीछे रह जाता है।

इसको अधिक स्पष्ट करने के लिये किसी आर्ष ग्रन्थ अष्टाध्यायी-महाभाष्य वा दर्शन का पाठ पढ़नेवाले छात्र, गुरुकुल के ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी को अपने गुरु वा आचार्य से पढ़ते हुए जब देखते हैं, अथवा स्कूल में गणित, विज्ञान वा इतिहास का पाठ अपने अध्यापक से सुनते देखते हैं, यद्वा किसी महाविद्यालय, कालेज वा विश्वविद्यालय में अपने प्रोफेसर से कोई भी विषय ग्रहण करते हुए देखते हैं, तो उपर्युक्त बात हमें तत्काल समझ में आ जाती है। पाठ पढ़ते समय जिन विद्यार्थियों का मन स्थिर होता है, चित्तवृत्ति निरुद्ध होती है, वे पढ़ाये जानेवाले पाठ के एक-एक शब्द को अध्यापक के मुख से निकलते समय ही बहुत सावधानता से सुनते हैं और उसमें जो बात समझ में नहीं आती, उसे योग्यतापूर्ण ढङ्ग से उसी समय शान्तिपूर्वक (मूर्खतापूर्ण और घबराये हुए ढङ्ग से नहीं) अपने अध्यापक से अत्यन्त नम्रतापूर्वक पूछ लेते हैं कि अमुक अंश को कृपया फिर समझा दें। ऐसे छात्र प्रायः मध्यम कोटि के होते हैं, जिन्हें प्रायः ऐसा पूछना पड़ता है। जो अध्यापक के मुख से निकली शब्दधारा को सुनकर तत्काल समझ लेते हैं कि अध्यापक ने क्या कहा और वह ठीक कहा है। इन्हें अध्यापक से पूछने की बहुत कम आवश्यकता पड़ती है। निम्न कोटि के विद्यार्थी वे होते हैं, जो अध्यापक के पाठ पढ़ाते समय तो अपने छात्रावास-गृह या मित्र-मण्डली की अतीत अनागत की व्यर्थ क्रियाओं वा सहभोज-सिनेमा-प्रेमालाप-आसक्ति-लड़ाई-झगड़े आदि को सोचने में लगे होते हैं, अथवा निरन्तर बहुत काल से प्रतिदिन के पाठ में छूटी हुई और आगे पूरी न की हुई बातों के कारण आगे-आगे भी पाठ में पछड़ते जाते हैं। एक बार पछड़े कि बराबर पछड़ते जाते हैं। इसी बात का परिणाम होता है कि विद्यार्थी प्रतिदिन पतनोन्मुख हो रहा होता है। घरवाले समझते हैं कि वह कालेज पढ़ने गया है, होता है वह धूर्त वा गधापचीसी मण्डली में, (गधापचीसी १६ से २५ वर्ष की आयुवाले स्कूल और कालेज आदि के छात्र का नाम है, जो अपने भविष्य को स्वयं नहीं सोच सकता, माता-पितादि को मूर्ख

समझता है, किसी के कहने पर चलने को तैयार नहीं—इसी को ज्ञान-लवदुर्विदग्ध कहते हैं) वा उसके अधिवेशन में, यारी-दोस्ती और लफंगे-पन में। पाठक स्वयं सोच सकते हैं, ऐसे छात्र वा छात्रा एक ही श्रेणी में दो-दो चार-चार वार अनुत्तीण न हों, तो यह बड़े आश्चर्य की ही बात होगा।

कहना यह है कि पढ़ते समय जिनका मन स्थिर होता है, जिनकी चित्तवृत्ति निरुद्ध होती है, पाठ पढ़ते समय जिनका मन बाह्यविषयों में नहीं जाता, दूसरे शब्दों में पढ़ाये जानेवाले विषय में ही जिनकी चित्त-वृत्ति निरुद्ध (रुकी) होती है, वे ही छात्र उस पाठ्यमान विषय को ठीक ग्रहण कर पाते हैं; जो ऐसा नहीं करते, और पीछे अपने साथियों से उसी पाठ को समझने की चेष्टा करते देखे जाते हैं, जिन छात्रों की ऐसी स्थिति मास में एक-दो बार हो, वे तो फिर भी अपने को सम्भाल ले जाते हैं, पर जिन छात्रों की प्रतिदिन की यही अवस्था हो, कि विद्यालय में घर की याद सताती हो, और घर में विद्यालय की याद, ऐसे अस्थिर-मति छात्रों का भविष्य सदा अन्धकारमय रहना स्वाभाविक है।

विद्यालय-कालेजादि से अतिरिक्त कार्यक्षेत्र में उतरे व्यक्तियों का हाल भी प्रायः ऐसा ही देखने में आता है। आफिस में अकौण्ट (हिसाब) कर रहे हैं, मन घर में है। उस दिन का जोड़ कभी ठीक नहीं बैठता। वकील-डाक्टर-न्यायाधीश-व्यापारी-आफिसर और मिनिस्टर आदि सब की यही स्थिति है। दुर्जेय मन पर साधारण जन विजय पाने में अपनी निर्बलता के कारण पीछे रह जाते हैं, अतः सब आचार्य वा नेता नहीं हो सकते। पूर्वसञ्चित बुद्धि भी इसमें कारण होती है, पर होती है वह उस व्यक्ति के अपने किये हुए कर्मों का परिणाम ही, इसीलिये शास्त्र में मन की महिमा अत्यन्त गायी गयी है।

मन की महिमा

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" मन ही बन्धन वा मुक्ति (दुःख निवृत्ति) का कारण है। हमने ऊपर पढ़ने का उदाहरण दिया। संसार के प्रत्येक कार्य की यही स्थिति है। मन की महिमा विश्व की चेष्टामात्र में स्पष्ट दिखाई देती है। मानवीय कार्यकलाप की प्रवृत्ति संसार में किस प्रकार हो रही है या होती है, इस विषय पर जब हम विचार करते हैं तो पता लगता है कि आत्मा अपने पूर्व संचित ज्ञान के

आधार पर संसार के पदार्थों को पहिले अपने विचारमात्र से एकत्रित करता है। फिर वह मन को उसमें लगाता है। "आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया" मन आत्मा में स्थित इच्छा-द्वेष आदि के अनुरूप चक्षुः आदि इन्द्रियों को प्रेरित करता है। तद्यथा —

"मिथ्याज्ञानादनुकूलेषु रागः, प्रतिकूलेषु द्वेषः। रागद्वेषाधिकाराच्चासत्येर्ष्यामायालोभादयो दोषा भवन्ति। दोषैः प्रयुक्तः शरीरेण प्रवर्त्तमानो हिंसास्तेयप्रतिषिद्धमैथुनान्याचरति वाचाऽनृतपरुषसूचनाऽसम्बद्धानि, मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यं चेति। सेयं पापात्मिका प्रवृत्तिरधर्माय।" (न्यायवात्स्यायनभाष्य १।१।२)।

अर्थात् —मिथ्याज्ञान से अनुकूल विषयों में राग होता है, प्रतिकूल विषयों से द्वेष। रागद्वेष के कारण असत्य-ईर्ष्या-माया लोभ आदि दोषों की उत्पत्ति होती है। दोषों से प्रेरित हुआ शरीर के द्वारा प्रवृत्त हुआ मनुष्य हिंसा-अस्तेय-प्रतिषिद्ध सम्भोग करने लगता है। वाणी द्वारा असत्य-कठोर और निन्दित असम्बद्ध प्रलाप करता है। मन के द्वारा पर-द्रोह-परद्रव्य लेने की इच्छा और नास्तिकता अर्थात् 'न कर्म है, न कर्म-फल है, न जीव है, न उसका कोई जन्म है, जन्म है भी तो विना ही निमित्त के है और विना निमित्त के ही स्वयं समाप्त भी हो जाता है, व्यवस्थापक की आवश्यकता ही नहीं' इत्यादि विचार उत्पन्न होने लगते हैं। यह पापात्मक प्रवृत्ति ही अधर्म की मूलक होती है।

इस प्रकार राग आदि ज्ञाता को पाप या पुण्य में प्रवृत्त करते हैं। जहां वा जब तक मिथ्याज्ञान (जिसकी कोटि अर्बुदशाखा-प्रशाखा हैं) बना रहेगा। राग-द्वेष आदि बराबर बने रहेंगे, और प्रवृत्ति बनी रहेगी तब तक मन का व्यापार बराबर चलता ही रहेगा। इस प्रकार मन ही मानवीय कार्यसमूह का प्रवर्त्तक है, यह बात समझ में आ जाती है। आत्मा के राग आदि इसमें प्रेरक हैं। मन मुख्य साधनरूप है। राग वा इच्छादि भी मन के ही खेल हैं, जो बुद्धि की ऊहापोह द्वारा उत्पन्न होते रहते हैं। बुद्धि भी मन की अवस्थान्तर का ही रूपविशेष तो है। "यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते' (यजु० ३४।२) अतः मानना पड़ता है कि मन ही मनुष्य की समस्त प्रवृत्तियों वा कार्यकलापों का सञ्चालक वा नियन्त्रक है, शास्त्र की परिभाषा में मन सञ्चालन वा नियन्त्रण का मुख्य साधन है और आत्मा से भिन्न है।

स्मृति, संशय, प्रतिभा, स्वप्नज्ञान, ऊहा, प्रत्यक्ष, सुखानुभूति वा इच्छा आदि मन के द्योतक हैं। इनके द्वारा मन का ज्ञान होता है। एक साथ इन्द्रियों के सब विषय रूप, रस, गन्ध आदि उपस्थित रहने पर भी सब का ज्ञान एक साथ नहीं हो सकता। इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रियां ही विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लें, ऐसा नहीं हो सकता। हमें पृथक् इन्द्रिय मन की सत्ता को स्वीकार करना ही पड़ता है। रूप, रस, गन्ध आदि का ग्रहण करने के लिये आत्मा और इन्द्रिय से भिन्न सहकारी मन का होना अनिवार्य है।

अब यदि वह मन आत्मा का सहकारी (आत्मा के अधीन) होकर कार्य में प्रवृत्त होगा, यदि इसके विपरीत आत्मा का अभीष्ट सिद्ध होगा, यदि इसके विपरीत आत्मा मन को अपने वश में नहीं रख सकेगा, अर्थात् आत्मा अपने अज्ञानवश मन को स्वाभीष्ट मार्ग में प्रेरित नहीं कर सकेगा, तो मन जहां चाहेगा जावेगा, इसका परिणाम नाश के अतिरिक्त कुछ न होगा।

मन पर बागडोर छोड़ी नहीं जा सकती

मन स्वभाव से चञ्चल, चलने में उच्छृङ्खल, शक्ति में दुर्निवार है।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥
(गीता ६।३४)

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥
(यजु० ३४।१)

वायु को वश में लाना जैसा अत्यन्त दुष्कर है, मन को वश में रखना भी वैसा ही अत्यन्त दुष्कर है। मन अत्यन्त बलवान्-अस्थिर और दुर्जेय है।

जागते में तो यह अद्‌भुत शक्तिवाला मन न जाने कहां-कहां निरन्तर जाता ही है, सोते में भी वैसा ही जाता रहता है। इसकी अद्‌भुत लीला है। कभी तो हजारों-लाखों रुपये के नोट-भूषण आदि अडोल पड़े मिल जाने पर भी, जहां कोई दूसरा व्यक्ति उसे देख भी नहीं रहा होता, वह उस के स्वामी को बहुत ही परिश्रम और कष्ट से समय लगा, खोजकर

उसे उस विपुल धन-राशि वा सम्पत्ति को पहुंचाता हुआ देखा जाता है और कहीं दो पैसे पर बेईमान (लोभाक्रान्त) होता देखा जाता है। जगत् में रात-दिन दौड़ लगाता है, सोते में भी इसी प्रकार गतिशील रहता है। कभी तोड़ने लगता है तो कभी जोड़ने लगता है। कभी टहलना चाहता है, कभी बैठना और कभी एकदम लेटना ही चाहने लगता है। एक दिन पहिले भी जो व्यक्ति अपने सगे भाइयों के साथ बंटवारे में एक पैसा भी छोड़ता नहीं, उसके लिये झगड़ा-मुकदमा-पञ्चायत सभी कुछ करने को तैय्यार है, चाहे उससे दोनों का नाश ही क्यों न होता हो, किसी की भी बात मानने को तैय्यार नहीं, वही व्यक्ति दूसरे ही दिन वैराग्यवान् होकर स्वयं विना किसी के कहे-सुने अपना सब कुछ देने को तैय्यार हो जाता है। मन की गति ही सहसा दूसरी ओर चल पड़ती है। मन जीवन में कभी-कभी पूर्णमासी के चन्द्रमा के प्रकाश समान प्रफुल्लित मुखमण्डल को भी क्षण भर में अन्धकार की गहरी रेखाओं से कलुषित कर देता है। कभी अमावस्या की भांति घोर अन्धकारपूर्ण परिस्थिति में प्रकाश की रेखा खींचकर निराश और दुःखपूर्ण मानव को क्षण में ऊंचा उठा देता है। आनन्दोत्सव हर्ष-प्रमोद को श्मशान में परिणत करता और श्मशान में सुख की दुकान लगाकर बैठता है। कभी विषपान करके तृप्त होता देखा जाता है। समस्त वसुन्धरा का आधिपत्य प्राप्त करके भी मन अशान्त रहता है। तीव्रगामी बड़ी-बड़ी पर्वतीय नदियों का वेग बड़े-बड़े बांध लगाकर रोका गया देखा जाता है, परन्तु मन के रुकने में सन्देह ही बना रहता है।

कहना यह है कि यदि मन पर वागडोर छोड़ दी जावे, सब चप्पू मन को दे दिये जावें, अर्थात् मन को कर्णधार बनाकर संसाररूपी समुद्र में यात्रा करना आरम्भ कर दिया जावे, तो ऐसी अवस्था में अपने आप पदे-पदे आपत्ति के लिये तैय्यार होकर ही ऐसा करना होगा। जीवनरूपी नौका किनारे लगेगी, इसकी आशा भी सर्वथा छोड़ ही देनी होगी। प्रायः यह सर्वत्र देखने में आता है कि मन के कर्णधारत्व में समय-समय पर नौका के डूबने की ही सम्भावना नहीं बनी रहती, अपितु ऐसी नौकायें डूबते-डूबते सैकड़ों-सहस्रों मनुष्यों के जीवनों को भी ले डूबती देखी जाती हैं।

अताड़ित मन अशासित हाथी

दृष्टान्त सामने है। एक शासित हाथी, जिसका शासक उसके ऊपर

बैठा है, उसके ऊपर बैठने में किसी को कुछ भय नहीं रहता। एक बच्चा भी ऊपर जा बैठता है, अथवा निःशङ्क बिठाकर उसके अभिभावक माता पिता आदि उसे स्थानान्तर की यात्रार्थ छोड़कर सर्वथा निश्चिन्त होकर अपने घर लौट जाते हैं और उस बालक के निर्दिष्ट स्थान पर पहुंच जाने में किसी को भी सन्देह नहीं होता, क्योंकि उस पर हस्तिपक (महावत) शासक के रूप में बैठा है, जिसके द्वारा कि वह हाथी सिधाया हुआ है। या किसी अन्य के द्वारा सिधाया होने पर भी वह उसे वश में रखने की कला जानता है। महावत भी सीखे (शासित) हाथी को ही वश में रख सकता है। यदि हम एक अशासित हाथी पर (विना काबू के, जिसे महावत ने सिखाकर सिधाया नहीं) अपने किसी प्रिय पुत्र वा बन्धु को बैठाकर निःशङ्क नहीं होते, या विना सधे बेकाबू घोड़े की पीठ पर अपने किसी प्रियतम बन्धु को बिठाकर सन्तुष्ट नहीं हो जाते, अथवा यदि हम एक चञ्चल अस्थिरमति अविश्वसनीय पुरुष वा स्त्री के हाथ में अपने प्रिय पुत्र वा पुत्री की यात्रा व पठन-पाठन का भार, नहीं-नहीं, उनके साथ बाजार से शाक-भाजी लाने का भार भी सौंपकर निश्चिन्त नहीं हो सकते, तो हम किस साहस से और किस युक्ति के बल पर मन को परिचालक-कर्णधारक के पदपर आरूढ़ करके निर्विघ्न, निश्चिन्त वा निःशंक होकर कार्यक्षेत्र में अग्रसर हो सकते हैं।

यदि हम एक वार नहीं, असंख्य वार भी यह कहें कि पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म के विचार में, कर्त्तव्य, बुराई-भलाई, उचितानुचित भक्ष्याभक्ष्य के निर्णय में, समय-समय पर परिस्तिथियों में किसी भी मार्ग विशेष के प्रवर्त्तन वा परिवर्त्तन में, सूक्ष्म-स्थूल विषयों की मीमांसा में, समय-समय पर जीवन की जटिल समस्याओं के विवेचन वा हल करने में, केवल मन का नियन्तृत्व वा नायकत्व ही निरापद नहीं, सदा ठीक बना रहेगा, तो भी हम नहीं कह सकते, कि हमने ऋत अर्थात् पूरी बात कही, इसमें सन्देह ही है।

केवल प्रतिभा से भी काम नहीं चल सकता

जो व्यक्ति यह समझते हैं कि 'शिक्षा के प्रभाव से मन परिमार्जित हो जाता है, तीव्रबुद्धि विचारशील ही देखे जाते हैं। प्रतिभासम्पन्न मनुष्यों की मानसिक शक्ति वा कार्य-शीलता स्वभावतः ही उज्ज्वल हुआ करती है, तीक्ष्णबुद्धि मनुष्य तत्क्षण ही भूत और वर्त्तमान को समझ

भावी का निश्चय कर लेते हैं, अल्पबुद्धि मनुष्य सोचता ही रह जाता है। इसलिए मन का नेतृत्व मानकर चलने में ऐसे पुरुषों के लिए कोई दोष नहीं। ऐसे व्यक्तियों द्वारा संसार का भी कोई अनिष्ट नहीं हो पाता, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि इतने से तो यही सिद्ध होता है कि मानवमात्र के लिए किसी न किसी प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था करना ही पर्याप्त है, परन्तु मन जिसके द्वारा शुद्ध शासित और संयत होकर उत्तम और पवित्र कर्मसमूह का अनुष्ठान कर सके, वह तत्त्वभूत वस्तु विशेषरूप से न तो केवल शिक्षा में विद्यमान है, न ही तीक्ष्ण-बुद्धि-शालिता में है, न ही प्रतिभामात्र में है।

संसार में अनेक व्यक्ति ऐसे देखे जाते हैं, जो अपनी बुद्धि की तीव्रता-प्रतिभा की उज्ज्वलता उत्कृष्टता के बल से जनसमाज में नेता वा प्रसिद्ध व्यक्ति कहकर प्रसिद्ध होने पर भी केवल मन की पवित्रता वा इन्द्रियसंयम के अभाव से पङ्क में पतित होकर, जैसे अन्यों को अपवित्र बना देते हैं, वैसे ही अत्यन्त अरुचि और घृणा भी उत्पन्न कर देते हैं। अतः केवल प्रतिभा और जनसाधारण प्रचलित शिक्षा वा सुतीक्ष्ण बुद्धि-शालिता पर ही मानवता का निर्भर नहीं है। इससे भिन्न गम्भीर वा उच्चतर ज्ञान, जो मनुष्य जीवन का गौरव वा भूषणस्वरूप है, वह केवल प्रतिभा के आश्रय से प्राप्त नहीं होता। 'श्रद्धया सत्यमाप्यते' (वेद) श्रद्धा से यथार्थता वा सत्यता की प्राप्ति होती है। 'श्रद्धावान् हि लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः', श्रद्धा के साथ संयतेन्द्रिय होना भी आवश्यक है।

वर्तमान प्रचलित शिक्षा से मन की शुद्धि असम्भव

फिर आजकल की शिक्षा से मन शुद्ध वा परिमार्जित हो सके, यह तो लगभग असम्भव ही है। ऐसी शिक्षा जिसका कोई आदर्श वा उद्देश्य नहीं, जिसकी सम्पूर्ण भित्ति अभारतीय (विदेशी) आदर्शों पर खड़ी की गयी हो, जो पाश्चात्य भूमि से संगृहीत वा समानीत हो, जिसके मूल में भारतीयता से दूर ले जाने की भावना सदा अग्रसर रही हो। जिसमें इङ्गलैण्ड में बैठे व्यक्तिविशेषों वा शासक वर्ग की अपने शासन चलाने मात्र की भावना रही हो। जैसा कि हम पूर्व दर्शा चुके हैं। जिन्होंने अपनी बुद्धिमता से भारत में, उसके स्वतन्त्र हो जाने पर भी, बहुत बड़ी संख्या में एक भारी ऐसा समुदाय पीछे छोड़ा हो, जो विदेशी शिक्षा से

दीक्षित, देखने में भारतीय, परन्तु रुचि-विचारभाषा में (पर्याप्त अंश तक) और भावों की दृष्टि से शुद्ध अभारतीय हो। जहां मुसलिम राज्य के ६००-७०० वर्षों में घोर अत्याचार और आक्रमण होने पर भी हमारी भारतीयता अक्षुण्ण रही हो, वहां पिछले केवल दो सौ २०० वर्ष के अङ्गरेजी राज्य में हमारी भारतीयता एक-चौथाई ही रह गयी प्रतीत होती है। देश का दुर्भाग्य है कि भारत स्वतन्त्र हो जाने पर भी देश के वर्त्तमान नेता या सञ्चालक निश्चय ही तीन-चौथाई अभारतीय भावनाओं से अनुप्राणित हैं, जिन्होंने माता की घुट्टी में ही अभारतीय भावनाओं का दुग्धपान, चाहे विदेशों में वा भारत में किया है, अर्थात् अङ्गरेजों के अपने स्वार्थ के लिये चलाये शिक्षाक्रम से ही शिक्षा-दीक्षा ली है, वे चाहते हुये भी भारतीय भावना तक नहीं पहुंच सकते। जैसे वाहिर का खादी क्या करेगा जव उनके घरों में विदेशी और केवल विदेशी वस्तुओं का ही साम्राज्य है, वैसे ही ऊपर से भारत—भारतीय और भारतीयता का उद्घोष करनेवालों के हृदयों में अभारतीयता का वीज ही नहीं, अपितु महान् वृक्ष उत्पन्न हो चुका है, जो इन लोगों की क्रियाओं द्वारा समय-समय पर सामने आता रहता है। देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यही है।

क्या जिसने किसी भारतीय शास्त्र का अध्ययन नहीं किया, जो संस्कृत भाषा समझ तक नहीं सकता, जो विदेशी भाषा का ही ज्ञाता हो, जो अभारतीय संस्कृति का उपासक ही नहीं, इस भारत में उसका प्रसारक हो जैसा कि गत ११ वर्ष में रहा, क्या ऐसे व्यक्ति के द्वारा भारत में भारतीय शिक्षा का उद्धार सौ वर्ष में भी हो सकता है!!! यह सब मृगतृष्णा के समान है। ऐसे लोगों के हाथ में शिक्षा का सञ्चालन वा संरक्षण रहा, तो आगे की भगवान् जाने। भारतीय शिक्षा का शुद्ध स्वरूप कदापि नहीं बन सकता। जो कुछ यत्न भी हो रहा है, वह पत्तों पर पानी छिड़कने के समान है, मूल तक पहुंचने की कुछ भी चिन्ता नहीं, ज्ञान नहीं।

भला ऐसी शिक्षा के प्रभाव से मन शुद्ध और संयत होना तो दूर रहा वह तो सर्वांश में ही चित्त का विक्षेप करनेवाली है, क्या इसको भी वतलाने की आवश्यकता है? इसलिए जब तक मन शुद्ध-संयत और शासित न हो तबतक उसका सञ्चालकत्व वा नियन्तृत्व स्वीकार करना कभी श्रेयस्कर नहीं हो सकता। इसी कारण संसार में इतना क्षोभ और

विडम्बना फैल रही है। इसी कारण मानव-जीवन या समाज-जीवन में बार-बार पतन वा स्खलन देखा जाता है, और विचारों में पुनः-पुनः भ्रान्ति उत्पन्न होती देखी जाती है। जहां व्यक्ति की यह दशा है, वहां समष्टि-समाज की अवस्था भी यही दृष्टिगोचर होती है, सब रोगों का मूल यही है, सर्वविध भ्रष्टाचारों की जननी यही है। जहां दृष्टि डालो, चोरी-भ्रष्टाचार का बाजार पूरे यौवन पर है। चोरों की गिनती करना असम्भवप्राय हो रहा है। वर्त्तमान शिक्षा ही इन पापाचारों वा चोरियों भूलों-त्रुटियों रूपी रोगों की जननी है। चोर को न मारो, चोर की मां को मारो, अर्थात् वर्त्तमान शिक्षा की बुराइयों को मूल से उखाड़ना होगा तभी रोग मूल से जायेगा, अन्यथा रोग बना रहेगा, ऊपर से शरीर स्वस्थ भले ही प्रतीत होता रहे।

हमें इस बात पर भी ध्यान देना होगा कि सब मनुष्यों का मन शुद्ध वा संयत नहीं हो सकता। सब संयम करके कार्यक्षेत्र में नहीं उतर सकते। क्या यह कार्य विना परिश्रम के यों ही सिद्ध होनेवाला है, कदापि नहीं। जिन लोगों का ज्ञान समुन्नत है, साधना में भी तत्पर हैं, तपस्या में भी आगे बढ़े हुए हैं, जब ऐसे लोग भी एक जन्म में यत्न द्वारा मन को पूरा संयत नहीं कर पाते, तो जो मनुष्य प्रकृति और भाषा को छोड़कर शेष सब क्रियाओं में पशु हैं (मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति) वा पशुओं के भी बड़े भाई हैं, जो सदा इन्द्रियों की ताड़ना से परास्त वा समाधान की पिपासा से अस्थिरमति हैं, जिनकी मानसिक स्थिति सदा ही डामाडोल अनिश्चित रहा करती है, जिनका उद्देश्य वा स्तर बहुत नीचे वा अपवित्र रहा करता है, जो घृणित से भी घृणित व्यक्तियों के पीछे दौड़ते हैं और उनके परिचयमात्र प्राप्त करने में भी अपने आपको कृतकृत्य समझते हैं, भला ऐसे लोग दुर्ज्ञेय मन पर कभी विजय प्राप्त कर सकते हैं? यह सब मृगतृष्णा खपुष्पवत् असम्भव ही है, ऐसा समझना चाहिये।

प्रचलित शिक्षा वा क्रम हमारे इस ध्येय को पूरा कदापि नहीं कर सकता, यह बात हमको यहां तक समझ लेना है। पत्तों को पानी देने से कुछ न बनेगा। सींचना है तो मूल को ही सींचना होगा। उपाय क्या है, इस पर हम आगे विचार करेंगे।

उपाय क्या है ?

भारतीय शास्त्र न केवल भारत की ही, अपितु संसार की अपूर्व

सम्पत्ति है। शास्त्र की आवश्यकता अनिवार्य है। विना सिखाये किसी को कुछ भी नहीं आ सकता। ऋषि, मुनि, आचार्य वा नेता सब नहीं हो सकते, क्योंकि मन की गति विचित्र है। मन पर ही सारी बागडोर नहीं छोड़ी जा सकती, क्योंकि इससे जीवनरूपी नौका पार लग जायगी, यह आश्वासन कभी नहीं मिल सकता। केवल प्रतिभा भी नायकत्व करने में असमर्थ है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली तो मन की शुद्धि वा कर्मशुद्धि में साधक हो ही नहीं सकती, वाधक अवश्य है।

ये सब विचार हम पहिले विज्ञ पाठकों के समक्ष सहेतुक रख चुके हैं। अब हम यह बताना चाहते हैं कि उपाय क्या है? जब प्रचलित ज्ञान वा प्रतिभा भी हमारा साथ नहीं देती, तब हमें इनसे ऊपर उठकर ही देखना होगा।

यदि यह कहा जावे कि जब मनुष्य के लिए शासित और शुद्ध अन्तःकरण होकर कार्यारम्भ करना साधारणतया असाध्य है, तो कर्म में प्रवृत्त न होकर हम एकदम निष्क्रिय ही क्यों न हो जावें। सो भी ठीक नहीं। संसार का कर्म-प्रवाह कभी बन्द होनेवाला नहीं। प्रयत्न जीव का स्वाभाविक लक्षण है। स्वाभाविक गुण सदा बना रहता है। सतत क्रियाशील रहना मन का धर्म है। मन तो किसी न किसी क्रिया में संलग्न रहेगा ही। और कुछ नहीं करेगा तो कार्यकलाप-सम्बन्धी विचार (चिन्तन) में ही व्यापृत रहेगा। कर्म से कभी विरत रहे, सो नहीं। इसीलिए मन सन्मार्ग में नहीं चलेगा, तो असत्य मार्ग में ही चलने लगेगा। शुभ कर्म में प्रवृत्त नहीं होगा तो अशुभ कर्म में ही प्रवृत्त हो जायगा। जोड़ेगा नहीं, तो फोड़ने ही लग जायगा। स्वर्ग (सुख-विशेष) का मार्ग नहीं पकड़ेगा, तो नरक दुःखविशेष का मार्ग ही ग्रहण कर लेगा।

यदि कोई कहे कि मन की गति ही वन्द कर दी जावेगी, जैसे खूंटे से बंधा बैल चाहे भी तो किसी को मार नहीं सकता, बन्धा है मारेगा भी कैसे? सो भी नहीं। 'मन को बांधना' यह एक शब्दसमूह है, जिस का अर्थ अत्यन्त असाध्य ही समझना चाहिये। यह हम पहिले बता चुके हैं कि बड़े-से बड़े बांध बांधकर तीव्रगामी बड़ी-बड़ी नदियों के वेग को रोका गया देखा जा सकता है जैसा कि भारत में नांगलबांध, उससे बड़े-बड़े कार्य सिद्ध किये जा सकते हैं, परन्तु मन के रुकने में सन्देह ही बना

रहता है। 'न जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' मन तो कभी रिक्त नहीं रह सकता। उसको बांध दिया जावे, वह कुछ भी न करे, यह तो असम्भव ही है, जैसा कि हमने ऊपर दर्शाया। हां! उस के वेग की दिशा बदल देना सम्भव है, निर्दिष्ट स्थान वा उद्देश्य पर पहुंचने के लिए यही एक उपाय है।

मलिन मन मलिनता को बढ़ाता है

इस विवेचन से यह बात सहज ही समझ में आजाती है कि अशासित मनवाला व्यक्ति संसार में समस्त दुष्कर्मों की सृष्टि ही करता रहेगा, सुकर्म की नहीं। जैसे अशासित हस्ती सदा ही भयङ्कर परिस्थिति को उत्पन्न करता रहेगा, वैसी ही अवस्था अशासित मनवाले व्यक्ति की होती है। जब ऐसा ही है, तब क्या असंस्कृत अशासित मनवाले व्यक्तियों द्वारा प्रतिदिन महान् अपकर्म समूह संगृहीत होता जायगा या नहीं? और यह अपकर्मसमूह सञ्चित और वर्धित होकर संसारक्षेत्र में अति प्रबल और भयङ्कर कर्मविभ्रान्ति उत्पन्न करेगा वा नहीं? जब एक तडाग (तालाब) में गन्दे पानी की नालियां धड़ाधड़ और बड़ी संख्या में प्रतिक्षण पड़ती जा रही हों, तो भला उसका पानी पीने योग्य किसी प्रकार रह सकता है? उस गन्दे पानी के संग्रह से कितनी घोर दुर्गन्ध (सडांद) उत्पन्न होगी, यह सहज में समझा जा सकता हैं। इसी प्रकार अशासित मनवाले व्यक्तियों द्वारा वह अपकर्मसमूह वा कर्मविभ्रान्ति समस्त विषमताओं—विपरीत भावनाओं—पाप और अशान्ति का कारण बनकर मानव-समाज को विक्षुब्ध वा ध्वस्त करेगी या नहीं? ऐसी अवस्था में जो संसार में अपने पूर्वसञ्चित अपकर्मों के मल को दूर करने के लिये मनुष्यदेह पाकर अपने अभ्युत्थान की अनेकविध आशाओं को लेकर अग्रसर हो रहा है, उसकी क्या दशा होगी? अपकर्मजनित मैल को धोने के लिये साधन ही न रहेगा, तब तो नरक ही भरेगा। उस नरक में से कोई निकल तो पायेगा नहीं, आत्मशुद्धि होगी नहीं। जिस मनुष्य ने मोक्ष (दुःखात्यन्तनिवृत्ति) का यात्री होकर अमृतत्व का अधिकारी होने के लिये मर्त्यलोक में जन्म लिया है, उस मनुष्य की क्या दशा होगी? संसार की परिस्थिति ही अस्तव्यस्त हो जायगी। इसलिये हमने ऊपर कहा कि शासित मन ही शासित हस्ती के समान निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचा सकता है, अशासित कदापि नहीं।

ऋषियों का आश्रय

मनुष्यकृत पुञ्ज-पुञ्ज अपराध और अकर्मजनित कर्मविभ्रान्ति से संसार को बचाने के लिये ही महापुरुषों का आविर्भाव हुआ करता है। हमें ऐसी आत्माओं का आश्रय वा शरण लेनी होगी। ऐसे महापुरुषों का ही हमें पल्ला पकड़ना होगा, जो निश्चित ही शासितमन, समुन्नतबुद्धि और 'परोपकाराय सतां विभूतयः' जन-समाज के अयाचित हितैषी हों। 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः' जिन्हें पर-अपर का साक्षात् दर्शन = ज्ञान हो चुका हो। जो स्वाति नक्षत्र (जिसमें वर्षा होने पर जल की प्रत्येक बूंद मोती-मुक्ता का रूप धारण कर लेती है) के समान मानव-समाज में उदित होकर मानवलोक में कल्याण-जल की वर्षा करते हैं। संसार के प्राणरूप होकर पतनोन्मुख समाज को अनुप्राणित वा सजीव बना देते हैं और उसके प्रवाह को बदल देते हैं और उसको कल्याणोन्मुखी करने के लिये केवल शिक्षा वा उपदेश देकर ही शान्त नहीं हो जाते, अपितु जो कुछ भी यथार्थता है, श्रेयः है, उसे ही जीवन का लक्ष्य वा ध्येय बनाकर मनुष्यकृत पुञ्ज-पुञ्ज अपराध और अपकर्मजनित कर्मसमूह से बचाने में समर्थ होते हैं, स्वयं सन्नद्ध हैं। जिन्हें इसके लिये किसी प्रतीकार की आवश्यकता ही नहीं, अपितु इच्छा भी नहीं होती। जो भूत-वर्तमान और भविष्यत् को ध्यान में रखकर मानव-समाज का भविष्य निर्धारित करने में कुशल होते हैं, जिन्हें किसी विशेष वर्ग जाति वा देश का प्रेम वा मोह ही न हो, अपितु मानवमात्र को सुमार्ग पर ले चलने की सच्ची और उत्कट भावना हो, ऐसे ही उच्च आत्मा संसार के कर्णधार और समाज के नायक हो सकते हैं। वे ही जीवनयात्रा के परिचालक हो सकते हैं। यह लोग जन-साधारण की भाषा में 'महापुरुष', ज्ञानियों की भाषा में 'आचार्य', आधुनिक भक्तजनों की परिभाषा में 'अवतार' और शास्त्र की परिभाषा में 'ऋषि' कहलाते हैं।

ऋषि वा आचार्य का लक्षण

हर किसी को महापुरुष, आचार्य वा ऋषि नहीं कहा जा सकता, वा माना जा सकता है। अज्ञ जनता में इन शब्दों का दुरुपयोग वा मिथ्या प्रयोग होते प्रायः देखा जाता है। शास्त्र तो 'साक्षात्कृतधर्मा' जिसे धर्म का साक्षात्कार हो, उसे ही 'ऋषि' कहता है। जिसको जिस विषय का साक्षात् ज्ञान है, वह उस विषय का ऋषि कहाता है। वैदिक साहित्य में

तो 'ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्श' (निरुक्त २।११) मन्त्रार्थद्रष्टा को ऋषि कहा गया है। संसार को मार्ग दर्शानेवाले को ऋषि कहते हैं। महामुनि पतञ्जलि महाभाष्य में 'ऋषिः पठति शृणोत ग्रावाणः' में 'ऋषिर्वेदः' वेद को ही ऋषि बतलाते हैं।

'आचार्य' शब्द यद्यपि ऋग्वेद, यजुः, साम तीनों में नहीं आया। अथर्ववेद ११।५ ब्रह्मचर्यसूक्त में 'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः' (अथर्व० ११।५।३) 'आचार्य' का जो निरूपण किया गया है, उसके आधार पर ही सभी धर्मशास्त्रों ने आचार्य का लक्षण प्रायः समान ही किया है—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥

(मानवधर्मशास्त्र २।१४०)

इसका यही अभिप्राय है कि जो ८ वर्ष से लेकर कम से कम २५ वर्ष की आयु तक बालक के आचार-व्यवहार तथा उसके समस्त ज्ञान-विज्ञान का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले, सङ्कल्प और सरहस्य वेद का अध्ययन करावे, वही 'आचार्य' कहाता है।

निरुक्तकार यास्कमुनि ने भी 'आचार्य' का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

"आचार्यः कस्मात् ? आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्। आचिनोति बुद्धिमिति वा ॥" (निरुक्त अ० १।४)

जिसका भाव भी यही है, जो ऊपर कहा गया है। नवीन युग वा नव भारत के निर्माता ऋषि दयानन्द 'आचार्य' का लक्षण करते हैं—

"आचार्य उसको कहते हैं, जो साङ्गोपाङ्ग वेदों के शब्द, अर्थ, संबंध और क्रिया का जाननेहारा, छल-कपट रहित, अतिप्रेम से सबको विद्या का दाता, परोपकारी, तन-मन और धन से सबको सुख बढ़ाने में जो तत्पर, महाशय, पक्षपात किसी का न करे और सत्योपदेष्टा, सबका हितैषी, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय हो" (संस्कारविधि, उपनयन संस्कार)।

'आचार्य' पदवी कितनी पवित्र, उच्च, उत्तरदायित्वपूर्ण है, यह पाठक स्वयं विचार सकते हैं। सुगन्ध वह है, जिसे नासिका इन्द्रिय कहे, न कि वह जो उसका बेचनेवाला कहे। इसी प्रकार 'आचार्य' की सुगन्ध उसके अपने जीवन से ही मिलती है, न कि स्वयं कहने से या कहलाने से।

उपर्युक्त लक्षणों से युक्त आचार्य और ऋषि ही मानव-जाति को ऊंचा उठा सकते हैं। ऐसे महापुरुषों के विना मानवीय जीवनरूपी नौका निर्दिष्ट वा अभीष्ट स्थान पर पहुंचेगी, इसमें सन्देह ही बना रहेगा। अतएव मानवीय जीवन की सफलता वा लक्ष्यपूर्त्ति का एकमात्र साधन ऋषियों द्वारा निर्दिष्ट (आर्ष) मार्ग वा प्रणाली का अवलम्बन है। मानव-समाज सदा ही दुःख-अशान्ति-परस्पर विरोध-विद्वेष-स्वार्थपरता परहितहानि और विक्षुब्धता की भावनाओं से निरन्तर ओत-प्रोत रहेगा, जब तक ऋषियों द्वारा निर्दिष्ट आर्ष मार्ग वा प्रणाली का आश्रयण नहीं करेगा, क्योंकि 'सत्यं वै देवाः, अनृतं मनुष्याः' (शतपथ) देव, ऋषि लोग ही पूर्णज्ञानी, निरपेक्षसत्यनिष्ठ, निरीह, सर्वकाल परहित में रत होते हैं, मनुष्य में तो कुछ न कुछ न्यूनता बनी ही रहेगी। ये सब भाव 'ऋषि' और 'आचार्य' शब्दों में अन्तर्निहित हैं, यही हमको कहना है।

ऋषियों का स्थायी दर्शन, साहित्यरूपी सञ्जीवनी शक्ति का प्रादुर्भाव

यहां यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि पतनोन्मुख समाज की रक्षा करने के लिए ही ये महान् आत्मायें समय-समय पर आती हों, सो बात नहीं, अन्य समयों में भी इनका प्रादुर्भाव अवश्य होता रहता है। ये मानवहित की भावना वा संकल्प में ही अपने पवित्र तथा उत्कृष्ट जीवन को यापन करते हैं, परन्तु समाज के ये प्राणरूप मानवरत्न सब समयों में, सब देशों में प्रादुर्भूत होते हों सो बात नहीं। अर्थात् मानव-समाज को उनकी जब आवश्यकता हो, तभी वे प्राप्य हों, ऐसा नहीं। दिन और रात्रि की भांति नियत अवधि के पश्चात् ही हमें जैसे सूर्य का दर्शन अविलम्बित होता रहता है, ऐसे ही वे महापुरुष जब हम चाहें, जब हमें उनकी वा उनके नेतृत्व की अनिवार्य आवश्यकता हो, तभी हम उन्हें पा सकें, ऐसा नहीं हो सकता। 'यावत् चन्द्रदिवाकरौ' सर्वकाल वे बने नहीं रह सकते। एक परिमित अवधि में सशरीरी का अन्त अनिवार्य है। 'भस्मान्तं शरीरं' (वेद) शरीर का नष्ट होना अनिवार्य है। ये तो सच्चिदानन्दस्वरूप महान् प्रभु की अल्पकालिक देन होते हैं, उसकी व्यवस्थानुसार ही उनका प्रादुर्भाव हुआ करता है। कहना यह है कि पापनाशक पवित्र संसर्ग, अर्थात् इन उपर्युक्त ऋषि-मुनि-आचार्यों की

सत्सङ्गति सबको सब समय में हो नहीं सकती। देहधारी होने से ये परिमित आयुवाले ही रहेंगे, अपरिमित आयुवाले नहीं। दो-चार पीढ़ी तक ही मानव-समाज इनकी सङ्गति से उपकृत हो सकेगा, सदा के लिए नहीं और सब स्थानों में नहीं। उनके अभाव में मानवसमाज को लोक-साधारण के प्रमादपूर्ण नेतृत्व अर्थात् अशासित मनवाले व्यक्तियों के समूह का नेतृत्व ही स्वीकार करना होगा।

ऐसी अवस्था में उन पवित्र आत्मा ऋषियों के अभाव में मानव-समाजकृत अपकर्म-समूह के सतत अनुष्ठान से संसार में पुनः-पुनः अपकर्मजनित राशि वा अपार कर्म-विभ्रान्ति (कोई शोधक वा नायक न होने से) सञ्चित होने लगेगी। इन पवित्र आत्मा ऋषियों के पश्चात् भी मानवसमाज अपने जीवन को सर्व प्रकार संयत रख सके, शासन के बाहिर न जा सके, इसके प्रतीकारार्थ पूर्वोक्त महापुरुष-नेता-ऋषि वा आचार्य साहित्य-निर्माण की संजीवनी-शक्ति का आश्रय लेकर, मानव-हित की दृष्टि से चिरञ्जीवी रहने की इच्छा करते हैं वा लोक उनके चिरञ्जीवी रहने की इच्छा करता है और वे लेखबद्ध होकर चिरञ्जीवी बनने लगते हैं और अपनी-अपनी कृतियों अर्थात् शास्त्रों के भीतर अपने-अपने विचारों के अनुरूप शाब्दिक देहधारी बनकर मनुष्यों को सर्वकालिक तथा सार्वदेशिक शिक्षा प्रदान करते हैं। इस प्रकार उन की हित-भावना वा लोक-उपकार का स्रोत बन्द न होकर सदा सर्वदा और सर्वत्र उनके द्वारा दर्शाये मार्ग को वा शास्त्ररूपी कम्पास को निरन्तर बनाये रखता है।

ग्रन्थ-प्रणयन का इतिहास

ग्रन्थ-निर्माण का यही इतिहास है। इसलिए यास्कमुनि अपने निरुक्त में कहते हैं कि जब सर्वसाधारण की शक्ति में ह्रास होने लगा (क्योंकि वैदिक सिद्धान्त तो ह्रासवाद को मानता है, विकासवाद को नहीं, शनैः शनैः मनुष्य की शक्ति में कमी होती जाती है, वृद्धि नहीं) तब ऋषियों ने यह देखकर कि यह वैदिक विज्ञान – वेद का तत्त्व कहीं संसार से लुप्त ही न हो जावे, वेदाङ्गों की रचना की, जिसमें वेदार्थ की परम्परा निरन्तर बनी रही। महामुनि पतञ्जलि ने भी व्याकरण शास्त्र बनाने के १८ प्रयोजन बताये, जिनमें सर्वप्रथम और सर्वमुख्य है—'रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्' (महाभाष्य) वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण

अध्ययन अनिवार्य है, इसके लिये व्याकरण का निर्माण हुआ, निरुक्तकार का वह प्रसिद्ध वचन निम्न प्रकार है—

'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः । तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः । उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च ।' (निरु० १।२०)

पाठक इस स्थल की विशद व्याख्या ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तृतीय सं० पृष्ठ ३६८ पर, वा हमारे बनाये "वेद और निरुक्त" नामक ग्रन्थ पृ० ५, ६ में देखें।

हमें यहां यह बताना है कि ग्रन्थों का निर्माण कैसे आरम्भ हुआ। सर्वसाधारण की स्मृतिशक्ति तथा धारणाशक्ति में ह्रास आ जाने पर ही ग्रन्थों का निर्माण हुआ। पहिले ग्रन्थों की आवश्यकता ही नहीं थी, धारणाशक्ति वा स्मरणशक्ति से ही सब कार्य चल जाता था, यह बात बुद्धि और इतिहास द्वारा सिद्ध है।

ऋषि लोग अब भी वर्तमान हैं

क्या कोई कह सकता है कि पाणिनि वा पतञ्जलि मर गये। गोतम और कणाद नहीं हैं। व्यास और जैमिनि का अब दर्शन कैसे हो? वाल्मीकि और योगिराज कृष्ण नहीं रहे। क्या शङ्कर और दयानन्द सदा के लिये लुप्त हो गये? क्या इन सब ऋषियों, पवित्र महान् आत्माओं की मृत्यु हो गई? कदापि नहीं। क्योंकि जब भी इन व्यक्तियों से बात करना चाहो, इनकी सङ्गति प्राप्त करना चाहो, जीवन-सम्बन्धी प्रकाश इनसे लेना हो, सामने खड़ी अलमारी के पास जाइये, जिनसे भी बात करना हो, उनकी कृति—पवित्र ग्रन्थ उठाकर देखिये, वह क्या कहते हैं। देखनेवाले के नेत्र होने चाहिये। अवश्य दर्शन होगा जो चाहे कर ले। महापुरुष किसी जाति वा देशविशेष की सम्पत्ति वा धरोहर नहीं होते, वे तो मानवमात्र के आत्मीय होते हैं और मानव-समाज उन का आत्मीय होता है। वे केवल भारतनिवासियों के गृहों में ही निवास करते हों, सो बात नहीं, अपितु जर्मनी-इङ्गलैण्ड-अमेरिका-फ्रांस-रूस और जापान आदि भूमण्डल के सभी देशों के पुस्तकालयों में बहुत बड़ी संख्या में विद्यमान मिलेंगे। वे ब्रह्मज्ञान वा वैदिकज्ञान के गम्भीर तत्त्वों को भारतनिवासियों पर ही व्यक्त नहीं करते, अपितु विश्व के समस्त देशों के समक्ष अपनी व्याख्यायें सदा प्रस्तुत करते हैं। ऐसे एक-दो हों, सो बात नहीं, जो भी महापुरुष भारतसमाज के गौरव रूप होकर पृथिवी में

प्रसिद्ध हुए, जो आर्यावर्त्त के भूषण, आर्यजाति के शिरोमणि रूप से आज भी संसार में सम्मानित हो रहे हैं, वे प्रायः सभी आज भी शब्दरूपी देह-धारी होकर अपने-अपने ग्रन्थों के भीतर विद्यमान हैं। वही मनु और वाल्मीकि, वही पाणिनि और पतञ्जलि, वही कणाद और गौतम, वही जैमिनि और व्यास, वही वसिष्ठ और याज्ञवल्क्य, अपने-अपने रचे शास्त्रों में शाब्दिक देहधारी होकर भारत के प्रदेशों में आज भी विद्यमान हैं।

भारत का ही नहीं, संसार का परम सौभाग्य रहा कि इनकी कृतियां मानव-समाज को निरन्तर मिलती जा रही हैं। अनेक विप्लव और विद्रोहों के अनन्तर भी, सैकड़ों बार नष्ट किये जाने पर भी उनकी कृतियां मिलती चली जा रही हैं, सङ्कट आने पर भी आज तक हमारे पूर्वजों ने इन्हें कण्ठस्थ रखकर भी इनकी सदा रक्षा की।

राजा जयकृष्णदास का महान् उपकार

वर्त्तमान नवीन भारत के निर्माता, प्राचीन ऋषि-मुनियों के प्रति-निधि महान् दयानन्द की विचारधारा को शाब्दिक देहधारी (ग्रन्थ) रूप में लाने का सौभाग्य मुरादावाद निवासी राजा जयकृष्णदासजी को है, जिनकी अपूर्व दूरदर्शिता तथा भक्तिपूर्ण प्रेरणा से कौपीनधारी, गङ्गा-तट की रेती में विचरता हुआ वह महान् दयानन्द आज भी शाब्दिक देहधारी होकर हमारे सामने प्रस्तुत है। जिनको पहिले अपने विचार स्वयं न लिखकर अपनी विचारधारा केवल बोलकर लिखा देने पर ही उद्यत किया गया था या वह उद्यत हो गये, ऐसा करना मान गये। नहीं तो दयानन्द सदा के लिए लुप्त हो जाते। भावी सन्तति आर्यसमाज फर्रुखाबाद को सदैव स्मरण करती रहेगी, जिस ने लंगोटबन्द दयानन्द को वेदभाष्य जैसी अपूर्व रचना के लिए आरम्भिक सहायता देकर, भारत की नहीं, संसार की एक अपूर्व सेवा की। उक्त राजा जयकृष्ण-दास तथा आर्यसमाज फर्रुखाबाद ने दयानन्द को जो सत्यार्थप्रकाश-संस्कारविधि-वेदभाष्यादि में शाब्दिक देहधारी दयानन्द बना दिया, इसके लिए आर्यजाति इनकी सदा ऋणी रहेगी। जीवन-सम्बन्धी किसी समस्या का हल चाहो, सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका उठाकर जब देखो, दयानन्द उसमें बोलता हुआ मिलेगा।

शास्त्ररूपी कम्पास

कौन कहता है कि भारत में ऋषि वा आचार्य नहीं रहे। भारत अनाथ है ? कदापि नहीं इस प्रकार हम पूछते हैं, शास्त्र के समान सार्वकालिक वा सार्वभौम वस्तु और कौन सी है ? शास्त्र जैसा सार्वकालिक मित्र वा अयाचित हितैषी और कौन हो सकता है। मानवसमाज की रक्षा के लिए शास्त्र सब काल प्रहरी बनकर खड़ा रहता है। सदा मार्ग दर्शाने में तत्पर वा उपस्थित रहता है। शास्त्र ही कर्म-अकर्म-विकर्म का विवेचन करते हैं। क्या सत्य है क्या असत्य, इसका विवेचन शास्त्र करता है। मनुष्य जितनी बार भी दुर्निवार इन्द्रिय दंश से दष्ट होकर क्षत-विक्षत होता रहता है, शास्त्र उतनी बार ही उस पर औषध लगाकर मनुष्यमात्र का उपकार करते हैं। उपाय बताते हैं, अन्धकार दूरकर प्रकाश की रेखा खींच देते हैं, जिससे यह सहस्रछिद्रयुक्त मानवरूपी नौका संसारसागर के भयङ्कर भंवरों में पड़कर डूब न जाए, उसके निमित्त शास्त्र कंपासरूपी यंत्र बनाकर मनुष्य के सामने विद्यमान रहते हैं।

नान्यः पन्था विद्यते

इसीलिए हमारा कहना है कि शास्त्र सार्वभौम-सार्वकालिक मित्र वा अयाचित हितैषी है और कोई नहीं। शास्त्र किसी एक वर्ग, जाति व देश का न होकर मानवमात्र का होता है, वास्तविक स्थिति यही है। वेद-उपनिषद्-भगवद्गीता-रामायण-महाभारत और सत्यार्थप्रकाश किसी एक देश, वर्ग वा जाति की सम्पत्ति नहीं हैं। भगवद्गीता संसार के प्रायः सभी देशों में मूल तथा तत्-तद् देश की भाषा में टीकासहित प्रकाशित हुई है। आप भारतवर्ष के ऋषि-मुनियों के जितने ग्रन्थ पावेंगे, प्रायः करके उन पर कर्त्ता का अपना नाम तक नहीं मिलेगा। कापीराइट का तो प्रश्न ही क्या !!

अतः हम सार्वभौम-सार्वकालिक वा अयाचित हितैषी=पुरोहित (जो बिना ही कहे, पूछे सर्वकाल में हित का ही निर्देश करता है) अर्थात् शास्त्र का आश्रय लेना परमावश्यक है। मानवसमाज के उत्थान वा कल्याण का यही उपाय है—

'नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (वेद)

और कोई दूसरा मार्ग नहीं, जो मानव को उसके निर्दिष्ट ध्येय तक पहुंचा सके।

संसार को इस मर्म वा रहस्य को जानने वा जनाने की आवश्यकता है। समय आवेगा। जब इस महा सन्तप्त वा अत्यन्त विक्षुब्ध संसार को आर्ष ज्ञानरूपी कम्पास का आश्रय लेना होगा और प्रतिक्षण वायु-मण्डल में मण्डराते रहनेवाले युद्धरूपी मेघ नष्ट होकर मानव जाति सुख वा शान्ति के शुभ दर्शन कर सकेगी!!!

शास्त्र-प्रधान आर्यजाति का फिर नाश कैसे हुआ, अमृतरूप शास्त्र में विष का अंश है या नहीं, शास्त्रशुद्धि की परमावश्यकता क्यों है, शास्त्र-शुद्धि से ही कर्म-शुद्धि होगी। वर्तमान शिक्षा किसी प्रकार की भी शुद्धि करती है या नहीं, अथवा कहां तक विविध अशुद्धियों का ही सृजन करती है, इत्यादि विवेचन हम आगे करेंगे।

शास्त्रशुद्धि

मलिन मन मलिनता को ही बढ़ाता है। अशासित मनवाला व्यक्ति अपकर्मों के समूह को उत्पन्न करता हुआ कर्मविभ्रम-विपरीत भावनाओं पाप वा अशान्ति का ही कारण बनेगा। मनुष्यकृत पुञ्ज-पुञ्ज अपराध और अपकर्मजनित कर्मसमूह से बचाने के लिए ही ऋषियों का आश्रय लेना अनिवार्य है। ऋषि ग्रन्थरूप शरीर धारण कर सदा विद्यमान रहते हैं। दूसरे शब्दों में शास्त्ररूपी कम्पास जीवनरूपी पोत (नौका) को निर्दिष्ट-गन्तव्य स्थान पर पहुंचाने के लिए सदा प्रस्तुत रहते हैं, चक्षु तथा बुद्धि से काम लेने की आवश्यकता है। यह हम पूर्व कह चुके हैं।

अब हमें आगे यह विवेचना करनी है कि संस्कृत भाषा में अब तक जो कुछ भी लिखा जा चुका है, वह सबका सब ग्राह्य है वा नहीं? शास्त्र है, ऋषियों का बनाया है? इसका उत्तर एक शब्द में यही है कि नहीं। संस्कृत भाषा में लिखी गई ग्रन्थराशि में तो अच्छे-बुरे सभी ग्रन्थ हैं। संस्कृत साहित्य में वेद-उपवेद, ब्राह्मण-उपनिषद्-वेदाङ्ग-उपाङ्ग-रामायण-महाभारत आदि सब रत्न हैं, उसी राशि में वाममार्ग के अत्यन्त गन्दे और बीभत्स ग्रन्थ भी हैं। कहना होगा एक ही राशि में अमृत और विष भरा है। यदि ऐसा है, अथवा जब यह बात समझ में आ जावे कि संस्कृतसाहित्य में अमृत और विष का मिश्रण है, तब यह विवेचन अनिवार्य हो जाता है, कि हमें विष और अमृत का विश्लेषण करना ही होगा। इस विवेचन में अत्यन्त ही सावधानता और योग्यता की आवश्यकता है।

आज का हमारा मुख्य प्रतिपाद्य विषय यही है। शास्त्रशुद्धि से हमारा यही अभिप्राय है कि इस विष और अमृत के मिश्रित ढेर में से हमें विषयुक्त अंश छोड़ देना होगा, तभी शास्त्र विशुद्ध रूप में हमारे सामने आयेगा।

शास्त्रप्रधान आर्य (हिन्दू) जाति

यह मानना पड़ेगा कि भारत जैसा शास्त्रप्रधान देश तथा आर्य (हिन्दू) जाति जैसी शास्त्र प्रधान जाति संसार में कहीं नहीं मिलेगी। शास्त्र की आवश्यकता अनिवार्य है। यह हम ऊपर कह चुके। ऋषियों की, वा शास्त्र की, या धर्म की गहरी छाप हमें भारत के प्रत्येक आर्य (हिन्दू) परिवार में मिलेगी, चाहे उसका रूप कैसा ही हो, यह दूसरी बात है। राजा से रङ्क तक आबालवृद्ध स्त्री हों या पुरुष, शास्त्ररूपी पुल के नीचे से सबको निकलना पड़ता है। जन्म से लेकर मरण पर्यन्त १६ संस्कार तो भला शास्त्रीय हैं, जिनसे कोई आर्य नहीं बच सकता, इनसे अतिरिक्त कहां-कहां किस-किस प्रकार के अनुष्ठान, धार्मिक क्रियायें, भिन्न-भिन्न विश्वासों के आधार पर यज्ञ-जप-दान-पुण्य, आदि कार्यकलाप प्रतिदिन प्रत्येक परिवार में, प्रत्येक स्त्री-पुरुष द्वारा किये जाते हैं, इनकी कोई सीमा नहीं, और ये गणना में भी नहीं आ सकते। जब अखण्ड भारत की जनगणना सम्वत् १९५८ (सन् १९०१) में लगभग २१ करोड़ थी, तब भी भारत के देवताओं की संख्या ३३ करोड़ मानी जाती रही, जो अब तक भी मानी जा रही है। १ व्यक्ति के लिए १॥ डेढ़ देवता, वा एक परिवार के १० व्यक्तियों के लिए १५ देवताओं का हिसाब पड़ता है। यह कहां तक ठीक है, या इसका स्वरूप क्या है, सम्प्रति इस पर हम कुछ नहीं कह रहे। हमारा कहना यह है कि जीवन के सब स्तरों में, सब विभागों में आर्यों (हिन्दुओं) के समान और कोई शास्त्रानुवर्त्ती होकर चलनेवाला नहीं। बुद्ध-शङ्कर-नानक-दयानन्द-टैगोर-गान्धी-श्रद्धानन्द-मालवीय-सुभाष-अरविन्द और पटेल इससे बचे हों, सो बात नहीं। माता स्वरूपरानी जीवित होतीं तो पता लगता कि धर्मनिरपेक्ष जवाहर के लिये क्या करतीं और किया होगा। राजेन्द्रबाबू, राजगोपालाचार्य, टण्डन, अम्बेदकर, श्यामाप्रसाद मुकर्जी, जयप्रकाश नारायण, घनश्यामसिंह गुप्त और स्वामी आत्मानन्द सरस्वती की माताओं ने क्या-क्या मनौती मनाई होंगी और शास्त्रानुवर्ती होकर

क्या-क्या किया होगा !! कोई प्रत्यक्षदर्शी ही इसको ठीक-ठीक बता सकता है। अब ये लोग बातें चाहे कितनी कर लें, धर्मशास्त्ररूपी पुल के नीचे से निकले विना इनमें एक नहीं बचा, यह तो निश्चित है। अम्बेदकर की माता ने भी न जाने क्या-क्या कष्ट उठाकर आर्यधर्म की मर्यादाओं का पूर्ण श्रद्धा से पालन किया होगा।

भारत में शास्त्रनिरपेक्ष मत नहीं चल सकते

प्रसूतिगृह से लेकर श्मशान पर्यन्त जीवन के सब स्तरों में, सब विभागों में आर्यों (हिन्दुओं) के समान शास्त्र को मानकर चलनेवाला कोई शास्त्रानुवर्त्ती होकर चलने में समर्थ नहीं। शास्त्रविश्वास आर्य (हिन्दू) जाति के रक्त-मांस के साथ-साथ जुड़ा हुआ है। शास्त्रों में निष्ठा आर्यों (हिन्दुओं) के लिए स्वभावसिद्ध है। एकदम शास्त्र को अग्राह्य करके, शास्त्र को दूर फेंककर, इस देश में धर्म का सुधार तथा समाज का सुधार करना दोनों ही असम्भव हैं।

यह भी एक इतिहास की बात है कि हिन्दूधर्म में जिस-जिसने और जब-जब भी शास्त्र को अग्राह्य करके वा दूर फेंककर देश में धर्म का सुधार या समाज का सुधार करना चाहा, वह कभी सफल नहीं हुआ।

देखिये, यदि गहराई से देखा जावे तो जैन और बौद्ध भी आर्यधर्म के अङ्ग 'अहिंसा' को लेकर ही तो प्रवृत्त हुए, जो आर्यधर्मशास्त्रसम्मत है, इसीलिए बौद्धमत-जैनमत का प्रचार भारत में पर्याप्त समय तक रहा। पीछे अनीश्वरवाद भक्ष्याभक्ष्य का त्याग वा दूसरे शब्दों में आर्य धर्मशास्त्र के परित्याग के कारण ही जैन और बौद्धमत भारत में उन्नति के शिखर पर पहुंचकर भी अन्त में एकदम अस्त हो गये। अपने पीछे अपनी एक स्मृतिमात्र छोड़ गये। भारतीय विभिन्न मत-प्रवर्त्तकों में जो भी हुए, इन्होंने यद्यपि कभी किसी शास्त्र का प्रमाण स्वीकार न भी किया हो, महात्मा बुद्ध ने यद्यपि स्वयं कोई ग्रन्थ नहीं रचा, बौद्धधर्म किसी शास्त्रविशेष की अपेक्षा नहीं करता, पुनरपि बुद्ध के पीछे उनके अनुयायियों द्वारा उनके उपदेशों के संग्रह ने शास्त्र का रूप धारण तो कर ही लिया, तभी तो बौद्धधर्म इतने दिनों तक जीवित रह भी सका। शैव-वैष्णव-जैन-बौद्ध-कबीरपन्थी-नानकपन्थी—किसी को भी लें, ग्रन्थ (शास्त्र) का सहारा लेकर ही ये जीवित रहे वा रह रहे हैं। वामियों तक ने भी शास्त्र बनाया, चाहे वह पञ्च मकारों (मद्य-मांस-मत्स्य-

मुद्रा तथा मैथुन) का ही प्रतिपादन करता था। कोई सम्प्रदाय विना शास्त्र के सहारे भारतभूमि में कभी बद्धमूल नहीं हो सका।

भारत में ब्रह्मसमाज क्यों नहीं पनपा ?

प्रत्येक मत वा सम्प्रदाय ने शास्त्र का नाम लेकर ही इस आर्य (हिन्दू) जाति को अपने विचार देने की प्रेरणा की। हम नहीं कह सकते भारत में ब्रह्मसमाज को छोड़कर कोई और भी सम्प्रदाय वा मत है, जिसने भारतीय साहित्य में किसी प्रचलित शास्त्र के किसी अंश को भी आधारभूत न मानकर केवल अपनी अभिरुचि-तर्क वा स्वभावसिद्ध साधारण बुद्धि के ऊपर ही सम्पूर्ण रूप से निर्भर किया हो। पर क्या ब्रह्मसमाज इस देश की सर्वसाधारण हिन्दूजाति में बद्धमूल हो सका है वा हो सकता है ? और यह भी कैसे कहा जा सकता है कि ब्रह्मसमाज किसी ग्रन्थविशेष को निर्भ्रान्त रूप से ग्रहण नहीं करता। केशवचन्द्र सेन कृत नवीनवेद वा नवसंहितादि पुस्तकें ब्रह्मसमाजियों में निर्भ्रान्त शास्त्र रूप से नहीं मानी जातीं ? क्या यह शास्त्रानुवर्तिता का द्योतक नहीं ? शास्त्र को तो माना, चाहे नये शास्त्र की रचना कर ली। प्रचलित शास्त्रों को छोड़ देने और नये कल्पित शास्त्र घड़ लेने से ही आर्य (हिन्दू) जाति ने ब्रह्मसमाज का ग्रहण नहीं किया।

राजा राममोहन राय आदि ने जब भारतीय संस्कृति, सभ्यता, साहित्य के प्राणरूप शास्त्रों को एक ओर उठाकर रख दिया, तभी ब्रह्म-समाज केवल एक योरोपीय सभ्यता का पुच्छलामात्र बनकर रह गया। केवल प्रवर्तक के बङ्गाली होने के नाते ही बङ्गाल में कुछ-कुछ दृष्टि-गोचर हो रहा है। अन्य प्रान्तों में क्यों नहीं फैला, कारण यही है कि ब्रह्मसमाज आर्यधर्म के आधारभूत शास्त्रों को छोड़कर चला।

भारत में आर्यसमाज के सिद्धान्तों की व्यापकता

दूसरी ओर जब हम आर्यसमाज को देखते हैं, तो यह हमें भारत के प्रत्येक प्रान्त के कोने-कोने में पहुंचा हुआ मिलता है। जहां-कहीं नहीं पहुंचा, वहां पहुंचानेवालों की कमी ही समझनी चाहिये और कोई कारण नहीं। आर्यसमाज कहां तक व्यापक है, यह देखना हो तो आर्य-समाज के किसी बड़े समारोह को देखें। सन् १९२५ की ऋषिदयानन्द की जन्मशताब्दी के अवसर पर मथुरा में जब दो-अढ़ाई मील लम्बा

जलूस निकला तो उसमें भारत के प्रत्येक प्रान्त के नर-नारियों की वैदिकधर्म में अपूर्व निष्ठा, भिन्न-भिन्न भाषा, भिन्न-भिन्न वेशभूषा को देखकर एक वार तो दण्डी विरजानन्द और दयानन्द के स्वप्नों की पूर्ति की आशा से प्रत्येक आर्य का हृदय उल्लसित और उत्कण्ठित हो उठता था, देखें अबकी वार कैसा रहता है। जलूस की वह छटा देखने ही योग्य थी। इन पंक्तियों के लेखक ने उसमें एक स्थान पर खड़े होकर भारत के सब प्रान्तों की सब मण्डलियों की एक सूची तय्यार की थी। आर्यसमाज के बाह्य स्वरूप का वह एक अद्भुत भक्ति-श्रद्धा-पूर्ण प्रदर्शन था। इससे पता लगता था कि आर्यसमाज भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में फैल रहा है। जहां तक मुझे स्मरण है, उसमें बङ्गाल और मद्रास की मण्डलियां भी थीं, अफ्रीका और बगदाद की भी। यह बात दूसरी है कि आर्यसमाज को अब बाह्य प्रदर्शन को छोड़कर आन्तरिक ठोस सुधार की योजनायें बनानी चाहिये।

शास्त्रों का परम भक्त स्वामी दयानन्द सरस्वती

कहना यह है कि भारत के शिक्षित वर्ग में आर्यसमाज ८० प्रतिशत हृदयों में स्थान पा चुका है, वाणी से चाहे कोई माने या न माने। कारण यह है कि आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द शास्त्र में परम निष्ठावान्, परम शास्त्रानुवर्ती, आप्त प्रमाण तथा प्राचीन ऋषियों में परम श्रद्धावान् थे। 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है' आर्यसमाज के इस नियम से ही महर्षि की हार्दिक भावना और शास्त्र में परम भक्ति का प्रमाण हमें मिल जाता है। इसी से हम कहते हैं कि आर्यसमाज जिह्वा पर चाहे इतना व्यापक न हुआ हो, प्रत्येक समझदार भारतीय के हृदय में तो अङ्कित हो ही चुका है, जहां तक कि इसका प्रकाश पहुंचा है। आर्यसमाज का अपने इस गौरव की रक्षा करना परम कर्तव्य है।

अछूतपन के विरुद्ध आर्यसमाज शास्त्ररूपी शस्त्र लेकर खड़ा हुआ, जिसमें उसने अकथनीय कष्ट और यातनायें भोगीं। अज्ञ हिन्दूसमुदाय वा वर्ग का कोपभाजन बनता रहा, यहां तक कि उस में वीर रामचन्द्र जैसे आर्यवीरों के अनेक वलिदान अपने ही हिन्दू भाइयों के विरोध करने पर देने पड़े। (यवनों के विरोध में तो कोई गिनती नहीं, केवल हैदरा-

बाद में ३६ बलिदान आर्यसमाज ने दिये, जब कि कोई विरोध में खड़ा तक न होता था। हिन्दी आन्दोलन में दर्जनों बलिदान दिये। क्या ये बलिदान व्यर्थ जा सकते हैं ?) अछूतपन के विरुद्ध ही आर्यसमाज के प्रचार का ही फल था कि महामना मालवीयजी ने भी अछूतों को मन्त्र-दीक्षा देना आरम्भ किया और महात्मा गांधीजी ने हरिजन-उद्धार का अनुपम कार्य किया। यह सब दयानन्द और आर्यसमाज के तप और परिश्रम का ही फल था। अब आगे भी इसी से उद्धार होना है, ऊपरी बातों से कुछ न बनेगा।

धर्मनिरपेक्ष राज्य चल नहीं सकता

यहां पर हम यह भी कह देना चाहते हैं कि यदि धर्म का अर्थ मत या मजहबमात्र है, तब तो भारत अवश्य धर्मनिरपेक्ष राज्य है और होना चाहिये। पर यदि इसका यह अर्थ है कि इसको धर्म की आवश्यकता ही नहीं, तो यह असत्य है। क्योंकि धर्म तो वह है 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः' अर्थात् जिससे लोक तथा परलोक में अभ्युदय-कल्याण की सिद्धि हो। सार्वभौमिक, सार्वकालिक नियमों वा सर्वतन्त्रसिद्धान्तों 'जिनके विरुद्ध कोई भी नहीं हो सकता' का ही नाम धर्म है। ऐसा धर्म संसार में सदा रहेगा, इसकी अवहेलना करनेवाला स्वयं मिट जायगा। ऐसा धर्म अनिवार्यतः ग्राह्य हैं और रहेगा। यह धर्म कभी नहीं मिट सकता। यह निश्चय है कि हमारा यह स्वतन्त्र भारतराज्य ऐसे धर्म की अवहेलना कर पनप नहीं सकता, इस बात को भविष्य ही बतायेगा। अतः भारत को अपने प्राचीन ऋषि-मुनियों के बताये मार्ग पर चलना ही होगा। तभी इसका भाग्योदय होगा। नहीं तो यह सदा ही विषमताओं से आक्रान्त रहेगा। धर्म वा कर्तव्य की भावना से ही रिश्वत, चोरबाजारी और अन्य घोर अनर्थ दूर होंगे। अतः पत्तों को पानी देने से कुछ न बनेगा, मूल में ही जलसिञ्चन करना होगा, तभी भारत फले-फूलेगा।

वास्तविक धर्म सदा रहेगा

सार्वभौमिक वा सार्वजनिक धर्म (Universal Truths) किसी जाति, देश वा वर्ग का विरोधी वा शत्रु नहीं हो सकता। जैसे अकाल-पीड़ित प्रदेश बिहार आदि में भला कोई कह सकता है कि हृदय से

पाकिस्तान का भला चाहनेवालों और उसकी ही प्रतिक्षण जय चाहनेवाले मुसलमानों को क्या भारत सरकार अन्न नहीं देती है ? धर्मनिरपेक्ष (सैक्यूलर) की व्याख्या स्पष्ट शब्दों में जनता के समक्ष रखनी चाहिये। धर्मनिरपेक्ष शब्द की जब चाहे जैसी व्याख्या करके जनता से खिलवाड़ नहीं की जानी चाहिये। एक वार यदि धर्म की अपेक्षा छूट गई तो देश के प्रति कर्तव्य धर्म के पालन करने की भावना (हिर्स) जनता से सदा के लिये लुप्त हो जायगी। धर्मनिरपेक्षता का शस्त्र लेकर वही जनता नेताओं को भी अंगूठा दिखाने लगेगी कि आपने ही तो हमें धर्मनिरपेक्षता का पाठ पढ़ाया। मियां की जूती मियां के सिर पर—अब आप हमें कर्तव्यधर्म का उपदेश करने चले हैं। जनता में ऐसी स्थिति पैदा हो जाना अत्यन्त ही घातक सिद्ध हो सकता है। ऐसी अवस्था भारत को ले डूब सकती है।

अपने प्राचीन वेद-शास्त्रों के प्रति निष्ठा—धर्म में श्रद्धा ही भारत को सब बुराइयों से बचा सकती है। इसके विना देश के सामने उपस्थित घोर विषमतायें कदापि दूर न होंगीं।

शास्त्र या धर्म का रूप धरना

शास्त्र वा धर्म के नाम पर ही यह आर्य (हिन्दू) जाति किसी भी व्यक्ति वा समुदाय की बात सुनने को तय्यार रही है तथा रहेगी। सन् १९१९ में जब पूज्य महात्मा गान्धी ने रौलर एक्ट के विरुद्ध व्रत (उपवास) आरम्भ किया, तभी यह आन्दोलन ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में व्यापक हुआ। तभी से कांग्रेस जनता की संस्था बननी आरम्भ हुई। नहीं तो ग्रामों में तो उसे कोई जानता भी न था। जिस-किसी ने भी इस हिन्दू जाति को अपने मत में लाना चाहा, उसी ने किसी न किसी ग्रन्थ का निर्माण कर उसे शास्त्र का रूप दिया। बौद्ध धर्म में त्रिपिटकों की रचना तथा हिन्दुओं में भिन्न-भिन्न पुराणों, उपपुराणों, स्मृतियों, उपस्मृतियों की रचना में मूलभूत कारण यही रहा।

और तो और, मुसलमान फकीरों ने गेरुआ वस्त्र पहिन साधुओं का वेश धर-धर कर हिन्दू-स्त्रियों, विशेषकर विधवाओं का अपहरण कर वङ्गाल के बहुसंख्यक हिन्दुओं को अल्पसंख्यक में परिणत कर पाकिस्तान बना डाला, जिसकी किसी को कल्पना तक नहीं थी। ईसाई पादरियों ने ईसाई मत के प्रचार के लिये जहां ब्रिटिश गवर्नमेण्ट से हर प्रकार की

सहायता बहुत बड़ी मात्रा में प्राप्त की, वहां क्रिश्चियन पादरियों ने गेरुआ वस्त्र पहिन-पहिन कर अपना नाम बदलकर हाथ में बाइबल लेकर उसे ही ईशुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध किया। ये लोग इस स्वकल्पित वेद को हाथ में लेकर उपदेश देने के लिये खड़े होते थे। और इस बात को सिद्ध करने के लिये कि ईसा एक वेदोक्त अवतार थे और ईसाई मत भी एक वेदोक्त मत है, अपने ईशुर्वेद में से कुछ पढ़ते थे। हिन्दू श्रोतागण इस बात को सुनकर कि ईसा और ईसाई शास्त्रोक्त और वेदोक्त हैं, दल के दल इन ईसाई पादरियों के पास आकर दीक्षा लेते थे और ईसाई मत में प्रविष्ट हो जाते थे।

कहना यह है कि ईसाई और मुसलमानों ने भी शास्त्र-प्रधान इस आर्य (हिन्दू) जाति को बहकाने के लिये अल्लोपनिषद् और ईशुर्वेद की रचना की। इससे भी यही सिद्ध होता है कि धर्मपरायण आर्य (हिन्दू) जाति धर्म वा शास्त्र के आधार पर ही किसी की बात सुनने को तय्यार है। चाहे वह शास्त्र वा धर्म वास्तविक हो वा असत्य।

शास्त्रों में मिश्रण

यही कारण है कि महाभारत के पश्चात् हमारे शास्त्रों के साथ-साथ संस्कृतभाषा में भिन्न-भिन्न समयों तथा परिस्थितियों में ऐसी रचनायें भी होती रहीं, जो जनता विशेषकर उस समय के राजा-महाराजाओं के लिये शास्त्रों द्वारा उपस्थित होनेवाले प्रतिबन्धों को दूर अथवा ढीला करती रहीं। इसका परिणाम वही हुआ, जो ऐसी अवस्था में हुआ करता है। नैतिक पतन की कोई सीमा न रही। एक ही मानवधर्मशास्त्र में एक ओर तो 'अहिंसा परमो धर्मः', 'आचारः परमो धर्मः' कहा गया, दूसरी ओर उसी में कहा गया—

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥

कहां तो 'अहिंसा परम धर्म है, आचार परम धर्म है' ऐसा कहा गया और कहां 'न मांसभक्षण में दोष है, न मद्यपान करने में, न मैथुन में, यह तो जीवों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। निवृत्ति हो तो अच्छा है'। इन सब वचनों द्वारा अनाचारों के लिये छूट देने से इस भारत देश का घोर अधःपतन हुआ। इसी का परिणाम है जो लगभग एक सहस्र वर्ष तक देश विदेशियों के द्वारा पादाक्रान्त रहा।

शास्त्रों के नाम पर ऋषियों के नाम से ग्रन्थ घड़े गये तथा भिन्न-भिन्न शास्त्रों में बीच-बीच में प्रक्षेप(मिलावट)तक किये गये। सोचने की बात है कि एक ही मनुस्मृति ग्रन्थ के ३० प्रकार के हस्तलेखों में किसी में सौ दो सौ श्लोक कम हैं, किसी में दो चार सौ अधिक हैं। यह सब क्या है ? रामायण का उत्तरकाण्ड वाल्मीकिकृत नहीं, यह प्रायः सभी मानते है। तुलसीकृत रामायण तक में लव-कुश का प्रकरण प्रक्षिप्त माना जाता है। कोई व्यक्ति इस बात को सिद्ध नहीं कर सकता कि हमारे संस्कृत वाङ्मय में प्रक्षेप नहीं हुआ। भोली-भाली जनता के सामने (जब कि प्रेस नहीं थे) संस्कृत में श्लोक बना-बना कर ग्रन्थों की रचना तथा प्रक्षेप होता रहा। जो-जो पाप-सदाचार जब जिसको अभीष्ट हुआ, तब-तब उस-उसने यथेष्ट नया ग्रन्थ बना दिया, वा पहिले के बने शास्त्रों में ही डाल दिया जाता रहा। स्मृतिग्रन्थ इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। जब जिससे स्वार्थसिद्धि हुई, तब-तब वैसा होता रहा। इस विषय पर सप्रमाण बहुत कुछ लिखने की आवश्यकता है, जिसपर पुनः कभी लिखा जा सकेगा।

यहां हमें यह दर्शाना है कि शास्त्रों के नाम पर अशास्त्र और धर्म के नाम पर अधर्म, ऋषियों के नाम पर अनर्थकारी व्यक्तियों द्वारा अनेक प्रकार की रचनायें संस्कृतसाहित्य में विद्यमान हैं और घोर अनर्थकारी हैं। महीधर का यजुर्वेदभाष्य और ब्राह्मणों के कुछ भाग इस विषय के ज्वलन्त उदाहरण हैं। ऐसी दशा में यह आर्यजाति रसातल को न प्राप्त होती तो और क्या होता, अतः शास्त्रशुद्धि की परमावश्यकता है।

अशास्त्रमिश्रित शास्त्र रोग दूर नहीं कर सकता, शास्त्रशुद्धि की अनिवार्यता

पाठक विचारें कि जिस शास्त्र की आवश्यकता जीवन के प्रत्येक भाग और प्रत्येक स्तर में पड़ती है, क्या उस शास्त्र को कलुषित होने देना कभी उचित हो सकता है ? विशेषतः जो शास्त्र आर्यजाति की चिरकाल से आ रही सम्पत्तिरूप हैं, जो आर्यजाति के अपरिहार्य सङ्गी तथा रक्षक हैं, क्या उस शास्त्र को विकृत होने देने से इस देश का कल्याण कभी हो सकता है ? जब कि शास्त्रों की अपेक्षा न करने तथा शास्त्रों के अनुसार न चलने से हिन्दुओं का कोई काम, साधारण हो या असाधारण, उत्तम रीति से सिद्ध नहीं हो सकता, तब शास्त्र को कितने

हो अशास्त्रों से मिश्रित करने और उस मिश्रित (मिलावटवाले) शास्त्र को ही शुद्ध शास्त्ररूप में प्रचार करने से हिन्दू (आर्य) जाति को कभी उन्नत किया जा सकता है। जब कि शास्त्रविश्वास और शास्त्रनिष्ठा आर्य (हिन्दू) जीवन का अपरिहार्य अङ्ग है। ऐसी अवस्था में शास्त्र के साथ कुशास्त्र को मिलाने और उस मिले हुए पङ्कयुक्त शास्त्र को शास्त्र-रूप से प्रतिष्ठित करने से आर्य (हिन्दू) जाति के जीवन को कोई शुद्ध, पवित्र और निःस्वार्थ कर्ममय बनाने में समर्थ हो सकता है ?

शुद्ध और उत्तम दूध में मल-मूत्र, कीचड़ वा नाली के सड़े जल को मिलाकर पीने से किसी व्यक्ति वा जाति का स्वास्थ्य कभी ठीक रह सकता है ?

कोई कहे कि इतने समय से शास्त्ररूपी औषध इस जाति को पिलाई जा रही है फिर भी इस जाति का रोग दूर क्यों नहीं होता ? इसमें बेचारे शास्त्र का क्या दोष है। औषध की सारी शक्ति तो बीच में पड़े मलमूत्र या कीचड़ को ही नष्ट करने में लग रही है, औषध का प्रभाव हो कैसे ! इसी प्रकार शास्त्रों में अशास्त्ररूपी मलमूत्र के रहते शास्त्र का प्रभाव कैसे होना सम्भव है। शास्त्र तो प्रहरी (चौकीदार) के समान है। व्यक्ति वा जाति में आनेवाले घोरतम दोषों को अत्यन्त स्पष्ट रीति से भीतर घुसने से रोकता है। जहां पहिरेदार ही चोरी करने लग पड़े, वहां भला चोरी की क्या सीमा ! जैसा कि इस समय भी दृष्टिगोचर हो रहा है कि कांग्रेस इस समय हमारे देश की रक्षक है। जब एक कांग्रेसी ही, चाहे वह किसी भी अधिकार पर है, वह कितना भी छोटा वा बड़ा क्यों न हो, यदि घूस लेता है, वा घूस दिलाता है, अपने सगे-सम्बन्धी वा मित्रों को अनुचित-अन्याय से लाभ पहुंचाता है, किसी राज-कर्मचारी को ऐसा करने के लिए बाधित करता है, तब राज-कर्मचारियों की रिश्वत और व्यापारियों की चोरबाजारी को खुली छूट देना है। हमारी दृष्टि में तो चोरबाजारी के मूलप्रवर्त्तक यही लोग हैं। चोर को न मारे, चोर की मां को मारे। इनके सुधार से ही देश में सुधार होना सम्भव है। अन्यथा देश रसातल को पहुंचता चला जा रहा है। जो लोग इस समय पदारूढ़ नहीं हैं, वे पदारूढ़ होकर ऐसा न करेंगे, इसमें क्या प्रमाण है ? इस घोर भ्रष्टाचार से तो यही प्रतीत होता है कि देशरूपी नौका में पानी भर रहा है, यदि न सम्भली तो एक-दम ही डूबेगी। इसी से हम कहते हैं देश का भविष्य अन्धकार में है।

प्रभु कृपा करें, सबको सुमति दें। धर्म वा कर्त्तव्यपालन की भावना के विना यह सब सुधार कदापि न हो सकेगा।

कितना दूषित साहित्य बन रहा है

शास्त्र कर्त्तव्यपालन का निर्देश करता है, अतः उसे तो अत्यन्त विमल-पवित्र वा शुद्ध रहने की आवश्यकता है। अब तक प्रत्येक नगर में छापेखाने (प्रेस) सैकड़ों की संख्या में खुले हैं। जो उठता है, जिसके पास पैसा है, वह जो चाहे छपवा डालता है। भला उसको रोकनेवाला कौन है। हम एक ऐसे व्यक्ति को जानते हैं, जो हिन्दी की चार पंक्तियां भी शुद्ध नहीं लिख सकते, पर ऋग्वेद-यजुर्वेद का भाष्य करते हैं, छपवाते हैं। वेदान्त को 'विदान्त' छपवानेवाले यह महाशय दर्शनों की व्याख्या छापते हैं। प्रेसवालों को पैसा चाहिए, सोचते हैं वह तो कहीं न कहीं छपवायेगा ही, हम ही क्यों न छाप दें। प्रूफरीडिङ्ग के दाम और मिलेंगे। कागजवालों को अपना पैसा चाहिए। उनकी ओर से चाहे काला चोर ले जावे, उन्हें इससे क्या तात्पर्य कि क्या छपता है। बात क्या है? पैसा पास में है, भांग वा मद्यादि में नष्ट न किया, इधर नष्ट कर दिया। उससे तो फिर भी अच्छा ही कहा जायगा। इससे तो व्यक्तिगत हानि अधिक होती है, उससे तो समष्टि में सदा के लिए कूड़ाकरकट साहित्य उत्पन्न कर दिया जाता है, जो संसार की दृष्टि से घोर पाप ही कहा जाना चाहिए।

यह तो एक उदाहरण ऐसा दिया जो सर्वथा अनभिज्ञ व्यक्तियों की अनधिकार चेष्टा का उदाहरण है। संस्कृत पढ़े-लिखों के विषय में भी यही बात कुछ अंश में भेद से लागू होती है। क्या हम नहीं देख रहे हैं कि उत्तम से उत्तम पुस्तकें यूनिवर्सिटियों के बोर्डों द्वारा सौदा नीति के आधार पर नियत की जाती हैं और जिसने सदस्यों को अधिक से अधिक घूस दे दी, उसकी पुस्तक चाहे कैसी भी हो, रख दी जाती है। पुस्तक के लाभ में ५० प्रतिशत तक लेने पर वही पुस्तक स्वीकृत हो जाती है, चाहे वह पहिले अस्वीकृत ही क्यों न हो चुकी हो। जो ऐसा न कर सके वह मुंह ताकता रह जाता है। देनेवाला भी सोचता है, चलो इसमें हमें बैठे-बिठाये दस-बीस हजार का लाभ तो हो ही रहा है। इस पापाचार में तो बड़े-बड़े नेता वा धार्मिक संस्थाओं के सञ्चालक, पदाधिकारी तक बड़ी-बड़ी घूस डकारते सुने जाते हैं। जिसे जान कर देश के भविष्य

की शीघ्र ही सुधरने की कोई आशा नहीं। कांग्रेस या आर्यसमाज से सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्ति भी यदि ऐसा करें, तो इससे बढ़कर दुःख और निराशा की बात क्या हो सकती है ? पहिरेदार ही चोरी पर कमर बांध ले, तो वहां चोरी की सीमा क्या रह सकती है !!!

मनुष्यकृत शास्त्र ही अनर्थ का मूल है

मनुष्यप्रणीत शास्त्रों के कारण, धर्म के नाम पर, पवित्रता के नाम पर हिन्दूसमाज में सैकड़ों प्रकार के पाप तथा अनाचार हो रहे हैं, इसीलिए हिन्दूशास्त्र ऐसा चूं-चूं का मुरब्बा बन गया है कि इसमें संसार की उत्तम से उत्तम, पवित्र से पवित्र बातें भी मिलेंगी और निकृष्ट से निकृष्ट भी, जितनी संख्या में चाहें मिल सकती हैं। काशी इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इसमें नैपालियों का बीभत्स से बीभत्स गन्दे नग्न चित्रों का मन्दिर भी है, जिसमें विदेशी नर-नारी तक घुसते समय अपने नेत्र बन्द कर लेते हैं। इसी काशी में महात्मा बुद्ध जैसे महापुरुष का स्तम्भ सारनाथ में है। यही हाल शास्त्रों का हो रहा है। काशी के कुछ घरों में ऐसी-ऐसी बीभत्स पुस्तकें हैं, जिन्हें देखकर लज्जा भी अपना सिर नीचा कर लेगी। क्या यह बात बताने की आवश्यकता है कि मनुष्यकृत ग्रन्थों के बिस्तार के कारण ही देश नीतिरहित तथा धर्मरहित हो रहा है।

जिस देश के लोग सुरापान और परस्त्री-गमनादि तक को धर्म के नाम पर चलाने के संकल्प से कागज-कलम लेकर शास्त्र प्रस्तुत कर सकते हैं और पञ्च-मकार (मद्य-मांस-मीन-मुद्रा-मैथुन) नामक अति बीभत्स और निन्दित आचार तक को जिस देश के लोग शिववचन कहकर प्रचारित कर सकते हैं, क्या उस देश में नीति का कुछ भी आदर्श रह सकता है ? अनार्ष शास्त्ररूपी विष ने आर्ष शास्त्ररूपी उपादेय अमृतोपम अन्न के साथ मिलकर उसे विषमिश्रित अन्न में परिणत कर दिया है। पिछले एक सहस्र वर्ष से तो इसमें अत्यधिक विष का मिश्रण हुआ है।

अन्न से मनुष्यों के प्राणों की रक्षा होती है। विषमिश्रित अन्न प्राणों का नाशक है। ऋषियों की सन्तानो ! तुम इस विषमिश्रित अन्न को बहुत समय से भक्षण करते आ रहे हो, इसलिए तुम जीवित रहते हुए भी आज मृतक समान हो !! भारत का हितचिन्तक नेतृवर्ग इस देश को शिक्षा विज्ञान का विस्तार करके उठाने की चेष्टा कर रहा है। इसके

लिए बड़े-बड़े शिक्षाविशेषज्ञ विदेशों से बुलाये जा रहे हैं। बहुत कुछ व्यय भी किया जा रहा है, किन्तु क्या इससे हिन्दूसमाज या भारतीय समाज उठ खड़ा होगा ? जिसके शरीर का रक्त दूषित हो गया है, यदि उस पर दिन में दस बार साबुन मलें, तो भी क्या उसका कोई उपकार हो सकेगा ? जबसे यह भारत स्वतन्त्र हुआ है, ग्रामों तक में सैकिण्डरी हाईस्कूलों की भरमार हो रही है। विदेशी आदर्श और विदेशी प्रणाली के अनुसार नगर-नगर में हाईस्कूल खोले जा रहे हैं। क्या इससे देश जाग उठेगा ? जिसके मस्तिष्क में विकार हो गया है, उसके हाथ में प्रचुर धन देने वा उसे पुष्टिकर घृत-दुग्धादि पौष्टिक भोजन खिलाने से उसका कल्याण कभी हो सकता है ? क्या मलीन वस्त्र पर कभी रङ्ग चढ़ सकता है ? हम पूछते हैं क्या हमारी सरकार द्वारा शिक्षा का ढोल पीटने से रङ्ग चढ़ जायगा ?

कर्मशुद्धि के बिना कोई उन्नति सम्भव नहीं

सच्ची बात तो यह है कि कर्मशुद्धि के बिना न तो जीवन के, न समाज के, न शिल्प-वाणिज्य-कृषि-उद्योग-राजनीति प्रभृति समाज के किसी विभाग की कुछ भी उन्नति सम्पन्न हो सकती है। कर्मशुद्धि के भाव से परिचालित न होकर यदि किसी आत्महितकर या लोकोपकारी वर्ग में मनुष्य की प्रवृत्ति होगी, तो वह कर्म भी याथातथ्य रूप से निर्वाहित न हो सकेगा। इसी लिए हमारी भारत सरकार के सब विभागों के कार्य वा योजनायें लड़खड़ा रही हैं और लड़खड़ाती रहेंगी। कोई भी बिभाग ले लिया जावे, कृषि हो या वाणिज्य-उद्योग हो या शिल्प, अन्न का विषय हो या अर्थ का, हम सबमें अभी तक तो अकृतकार्य ही हो रहे हैं। लगभग ७ अरब रुपया हम अपनी पैतृक सम्पत्ति में से व्यय कर चुके हैं, जो हमें बपौती में अङ्गरेजों द्वारा पौण्डपावना के रूप में मिली थी। हमने उसे बढ़ाया होता तो हमारी बरखुरदारी होती, पर हुआ उलटा, यह समाप्त सा है। जिस किसी विभाग की वृद्धि करने हम जाते हैं, हतोत्साह होकर पीछे हटना पड़ता है। इस सबका प्रधान कारण यही है कि इस देश में जो लोग नेता होने के अभिमान में जेलों में रह कर उठाये कष्टों का मूल्य चुका रहे हैं, उनमें से कुछ एक को छोड़कर कोई व्यक्ति भी कर्मशुद्धि के भाव से अनुप्राणित होकर किसी साधारण हितकर कार्य में प्रवृत्त नहीं हो रहा। यह सब धर्म तथा शास्त्र में निष्ठा

की भावना के बिना नहीं हो सकता। कर्म-शुद्धि बिना शास्त्र-शुद्धि के हो नहीं सकती।

शास्त्र-शुद्धि से कर्म-शुद्धि सम्भव है

जब तक शास्त्ररूपी अमृत को अशास्त्ररूपी मलमूत्र से पृथक् न किया जायगा, शास्त्र जाति के रोगों को दूर करने में असमर्थ ही रहेगा, यह निर्विवाद है। यह बात भी सहज में ही समझ में आ जाती है कि कर्म-शुद्धि विना ज्ञानशुद्धि के नहीं हो सकती। शुद्ध ज्ञान ही शुद्ध कर्म का जनक है। इसीलिये यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में ज्ञान और कर्म ये दोनों, नदी के दो किनारों के समान एक दूसरे के लिए अनिवार्य बताये हैं। कर्मशुद्धि के विना न तो जीवन के ही समाज के किसी विभाग की उन्नति सम्भव है। इतना ही नहीं, जीवन के भिन्न-भिन्न उपयोगी विषयों में भी कर्मशुद्धि के विना सफलता प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि व्यवहार-शुद्धि की आवश्यकता है तो वह विचारशुद्धि और कर्मशुद्धि के द्वारा ही सम्भव है। विचारशुद्धि शास्त्रशुद्धि पर अवलम्बित है। शास्त्र से ही तो कर्त्तव्य-सम्बन्धी निश्चय होगा कि क्या करना चाहिये, क्या नहीं? शास्त्रशुद्धि विचारशुद्धि का मूल है, विचारशुद्धि आगे व्यवहार-शुद्धि का मूल है, अतः व्यवहारशुद्धि के लिए शास्त्रशुद्धि अनिवार्य कारण है। कर्मशुद्धि के भाव से अनुप्राणित नेता ही देश का कल्याण कर सकते हैं। कर्मशुद्धि के मार्ग पर चलकर ही जाति तथा देश का कल्याण होना सम्भव है।

जब तक हिन्दुओं का मन चेष्टा-भाव-शुद्ध-संयत और उन्नत होकर सत्-महत्-कल्याणकर कर्मपरायणता की सृष्टि न करेगा, तब तक हिन्दुओं के उद्धार की कोई आशा नहीं। यह ध्रुव सत्य है। इसीलिए शास्त्र का प्रयोजन है। शास्त्र के बिना यह सब कदापि नहीं हो सकता, इसलिए कर्मशुद्धि की परमावश्यकता है।

इस पतनोन्मुख जाति के उठाने में हिन्दुओं के शास्त्र की शुद्धि ही अपरिहार्य रूप से आवश्यक है। शास्त्रशुद्धि ही भारतवर्ष के सुधार की एकमात्र अभ्रान्त प्रणाली है। यह निर्भ्रान्त सत्य है।

इस युग में शास्त्र-शुद्धि के प्रवर्त्तक दण्डी विरजानन्द और दयानन्द

शास्त्रशुद्धि का यह रामबाण इस युग में महान् आत्मा दयानन्द

सरस्वती ने हमारे सामने रखा। आर्ष और अनार्ष का भेद और उसकी कसौटी ही हमारे सामने नहीं रखी, अपितु अमृत और विष दोनों को, जो एक ही ढेर में पड़े थे, पृथक्-पृथक् करके संसार के सामने रख दिया। मनुष्यकृत और ऋषिकृत का विवेचन जैसा ऋषि दयानन्द ने अपने सत्यार्थप्रकाशादि ग्रन्थों में किया है, ऐसा कहीं नहीं मिलेगा। आर्षग्रन्थों का जितना महान् गौरव ऋषि ने दर्शाया, उतना किसी ने नहीं दर्शाया। इतना ही नहीं, अपितु इसका महान् विस्तार और प्रचार करनेवाला इस युग में महापुरुष ऋषि दयानन्द हुआ, जिसकी ज्योति उन्हें अपने महान् गुरु (दयानन्द ही के निर्माता) दण्डी मुनिवर विरजानन्द से मथुरा में मिली।

दूसरे शब्दों में प्रज्ञाचक्षु विरजानन्द ने विश्वनियन्ता, निश्चेष्ट न रहनेवाले विधाता की प्रेरणा से ही, भारत के सुधार की यथार्थ और एकमात्र प्रणाली समझकर, इस ऋषिप्रणाली का अवलम्बन किया।

दण्डी विरजानन्द और दयानन्द की यह सूझ भारत का कल्याण कहां तक कर सकती है, यह तो भविष्य ही बतायेगा। जब तक आर्य-समाज इस मार्ग पर पूर्ण श्रद्धा-उत्साह और तत्परता से नहीं आवेगा, तब तक इस प्रणाली का उद्धार नहीं होगा, भारत के अन्य समुदायों से इसकी आशा रखना दुराशामात्र है।

अब आगे हम यह बतावेंगे कि ऋषिप्रणाली की यह सूझ दण्डी विरजानन्द और उनके शिष्य दयानन्द सरस्वती की अपनी ही कल्पना-मात्र नहीं है, अपितु परम्पराप्राप्त है, चाहे उसकी रेखा कितनी भी धुंधली रही हो वा बीजरूप में रही हो। इसमें एक यह भी कारण हो सकता है कि इस काल में देश अनार्षता की ओर घोर तीव्रता से जा रहा है, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है।

इसमें भी दो प्रकार से विचार करना होगा। एक तो आर्ष (ऋषियों की अपनी रचना) ग्रन्थ कौन-कौन से हैं और अनार्ष ग्रन्थ कौन-कौन से हैं, यह विश्लेषण हमें करना होगा। ऐसा करके भी आगे हमें यह भी निर्धारित करना होगा कि आर्षग्रन्थों (जो परतः प्रमाण हैं, अर्थात् जिनका परीक्षण हमें वेद के आधार पर ही करना होगा, क्योंकि आर्यजाति का सर्वमान्य स्वतःप्रमाण तो वेद ही हैं) का भी परीक्षण, निरीक्षण विवेचन करना होगा, कि उनमें भी कहां तक और कितना

प्रक्षेप हो चुका है। तभी हम ऋषिमुनियों के वास्तव विचारधारा पर पहुंच सकते और उनकी धारणाओं से लाभ उठा सकते हैं। नहीं तो अमृत के साथ में हम विष का ग्रहण भी अपनी अज्ञानता से कर सकते हैं। यद्यपि ऋषि दयानन्द ने अपने आराध्य गुरुचरण दण्डी विरजानन्द जी से प्राप्त वह कसौटी हमें दे दी है कि आर्ष-अनार्ष की कसौटी क्या है, पर यदि ऋषि दयानन्द जैसा महापुरुष हमारे लिये इतना और कर जाते कि इन आर्ष ग्रन्थों में प्रक्षेप का, वेद-विरुद्ध बातों का निर्देश कर जाते, तो यह आर्यजाति के महान् सौभाग्य की बात होती। अब क्या हो सकता है, होना चाहिये, यह सोचना तो आर्यसमाज का कर्त्तव्य है।

आर्यसमाज के कर्णधारों का ध्यान इन मौलिक बातों की ओर तो आकृष्ट ही नहीं होता, या उन्हें इस विषय में गति नहीं, हमारे प्रयास और कष्ट उठा कर किये गये समारोह भी बाह्यप्रदर्शन मात्र तक ही सीमित रह जाते हैं। आर्यसमाज जैसे विचारशील समुदाय के लिए यह बहुत सोचने की बात है।

क्या हम स्वयं—हमारी सन्तति वा हमारे आश्रित, सदा हमारी प्रायः सब संस्थायें चाहे वे पुत्रों की हों या पुत्रियों की, गुरुवर विरजानन्द तथा ऋषि दयानन्द द्वारा प्रदर्शित ऋषिग्रन्थों से कितने दूर हैं। यदि दण्डी विरजानन्द इस समय जीवित होते, तो अनार्ष ग्रन्थों रूपी कीचड़ में डूबे हम आर्यों को क्या वह अपनी दहलीज में भी पांव रखने देते? दस्तक देने पर क्या हमारे लिए अपना दरवाजा अन्दर से खोलते? क्या हमें निराश होकर मथुरा से खाली लौटना न पड़ता? क्या यह प्रत्येक आर्यबन्धु की गर्दन नीची होगी कि नहीं? मैं तो जब इस बात को सोचने लगता हूं तो हृदय एकदम क्षुब्ध हो उठता है कि हमारे इन महापुरुषों की तपस्या व्यर्थ ही जायगी क्या[1] !!!

---

१. शास्त्रशुद्धि का सिद्धान्त समझ में आ जाने पर आगे अभी बहुत कुछ विचारने की बातें रह जाती हैं। ऋषि दयानन्द ने जो आर्ष-अनार्ष का विवेचन किया है, इन पर भी एक-एक को लेकर विस्तृत विवेचन की आवश्यकता है, यह सब हम कालान्तर में करना चाहते हैं। हो सका तो वेदवाणी में इस विषय पर शेष विचार उपस्थित किये जायेंगे। पाठक इस विषय में अपने विचारों से अवगत करावें तो और अच्छा हो॥

विरजानन्द का सच्चा स्मारक

तो यही है कि हम सर्वप्रथम स्वयं ऋषिग्रन्थों का अध्ययन करें, यह न सोचें कि हमारी आयु अधिक हो गई है, हम नहीं कर सकते ।

यदि हम परिस्थितियोंवश नहीं ही कर सकते, तो हमारे पुत्र-पुत्री तो ऋषिग्रन्थों का अध्ययन करें। हमें अपनी सभी संस्थाओं को बाधित करना चाहिए कि वे अनिवार्यतया ऋषिग्रन्थों को ही पढ़ावें, और अलाय-बलाय (अनार्ष) के लिए तो स्कूल कालेज खुले ही हैं। कम से कम अपने एक पुत्र और एक पुत्री को तो आर्ष प्रणाली से ही पढ़ावें, वह भूखा मरेगा, सो बात नहीं ! जीवन में सादा और सुदृढ़ रहकर वह अपना निर्वाह अवश्य कर सकता है।

यह प्रेरणा हम मथुरा के इस शताब्दी समारोह से गुरुवर विरजानन्द और ऋषि दयानन्द की स्मृति से प्रसाद लेकर जावें।

धियो यो नः प्रचोदयात् !!!

प्रभु हम सबको सुमति प्रदान करें। —ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

[—वेदवाणी, वर्ष ३, अङ्क ४—९]

संस्कृत का प्रसार तथा व्यापक ज्ञान कैसे हो ?

[लगभग एक मास पूर्व भारत सरकार द्वारा नियुक्त संस्कृत आयोग काशी आया था। इस आयोग का मुख्य उद्देश्य संस्कृत के विकास के लिये जनमत-संग्रह करना है। काशी संस्कृत का एक केन्द्र है। आयोग के समक्ष यहां के विद्वानों तथा संस्कृतानुरागियों ने जो विचार प्रस्तुत किये हैं, वे निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण सिद्ध होंगे। २१ मार्च को संस्कृत आयोग के सामने लेखक द्वारा जो रचनात्मक विचार रखे गये हैं, वे यहां दिये जा रहे हैं।]

प्रत्येक राज्य में एक संस्कृत-विश्वविद्यालय हो, परन्तु संस्कृत-पाठशालाओं तथा विश्वविद्यालयों में जो प्रतिगामिता स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व थी तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भी वर्तमान है, यह यदि इसी प्रकार रही तो इसका कोई लाभ नहीं होगा। यह गम्भीरता से विचारणीय विषय है। यदि इस विषय में सावधानी से विचार न हुआ तो लाभ के स्थान में हानि की ही अधिक सम्भावना है।

स्वतन्त्र भारत में संस्कृत की बहुमुखी उन्नति हो, इस उद्देश्य से कुछ अत्यावश्यक विचार मैं आपके समक्ष उपस्थित करता हूं। इनके कार्यरूप में लाने से निश्चय संस्कृत का उद्धार हो सकेगा—

१—प्रत्येक राज्य में उनकी कुल आय का दसवां भाग संस्कृत की समुन्नति के लिये निश्चित किया जाय तथा प्रतिवर्ष व्यय किया जाय। इसमें भी किस मद्दे कितना व्यय किया जाय, यह बाद में भी निश्चित किया जा सकता है।

२—प्रत्येक मध्यमा-परीक्षोत्तीर्ण को ५ एकड़ भूमि, तथा प्रत्येक शास्त्री को १० एकड़ भूमि दी जाय, जिससे वे आर्थिक सङ्कट से सन्तप्त न हों।

३—देश में सर्वत्र माध्यमिक, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय के

संस्कृताध्यापकों का वेतन-स्तर उन-उन विद्यालयों के अन्य अध्यापकों के वेतन के समान स्तर का होना चाहिये, यथा—७५)-१५०), २००)-४००), ३५०)-८००)। जब तक ऐसा न होगा, तब तक छात्रों का संस्कृत के प्रति आकर्षण नहीं होगा यह निश्चित है। अंग्रेजी राज्य में जो स्थान यहां अंग्रेजी भाषा का था, वही स्थान अब संस्कृत को मिले, यह न्यायसङ्गत ही होगा। हिन्दी को भी संस्कृत के अन्तर्गत ही समझना चाहिये।

४—१० या १५ वर्षों तक सभी नियुक्तियों में १० प्रतिशत स्थान संस्कृतज्ञों को मिलने चाहिये। जिस प्रकार हरिजनों को आजकल संरक्षण दिया गया है, उसी प्रकार संस्कृतज्ञों को भी दिया जाय। नियुक्ति के विषय में जैसे हरिजन २० प्रतिशत अङ्क पाने पर उत्तीर्ण समझे जाते हैं, वैसा ही संस्कृतज्ञों के लिये भी १५ वर्ष के लिये संरक्षण दिया जाय। यह संस्कृत-प्रोत्साहन के लिये अत्यावश्यक है।

१२ वर्ष में साङ्गोपाङ्ग वेद का अध्ययन

५—वर्तमान समय में अङ्गोपाङ्गों सहित वेदाध्ययन की प्रणाली को पुनरुज्जीवित करना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' के सिद्धान्तानुसार एक पाठचक्रम यहां उपस्थित किया जा रहा है, जिससे कि शिक्षाशास्त्र, महाभाष्य पर्यन्त व्याकरण-कल्पसूत्र (श्रौत-गृह्य-धर्मसूत्र)—छन्दः शास्त्र, संस्कृत साहित्य, ज्योतिष, दर्शन, उपनिषद्, ब्राह्मणग्रन्थ तथा वेदविषय के आकर ग्रन्थों का वेदपर्यन्त सफल अध्ययन हो सके। वर्तमान में यह पाठचक्रम प्रचलित मध्यमा, शास्त्री तथा आचार्य परीक्षाओं के साथ विकल्प के रूप में भी रखा जा सकता है। भविष्य में जब यह क्रम सर्वविदित हो जाय तथा अनुभव में आ जाय तो सर्वथा स्वतन्त्र रूप से भी इसे चलाया जा सकता है।

वेदवेदांगाचार्य का पाठ्यक्रम

प्रवेशिका—इसमें प्रचलित ५ कक्षा में उत्तीर्ण या उतनी योग्यता वाला ही छात्र प्रविष्ट हो।

पाठचक्रम—१. मूल-अष्टाध्यायी १-४ अध्यायपर्यन्त कण्ठस्थ करना, २. संगृहीत शब्दरूप तथा धातुरूप, ३. संस्कृत-पुस्तक, अनुवाद, ४. गणित, भूगोल, इतिहास, हिन्दी (छठी कक्षा पर्यन्त)।

प्रथमा—१. अवशिष्ट अष्टाध्यायी ५ से ८ अध्याय पर्यन्त कण्ठस्थ करना, २. संस्कृत पुस्तक तथा अनुवाद, ३. गणित, भूगोल, इतिहास (सातवीं कक्षा पर्यन्त)।

पूर्वमध्यमा (२ वर्ष), प्रथम वर्ष में—१. १-५ अ० तक अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति (पदच्छेद-विभक्ति समास अर्थ उदाहरण सिद्धिपूर्वक), २. संस्कृत पुस्तक (हितोपदेश या पञ्चतन्त्र-संशोधित) ३. गणित, भूगोल, इतिहास तथा हिन्दी (८ वीं श्रेणी पर्यन्त)।

द्वितीय वर्ष में—१. अष्टाध्यायी ६-८ अध्याय (पूर्ववत्) २. सुबन्त तथा तिङन्त प्रक्रिया (नामिक तथा माधवीय धातुवृत्ति के आधार पर) ३. गणित, भूगोल, इतिहास, हिन्दी (नवमी श्रेणी पर्यन्त)।

इतना विषय (पूर्वमध्यमापर्यन्त) अनिवार्य रहे। इसमें किसी विषय का विकल्प नहीं होना चाहिये। आगे (उत्तर-मध्यमा से) सभी विषयों का यथेष्ट विकल्प किया जा सकता है।

उत्तरमध्यमा (२ वर्ष), प्रथम वर्ष में—(१) अष्टाध्यायी की द्वितीयावृत्ति (सम्पूर्ण) (प्रत्युदाहरण शंकासमाधान परिभाषा की घटनापूर्वक काशिका के आधार पर), (२) गणित, भूगोल, इतिहास, हिन्दी (दसवीं कक्षा का आधा)।

द्वितीय वर्ष में—(१) महाभाष्य आरम्भ से द्वितीय अध्याय पर्यन्त, (२) गणित, इतिहास, भूगोल, हिन्दी (दसवीं श्रेणी तक)।

शास्त्री (३ वर्ष), प्रथम वर्ष में—(१) महाभाष्य (३-५ अध्याय पर्यन्त), (२) महाभाष्य (६-८ अध्याय पयन्त), (३) मनुस्मृति—याज्ञवल्क्यस्मृति अथवा स्मृतिसमुच्चय।

द्वितीय वर्ष में—(१) निरुक्त (निघण्टु सहित) १-६ अध्याय पर्यन्त। वैजयन्ती कोश (संगृहीतांश) अथवा अमरकोश, (२) निरुक्त (निघण्टु सहित) अवशिष्ट सम्पूर्ण निरुक्तसमुच्चय। निरुक्तालोचन, ऋक्प्रातिशाख्य, यजुःप्रातिशाख्य। पारस्करगृह्यसूत्र, (३) वाल्मीकि रामायण (संगृहीतांश), महाभारत (संगृहीत भाग काव्यदृष्टि से), शुक्रनीति।

तृतीय वर्ष में—(१) पिंगलछन्दःसूत्र। काव्यालङ्कारसूत्र। छन्दोरचना। (२) कौटिल्यार्थ शास्त्र (संगृहीत भाग), समराङ्गण सूत्रधार (यन्त्र विधानाध्याय) (३) साहित्यदर्पण या काव्यप्रकाश।

वेदवेदांगाचार्य परीक्षा (वर्ष ३), प्रथम वर्ष में—(१) सूर्यसिद्धान्त, लीलावती। (२) न्याय वैशेषिक सांख्य-योगदर्शन (प्राचीन भाष्यों के आधार से अथवा वैदिक वृत्तिभाष्यों के आधार से), कात्यायनश्रौतसूत्र (१-३ अध्यायपर्यन्त)।

द्वितीय वर्ष में—(१) मीमांसा (१—३ अध्याय पर्यन्त तथा ९-१०) अध्याय, वेदान्त—दश उपनिषद् (किसी भी भाष्य के आधार पर) दर्शनों का इतिहास। (२) यजुर्वेदभाष्य (१—१० अध्याय) ऋग्वेद-भाष्य (१-४० सूक्त) (किसी भाष्य के आधार पर), शतपथब्राह्मण (१—२)। ऐतरेयब्राह्मण (१—५ अध्याय पर्यन्त)। ऐतरेयालोचन। ऋक्सर्वानुक्रमणी। यजुःसर्वानुक्रमणी। बृहद्देवता।

तृतीय वर्ष में—(१) ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (सायण अथवा स्वा० दयानन्द की) सामवेद (प्रथम प्रपाठक), अथर्ववेद (१—५० सूक्त) (किसी भी भाष्य के आधार पर)। (२) वैदिक समालोचना—(क) ऋग्वेदसंहिता के १-१० सूक्तों का सायण, स्कन्द, वेङ्कटमाधव, मध्व, स्वामी दयानन्द, कपालिस्वामी, विलसन, ग्रिफिथ आदि भाष्यों का तुलनात्मक अनुशीलन। (ख) शुक्लयजुर्वेद के १-२-३ अध्याय (उवट, महीधर, स्वामी दयानन्द, ग्रिफिथ आदि के भाष्यों का तुलनात्मक अनुशीलन)। (ग) निरुक्त के अन्तर्गत ऐतिहासिक-नैरुक्त-अध्यात्म-आधिदैविक आदि पक्षों का गम्भीर विवेचन। (३) (क) भाषाविज्ञान—(भाषाविज्ञान का स्वरूप, भाषा की उत्पत्ति, भाषा-रचना, भाषाओं का वर्गीकरण आदि विषय निरुक्त-प्रदर्शित निर्वचनों पर विचार)। (ख) शास्त्रीय निबन्ध। (ग) शास्त्रीय इतिहास, शास्त्रीय व्युत्पत्तिप्रदर्शन।

प्रौढ़ों के लिए विना रटे व्याकरण का आवश्यक ज्ञान ६ मास में

अब संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन का विना रटे अनुभूत सरलतम प्रयोग यहां उपस्थित किया जाता है। पांच वर्षों से यह क्रम चालू है। यह सूत्रपद्धति है, भण्डारकर तथा स्कूल कालेज आदि के समान रटने की पद्धति नहीं। अष्टाध्यायीसूत्रों के द्वारा लाल पेंसिल के सहारे विना रटे ही सूत्रों का अर्थ भली-भांति समझते हैं। सिद्धि भी विना रटे ही सूत्रों के अर्थों को समझते हुए ही करते हैं। हिन्दीभाषा की पांचवी श्रेणी

की योग्यतावाला छात्र ८ दिन में 'पुरुष' शब्द और 'पठ' धातु के 'लट्' में सब रूपों की सिद्धि विना रटे सूत्रों से समझकर करता है। ३५ पाठों को पढ़कर आगे पांच महीनों में छात्र अनायास ही व्याकरण का आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर लेता है। १६ वर्ष से कम आयुवालों को तो हम अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कराते हैं। इसके आगे विना रटे ही पढ़ाया जाता है। हमारे छात्रों में ४८, ५५, ६५ एवं ८० वर्ष की उम्रवाले छात्र भी हैं। बी. ए., एम. ए. पास भी हैं। इन पर यह प्रयोग कितना सफल हुआ है, यह देखा जा सकता है।

'रटना' हम उसे कहते हैं, जिसमें विना समझे घोखा जाता है। जब समझपूर्वक वार-वार आवृत्ति द्वारा विषय को उपस्थित किया जाता है, तो उसे हम 'रटना' नहीं समझते। अष्टाध्यायीक्रम में सूत्रों के अर्थज्ञान में अधिकार और अनुवृत्ति के ज्ञान के कारण छात्रों को कोई कठिनाई अनुभव नहीं होती। यह क्रम हाईस्कूलों में भी प्रचलित किया जा सकता है। हमने हाईस्कूल में भी इसका प्रयोग किया और वह सफल रहा।

संगृहीत सूत्रों का एक विशिष्ट क्रम से पढ़ाना, अधिकार तथा अनुवृत्ति का वोध, लाल पेंसिल का प्रयोग—यह अष्टाध्यायी-पद्धति का रहस्य है।

इस प्रकार १२ वर्षों में प्रायः सभी शास्त्रों का ज्ञान पूर्वोक्त पाठ्यक्रम से हो जायगा, जब कि आजकल व्याकरण में ही १३ वर्ष लग जाते हैं। उन-उन विषयों के विशेषज्ञ बनने के लिये ४ वर्ष का एक पाठ्यक्रम पृथक् हो। इन ४ वर्षों में दूसरे विषय का विशेषज्ञ बना जा सकता है—यह निश्चित है। इस प्रकार २५ वर्ष की आयु में ही प्रौढ़ विद्वान् बना जा सकता है।

[वेदवाणी, वर्ष ६, अङ्क ७]

—'आज' वाराणसी, २० अप्रैल, ५७ से उद्धृत

वेदवाणी में अग्रलेख

वेद और ईश्वर का सम्बन्ध

इसमें सन्देह नहीं, वेद के ईश्वरीयज्ञान होने की धारणा सामान्य संसारी जनों को एकदम समझ में नहीं आती। इसका कारण शताब्दियों से शुद्ध वैदिक परम्परा का लुप्त हो जाना है। इसीलिये इस विषय में अनेकविध धारणाओं, दूसरे शब्दों में अनेक वादों वा भिन्न-भिन्न मतों की सृष्टि हुई। इतना तो स्पष्ट है कि वैदिकधर्मियों को छोड़कर समस्त संसार वेदसम्बन्धी उपर्युक्त धारणा मानने को तैयार नहीं, इसके कारण यद्यपि अनेक कहे जा सकते हैं, पर मुख्य कारण जिसमें (हाथी के पाव में सबका पांव) सब कारण आ जाते हैं, यह है कि सबसे पहले संसार ईश्वर की सत्ता को ही स्वीकार नहीं करता. ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने से हमारा अभिप्राय उस दैवी चेतनशक्ति के गुणों को विवेचनात्मक रीति से विश्लेषण करके स्वीकार करना है. जिसकी यह सब रचना है। ईश्वर के एक-एक गुण को लेकर उस पर विचार करने से इस विषय के आगे प्रश्नों की समस्या हल हो जाती है। ईश्वर है तो किसी न किसी ऐश्वर्य (वस्तु पदार्थ) का ही तो ईश्वर (स्वामी) होगा, स्व नहीं तो स्वामी कैसा ? यदि कार्य वस्तु स्वयं नहीं बन सकती तो दृश्यमान कार्य जगत् को बनानेवाला वह ईश्वर ही हो सकता है। दूसरे को तो उसके पूर्णतया समझने की शक्ति भी दृष्टिगोचर नहीं होती, बना सकना तो एक ओर रहा !

जब स्रष्टा है तो वेत्ता स्वयं ही है। उसमें उसकी व्यापकता अर्थात् सर्वव्यापकता-सर्वान्तर्यामित्व-सर्वाधारत्व-सर्वेश्वरत्वादि गुण स्वयं सिद्ध हैं। यदि यह स्वयं दूसरी शक्ति के आश्रय पर है तो उपर्युक्त सब कार्य कर ही कैसे सकता है ? अतः अज, अनादि, अनुपम, निर्विकार, अनन्त, मृत्यु-रहित, अभय, नित्य, पवित्र आदि गुण होने ही चाहियें। आकार में आनेवाला इस विशाल सृष्टि की रचना कैसे करेगा ? सत्ता और चेतनता के होते हुये आनन्दमय गुण होना भी अनिवार्य है. अन्यथा अनेक जन्म-जन्मान्तरों की कर्मवासनाओं के द्वारा संसार में सुख दुःख का उपभोग करते हुए जीवों की शरण वा अन्तिम शान्ति का धाम क्या होगा ? जब

हम इन गुणों से विशिष्ट उस परमदेव ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करलें तो तीन मुख्य सत्तायें हमने स्वयं ही स्वीकार कर लीं, क्योंकि उपर्युक्त गुण इन तीनों 'ईश्वर-जीव-प्रकृति' की सत्ता को मानने से ही गतार्थ हो सकते हैं। जब हमने आधारभूत इन तीन पदार्थों को मान लिया, जो हमें मानने ही पड़ते हैं, ऐसी दशा में इन तीनों के परस्पर सम्बन्ध को भी हमें जानना आवश्यक होगा। आधुनिक संसार प्रायः करके प्रकृति (मैटर) तथा उसके नियमों को तो मानता है, चाहे वह किसी भी रूप में मानता हो, मानता अवश्य है, पर ईश्वर से इन्कारी (नकारी) होने में उसे कुछ भी सङ्कोच नहीं होता। चाहे युक्ति प्रयुक्ति उपस्थित होने पर यह धारणा टिक न सकती हो। ईश्वर से इन्कारी होनेवाले मन में 'ईश्वरीय ज्ञान' वेद के विषय में इन्कारी होना कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं, कारण ही नहीं तो कार्य कैसा !!

'गतानुगतिको लोकः' संसार में अधिक समुदाय निज बुद्धि वा विवेचना से काम न लेकर केवल अनुगामी होने की रुचि रखते हैं, क्योंकि इसमें उन्हें अपेक्षाकृत सुगमता प्रतीत होती है। यही कारण है कि वर्तमान भारत निज प्राचीन वैदिक साहित्य, संस्कृति, सभ्यता वा आदर्शों को थोड़ा नहीं, अपितु बहुत दूर तक भूल चुका है। अनीश्वर-वादिता की प्रचण्ड आंधी ने जाति और देश की जड़ों को हिला दिया है। ऐसी अवस्था में ईश्वरीय ज्ञान वेद के विषय में सर्वसाधारण में शङ्कायें बनी रहना या हृदय का पूर्ण सन्तोष न होना स्वाभाविक ही है।

हमारे समस्त प्राचीन दर्शनशास्त्र और ऋषि-मुनि सामूहिकरूपेण 'ईश्वर-जीव-प्रकृति' इन तीनों की सत्ता का विशद निरूपण करते हैं। उनमें हमें सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल सभी सम्भवनीय शङ्काओं के उत्थानों तथा समाधानों द्वारा इस विषय की विवेचना मिलती है। महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज के आरम्भिक दो नियमों द्वारा बहुत ही उत्कृष्ट रीति से इस बात को दर्शाया है—

'सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदिमूल परमेश्वर है। १।'

'ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टि-कर्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है। २।'

इन दोनों नियमों में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन अत्यन्त उत्तम रीति से कर दिया गया है।

ईश्वर की सिद्धि में प्रमाण वा युक्तियां हम इसीलिये उपस्थित नहीं कर रहे हैं कि यह विषय वैज्ञानिकों में अब मान्य हो गया है। योरुप के बड़े-बड़े विज्ञानवेत्ताओं ने भी परमेश्वर की सत्ता को स्वीकार कर लिया है, चाहे वह अपने यथावत् रूप में न हो।

हमारा अभिप्राय इतता ही है कि पाठक महानुभाव उपर्युक्त 'सच्चिदानन्दस्वरूप निराकार' इत्यादि गुणविशिष्ट ईश्वर को जानकर और मानकर ही प्रकृत विषय के विचार में प्रवृत्त हों। साथ ही जीव और प्रकृति के विषय की धारणा भी पूर्व ही निश्चित कर लेनी अनिवार्य है। तभी 'ईश्वरीय ज्ञान वेद' का यह विषय हृदयङ्गम हो सकता है।

जब पूर्वोक्त प्रतिपादन से यह स्पष्ट है कि जगत् का कर्त्ता=निमित्त-कारण परमेश्वर अनादि है और ज्ञान का भण्डार है, तो उसका वेद के साथ क्या सम्बन्ध है, यह आकांक्षा पाठकों के हृदय में होनी स्वाभाविक है। जिज्ञासुओं की आकांक्षा-निवृत्ति के लिये शास्त्रकारों के वचन संक्षेप से एक-दो ही दर्शाना पर्याप्त होगा—

(१) शास्त्रयोनित्वात् (वेदान्तसूत्र १।१।३)।

इस सूत्र में व्यास मुनि ने ब्रह्म को शास्त्र का कारण माना है। इसके भाष्य में श्री स्वामी शङ्कराचार्य जी महाराज लिखते हैं—

'महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थविद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारण ब्रह्म। नहीदृशस्य शास्य-स्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति।'

अर्थात् सर्वविद्यामय ऋग्वेदादि का सर्वज्ञ परमात्मा के बिना कोई कारण नहीं हो सकता।

(२) योगभाष्य में भी व्यासमुनि कहते हैं—

'एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्तमानयोरनादिः सम्बन्धः।'

अर्थात् वेद और ईश्वर का अनादि सम्बन्ध है।

[वेदवाणी, वर्ष २, अङ्क १]

संस्कारविधि पर किये गये आक्षेपों के सम्बन्ध में मेरा वक्तव्य

श्री० पण्डित गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय मन्त्री आर्य सार्वदेशिक सभा ने संस्कारविधि के दो मन्त्रों के विषय में 'सार्वदेशिक' पत्र में लिखा था कि उन्हें निकाल देना चाहिये। उनके आक्षेपों का उत्तर श्री पं० जयदेव जी विद्यालङ्कार तथा श्री स्वामी स्वतन्त्रतानन्दजी महाराज ने लिखित तथा 'आर्यमित्र' आदि पत्रों द्वारा बड़े परिश्रम और योग्यता से दिया। इस पर भी श्री उपाध्यायजी का सन्तोष नहीं हुआ और उन्होंने दो सितम्बर १९४८ के 'आर्यमित्र' में पुनः अपने आक्षेप छपवाये हैं।

परोपकारिणी सभा अजमेर के गत ८ मार्च १९४८ के अधिवेशन के निश्चय सं० ८ के अनुसार मुझे भी उपर्युक्त दोनों स्थलों के विषय में असली हस्तलेखों को अजमेर में देखकर अपना वक्तव्य देने के लिए कहा गया। तदनुसार मैंने २७ सितम्बर से ८ अक्टूबर तक अजमेर में रहकर संस्कारविधि के दोनों हस्तलेखों, असली रफ कापी तथा संशोधित प्रेस कापी को सावधानता और सूक्ष्म दृष्टि से देखा। और एक विस्तृत वक्तव्य (लगभग २० पृष्ठ) वयोवृद्ध श्री मन्त्री जी परोपकारिणी सभा अजमेर को भेजा, जो उक्त सभा से ही मिल सकेगा। अति संक्षेप से मैं अपने विचार यहां भी उपस्थित करता हूं।

'अयन्त इध्म आत्मा' पर विचार

इस मन्त्र के विषय में उपाध्याय जी के आक्षेपों का सार यह है (आर्यमित्र, २ सितम्बर १९४८)—

शङ्का—(१) 'असली कापी में 'अयन्त····' मन्त्र समिधाओं की आहुतियों के सम्बन्ध में नहीं है।'

(२) 'असली कापी में अन्य संशोधन हैं, यह मन्त्र बढ़ाया नहीं गया।'

(३) 'प्रेस कापी में केवल हाशिये पर है, और यद्यपि उसी लेखक के हाथ का है, फिर भी पीछे से लिखा गया है।'

(४) 'उसी ने १, २, ३ संख्या भी डाली होगी।' उसी ने अर्थात् लेखक ने।

समाधान—ऊपर के तीनों कथन सर्वांश में ठीक हैं, पर इससे श्री उपाध्यायजी की बात सिद्ध नहीं होती। किञ्चित् ध्यान देकर पढ़ें।

(१) सबसे प्रथम यह जान लेना आवश्यक है कि असली कापी—असली रफ कापी है। अर्थात् संवत् १९३२ के प्रथम संस्करण का संशोधित रफ रूप है। क्योंकि इसकी प्रतिलिपि शुद्ध करके जो तय्यार की गई, वह प्रेस कापी है। उसमें पृष्ठ ४७ तक ऋषि दयानन्द के हाथ का काली स्याही का संशोधन बराबर मिल रहा है। इन दोनों हस्तलेखों को अगस्त सन् १९३६ में मैंने बढ़िया कागज में लपेट कर ऊपर नीचे गत्तों में फीते से बांधा था, और एकपर 'असली कापी' और दूसरी पर 'प्रेस-कापी' शब्द लाल स्याही से लिख दिये थे।

(२) 'अयन्त इध्म०' मन्त्र प्रेस कापी के पृष्ठ १५ पर है अर्थात् ३२ पृष्ठ और आगे (पृ० ४७) तक ऋषि के हाथ का संशोधन व लेख बराबर विद्यमान है। पृष्ठ १५ पर हाशिये पर अन्तिम पङ्क्ति में 'अयन्त इध्म०' मन्त्र से आगे 'इस मन्त्र से एक' इतना तथा 'समिधाग्निं—' के आगे "इससे और सुसमिद्धाय०··· इस मन्त्र से अर्थात् इन दोनों मन्त्रों से दूसरी" ऐसा पाठ है। 'तं त्वा०' के आगे 'इस मन्त्र से तीसरी समिधा की आहुति देवे' यह सब पाठ ऋषि दयानन्द के अपने हाथ का है, जो पृष्ठ ४७ तक के संशोधन से सर्वथा मिलता है। ४७ पृष्ठ से आगे प्रेस कापी पर ऋषि के हाथ का संशोधन नहीं है।

यहां यह ध्यान रहे कि हमने संस्कारविधि के संशोधनों के लेखों को ऋषि दयानन्द के अपने हाथ से लिखे गये पत्रों के लेखों से बहुत सूक्ष्म दृष्टि से मिलान करके पूर्णतया निश्चय किया है कि कौन-सा संशोधन लेखक का है और कौन-सा ऋषि के अपने हाथ का है। ऋषि के हाथ के संशोधनों की पहचान इतनी सूक्ष्मता से की है कि उस में अब आशङ्का के लिए स्थान नहीं है। शोक से कहना पड़ता है कि उपाध्याय जी ने

संस्कारविधि की कापियों को देखते समय इस बात पर ध्यान न दिया कि कौन-सा संशोधन ऋषि का है और कौन-सा लेखक का। अन्यथा इतना विवाद ही न वढ़ता।

(३) असली रफकापी में जो काली पैंसिल का बहुत सा संशोधन वा परिवर्धन है, वह ऋषि के अपने हाथ का है। यह सम्पूर्ण कापी निश्चय ही जोधपुर में १३ मई सन् १८८३ से २६ सितम्बर १८८३ तक के समय में लिखी गई और सम्पूर्ण संशोधित (काली पेंसिल से) हुई। और इसी काल में इसकी प्रतिलिपि अर्थात् प्रेस कापी के पृष्ठ १४७ तक का संशोधन ऋषि ने अपने हाथ से काली स्याही से किया। पृष्ठ ४७ से आगे की प्रेस कापी इन चार मास में ही लिखी गई, यह कहना कठिन है, पाठक देखें—

(अ) जीवनचरित्र देवेन्द्रबाबूकृत आर्यसाहित्य मण्डल अजमेर का छपा पृ० ६९९—

'८ बजे से वेदभाष्य का लिखना प्रारम्भ करते और ११ बजे तक उसी में व्यस्त रहते। तत्पश्चात् सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि के प्रूफ संशोधते और पत्रों के उत्तर लिखते।'

(इ) आषाढ़ वदि १३, रविवार संवत् १९४० को पुनः संशोधन करके छपवाने का आरम्भ हुआ (संस्कारविधिभूमिका)।

(उ) ऋषि के पत्र और विज्ञापन—रामलाल कपूर ट्रस्ट लाहौर का छपा, पृष्ठ ४८३—

'और अब के संस्कारविधि बहुत अच्छी बनाई गई है और अमावस्या तक बन चुकेगी।'

ऋषि ने यह पत्र भाद्र वदी ५ सं० १९४० को मुंशी समर्थदान को लिखा था, अतः यहां अमावस्या से अभिप्राय भाद्रपद की अमावस्या का है।

(ऋ) उपर्युक्त पुस्तक के पृष्ठ ५१२ पर लिखा है—

'आश्विन वदी ८ सोमवार संवत् १९४० को संस्कारविधि के पृष्ठ १ से ४७ तक भेजे हैं पहुंचे होंगे, और पहुंचने पर रसीद भेज देना।'

इन चारों प्रमाणों से सिद्ध है कि संस्कारविधि का संशोधन २ मास २ दिन में जोधपुर में हुआ। यह भी निश्चित है कि उक्त चार मास में

स्वामीजी महाराज जोधपुर में ही रहे, कहीं बाहर भी नहीं गये, तथा प्रेसकापी १ से ४७ पृष्ठ तक महाराज संशोधन करके छपने के लिये प्रेस में भेज चुके थे।

(४) पाठक असली रफकापी तथा प्रेसकापी दोनों हस्तलेखों की पृष्ठ-संख्या पर ध्यान देवें—

(अ) असली कापी में पृष्ठ १ से ४ तक भूमिका तथा प्रारम्भ के श्लोक हैं। आगे पुन: नई संख्या १ से ४ में ८ प्रार्थनामन्त्रों के अर्थमात्र हैं, मन्त्र नहीं हैं। पुन: नई संख्या चलती है। १ से १० पृष्ठ तक में सामान्य प्रकरण समाप्त हुआ है, जिसमें स्वस्तिवाचन और शान्ति-प्रकरण के मन्त्र नहीं हैं, इतना अंश छूटा हुआ समझना चाहिये। आगे गर्भाधानसंस्कार से गृहाश्रम की समाप्ति तक १८४ पृष्ठसंख्या बराबर जाती है (१५९ में कुछ पृष्ठ परिवर्द्धित हैं), आगे पुन: पृ० १ से ४३ में वानप्रस्थ से अन्त्येष्टि तक का विषय है।

(इ) प्रेसकापी में पृष्ठ १ से १९ तक सामान्यप्रकरण समाप्त होता है। आगे पृष्ठ १७२ तक निरन्तर अङ्कसंख्या जाती है।

अब यहां कहना यह है कि असली कापी पुंसवनसंस्कार पृष्ठ १३ पर लिखा है—

'पृष्ठ ३ से १९ पृष्ठ में समाप्ति पर्यन्त कहे प्रमाणे विश्वानि देव० इत्यादि चारों वेदों के मन्त्रों से यजमान तथा पुरोहित ईश्वरोपासना करें।'

इसमें अङ्कित पाठ ऋषि दयानन्द के अपने हाथ का काली पेंसिल का है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि कम से कम पुंसवन संस्कार पृ० १३ लिखते समय प्रेसकापी पृ० ३—१९ तक का सामान्यप्रकरण लेखक द्वारा लिखा तथा ऋषि दयानन्द द्वारा काली स्याही से संशोधित हो चुका था। असली कापी में निर्दिष्ट पृष्ठसंख्या ३—१९ प्रेसकापी की ही है, क्योंकि असली कापी में ३—१९ पृष्ठसंख्या है ही नहीं। इतना ही नहीं, अपितु आगे भी असली कापी के पृष्ठ १६, २९, ३२, ३४, ४१ में '३—१९ पर्यन्त विधि करके' ऐसा स्पष्ट लेख मिलता है। हमारा 'अयन्त इध्म आत्मा' मन्त्रविषयक सब पाठ इन्हीं ३—१९ पृष्ठों में है, वह पृष्ठ १५ पर है।

(५) असली रफ कापी में 'अयन्त इध्म आत्मा०' इस मन्त्र से समिधा डालने का विधान आगे के संस्कारों में निम्न प्रकार मिलता है—

(क) असली कापी पृष्ठ २०—'...आसन पर बैठ के (अयन्त इध्म आत्मा०) पृष्ठ में लिखे मन्त्र से वेदी में चन्दन की समिधा करे।'

(ख) असली कापी पृष्ठ ४७ में 'अयन्त इध्म' इत्यादि चार मन्त्रों से समिदाधान ..।'

(ग) असली कापी पृ० १०४ में .. '(ओं अयन्त इध्म) इत्यादि मन्त्रों से समिदाधान ...॥'

(घ) असली कापी पृ० ११८ में 'पृ० में अग्न्याधान [ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौं०] इस मन्त्र से करें [ओं अयन्त इध्म०] इस मन्त्र से समिदाधान करके ..।'

(ङ) असली कापी पृ० १२१ में 'पृष्ठ में लिखे प्रमाणे [ओं अयन्त इध्म०] इस मन्त्र से समिधा होम दोनों जने करके।'

(च) असली कापी पृष्ठ ७ [वानप्रस्थाश्रम] '[अयन्त इध्म०] इत्यादि मन्त्रों से समिदाधान करके ..।'

इन ६ स्थलों में [अयन्त इध्म] मन्त्र से समिदाधान का विधान असलीकापी के हस्तलेख में भी स्पष्ट मिलता है, प्रेस कापी के हस्तलेख में तो है ही। यदि असली कापी में न होता, तब भी कोई कह सकता था कि अजी पीछे मिला दिया गया है। पृथक् उद्धरण से यह स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द असली कापी के २० पृष्ठ लिखे जाने तक प्रेसकापी के पृष्ट १५ में अपने हाथ से संशोधन वा परिवर्द्धन कर चुके थे। इससे यह स्पष्ट है कि असली कापी के सामान्यप्रकरण लिखे जाने के तत्काल पश्चात् उतने भाग की प्रेसकापी तैयार करके उसी में ऋषि में अपने हाथ से [अयन्त इध्म] मन्त्र से समिदाधान का विधान किया [जो पहले नहीं किया था]। इसी प्रेसकापी के पाठ और पृष्ठों का निर्देश असली रफकापी के पुंसवन आदि संस्कारों में किया, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह शेष नहीं है। इससे 'एक-एक मन्त्र से एक-एक समिधा को अग्नि में चढ़ावें' यह असली कापी का 'संशोधित रूप' है, यह शङ्का भी सर्वथा कट जाती है, क्योंकि आगे चार मन्त्रों से तीन समिधाओं का विधान है, जो अनेक स्थलों में है, जो असली कापी में मिलता है।

इस प्रकार हमने ऊपर स्पष्ट कर दिया है कि ऋषि दयानन्द ने प्रेस कापी पृष्ठ १५ में अपने हाथ से काली स्याही से संशोधन और परि-वर्द्धन द्वारा (अयन्त इध्म) मन्त्र से समिदाधान का विधान किया है। और असली कापी में पुंसवन आदि संस्कारों के प्रकरण में प्रेस कापी की ३—१९ तक की पृष्ठ संख्या देकर सारा विधान किया है। असली कापी में अन्त तक अनेक स्थलों में ऋषि के अपने हाथ के काली पेंसिल के संशोधन वर्त्तमान हैं। संस्कार विधि की द्वितीय बार संशोधित संपूर्ण रफ कापी तथा पृष्ठ ४७ तक प्रेस कापी निश्चय ही ऋषि ने जोधपुर के निवास काल में स्वयं अपने सामने लिखवाई और स्वयं ठीक की। (अयन्त इध्म) यह मन्त्र भी इसमें का है।

इस प्रकार आरम्भ की तीनों शङ्कायें स्वयं निर्मूल हो जाती हैं। ऋषि दयानन्द ने स्वयं विधान किया, यह सर्वथा निर्विवाद है। रह गई चौथी शङ्का कि "उसी ने १, २, ३, ४ संख्या भी डाली होगी" यह ठीक है। जिस लेखनी से (अयन्त इध्म०) मन्त्र के अन्त में '१' संख्या डाली गई है, उसी ने अगली १ संख्या को २, २ को नीचे से बढ़ाकर ३ और ३ की ४ संख्या बनाई है। जब ऋषि ने मन्त्र स्वयं बढ़वाया, उसके व अगले मन्त्रों के अन्त में अपने हाथ से परिवर्धन किया (पहले ३ मन्त्र थे पीछे ४) तब पहले की १, २, ३ संख्याओं को २, ३, ४ करना आव-श्यक ही था। हां, यह संशोधन उसी लेखनी और स्याही से उसी लेखक के हाथ के हैं। इससे मुख्य धारणा में यत् किञ्चित् भी भेद नहीं आता। चारों शङ्काओं का उत्तर समाप्त हुआ।

अब हम श्री उपाध्याय जी की २ सितम्बर ४८ के 'आर्यमित्र' में छपी अन्य शङ्काओं पर विचार करते हैं—

(शङ्का ५) 'तीन ही मन्त्रों से एक-एक करके समिधायें चढ़ाने का विधान शतपथब्राह्मण, कात्यायनसूत्र आदि में स्पष्ट है। चार मन्त्रों से ३ समिधा चढ़ाने का विधान कहीं नहीं। 'समिधाग्निं' इत्यादि तीन मन्त्र यजुर्वेद अध्याय ३ के लगातार १, २, ३ मन्त्र हैं। 'अयन्त इध्म··· ······वेदमन्त्र भी नहीं। इस मन्त्र से समिदाधान किसी गृह्यसूत्र में नहीं।'

(समाधान) देखिये पहिले हम 'अयन्त इध्म' मन्त्र से समिदाधान में प्रमाण उपस्थित करते हैं—

[अ] आश्वलायन गृह्यसूत्र १-१०-१२ में 'इध्ममभिघार्याऽयन्त इध्म आत्मा······समेधय स्वाहेति' तथा गर्ग नारायणी वृत्ति में—'तत इध्ममभिघार्यं अयन्त इति मन्त्रेणाग्नावादध्यात्' ऐसा लेख है, जो इसी मन्त्र से समिदाधान का विधान करता है। यहां सर्वथा यही मन्त्र है।

[इ] भारद्वाज गृह्यसूत्र १-४ में—

'······इध्मं त्रेधाभ्यज्य सकृदेवादधात्ययन्त इध्म आत्मा ····· समेधय स्वाहेति।'

[ई] जैमिनीय गृह्यसूत्र १-३ में—'अथेध्ममादाय स्रुवेणाज्यं गृहीत्वाऽभिघार्याग्नावभ्यादधाति—अयन्त इध्म आत्मा ·· ·········· समेधय स्वाहेति।'

[उ] संस्कार-पद्धति [आनन्दाश्रम संस्करण] पृ० १६ में—'दक्षिण-हस्तेनेध्ममादाय अयन्त इध्म आत्मा ·······समेधय स्वाहेति··· ·· प्रागग्रमादधाति। जातवेदसेऽग्नय इदं।'

इन तीन प्रमाणों में भी स्पष्ट ही इसी 'अयन्त इध्म०' मन्त्र से अग्नि में समिधा छोड़ने का विधान किया गया है। मन्त्र में स्वल्प पाठ-भेद है।

सो यह भ्रान्ति दूर हो जाती है कि 'अयन्त इध्म०' मन्त्र से समिदाधान का विधान किसी गृह्यसूत्र में नहीं।

हां! शतपथब्राह्मण में नहीं। कात्यायन गृह्यसूत्र कोई प्राप्य नहीं, हां पारस्करगृह्यसूत्र तो है। शतपथब्राह्मण में 'अयन्त इध्म०' से न हुआ तो कौन सी हानि हो गई। वहां तो विधान भी दर्शपौर्णमास में श्रौत यज्ञविषयक है, न कि स्मार्तयज्ञविषयक। रही चार मन्त्रों से तीन समिधाओं को अग्नि में चढ़ाने की बात, सो शतपथब्राह्मण २, १, ४, ५ में तो—

'आश्वत्थीस्तिस्रः समिधो घृतेनान्वज्य समिद्वतीभिर्घृतवतीभिर्ऋग्भिरादधाति··· ···' ऐसा लिखा है अर्थात् पीपल की तीन समिधायें घृत-सिंचन कर समिद्वती घृतवती ऋचाओं से आधान करे। यहां हम अपनी ओर से कुछ न कहकर कात्यायन श्रौतसूत्र ४-१६६-२०१ [पृष्ठ २७६-२७७ चौखम्बा संस्करण] तथा उसके भाष्यकार कर्क का मत देते हैं—

१. 'आश्वत्थीस्तिस्रः समिधो घृताक्ता आदधाति समिधाग्निमिति प्रत्यर्चम्।' १९९।

२. 'उप त्वेति जपति। २००।' अत्र कर्कभाष्यम्—'त्रिभिरादधात्येकं जपतीति हि श्रूयते। २००।'

३. 'द्वितीयं वाध्वर्युः।' २०१।

अत्र कर्कभाष्यम्—

'द्वितीयं वा जपति। येनैवं श्रूयते समिद्वतीभिर्घृतवतीभिरभ्यादधातीति समिच्छब्दवतीभिर्घृतशब्दवतीभिश्चेति। द्वितीया च समिच्छब्दवती, अतो द्वितीयामेव जपतीति। पाठक्रमस्तु लिङ्गेन बाध्यते। अध्वर्युग्रहणं च पाठक्रमव्युदासार्थम्। अतश्च समिदाधानान्ते जपः। अपरे तु जपं याजमानमिच्छन्ति। मन्त्राश्चाकर्मकरणा इति सूत्रितत्वात् तेनाध्वर्युरित्युच्यते।'

यहां मूल कात्यायनश्रौतसूत्र में चार मन्त्रों से तीन समिधा डाली जाने का स्पष्ट विधान है। एक मन्त्र का जप करना है। सो एक पक्ष में 'सुसमिद्धाय शोचिषे' का जप करना है, दूसरे पक्ष में चौथे [य० ३।४] का जप करना है। शेष तीन मन्त्रों से तीन आहुतियां देनी हैं। अर्थात् 'समिधाग्नि' और 'सुसमिद्धाय' दोनों मन्त्र पहली समिधा डालने में बोले जायेंगे।

तीसरे मन्त्र से दूसरी समिधा, चौथे से तीसरी। उपर्युक्त कर्कभाष्य में तो सर्वथा स्पष्ट लिखा है। अन्यत्र भी दो-दो मन्त्रों से एक क्रिया का विधान अनेक कर्माङ्गों में मिलता है। यह पांचवां समाधान हुआ।

[शङ्का ६] 'फिर ऋषि को क्या पड़ी थी कि प्राचीन सूत्रकारों के वेद के अविरोधी भाव को छोड़कर हस्तक्षेप करते।'

(समाधान) ऋषि ने देखा कि सूत्रकारों ने 'अयन्त इध्म०' इस मन्त्र से भी समिदाधान किया है। उन्होंने अपने पूर्व विचार को बदल लिया और तीन के स्थान में चार मन्त्रों द्वारा तीन समिधाओं का विधान कर दिया। यही प्राचीन सूत्रकारों का वेद का अविरोधी मत है।

[शङ्का ७] 'अभी किसी विद्वान् ने यह बताने की कृपा नहीं की कि ऋषि दयानन्द ने अमुक पद्धति का अनुकरण किया है और उसमें चार मन्त्रों से तीन समिधायें देने का विधान है। परिवर्तन के लिये विशेष

कारण होना चाहिये। अकारण परिवर्तन ऋषि दयानन्द के मन्तव्य और स्वभाव के विरुद्ध है।

(समाधान) ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि में पारस्कर, गोभिलीय, आश्वलायन, शौनक आदि गृह्यसूत्रों का एक में समन्वय किया है। इसी में उनका ऋषित्व निहित है। इन उपर्युक्त चारों शाखाओं की भिन्न-भिन्न पद्धतियों में से किसी एक का अनुकरण करते भी कैसे। संस्कारविधि की यही तो विशेषता है, जिसे बहुत कम सज्जन समझ पाते हैं। चार मन्त्रों से तीन समिधाओं का विधान हम ऊपर दर्शा चुके हैं। परिवर्तन के लिये विशेष कारण यही था कि 'अयन्त इध्म०' इस मन्त्र से समिदाधान का विधान शास्त्र में मिलता है। परिवर्तन अकारण नहीं हुआ।

अब रही यह बात कि 'अयन्त इध्म०' मन्त्र नहीं, इसलिए उसका विधान नहीं करना चाहिए, सो यह कहना भूल है। इसके प्रमाण हम ऊपर दे चुके हैं।

देखिये उपनयन में 'यज्ञोपवीतं परमम्पवित्रं........' इत्यादि को मन्त्र मानकर ही तो ऋषि ने उसे (तथा अन्य मन्त्रों को) लिखा है, उपनिषद् में भी मन्त्र माने जाते हैं। उनको स्पष्ट करनेवाले वेदमन्त्र यदि फुटनोट में नीचे कोई देना चाहें तो देदें। अतः 'मन्त्र नहीं' का कोलाहल व्यर्थ है।

ऋषि दयानन्द कृत संस्कारविधि के स्थान में कोई नई संस्कारविधि घड़ना तो व्यर्थ है और हानिकर भी। सहस्रों वर्ष पीछे पूर्वज ऋषियों की भिन्न-भिन्न शाखाओं का समन्वय करनेवाले एक महापुरुष ऋषि दयानन्द हुये, सो संस्कारविधि ही वर्तमान में समस्त स्वतन्त्र भारत में मानने योग्य एक गृह्यसूत्र है, जिसमें सभी के गृह्यसूत्रों का समन्वय हो जाता है और कोई नहीं। अतः इसके महत्त्व को किसी प्रकार भी कम न होने देना चाहिए। हमारे तुम्हारे द्वारा बनाये नये-नये विधान कदापि नहीं माने जा सकेंगे, यह निश्चय ही समझना चाहिए।

संस्कारविधि को भारत सरकार द्वारा सब वर्णों के लिए एक कर्मकांड का विधान राजकीय नियम से स्वीकृत कराना चाहिए।

इस प्रकार हम ने सिद्ध किया कि ऋषि दयानन्द ने अपने हाथ से 'अयन्त इध्म०' मन्त्र से समिदाधान का विधान किया, जो शास्त्र के आधार पर है। हमने इस पर की गई सब शंकाओं का समाधान किया है।

आशा है आर्य विद्वानों, विशेषकर श्री पं० गङ्गाप्रसादजी उपाध्याय का हमारे इस लेख से अवश्य सन्तोष होगा। सन्तोषार्थ ही यह लिखा है। ओ३म् शम्॥

वैदिक धर्म का सेवक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
स्थायी पता—पो० अजमतगढ़ पैलेस-बनारस
वर्तमान पता—रामलाल कपूर ट्रस्ट सोसाइटी
गुरु बाजार, अमृतसर

[वेदवाणी, वर्ष २, अङ्क २,३]

मेरा सम्पादकत्व

विद्वानों तथा जनता से पूर्ण सहयोग की प्रार्थना

एक वर्ष पूर्व जब मैं काशी में था और 'वेदवाणी' मासिक पत्रिका का आरम्भ हुआ, विद्वद्वरप्रिय पं० वीरेन्द्रजी शास्त्री साहित्याचार्य, एम० ए० ने वहुत आग्रह किया कि आप इस पत्रिका के मुख्य सम्पादक पद को स्वीकार करें। पहले तो मुझे कुछ आश्चर्य सा हुआ और सोचने लगा कि तू सम्पादक पद के योग्य है भी या नहीं। यदि तुझे योग्य समझा भी जा रहा है तो क्या तेरे पास समय भी है? पाकिस्तान से निर्वासित होने के पश्चात् चाहे एक घण्टा भी अवकाश नहीं मिला, पर वेदभाष्य-अन्वेषण कार्य तथा आर्षपाठविधि का कार्य तो कुछ भी नहीं किया। काशी विद्वन्मण्डल द्वारा संचालित कार्यविशेष में ही लगा रहा तथा लगा रहता हूं। यह सब मैंने उक्त पण्डितजी से कहा। इस पर भी उनका वही आग्रह रहा और वैदिक धर्म के सच्चे सेवक श्री प्रो० महेश प्रसादजी की अन्तःप्रेरणा रही। तो मैंने अन्त में यह कहा कि पत्रों का चलना वहुत कठिन है। कम से कम दो वर्ष तक यह समझकर कि व्यय ही व्यय होगा आय कुछ न होगी, दूसरे शब्दों में दो वर्ष का व्यय घाटे में डालने के लिए तय्यार होकर अर्थात् प्रवन्ध करके ही पत्र चलाने का नाम लेना चाहिये। मैं नहीं चाहता था कि पत्रिका को घाटा उठाना पड़े। मेरे मुख से निकला कि अच्छा एक वर्ष 'वेदवाणी' चल जावेगी तो हो सकता है। एक वर्ष तक घोर परिश्रम से 'वेदवाणी' घाटा सहन करके भी चलाई गई। अव उनके कथन को मैं टाल नहीं सका। मुझे कहना पड़ा कि अच्छा मैं यथाशक्ति इसके लिये यत्न करूंगा।

मेरा यह स्वभाव रहा है (चाहे यह बुरा हो वा अच्छा) कि या तो मैं लेखनी उठाता नहीं या उठाता हूं तो फिर रोकना कठिन हो जाता है। भाषण में कभी मनुष्य न्यूनाधिक भी कह जाता है तो उससे कोई हानि नहीं होती, जितनी लेख में कुछ न्यूनाधिक लिखने से होती है। यह वहुत ही उत्तरदायित्व का काम है, समय ही बतायेगा कि मैं इसे कहां तक पूरा कर पाता हूं। यह भी मैंने अनुभव किया कि-प्रायः आर्य पत्रों के सभी सम्पादक कृपा कर मुझे सामान्य वा विशेषांकों के लिये

लेख लिखने के लिये पत्र पर पत्र लिखने का कष्ट करते रहते हैं। यह ठीक है कि मैं प्रायः नहीं लिख पाता। जब लिखता हूं तो प्रायः छापते ही नहीं। संस्कारविधि के सम्बन्ध में मैंने एक लेख अत्यन्त परिश्रम से १५ दिन का समय लगाकर लिखा, पर जब पत्रों में भेजा तो किसी ने नहीं छापा। कोई रुष्ट न हो जावे, यह भी एक बड़ा प्रश्न उनके सामने रहता है। तब से मैंने यह निश्चय कर लिया लेख तभी भेजना, जब वह पत्र उसके लिये पात्र हो, अत्यन्त आग्रह करे।

लिखने के लिये मेरे मन में इतना कुछ है कि मैं सोचता हूं कि मैं कहां तक समाप्त कर पाऊंगा। 'वेदवाणी' के द्वारा सम्भव है मैं कुछ विचार, जिन्हें आर्यजनता के लिये परमावश्यक समझता हूं, पहुंचा सकूं।

मैं यथाशक्ति यत्न करूंगा कि इस पत्र की विचारधारा उत्कृष्ट, प्राचीन आर्ष भावनाओं के अनुरूप, वैदिक धर्म और ऋषि दयानन्द प्रदर्शित सिद्धान्तों के अनुकूल हो, जो बहुत कुछ हमारे माननीय लेखक महोदयों पर निर्भर है। आगे भविष्य का ज्ञाता परमेश्वर है।

आर्य-जनता, संस्कृत-प्रेमी, प्राचीन संस्कृति-सभ्यता और साहित्य में निष्ठा रखनेवाले प्रत्येक भाई और बहिन इस पत्र को हर प्रकार से पूर्ण सहयोग दें।

वैदिक धर्म का सेवक—
ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

स्थायी पता—पो० अजमतगढ़ पैलेस—बनारस
वर्तमान पता—रामलाल कपूर ट्रस्ट सोसाइटी
गुरु बाजार, अमृतसर

[वेदवाणी, वर्ष २, अङ्क २]

महर्षि दयानन्दकृत वेद-भाष्य की स्थिति

आज हम एक अत्यन्त आवश्यक पत्र प्रकाशित कर रहे हैं, जो आर्य समाज के लिए अत्यन्त महत्त्व का है। इस पत्र से ऋषि दयानन्दकृत वेद-भाष्य की वास्तविक स्थिति का ज्ञान पूरा-पूरा मिलता है। वैदिक यन्त्रालय में छापे ऋग्वेदभाष्य की ९ जिल्दों अर्थात् सब भागों के मुख पृष्ठ (टाइटल) पर सब संस्करणों में बराबर (प्रत्येक भाग पर) निम्न प्रकार छपता चला आ रहा है:—

"इस भाष्य की भाषा को पण्डितों ने बनाई, और संस्कृत को भी उन्होंने शोधा है।"

इन शब्दों से स्पष्ट स्थिति का बोध नहीं होता। कई प्रकार की आशङ्कायें उठती हैं।

यह पत्र महर्षि दयानन्द सरस्वतीजी महाराज के शिष्य ब्रह्मचारी रामानन्दजी (जो पीछे संन्यासाश्रम में आकर रामानन्द सरस्वती के नाम से प्रसिद्ध हुए) के हाथ का लिखा हुआ है। यह रामानन्द ब्रह्मचारी ऋषि दयानन्द के साथ लेखक के रूप में कई वर्षों तक रहे। अर्थात् मृत्यु सयय में भी यह श्री महाराज की उपचर्या में थे। इन का लेख बहुत अच्छा था। यह अलीगढ़ जिले में अतरौली के पास के रहने वाले थे। ऋषि-भक्त महाशय मामराज जी के द्वारा हमें असली पत्र प्राप्त हुआ है, जो आर्यसमाज खतोली जि० मुजफ्फरनगर (यू० पी०) के सभासद हैं और जिन्होंने अनेक वर्षों तक घोर परिश्रम और कष्ट उठाकर भारत के भिन्न-भिन्न नगरों और स्थानों से ऋषि के पत्र और विज्ञापनादि संगृहीत किये थे और जो लाहौर में रामलाल कपूर ट्रस्ट के द्वारा प्रसिद्ध विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्तजी रिसर्च स्कालर द्वारा सम्पादित ऋषि दयानन्द के 'पत्र और विज्ञापन' नामक पुस्तक में छपे हुये हैं। ब्रह्मचारी रामानन्द का वह पत्र हम छाप रहे हैं। हम तो इस

पत्र का फोटो वा ब्लाक छापना चाहते थे पर इस समय ऐसा प्रबन्ध होना कठिन था। अतः हम उस पत्र को छाप रहे हैं—

यह पत्र ऋषि दयानन्द के निधन के लगभग दो मास पीछे का लिखा हुआ है, जो पं० श्री मोहनलाल विष्णुलाल पण्डया, मन्त्री परोपकारिणी सभा के नाम उनके पूछने पर लिखा गया था। पत्र निम्न प्रकार है—

"श्रीयुत् माननीयाऽनेकशुभगुणगणालंकृतब्रह्मकर्म—समर्थ श्रीमत्-पण्डितवर्य मोहनलाल विष्णुलाल पण्डयाऽभिधेयेष्वितो रामानन्दब्रह्म-चारिणोऽनेकधा प्रणतयः समुल्लसन्तुतराम् इति।

भगवन्! आपने जो मुझे श्रीयुत परमहंस परिव्राजकाऽऽचार्यवर्य्य श्री १०८ श्रीमद्दयानन्द सरस्वती स्वामीजी कृत ऋग्वेदादिभाष्य के विषयों की परीक्षा करके श्रीमती परोपकारिणी सभा में निवेदन करने के लिए (एक सारांश) बनाने को प्रेरणा की थी। सो आप की आज्ञानुसार उस को बनाकर आप की सेवा में समर्पित करता हूं अवलोकन कीजियेगा।

इत्यलं प्रशंसनीयबुद्धिमद्वर्य्येषु
मिति पौषकृष्णा ३ रवि सम्वत् १९४०
शुभचिन्तक—रामानन्द सरस्वती

ऋग्वेदभाष्य

श्रीयुत परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य श्री १०८ मद् दयानन्द सरस्वतीजी कृत ऋग्वेद भाष्य की व्यवस्था निम्नलिखित परिमाणे जानना चाहिये:—

अर्थात्

ऋग्वेद का भाष्य १ मण्डल के आरम्भ से ७ मण्डल के ६७ व सूक्त के २ मन्त्र तक रचा गया।

१ मण्डल के ८६ सूक्त के ५ मन्त्र तक मुद्रित हो चुका अर्थात् ५०+५१ अंक तक।

१ मण्डल के ८६ सूक्त के ६ मन्त्र से ९१ सूक्त के ३ मन्त्र तक की शुद्ध प्रति छपने में; शेष मुंशी समर्थदान जी के पास वैदिक यन्त्रालय प्रयाग में है।

१ मण्डल के ९१ सूक्त के ४ मन्त्र से १ मण्डल के ११४ वें सूक्त के ५ वें मन्त्र तक की शुद्ध प्रति लिखी हुई छपाने योग्य है।

१ मण्डल के ११४ वें सूक्त के ६ मन्त्र से १ मण्डल के १२४ सूक्त के १२ मन्त्र तक की भाषा बनी हुई है।

१ मण्डल के······मन्त्र से १ मण्डल के······सूक्त की समाप्ति पर्यन्त तक की भाषा पण्डित ज्वालादत्तजी इस भाषा बनाने के लिये वैदिक यन्त्रालय प्रयाग में हैं।

१ मण्डल के ११४ वें सूक्त से ७ मण्डल के ६२ वें सूक्त के दो मन्त्र तक का भाष्य अशुद्ध संस्कृत में बना हुआ है। १ मण्डल के ६१ वें सूक्त के ५ वें मन्त्र से १ मण्डल के ११४ वें सूक्त के ५ वें मन्त्र के ऋग्वेद भाष्य के रद्दी पत्रे हैं। अर्थात् शुद्ध प्रति हो ईई।

यजुर्वेदभाष्य

यजुर्वेद का भाष्य सम्पूर्ण हो गया अर्थात् ४० व अध्याय की समाप्ति पर्यन्त रचा। १५ वें अध्याय के ११ वें मन्त्र तक का भाष्य मुद्रित हो चुका है। अर्थात् ५० और ५१ अङ्क तक है।

१५ वें अध्याय के १२ वें मन्त्र से लेकर २१ वें मन्त्र तक की शुद्ध प्रति छपने में शेष मुंशी समर्थदान जी के पास वैदिक यन्त्रालय प्रयाग में है। १५ वें अध्याय के २२ वें मन्त्र से २३ वें अध्याय के ४९ मन्त्र तक छपने योग्य शुद्ध प्रति लिखी हुई है।

२३ अध्याय के ५० वें मन्त्र की भाषा बनी हुई है, शुद्ध प्रति में लिखने योग्य है

२३ अध्याय के ५१ वें मन्त्र से ६५ मन्त्र तक अर्थात् अध्याय की समाप्ति पर्यन्त की भाषा नहीं बनी।

२४ वें अध्याय··· ···से अध्याय··· ·····तक भाष्य भाषा बनाने के लिये पण्डित ज्वालादत्त जी के पास वैदिक यन्त्रालय प्रयाग में है।

२७ वें अध्याय के आरम्भ से ४० वें अध्याय की समाप्ति पर्यन्त का अशुद्ध संस्कृतभाष्य बना हुआ है अर्थात् विना शुधी संस्कृत है।

१३ वें अध्याय के २१ वें मन्त्र से २३ वें अध्याय के ४९ वें मन्त्र तक रद्दी पत्रे हैं अर्थात् शुद्ध प्रति हो गई।"

इस पत्र से स्पष्ट विदित हो जाता है कि:—

१. ऋग्वेदभाष्य के प्रथम मण्डल के १२४ व सूक्त के १३ वें मन्त्र से लेकर सातवें मण्डल के ६२ वें सूक्त के २ मन्त्र तक (जहां तक कि ऋग्वेदभाष्य महर्षि द्वारा संस्कृत में बना) की भाषा ऋषि की मृत्यु के पीछे बनाई गई। दूसरे शब्दों में ६७ सूक्त प्रथम मण्डल के तथा दूसरा, तीसरा, चौथा, पांचवां, छठा, ये पांच मण्डल पूरे और सातवें मण्डल के ६२ सूक्त २ मन्त्र तक अर्थात् लगभग ६ मण्डल की भाषा ऋषि की मृत्यु के पीछे पण्डितों ने बनाई।

२. इन उपर्युक्त ६ मण्डल की संस्कृत भी उस समय तक शुद्ध नहीं हो पाई थी, इसे भी पं० ज्वालादत्त जी आदि पण्डितों ने ही शुद्ध किया।

३. यजुर्वेदभाष्य में भी २३ वें अध्याय के १५ मन्त्र तथा ३ अध्याय से ४० तक पूरे १७ अध्यायों की भाषा भी ऋषि की मृत्यु के पश्चात् पण्डितों द्वारा ही बनाई गई।

४. इन उपर्युक्त १७ अध्यायों तथा १५ मन्त्रों की संस्कृत को भी पण्डितों ने शोधा है। अर्थात् विना शुधी संस्कृत थी।

५. सम्पूर्ण यजुर्वेद तथा ऋग्वेद के ७वें मण्डल के ६२ सूक्त के २ मन्त्र तक का भाष्य बन चुका था।

६. भाषा भी पण्डित ज्वालादत्त जी ने बनाई, संस्कृत के शोधने में उनका मुख्य हाथ रहा।

उपर्युक्त सारे लेख से स्पष्ट है कि वेदभाष्य की वह स्थिति नहीं हो सकती, जो सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकादि की है। क्योंकि ऋषि दयानन्द के जीवन काल में ही सत्यार्थप्रकाश ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका आदि लगभग सभी छप चुके थे। यहां तक कि कई एक के तो द्वितीय संशोधित संस्करण भी प्रकाशित हो चुके थे। पर आर्य जाति के दुर्भाग्य से वेदभाष्य की यह स्थिति नहीं हो पाई, इसकी क्या स्थिति है, यह स्वामी रामानन्द जी के उपर्युक्त पत्र से स्पष्ट विदित हो जाता है।

सारभूत यह है कि ऋग्वेदभाष्य के ९ भागों में से ७ भाग की भाषा भी ऋषि की मृत्यु के पश्चात् पण्डितों ने बनाई और संस्कृत को भी पीछे ज्वालादत्त जी आदि पण्डितों ने ऋषि के जीवनकाल के पीछे ही शोधा है। इसी प्रकार यजुर्वेदभाष्य के ५ भागों में से आधे २॥ भाग की

भाषा ऋषि के जीवनकाल के पीछे बनी और संस्कृत को भी ज्वालादत्त जी आदि पण्डितों ने ही शोधा है।

वेदभाष्य के पहिले भागों की भाषा भी पण्डितों ने बनाई और संस्कृत को भी पण्डितों ने शोधा है, जैसा कि ऋग्वेदभाष्य के सब भागों पर सदा से छपता चला आ रहा है।

यह भी ध्यान रहे कि इन्हीं पं० ज्वालादत्त जी को परोपकारिणी सभा की ओर से स्वामी जी के ग्रन्थों में गड़बड़ डालने के कारण ही ५०) रु० दण्ड दिया गया था।

विज्ञ पाठक ऋषि दयानन्द जी का भाष्य पढ़ते समय इस उपर्युक्त सारी परिस्थिति को जानकर ही पढ़ें-पढ़ायेंगे, तभी उन्हें यथार्थ ज्ञान हो सकता है। जो इस बात पर ध्यान नहीं देंगे, उन्हें भाष्य में कहीं-कहीं बहुत सन्देह वा कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा और निश्चय ही यथार्थ बोध न होगा।

हमारा यह लेख ऋषिभाष्य की यथार्थ स्थिति को आर्य जनता के लिये अवगत कराने में लाभप्रद होगा, यह हमें पूर्ण विश्वास है। आशा है विज्ञ महानुभाव इससे अवश्य लाभ उठायेंगे।

[वेदवाणी, वर्ष २, अङ्क ३]

वेद और उसकी शाखायें

शाखायें वेद के व्याख्यानग्रन्थ हैं, ऐसा महर्षि दयानन्द का मन्तव्य है (देखो ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० २६१) अर्थात् चारों वेद मूल और ११२७ उनकी शाखायें हैं, दूसरे शब्दों में उनके व्याख्यानग्रन्थ हैं।

शाखाओं की आनुपूर्वी अनित्य है—'या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या' (अ० ४।३।१०१ महाभाष्य)। यह महाभाष्यकार का मत है और इसमें उदाहरण 'काठकम्, कालापकम्, मौदकम्, पैप्पलादकम्' ये दिये हैं, जो स्पष्टतया शाखाग्रन्थ हैं। वेद की आनुपूर्वी को पतञ्जलि मुनि नित्य मानते हैं—'स्वरो नियत आम्नायेऽस्यवामशब्दस्य, वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता' (अ० ५।२।५९ महाभाष्ये)।

इन दोनों प्रमाणों से वेद और शाखाग्रन्थों का भेद भगवान् पतंजलि के मत से सूर्य के प्रकाश की भांति स्पष्ट सिद्ध है।

निरुक्त के 'पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' (निरु० १।१) तथा 'नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति' (निरु०१।१६) इन वचनों से भी वेद की आनुपूर्वी नित्य है, ऐसा यास्क का सिद्धान्त है, यह अवश्य मानना पड़ेगा। यद्यपि शाखा के विषय में यास्क ने स्पष्टतया नहीं लिखा तथापि 'यदरुदत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकम्, यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकम्' (निरुक्त १०।५) इन उदाहरणों से व्यक्त होता है कि यहां अर्थ की समानता होने पर भी शाखाओं की वर्णानुपूर्वी का भेद दर्शाने के लिये ही इन्हें लिखा है। इनकी व्याख्या करता हुआ दुर्गाचार्य लिखता है—'स एवार्थः, केवलं शाखान्तरमन्यत्'। अर्थात्—अर्थ समान है, केवल शाखा भेद से वर्णानुपूर्वी का भेद है।

निरुक्त के इस स्थल की यदि महाभाष्यकार के 'योऽसावर्थः स नित्यः, यात्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या' के साथ तुलना की जाय तो यास्क का अभिप्राय भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि यास्क भी मूल वेदों की आनुपूर्वी को नित्य मानता है।

शाखायें ऋषि-प्रोक्त हैं और उनकी आनुपूर्वी अनित्य है, इसको स्पष्ट करने के लिये एक और प्रमाण देते हैं—

महाभाष्यकार पतञ्जलि 'अनुवादे चरणानाम्' (अ० २।४।३) के भाष्य में लिखते हैं—'अनुवदते कठः कलापस्य' अर्थात् कठ कलाप के प्रवचन का अनुवाद करता है। इससे व्यक्त है कि कठादि शाखायें ऋषियों के प्रवचन हैं और उनमें किन्हीं-किन्हीं शाखाओं की परस्पर पर्याप्त समानता है।

इन प्रमाणों से शाखाग्रन्थों की आनुपूर्वी के अनित्य होने में यत्-किञ्चित् सन्देह नहीं रह सकता, यही हम कहना चाहते हैं। शाखाओं का स्वरूप भी हमारे इस कथन से बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है।

अब रह जाती है यह बात कि शाखा व्याख्यानरूप ग्रन्थ हैं, यह कैसे जानें? इसका उत्तर तो यही है कि जब सूक्ष्म दृष्टि से हम इन शाखा ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो इनके भिन्न-भिन्न पाठों से यह बात बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है। उसके अनेक उदाहरण हैं। अब हम 'तेन प्रोक्तम्' (अ० ४।३।१०१) पाणिनि के इस सूत्र का न्यास-कार का अर्थ दर्शाते हैं, वह लिखता है—

'तेन व्याख्यातं तदध्यापितं वा प्रोक्तमित्युच्यते' [अ० ४।३।१०१। न्यास पृ० १००५]॥ जिसका स्पष्ट अर्थ यही होता है कि ये कठ, कलाप, पैप्पलाद आदि शाखायें वेदों के व्याख्यानरूप ग्रन्थ ही हैं। प्रोक्त ग्रन्थ वह है जो व्याख्यानरूप हो या पढ़ाया गया हो। प्रवचन और व्याख्यान समानार्थक शब्द हैं, ऐसा न्यासकार का कहना है।

कहने का तात्पर्य यह है कि ऋग्, यजुः, साम और अथर्व ये चार वेद स्वतः प्रमाण हैं और शाखायें प्रोक्त होने से परतः प्रमाण। इन शाखा ग्रन्थों की कोटि [दर्जा] वह नहीं, जो वेद की है। यह है भेद वेद और शाखा ग्रन्थों का, जिनको संहिता के नाम से कहा जा रहा है।

अब हम इन शाखा ग्रन्थों की अपनी आन्तरिक साक्षी उपस्थित करते हैं, जिससे पता लगेगा कि शाखायें स्वयं अपने आपका स्वरूप क्या दर्शाती हैं। काठक, मैत्रायणी आदि संहिताओं में चारों वेदों के नाम स्पष्ट मिलते हैं, तद्यथा—

ऋक्सामयोरेवाध्यभिषिच्यते॥ का० सं० ३७।३
यजुर्भीरायस्पोषे समिषा मदेम॥ का० सं० २।४॥
आशीर्वा अथर्वभिः॥ का सं० ५।४॥

इसी प्रकार काठकसंहिता में अन्यत्र भी चारों वेदों का नाम तथा

विभाग स्पष्ट मिलता है। इतना ही नहीं अपितु कठसंहिता के प्रवचन-कर्त्ता के मत में ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा थे और वह मन्त्र की प्रतीक देकर इस सूक्त का ऋषि वामदेव है, ऐसा कहते हैं—जैसा कि—

"वामदेवस्यैतत् पञ्चदशं रक्षोघ्नं सामिधेन्यो भवन्ति ...स वामदेव उख्यमग्निमबिभस्तमवैक्षत स एतत् सूक्तमपश्यत् कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीमिति" [का० सं० १०।५]।

अर्थात् "कृणुष्व पाजः०" इस सूक्त का द्रष्टा वामदेव ऋषि है। जो स्वयं वेद की प्रतीक देकर उसका ऋषि बताता है, वह ग्रन्थ स्वयं वेद कैसे हो सकता है? यह बात साधारण बुद्धिवाले भी तत्काल समझ सकते हैं।

महर्षि दयानन्द स्वीकृत शाखा के स्वरूप पर उठाई गई शंका का समाधान

ऐतरेयालोचन पृ० १२७ पर श्री पं० सत्यव्रतसामश्रमीजी ने श्री स्वामीजी के "शाखा वेदव्याख्यान हैं" इस मत का खण्डन करते हुए लिखा है—

'हन्त का नाम संहिता शाखेति व्यपदेशशून्या तेन महात्मनोररीकृता यस्या मूलवेदत्वं मत्वा शाखेति प्रसिद्धानामन्यासां तद्व्याख्यानग्रन्थत्वं मन्तव्यं भवेदिति त्वस्माकमज्ञेयमेव ॥'

अर्थात् 'स्वामी दयानन्द ने किसको मूलवेद माना है, जिसमें शाखा शब्द का व्यवहार न होता हो, और जिसको मूल मानकर अन्य शाखाओं को उनका व्याख्यान रूप ग्रन्थ माना जा सके, यह हमारे लिये ज्ञात नहीं होता।'

इस आक्षेप के दो भाग हैं। एक तो यह कि मूल वेद कोई नहीं। दूसरा कोई ऐसी संहिता नहीं, जिसका कि शाखा शब्द से व्यवहार न हो।

अब हम इन दोनों आक्षेपों का उत्तर क्रमशः देते हैं—

(क) शतपथब्राह्मण का कर्त्ता याज्ञवल्क्य लिखता है—

"तदु हैकेऽन्वाहुः। होता यो विश्ववेदस इति। नेदरमित्यात्मानं ब्रवाणीति तदु तथा न ब्रूयान्मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति। व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद् व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्माद् यथैवर्चानूक्तमेवानुब्रूयाद्धा-

तारम् विश्ववेदसमिति" (शत० १।४।१।३५) ॥ (तु० काण्व शत० २।३।४।२) ॥

इसका भाव यह है कि किसी शाखावाले[1] "होता यो विश्ववेदस:" ऐसा पाठ पढ़ते हैं। सो ऐसा पढ़ना ठीक नहीं। यह मनुष्यकृत पाठ है। वे यज्ञ में मानुष पाठ करते हैं। यज्ञ में मानुष पाठ पढ़ना यज्ञ की हीनता है। यज्ञ में हीनता न हो, इसलिये जैसा ऋचा का पाठ है, वैसा ही बोले 'होतारं विश्ववेदसम्' (ऋ० १।१२।१)।

इस प्रमाण से दो बातें सिद्ध होती हैं। प्रथम—शाखायें जितनी हैं, वे सब मानुष (मनुष्यप्रोक्त वा मनुष्य सम्बन्ध से युक्त) हैं। दूसरा—कोई ऋक्पाठ ऐसा है, जिसमें मनुष्य का कोई सम्बन्ध नहीं, और वही मनुष्य सम्बन्ध से रहित मूलवेद है।

शतपथ के इस स्थल के व्याख्यान में—

"होता य इति पाठविपरिणामस्य मनुष्यबुद्धिप्रभवतया मानुषत्वम्। यथैव वेदे पठितं तथैवानुवक्तव्यमित्युपसंहरति तस्मादिति। कीदृग्विधं तर्हि वेदे पठितमिति तदाह होतारमिति" (शतपथ १।४।१।३५ सा० भा० पृ० १४४)।

सायण भी "होता यो विश्ववेदस:" शाखान्तर के इस पाठ को मानुष मानता है। और "होतारं विश्ववेदसम्" को वेद का पाठ मानता है।

(ख) शतपथब्राह्मण का सब से प्राचीन भाष्यकार हरिस्वामी (सन् ६३९ ई०) जो कि स्कन्द स्वामी का शिष्य था, शतपथब्राह्मण-भाष्य के उपोद्घात के प्रारम्भ में लिखता है—

"वेदस्यापौरुषेयत्वेन स्वत:प्रामाण्ये सिद्धे तच्छाखानानपि तदध्येतु-

---

१. तुलना करो —'उपायव स्थेत्यू हैक आहु:' यह शतपथब्राह्मण (१।७।१।३) में है, 'उपायव स्थ:' यह पाठ तैत्तिरीयसंहिता का है। इससे जाना जाता है कि जहां-जहां शतपथकार 'हैक' 'आहु:' इत्यादि शब्दों का प्रयोग करके प्रत्याख्यान करते हैं, वे पाठ निश्चय ही शाखान्तरों के हैं। इसी प्रकार 'होता यो विश्व-वेदस:' यह पाठ भी निश्चय ही किसी अनुपलब्ध शाखा का है, जिसे उपर्युक्त उद्धरण में मानुष पाठ कहा है।

त्वात् प्रामाण्यमिति बादरायणादिभिः प्रतिपादितम्" (शतपथ हरि-स्वामीभाष्य हस्तलेख पृ० २)

अर्थात् वेदों का अपौरुषेय होने से ही स्वतःप्रामाण्य सिद्ध है। उनकी शाखाओं का भी प्रामाण्य तद्हेतुता से अर्थात् वेद के अनुकूल होने से बादरायणादि ने स्वीकार किया है।

हरि स्वामी के इस वचन से दो बातें स्पष्ट सिद्ध होती हैं। एक तो यह है कि कोई अपौरुषेय वेद अपनी पृथक् सत्ता रखता है और शाखायें उससे भिन्न हैं। दूसरे उन शाखाओं का प्रामाण्य भी वेदानुकूल होने से ही स्वीकार किया जाता है।

हमारे उपयुक्त दोनों प्रमाणों से सूर्य के प्रकाश की भांति यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है कि शतपथकार तथा हरिस्वामी के मत में शाखाओं से अतिरिक्त मूल वेद अवश्य थे।

अब सत्यव्रत सामश्रमी के दूसरे आक्षेप का उत्तर लिखते हैं—वैदिक साहित्य में 'शाखा' शब्द का व्यवहार दो कारणों से होता है। एक तो पाठभेदादि करके जो अपूर्व प्रवचन किया जाता है, वह शाखा का रूप धारण कर लेता है। जैसे—तैत्तिरीयसंहिता, काठकसंहिता, मैत्रायणी-संहिता और काण्वसंहिता आदि।

दूसरा शाखा शब्द का व्यवहार मूल ग्रन्थों में विना किसी परिवर्तन या परिवर्धन के उसके पदपाठ कर देने मात्र से भी पदकार का नाम उस संहिता के साथ में संयुक्त हो जाता है। इसका उदाहरण ऋग्वेद की शाकलसंहिता है। शाकल्य ने संहितापाठ में कोई परिवर्तन वा परिवर्धन किया हो, ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। हां, निरुक्त अ० ६।२८ के 'वा इति च य इति च चकार शाकल्यः' इस पाठ से ऋग्वेद के पदपाठ का कर्तृत्व शाकल्य का सिद्ध होता है। पुराणों में भी इस शाकल्य को 'पदवित्तम' नाम से पुकारा गया है। पदपाठ का कर्त्ता होने मात्र से ऋक्संहिता के साथ शाकल्य का नाम जोड़ दिया गया और उसका शाकलसंहिता या शाकलशाखा के नाम से व्यवहार होने लग गया। (कई लोगों ने शाकल को शाकलसंहिता का प्रवचनकर्त्ता माना है, वह प्रमाणाभाव से चिन्त्य है।)

किसी संहिता का पदपाठ मात्र कर देने से भी उसमें शाखा शब्द का व्यवहार होता है, इसके लिये हम एक स्पष्ट प्रमाण उपस्थित करते हैं—

उख: शाखामिमां प्राह आत्रेयाय यशस्विने।
तेन शाखा प्रणीतेयमात्रेयीति च सोच्यते ॥
यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः ।
तां विद्वांसो महाभागां भद्रमश्नुवते महत् ॥
—तैत्तिरीय काण्डानुक्रम पृ० ६ श्लो० २६-२७॥

अर्थात् तित्तिरि ने इस तैत्तिरीयसंहिता को उख को पढ़ाया। उसने इस शाखा को आत्रेय को पढ़ाया। आत्रेय द्वारा बनायी हुई यह शाखा आत्रेयी कहलाती है, जिसका पदकार आत्रेय है और वृत्तिकार कुण्डिन है। इस प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि आत्रेय के द्वारा पदपाठ कर दिये जाने से यह तैत्तिरीयसंहिता आत्रेयीसंहिता के नाम से भी व्यवहृत होने लगी। ठीक वैसी ही दशा शाकलसंहिता की भी समझनी चाहिये।

विशेष वक्तव्य

श्री पं० नरदेव शास्त्री जी हम सब के सम्मानार्ह हैं, विद्वान् तथा लेखनीवीर हैं। इनसे अधिक लिखनेवाला व्यक्ति मैंने नहीं देखा। मेरे हृदय में उनके लिये आदर तथा प्रेम है। पर ऋषि दयानन्द प्रदर्शित कई सिद्धान्तों के विषय में लगभग २६ वर्ष से मेरा उनसे मतभेद रहा है, जो हमारे व्यक्तिगत परस्पर सम्बन्ध में कोई नहीं डालता। यत: वेदवाणी के गत अङ्क में उन्होंने अपने लेख में मेरा नाम लिखा है, अतएव कर्तव्य-वश मैं भी कुछ निवेदन कर देना समझता हूं। यद्यपि इन पंक्तियों के लिखते समय मैं यात्रा में हूं। मेरे समीप पुस्तकें नहीं। लेख यात्रा में ही देखने को मिले। श्री पं० नरदेव शास्त्री जी का लेख मेरे सामने है। इस में मेरा निवेदन निम्न प्रकार है कि पं० जी लिखते हैं—

'वेदों की शाखायें इनी-गिनी मिलती हैं। उन-उनमें भाष्यपरक तो कोई बात मिलती नहीं किन्तु वे ही मूलवेद हैं…… ‥मानना पड़ेगा कि शाखा शब्द भाष्यपरक नहीं हो सकता' इत्यादि।

पण्डित जी के इस लेख से स्पष्ट है कि वह शाखाओं को वेद ही मानते हैं। और उनके गुरु श्री सामश्रमी जी भी शाखाओं को वेद ही मानते हैं। पर श्री सामश्रमी जी का लेख निरुक्त महाभाष्य आदि के सम्बद्ध प्रकरण को भलीभांति न देखकर लिखा होने से अमाननीय है। गुरु जी का अनुकरणमात्र कहनेवाले शिष्य भी उसी में आ गये। इस पर अधिक विचार गत अङ्क और इस अङ्क के सम्पादकीय अग्रलेख में किया गया है।—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु [वेदवाणी, वर्ष २, अङ्क ४-५]

वेदों के छन्द

वेदार्थविषय मेंवाक्यार्थवोध के लिये छन्दोज्ञान की भी आवश्यकता है। इसीलिये कात्यायन ने ऋक्सर्वानुक्रमणी में लिखा है—

'मन्त्राणामार्षेयच्छन्दोदैवतविद् याजनाध्यापनाभ्यां श्रेयोऽधिगच्छतीति।' (परि० १।४)। छन्दों के ज्ञान से वेदार्थज्ञान में प्रौढ़ता आती है क्योंकि वाक्यार्थवोध में इससे पर्याप्त सहायता मिलती है।

छन्दों का लक्षण तथा छन्दों के भेद—

ऋक्सर्वानुक्रमणी [२।६] में—**'यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः'**, तथा अथर्व-बृहत्सर्वानुक्रमणी [१।१] में—**'छन्दोऽक्षरसंख्यावच्छेदकमुच्यते'** लक्षण है। जिस शब्द को सुनते ही मन्त्रगत अक्षरों की संख्या का परिज्ञान हो जावे, वह छन्द कहाता है।

वेद में प्रयुक्त होनेवाले छन्दों के मुख्यतया चार भेद हैं—

प्रथम सप्तक—प्रायः सभी ग्रन्थकारों ने गायत्री-उष्णिक्-अनुष्टुप्-बृहती-पंक्ति-त्रिष्टुप्-जगती—इन सात छन्दों के सप्तक [समूह] को छन्दों का मुख्य भेद माना है। इनके लक्षण तथा विस्तार यथाशास्त्र देखने चाहियें। इनमें सामान्य रूप से गायत्री २४, उष्णिक् २८, अनुष्टुप् ३२, बृहती ३६, पंक्ति ४०, त्रिष्टुप् ४४, और जगती ४८ अक्षर का होता है।

द्वितीय सप्तक—अतिजगती ५२, शक्वरी ५६, अतिशक्वरी ६०, अष्टि ६४, अत्यष्टि ६८, धृति ७२, और अतिधृति ७६ अक्षरों का होता है।

तृतीय सप्तक—कृति ८०, प्रकृति ८४, आकृति ८८, विकृति ९२, संकृति ९६, अभिकृति १००, उत्कृति १०४।

चतुर्थ—मा ४, प्रमा ८, प्रतिमा १२, उपमा १६, समा २०।

ऋक्प्रातिशाख्यकार ने दो अक्षरों की न्यूनता में इन्हीं मादि को क्रमशः हर्षीका, सर्षीका, मर्षीका, सर्वमात्रा, विराट्कामा संज्ञाओं से व्यवहृत किया है।

उपनिदानसूत्र पृ० ६ में 'पञ्चादौ चोक्तात्युक्तमध्ये प्रतिष्ठा सुप्रतिष्ठे-

त्यनिर्दिष्टानि' इन मादि के उक्तादि नाम दर्शाये हैं। ये ही उक्तादि नाम जानाश्रयीछन्दोविचितिकार ने भी माने हैं। षड्गुरुशिष्य ने वेदार्थ-दीपिका पृ० ७६, ७७ में इन उक्तादि छन्दों के उदाहरण दिखाये हैं। 'उक्तादिपञ्चकं कैश्चिद् गायत्रीत्येव कथ्यते' कहकर इनको गायत्री का भेद माना है। वेङ्कटमाधव ने अपनी छन्दोऽनुक्रमणी में लिखा है—

प्रातिशाख्ये निदाने च मा प्रमा प्रतिमेति च।
नानाविधानि छन्दांसि लक्षितानि च लक्षणैः॥

ऋक्सर्वानुक्रमणी तथा अथर्वबृहत्सर्वानुक्रमणीकार ने इन मादि का उल्लेख नहीं किया। ऋक्सर्वानुक्रमणी की टीका वेदार्थदीपिका (पृ० ७६, ७७) में इनका निरूपण मिलता है।

ये चार प्रकार (यदि हर्षिकादि को भिन्न मानें तो पांच प्रकार) के छन्द हैं, जिनके द्वारा समस्त वैदिक छन्दों का निरूपण किया गया है।

छन्दोनिर्णय के दो प्रधान प्रकार

पूर्वोक्त चार प्रकार के छन्दों में प्रायः सर्वत्र गायत्र्यादि की ही प्रधानता सर्वसम्मत है। इन गायत्र्यादि छन्दों के निर्णय के दो प्रधान प्रकार हैं। प्रथम अक्षरगणना—जिसमें केवल अक्षरों की गिनती करके ही छन्द का निश्चय किया जाता है। ये प्रति छन्द दैवी, आसुरी, प्राजापत्या, आर्ची, याजुषी, साम्नी, आर्षी और ब्राह्मी भेद से अनेक प्रकार के हैं। द्वितीय—जिसमें अक्षरगणना के साथ-साथ पादव्यवस्था का भी ध्यान रक्खा जाता है। दोनों ही प्रकार शास्त्रसम्मत हैं। यह इस प्रकरण का निष्कर्ष है। कई लोगों का मत है कि केवल यजुर्मन्त्रों में ही अक्षरगणना से छन्दोनिर्णय होता है, ऋङ् मन्त्रों में पादव्यवस्था से ही छन्दों का निश्चय करना चाहिये। उनका यह कथन अत्यन्त भ्रम पूर्ण है।

गायत्र्यादि छन्दों के अवान्तर भेद

पूर्वोक्त छन्दों के अवान्तर अनेक सूक्ष्म भेद प्रभेद हैं, जिनका विस्तृत ज्ञान यथाशास्त्र हो हो सकता है। यह बात भी ध्यान रखने की है, कि छन्दःशास्त्र के जितने ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उन सब में परस्पर बहुत से सूक्ष्म भेद हैं। अतः जो व्यक्ति केवल एक ग्रन्थ के आधार पर ही सम्पूर्ण वैदिकवाङ्मय के छन्दों की विवेचना करने का दुःसाहस करेगा, वह अवश्य ही धोखा खायगा। [वेदवाणी, वर्ष २, अङ्क ६]

मेरा निवेदन

मुझे ऐसा पता लगा है कि आर्यमित्र के पिछले कई अङ्कों में मेरे द्वारा सम्पादित 'यजुर्वेद-भाष्य-विवरण' प्रथम भाग के सम्बन्ध में कई लेख प्रकाशित हो चुके हैं। उक्त लेख प्राप्त करने के लिये 'आर्यमित्र' कार्यालय लखनऊ को २-३ पत्र लिखे, जिनमें से केवल एक लेख ६-७ दिन पूर्व मुझे यात्रा में ही मिला है। इन पङ्क्तियों के लिखे जाने तक भी यात्रा में रहने के कारण वे लेख मुझे पढ़ने को नहीं मिले। अभी लगभग कुछ दिन और मैं यात्रा (रेलगाड़ी तथा लारियों) में रहूंगा। अत: आर्य विद्वानों तथा आर्य पुरुषों से निवेदन है कि वे मेरी ओर से उन लेखों के उत्तर की कुछ समय और प्रतीक्षा करें और अधीर न हों। मैं अपने वर्त्तमान केन्द्र स्थान काशी पहुंचने पर सब लेखों को पढ़कर उत्तर लिखना आरम्भ करूंगा।

'आर्यमित्र' तथा 'वेदवाणी' के पाठक महानुभावों को इतना विदित रहे कि मैं इस विषय में प्रकाशित लेखों का हृदय से सहर्ष स्वागत करता हूं, क्योंकि चिरकाल से निरन्तर अभिलषित मेरी आशा अब पूर्ण होती दीखती है।

मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि इन लेखों द्वारा मेरे कार्य में अत्यन्त सहायता होगी। आक्षेप समाधान से मेरे द्वारा सम्पादित ऋषि दयानन्दकृत यजुर्वेदभाष्य के विषय में कतिपय आर्य विद्वानों में फैली हुई भ्रान्ति दूर हो जायगी। इस विषय में विचारार्थ आर्य विद्वानों की एक समिति बना देने की प्रार्थना मैं वर्षों से श्री मन्त्री परोपकारिणी सभा अजमेर से करता रहा और वह सदा अस्वीकृत हुई। यदि स्वीकार की गई होती, तो यत्किञ्चित् भी विषमता उत्पन्न न हुई होती।

अब वेदभाष्यसम्बन्धी सारी परिस्थिति समक्ष आने पर आर्यजनता को वस्तु स्थिति का पूर्ण ज्ञान हो जायेगा और बहुत लाभ होगा, यह मुझे पूर्ण विश्वास है।

कभी-कभी बुराई में से भी भलाई निकला करती है। मैं शान्ति गम्भीरता तथा नम्रता से इन सब लेखों का उत्तर देना चाहता हूं। और यह भी निश्चय रखें कि ऋषि दयानन्द में निष्ठावान् आर्य विद्वान् जो

भी धारणा निश्चित करें मैं उसे अवश्य स्वीकार करूंगा। मैं अपने विचार 'आर्यमित्र' तथा 'वेदवाणी' द्वारा प्रकाशित करूंगा। यदि अन्य पत्रों में मेरे सम्बन्ध में लेख प्रकाशित हों, तो वे सब सम्पादक महानुभाव भी मेरे पास उन लेखों की एक-एक प्रति भेजने की कृपा करें, जिस से मैं उन को भी अपना लेख भेज सकूं। मेरा वर्त्तमान पता 'पोस्ट अजमत गढ़ पैलेस' वनारस है।

वैदिक धर्म का सेवक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु।

[वेदवाणी, वर्ष २, अङ्क ६]

संस्कारविधि के विवाहप्रकरणस्थ मन्त्र पर विचार

विवाहप्रकरण में प्रधान होम से पहले वर-वधू द्वारा यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा के प्रकरण में "ओं भूर्भुवः स्वः। सा नः पूषा०" यह मन्त्र है। श्री पं० गङ्गाप्रसादजी उपाध्याय का यह कहना है कि यह मन्त्र सभा में विवाह के अवसर पर अश्लील होने से बोलने योग्य नहीं, तथा असली कापी में इसका कुछ अंश काट दिया गया है, शेष काटने से रह गया, तथा इस मन्त्र का अर्थ भी नीचे नहीं किया गया। संख्या भी इन मन्त्रों पर ठीक नहीं, इत्यादि। अतः यह मन्त्र संस्कारविधि में से निकाल देना चाहिये। हमारा कहना है कि असली कापी में के पहले २ मन्त्रों (जिन्हें) निकाल दिया गया है) के आगे २ अंगुल तक "ओं भूर्भुवः" केवल इतने अंश पर काली पैंसिल की रेखा गई है। पर वह काली पैंसिल की रेखा भी आगे पीछे काली पैंसिल से पुनः अच्छी प्रकार काट दी है, जिससे वह काटी हुई न समझी जावे और अगला पद 'स्वः' तो अगली पङ्क्ति में है, जो शेष मन्त्र के साथ पूर्ववत् काली पैंसिल से कटा नहीं है। अतः इस आधार पर मन्त्र ही निकाल दिया जावे, यह तो किसी प्रकार ठीक नहीं माना जा सकता। अति संक्षेपार्थ हम श्री उपाध्यायजी की शङ्काओं को लिखकर उनका उत्तर देते हैं—

(शङ्का १)—'पैंसिल से दूसरा और तीसरा मन्त्र पूरा काट दिया गया है और चौथे का कुछ भाग। इससे पता चलता है कि चौथा शेष भी काटना अभीष्ट था। पैंसिल आगे बढ़ने से रह गई। संख्या १ और ४ भी काटने से रह गया। और उसके आगे हिन्दी का 'इन चारों मन्त्रों को वर बोल के' काटने से रह गया।

(समाधान)—काटने के विषय में तो मैंने ऊपर ही उत्तर दे दिया कि काटे को काटने से वह काटा नहीं समझा जाता। रही संख्या की बात सो थोड़ा सूक्ष्म दृष्टि से असली कापी के पृष्ठ १०३ पर देखने से दीखता है कि 'समञ्जन्तु विश्वे देवा०' के अन्त में कोष्ठ में (१) संख्या

पड़ी है। 'ओं यदैषि मनसा०' पर भी पैंसिल से २ संख्या डाली हुई है। आगे 'ओं भूर्भुवः स्वः। अघोरचक्षुः' के अन्त में '॥१॥' ऐसा लेख काली स्याही से लेखक के हाथ का है, उसे काली पैंसिल से (जो उस सारे पृष्ठ पर वर्तमान है) '॥३॥' संख्या बना दी गई है, जो ध्यान से देखने से स्पष्ट दीखती है। आगे 'सा नः पूषा०' के अन्त में '॥४॥' संख्या है ही। इस प्रकार ऋषि दयानन्द ने अपने हाथ से काली पैंसिल से यह सब संशोधन किया है। 'समञ्जन्तु विश्वेदेवा०' से लेकर यह चार मन्त्र ही हैं, अतः असली कापी में आगे पृष्ठ १०४ प्रथम पङ्क्ति के आरम्भ का पाठ 'इन चार मन्त्रों को वर बोल के' सर्वथा ठीक उपयुक्त बैठ जाता है। यत्किञ्चित् भी विषमता नहीं है।

(शङ्का २)—'चौथे मन्त्र के साथ संख्या ४ भी डाल दिया। प्रेस कापी के लेखक को शङ्का तो हुई क्योंकि उसे फुटनोट में चौथे मन्त्र का अर्थ नहीं मिला, लेखक स्वयं झमेले में पड़ गया। 'मन्त्र तो कटे हैं, अङ्क कटे नहीं, कितना रखूं......।' वैदिक प्रेस में छपे दूसरे संस्करण में 'इन चार मन्त्रों को वर बोल के' ऐसा है। बीसवें संस्करण में 'इन मन्त्रों को बोल के' ऐसा कर दिया गया है। 'चार' और 'वर' छोड़ दिये गये हैं।'

(समाधान)—प्रेसकापी के लेखक को संख्या समझ में नहीं आई, यह बात ठीक है। इसीलिये असली कापी की प्रतिलिपि करते हुए उसने इन मन्त्रों पर संख्या नहीं दी। हां! छपते समय संशोधक (सम्भवतः पं० भीमसेन जी) ने असली कापी में उक्त संख्या को ठीक समझकर ही पूर्वोक्त रीति से चारों मन्त्रों पर १, २, ३, ४ संख्या डाली, जो डालनी उचित ही थी, क्योंकि असली कापी में वह थी।

रही वैदिक प्रेस के बीसवें संस्करण की बात, सो परोपकारिणी सभा से पूछा जा सकता है कि दूसरे संस्करण में छपे ठीक पाठ को भी अशुद्ध कैसे कर दिया गया[1]। संशोधक उपर्युक्त बात समझ नहीं सका।

---

१. '१७ वें संस्करण तक बराबर दूसरे संस्करण के अनुसार छपता रहा। १८ वां संस्करण जो सं० १९८९ (सन् १९३२ ई०) में छपा, उसमें मालूम होता है कि संशोधक की असावधानी से दो शब्द 'चार' और 'वर' छपने से रह गये। कोई बदला बदली नहीं हुई है। चारों मन्त्र ऊपर छपे हुए हैं, इसलिये 'चार' शब्द के नहीं होने में अर्थ में कोई भेद या गलती नहीं हो सकती। शब्द

(शङ्का ३)—'इसमें सबसे प्रबल और अकाट्य युक्ति यह है कि जहां पहले मन्त्र का अर्थ फुटनोट में है, वहां इस चौथे मन्त्र का नहीं।'

(समाधान)—यह ठीक है पहले मन्त्र का अर्थ किया है, पर उससे आगे 'सोमः प्रथमो विविदे' इस मन्त्र का अर्थ अपूर्ण नीचे निम्न प्रकार लिखा है—

'हे वरानने ! जो मैं तुझको (प्रथमः) प्रथम (विविदे)ग्रहण करता हूं, उससे मेरा नाम (सोमः) सोम्य गुणयुक्त कुमार है और जो उन अगले दो मन्त्रों का अर्थ नियोग प्रकरण में करेंगे ।४।' ऐसा पाठ है, जो उसी लेखक का बारीक अक्षरों का काली स्याही का पृष्ठ के अन्त में जोड़े हुए भाग में है। इससे ४-५ पङ्क्तियों पर ऋषि के अपने हाथ का काली पैन्सिल का संशोधन पूरे डबल पृष्ठ पर विद्यमान है। पूर्वोक्त उद्धरण में 'अगले दो मन्त्रों का अर्थ नियोग प्रकरण में करेंगे।' इस अंश को उसी काली पैन्सिल से काटा हुआ है। 'सोमः प्रथमो विविदे०' और 'सोमोऽददद्०' ये दोनों मन्त्र ऋषि दयानन्द के मत में नियोगपरक हैं, इसलिये उन्होंने इन दो मन्त्रों को हटा दिया। अगला मन्त्र विवाहप्रकरण का होने से नहीं हटाया। यह फुटनोट के उपर्युक्त लेख से सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। जब मन्त्र हटा दिये गये तो उपर्युक्त पाठ भी हटाया जाना आवश्यक ही था। इसीलिये हटा दिया गया। औचित्य अनौचित्य की दृष्टि से ही दो मन्त्र असली कापी में काटे हैं, इस आक्षेप का भी उत्तर आ जाता है।

(शङ्का ४)—'भरी सभा में इस मन्त्र को पढ़ना अश्लीलता है। मेरा आक्षेप वेद की सत्यता पर नहीं, परन्तु उसके विनियोग पर है। जहां संस्कृतज्ञ वरवधू और संस्कृतज्ञ सदस्य बैठे हों, वहां किस वर की ऐसी छाती है कि विना सङ्कोच इस मन्त्र को पढ़ सके……। यदि उनसे इस मन्त्र का ठीक-ठीक अर्थ कराया जावे, तो सभा में वह भी सङ्कोच करेंगे।'

(समाधान) (१) (अ) सबसे प्रथम पाठक यह विचारें कि पारस्कर गृह्यसूत्र १।४।१६ पृष्ठ ७३—७४ (बड़ा संस्करण) में असली कापी में पहले लिखे हुए चारों मन्त्र 'अघोरचक्षुः०' 'सोमः प्रथमो विविदे०'

'वर' अवश्य होना चाहिये था। अगले संस्करण में ठीक कर देंगे। मन्त्री —परोपकारिणी सभा, अजमेर।'

'सोमोऽददद् गन्धर्वाय०' 'सा नः पूषा०' वैसे के वैसे विवाहप्रकरण में इसी स्थान पर विद्यमान हैं। इसी मूल के गदाधरभाष्य पृष्ठ ९२ पर इन मन्त्रों के अर्थ भी किये हैं। जिनमें अर्थ का बहुत सा अंश मानने योग्य नहीं है।

(ब) जैमिनीय गृह्यसूत्र (कैलेण्ड सम्पादित) पृष्ठ २१ में कुछ पाठ भेद से चारों ही मन्त्र विवाहप्रकरण में पढ़े हैं।

(स) भारद्वाज गृह्यसूत्र (योरोप संस्करण) १-१५ पृष्ठ १६ में भी कुछ पाठभेद से चारों ही मन्त्र विवाहप्रकरण में पढ़े हैं।

(द) संस्कार पद्धति (आनन्दाश्रम) पृ० ११७ में भी पूर्ववत् चारों हैं।

बौधायनगृह्यसूत्र, मानवगृह्यसूत्र, गोभिलगृह्यसूत्र में भी किसी में एक किसी में दो मन्त्र हैं, ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि प्रथम संस्करण में इन चारों मन्त्रों को रखा था, पर 'सोमः प्रथमो विविदे०' 'सोमोददद्०' ये दोनों नियोगपरक होने से असली कापी में लिखकर भी काट दिये। 'सा नः पूषा' को विवाहपरक होने से नहीं हटाया। हमारा यह कहना है कि गृह्यसूत्रकार इन चारों मन्त्रों को सहस्रों वर्षों से विवाहपरक मानते चले आ रहे हैं। जब ये गृह्यसूत्र बने थे, उस समय अर्थ करने की आवश्यकता ही नहीं थी। अर्थ को वधू वर और सदस्य सब समझते थे। 'सा नः पूषा०' मन्त्र का यह विनियोग प्राचीनकाल से चला आ रहा है। अतः कुछ भी दोषावह नहीं।

(२) देखिये ! इसी मन्त्र का 'कुछ पाठभेद से' अर्थ ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि २१वें संस्करण पृष्ठ १२१ पर किया हुआ है। पाठक वहीं से देख लेंवे। क्या कोई उसको भी अश्लील कहेगा। यदि ऐसा कहता है तो यह उसका अज्ञान ही कहा जायगा। यहां असली कापी तथा प्रेस कापी में '(शेपः) शयनादि क्रिया करते हुए' ऐसा पाठ है। मुद्रित में इससे भिन्न है। इस मन्त्र का अर्थ दिया हुआ है, इसमें कुछ भी संदेह वा अन्तर नहीं।

(३) संस्कारविधि २१वां संस्करण पृष्ठ ४० गर्भाधानसंस्कार में— 'रेतो मूत्रं विजहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम्' य० १९।७६ क्या यह मन्त्र संस्कृतज्ञ स्त्री पुरुषों तथा संस्कृतज्ञ यजमानों वा सब सदस्यों के सामने

नहीं पढ़ा जाता ? सो यदि नई सभ्यता के कारण संकोच प्रतीत होता हो तो यह भूल ही कही जायगी।

(४) हां ! क्या कइयों की दृष्टि में नियोग तथा नियोग के मन्त्र अश्लील नहीं ? आर्यसमाज के विरुद्ध इसी बात को लेकर तो अभी तक बड़ा भारी वावेला मचाया जाता है। कई आर्य नेता वा विद्वान् कहे जानेवालों के हृदय में भी इसकी अश्लीलता के भाव (पौराणिक संस्कार वा किन्हीं अन्य कारणों से) देखे जाते हैं। भरी सभा में जब कन्या और वर को मन्त्रों के अर्थ बताये जाते हैं तो बहुत से सज्जन पौराणिक संस्कारों से पराभूत होकर कह उठते हैं कि—'यह क्या बेशर्मी की बातें हो रही हैं ?' 'देवृकामा' का नियोगपरक अर्थ जो नीचे किया हुआ है, उसमें 'नियोग की भी इच्छा करनेहारी' इन शब्दों को अपने मुख से उच्चारण नहीं कर सकते। हमने प्रथम वार इस विषय में आर्यसमाज के प्रसिद्ध वयोवृद्ध आर्यपुरुष श्री ठाकुर खमानसिंह जी बरोठा को इस मन्त्र का अर्थ भरी सभा में पढ़ते हुए देखा, पर लोग बहुत कम बोलने का साहस करते हैं।

भला अश्लीलता का क्या ठिकाना है। यदि एक बालक कहे 'मैं पेशाब करता हूं' तब तो सभ्य समझा जावे। यदि वही बालक कह दे— 'मैं मूतता हूं' या 'मूत्र करता हूं' या मूत्रं करोमि' तब सभ्य कहे जाने वाले नई सभ्यता वाले लोग नाक मुंह सिकोड़ेंगे। ऐसा नहीं बोलना चाहिये, ऐसा कह उठेंगे। सो ये सब अश्लीलतायें समय की गति के प्रवाह से होती हैं, बदलती रहती हैं।

अब पाठक इस मन्त्र के अर्थ के विषय में एक और दृष्टि से भी विचार करें। प्रत्येक मन्त्र का अर्थ आध्यात्मिक आधिदैविक तथा आधियाज्ञिक होता है, इस सिद्धान्त से, जो लगभग १५०० वर्ष प्राचीन काल से यास्काभिमत माना जाता रहा (बीच के कुछ काल को छोड़कर) तदनुसार 'यस्यामुशन्तः प्रहराम०' मन्त्र का अर्थ 'जिस आत्मशक्ति के आश्रय कल्याण की कामना करते हुए हम ज्ञान का प्रवेश करते हैं' ऐसा अर्थ वा भावना भी तो की जा सकती है। पूर्ण युवा 'अविप्लुत ब्रह्मचर्य' को ही पाणिग्रहण का अधिकार है, यह भावना भी की जानी आवश्यक है। इसके अभाव में कन्या का जीवन ही नष्ट हो जाता है, और माता-पिता सदा के लिए दुःखी रहते हैं। यह बात ऐसे दुःखी माता-पिता ही अधिक समझ सकते हैं।

अतः किसी के अश्लील समझे जाने से वह मन्त्र ही निकाल दिया जावे, यह बात सङ्गत नहीं बैठती। ऋषि ने तो इसका विधान स्पष्ट किया है।

हमने यहां अति संक्षेप से इस प्रकरण के विषय में लिखा है। विस्तृत वक्तव्य (२१ पृष्ठ का) श्रीमान् मन्त्री परोपकारिणी सभा को दे दिया गया है, जो छपने पर वहां से मिल सकेगा। पाठक चाहें तो 'मन्त्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर' को भी लिख सकते हैं। ओं शम्।

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

[वेदवाणी वर्ष २, अङ्क ८]

वेद में इतिहास

वैदिक शब्दों के यौगिक प्रक्रिया के आधार पर अर्थ होते हैं, तथा प्रत्येक मन्त्र का तीन प्रकार का अर्थ होता है। योरुपीयन स्कालर और उनके अनुगामी बहुत से भारतीय शिष्य यह कहते हैं कि 'इन्द्र, अङ्गिराः, कण्व' आदि व्यक्तिविशेष के नाम वेदों में स्पष्ट पाये जाते हैं अर्थात् ये व्यक्तिविशेषों की संज्ञायें हैं। भला हम पूछते हैं थोड़ी सी अंग्रेजी जानने-वाला बालक भी जान सकता है कि व्यक्तिविशेष के आगे आतिशायिक प्रत्यय 'तर' और 'तम', जिनको अंग्रेजी में कम्पैरेटिव और सुपरलेटिव डिग्री कहते हैं, कभी आ सकते हैं ? देवदत्त, देवदत्ततर, देवदत्तेस्ट कभी नहीं हो सकता ! ये डिग्रियां विशेषणवाची शब्दों के साथ ही लगती हैं उधर स्वयं वेद इन शब्दों के विषय में क्या कहता है, सो देखें—

अभूदुषा इन्द्रतमा मघोन्यजीजनत् सुविताय श्रवांसि ।
वि देवो देवी दुहिता दधात्यङ्गिरस्तमा सुकृते वसूनि ॥

—ऋ० ७।७९।३॥

इस एक ही मन्त्र में 'इन्द्र' और 'अङ्गिरः' इन दोनों से आगे तमप् प्रत्यय है। इसी प्रकार 'कण्वतम' भी आता है। इससे स्पष्ट है कि वेद इन शब्दों को विशेषणवाची मानता है, व्यक्तिविशेष नहीं मानता।

२. अब निरुक्तकार ने 'तत्रेतिहासमाचक्षते' कहकर (या न कहकर) जो भी देवापि शन्तनु आदि के इतिहास दर्शाये हैं, इसके लिये हमें यास्क के 'ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता' (नि० १०।१०।४६) वच-नानुसार मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषियों की आख्यान (इतिहास) आदि से युक्त कहने की प्रीति होती है न कि वे वास्तविक इतिहास हैं, यह समझना चाहिये।

यास्क के इतिहास के स्वरूप को बताने के लिये हम एक और स्थल उपस्थित करते हैं। यास्क ने निरुक्त १२।१० में सरण्यू विषयक मन्त्र की व्याख्या करते हुए 'तत्रेतिहासमाचक्षते' ऐसा लिखकर एक आख्यान लिखा है। पुनः अगले खण्ड में उस आख्यानसम्बन्धित ऋचा का व्याख्यान करके अन्त में लिखा है—

'यमस्य माता पर्युह्यमाना महतो जाया विवस्वतो ननाश। रात्रि-रादित्यस्य, आदित्योदयेऽन्तर्धीयते।'

अर्थात् यम की माता और महान् विवस्वान् की पत्नी विवाह होते ही नष्ट हो गई। आदित्य की जाया रात्रि आदित्य के उदय होनेपर नष्ट हो जाती है।

यास्क के इस पाठ से स्पष्ट है कि निरुक्त १२।१०।११ का सरण्यू-विषयक इतिहास किन्हीं व्यक्तिविशेषों का नहीं, अपितु रात्रि और सूर्यादि प्राकृतिक पदार्थों का आलङ्कारिक वर्णनमात्र है। इस प्रकार स्वयं यास्क के मतानुसार उसके द्वारा लिखित इतिहास के स्वरूप को व्यक्त करते नैरुक्त सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों की इस विषय में क्या धारणा थी, इसको व्यक्त करते हैं।

सायण से एक सहस्र वर्ष प्राचीन ऋग्भाष्यकार आचार्य स्कन्दस्वामी अपनी निरुक्तटीका भाग २ पृ० ७८ पर लिखता है—

'एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्तव्या। एष शास्त्रे सिद्धान्तः।.........औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यान-समयः। परमार्थे नित्यपक्ष इति सिद्धम्।'

अर्थात् 'इसी प्रकार जिन-जिन मन्त्रों में आख्यान=इतिहास का वर्णन किया गया है, उन सब मन्त्रों की यजमानपरक अथवा नित्य पदार्थों में योजना कर लेनी चाहिये। यह निरुक्तशास्त्र का सिद्धान्त है......मन्त्रों में आख्यान=इतिहास का सिद्धान्त औपचारिक अर्थात् गौण है। वास्तव में नित्य पक्ष ही मन्त्रों का विषय है।'

आचार्य स्कन्द स्वामी ने केवल 'देवापि और शन्तनु' को विद्युत् और जल बता कर इन मन्त्रों या उस सूक्त की ही संगति नहीं दिखाई, अपितु सारे निरुक्तशास्त्र का सिद्धान्त इस विषय में प्रतिपादित कर दिया। 'एष शास्त्रे सिद्धान्तः' 'परमार्थेन नित्यपक्ष इत्येव सिद्धम्' क्या ये उद्धरण कुछ भी व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं?

३. इतना ही नहीं इस से भी पूर्ववर्ती कहा जानेवाला आचार्य वर-रूचि अपने निरुक्तसमुच्चय में (पृ० ७१) स्कन्द स्वामी के शब्दों में ही कहता है—

'औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयो नित्यत्वविरोधात्। परमार्थेन तु नित्यपक्ष इति नैरुक्तानां सिद्धान्तः।'

अर्थात् मन्त्रों में इतिहास औपचारिक (गौण) है, क्योंकि इतिहास मानने से वेद के नित्यत्व में विरोध हो जायगा। परमार्थ से तो नित्य-पक्ष ही (ठीक) है, यह नैरुक्तों का सिद्धान्त है।

ऊपर के दोनों उद्धरणों में सर्वथा एक जैसे शब्द हैं। जैसे दोनों ने सम्मति करके लिखे हों। यह है वेद में इतिहास विषय की नैरुक्तों की परिभाषा का स्वरूप। इन दोनों प्रमाणों से सिद्धान्तरूप में ऐतिहासिक पक्ष का औपचारिकत्व (गौणत्व) सूर्य के प्रकाश के भांति सिद्ध है। हम समझते हैं पक्षपातरहित विद्वानों को नैरुक्तों के इस सिद्धान्त को मानने में यत्किञ्चित् भी ननुनच न होगी।

४. निरुक्त १०, २६ दुर्ग टी० पृ० ७४४ **'स पुनरयमितिहासः सर्व-प्रकाशे हि नित्यमविवक्षितस्वार्थः तदर्थप्रतिपत्तृणामुपदेशपरत्वात्।'**

दुर्ग और स्कन्द के इस इतिहास विषय की उपर्युक्त धारणा के अनेक स्थल हैं, जो पाठकों को स्वयं उक्त ग्रन्थों में अवश्य देखने चाहिए।

५. इनके अतिरिक्त उद्गीथ ने ऋ० १०।८२।२ में 'ऋषि' का अर्थ 'रश्मि' किया है। अस्यवामीय सूक्त के भाष्य में आत्मानन्द ने 'अश्विनौ' का अर्थ 'गुरुशिष्यौ' किया है और भी कई एक शब्दों का अर्थ इसी प्रकार भाष्यकार दर्शा चुके हैं। इसी प्रकार एकाग्निकाण्ड के भाष्य में हरदत्त पृ० १७३ पर, शबरस्वामी ने मीमांसा भाष्य १।२।१० पृ० ३३, ३६, ३८, ४३, कुमारिलभट्ट मीमांसा तन्त्रवार्तिक पृ० ६४, ६६, ६७, १३३, १४७, १५३, १५५, १५६ पर इतिहास विषय में लिखता है। सुश्रुत सूत्रस्थान ५ अध्याय में—

'यस्त्विन्द्रो लोके पुरुषेऽहङ्कारः सः।...रुद्रो रोषः। सोमः प्रसादः। वसवः सुखम्। अश्विनौ कान्तिः मरुदुत्साहः तमो मोहः ज्योति-र्ज्ञानम्...॥'

इन प्रमाणों से सूर्य के प्रकाश की भांति यह स्पष्ट है कि आज से डेढ़ सहस्र वर्ष पूर्वतक वेद में अनित्य वा व्यक्तिविशेषों का इतिहास नहीं, अपितु प्रकृति के प्रवाह से नित्य पदार्थों का औपचारिक वा आलङ्कारिक रूप में वर्णन है, यह परम्परा विद्यमान थी, जिसे सायण वा

पश्चाद्वर्ती वेदभाष्यकारों ने नष्ट कर दिया, जिसका पुनरुद्धार महर्षि दयानन्द सरस्वती ने किया।

इस इतिहासवाद के विषय में जो सज्जन अधिक देखना चाहें, वे हमारे लिखे 'निरुक्तकार और वेद में इतिहास' नामक लघु ग्रन्थ में देख सकते हैं।

हमारा यह दृढ़ मत है कि समस्त वेद में किसी भी प्रकार का किसी का कोई इतिहास नहीं है। प्राकृतिक जगत् के कारण तथा कार्य रूप तत्त्वों का औपचारिक आलङ्कारिक वर्णन है।

निरुक्त के समस्त ऐतिहासिक स्थलों पर विशद निरूपण होना आवश्यक है। इसी विचार से 'देवापि और शन्तनु' पर मैंने लिखा भी है। इसी प्रकार ब्लूमफील्ड कृत 'वैदिक इण्डैक्स' आदि में ऐतिहासिक कहे जानेवाले सब स्थलों पर पूरा प्रकाश डाला जाना चाहिये। ये सब काम हैं, जो आर्यसमाज को उठाने चाहिये। एक अकेला व्यक्ति कोई भी ये सब काम नहीं कर सकता। लोगों के सामने काम नहीं, मुझे तो इतने काम प्रतीत होते हैं, जो दस-वीस कार्यकर्त्ता निरन्तर और एक ही कार्य करें, तो जीवन भर में भी समाप्त होते नहीं दीखते। प्रभु की पवित्र वेदवाणी के ये कार्य हैं, वही भिन्न-भिन्न आत्माओं में प्रेरणा करेंगे, तभी होने सम्भव हैं। अन्तर्यामी प्रभु हमें बल देवें !!!

[वेदवाणी, वर्ष २, अङ्क ६]

वेद का प्रादुर्भाव

सर्गारम्भ में परमपिता परमात्मा ने जीवों के कल्याणार्थ जहां अनेक-विध पदार्थों की रचना की, पृथिवी जल तेज वायु-आकाशादि पदार्थों का निर्माण किया, वृक्ष-औषधि-वनस्पति लता गुल्म मूल पुष्प-फलादि, गुहा वन पर्वतादि, मेघ स्रोत नदी समुद्रादि, लोह ताम्र रजत सुवर्णादि धातु तक अन्य असंख्य पदार्थ संसार में उत्पन्न किये, मनुष्य-पशु-पक्षी आदि के शरीरों की रचना की, अर्थात् समस्त स्थावर जङ्गम जगत् का निर्माण किया, वहां उस सर्वज्ञ-सर्वान्तर्यामी सर्वनियन्ता जगदीश्वर ने जीवों के अभ्युदय और निःश्रेयसार्थ संसार में समस्त कार्यकलाप के निर्वाहार्थ परमानुकम्पा से उपर्युक्त सब पदार्थों से यथावत् लाभ प्राप्त करने के निमित्त ज्ञान का प्रकाश भी किया। जिससे मनुष्य अपने जीवन को सफल कर सकें। इसी को समस्त प्राचीन ऋषि मुनियों एवं शास्त्रों की परिभाषा में 'ईश्वरीय ज्ञान वेद' कहा जाता है।

इस ईश्वरीयज्ञान का स्वरूप कैसा होता है वा कैसा होना चाहिये, इस विषय में स्वयं वेद ने ही बतलाया है—

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥

—ऋ० १०।७१।१॥

हे विद्वान्! सृष्टि के आदि में समस्त प्राणियों की मूलरूप, (सृष्टि-गत पदार्थों के) नामों को धारण करनेवाली, जिस वाणी को (विद्वान् लोग) उच्चारण करते हैं, जो इन सबसे श्रेष्ठ और जो सबके लिये समान होती है, वह वाणी (ऋषियों की) गुहा (बुद्धि) में धारण की हुई (ईश्वर की) प्रेरणा से प्रकाशित होती है।

इस मन्त्र से निम्न सात बातों के लिये वेद का प्रमाण मिल जाता है, दूसरे शब्दों में इस मन्त्र में ईश्वरीयज्ञान की सात विशेषतायें वा कसौटियां वर्णित हैं—

(१) जो सृष्टि के आदि में होनेवाली वाणी हो, इसलिये मन्त्र में कहा 'प्रथमम्'।

(२) इस समय संसार में जितनी मानव-वाणियां हैं, उन सबका आदि स्रोत अर्थात् मूल हो। वेदवाणी से ही सब भाषायें निकली हैं। वेदवाणी का भी मूल 'ओ३म्' है, इसलिये कहा 'वाचो अग्रम्'।

(३) जो सृष्टि के समस्त पदार्थों का नाम धारण करती हो। आदि सृष्टि में जब पदार्थों के नाम धारण की आवश्यकता होती है, तब यह वाणी सहायक होती है। इससे ही पदार्थों की संज्ञा तथा कर्मों का निर्धारण होता है[1], इसलिये कहा 'नामधेयं दधाना:'।

(४) जो सर्वश्रेष्ठ, बड़ी विस्तृत और विशाल हो, केवल मानवबुद्धि में आनेवाले व्याकरण के संकुचित नियमों में न बंधी हुई, उससे कहीं परे, दिव्यरूप में उपस्थित हो, इसलिए कहा 'श्रेष्ठम्'।

(५) जो दोषरहित हो, सब संसार के लिए एकसी, किसी देश-विशेष की भाषा में न हो, इसलिये कहा 'अरिप्रम्'।

(६) जो गुहा (बुद्धि) में निहित हो, अत: कहा 'निहितं गुहा'।

(७) जो अनेक जन्म जन्मान्तरों में परमात्मा से प्रेम करते हैं, उनके द्वारा भगवान् की प्रेरणा से प्रकाशित होती है, उनकी बनाई नहीं, इस लिए कहा 'प्रेणा आवि:'।

ये सब कसोटियां वेद पर ही सर्वार्थ में चरितार्थ होती हैं। किं च—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्। तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् ॥

—ऋ० १०।७१।३॥

---

१. (क) सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥

—मनु० १।२१॥

(ख) वेद एव हि सर्वेषामादर्श: सर्वदा स्थित:।
शब्दानां तत उद्धृत्य प्रयोग: सम्भविष्यति ॥

—कुमारिलभट्टकृततन्त्रवार्तिक पृ० २०६ ॥

(ग) ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु सृष्टयः।
नानारूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्त्तनम्॥
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वर:।
शर्वर्यन्ते सुजातानामन्येभ्यो विदधात्यज: ॥

—महाभारत शां० पर्व अ० २३२।२५, २६॥

सृष्टि के आदि में यज्ञ अर्थात् परमात्मा के द्वारा वाणी की प्राप्ति के योग्य हुए ऋषियों में प्रविष्ट हुई वेदवाणी को मनुष्य पीछे प्राप्त करते हैं, अर्थात् वेदवाणी का प्रकाश सृष्टि के आदि में पहिले ऋषियों के अन्तःकरण में परमात्मा प्रकाशित करता है।

इन दोनों मन्त्रों से स्पष्ट है कि ईश्वरीय ज्ञान कैसा होना चाहिये, ये सब बातें वेद में ही चरितार्थ होती हैं।

सर्गारम्भ में सूर्य के प्रकाश की भांति पूर्वसृष्टि के समान वेदज्ञान का प्रकाश हुआ। प्रलय के पश्चात् अमैथुनी सृष्टि के आरम्भ में युवा वर्थात् प्रौढ़ युगल (जोड़े) उत्पन्न हुए, क्योंकि माता-पिता की सत्ता तो थी नहीं। सुप्तप्रबुद्धन्याय[1] से कार्यजगत् की प्रलयावस्था में जिस-जिस स्थिति में देहधारी अपने कारण में लीन हुए, उसी-उसी अवस्था में उन का सब खेल पुनः वैसा का वैसा चल पड़ा। जीव अपने पूर्ववर्ती कर्मों तथा संस्कारों के अनुरूप ही शरीर, बुद्धि आदि से युक्त होते हुए कार्यों में प्रवृत्त[2] हुए। उस समय के मनुष्यवर्ग में सबसे उत्कृष्ट, श्रेष्ठ, विमल-मेधा, ग्रहण तथा धारण में समर्थ चारों[3] ऋषियों ने प्रभु के वेदज्ञान को

---

१. (क) युगान्तरेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ॥

—महाभारत ॥

सेतिहासान् नित्येतिहासयुक्तानित्यर्थः ।

(ख) पूर्वकल्पे ये वेदास्त एव परात्ममूर्त्तेर्ब्रह्मणः सर्वज्ञस्य स्मृत्यारूढाः । तानेव कल्पादौ अग्निवायुरविभ्य आचकर्ष ॥ —मनुस्मृतिकुल्लूकभट्टटीका १।२३॥

(ग) आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥

—मनु० १।५॥

(घ) अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

—गीता ८।१८॥

२. रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधया अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥

—ऋ० १०।१२९।५॥

रेतोधाः=कर्म से युक्त। महिमानः=मुक्त ॥

३. एवं वाऽरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ॥ —शत० १४।५।४।१०॥

साकल्येन हृदय में धारण किया। जिनके नाम अग्नि-वायु-आदित्य-अङ्गिरा वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध हैं। उनके हृदय में वेद का समस्त ज्ञान नित्य नियमानुपूर्वी द्वारा आदि से अन्त तक एक ही साथ अर्थात् युगपत्[1] अक्रमारूढ़ दे दिया। अतः इसमें कितना समय लगा, यह कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि काल[2] का व्यवहार अनित्यों में होता है। जहां क्रम होगा, वहां काल होगा। परमात्मा का आदिज्ञान एकरस है। पद[3], पदार्थ, गायत्र्यादि छन्द तथा मन्त्रादि के विभाग का ज्ञान वेद-ज्ञान में ही निहित था।

अन्य सब लोक-लोकान्तरों में भी इसी वेदज्ञान को वह जगदीश्वर सदैव प्रदान करता है। जितना भी नैमित्तिक ज्ञान विश्व में वर्तमान है, वह सब उस परमपिता परमात्मा के इस वेदज्ञान[4] द्वारा ही प्रवृत्त होता

अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः ॥

—श० ११।४।२।३॥

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥

—मनु० १।२३॥

१. युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम् ॥ —न्याय १।१।१६॥

यह नियम सर्वसाधारण का है, समाधिस्थ लोगों के लिए शास्त्र कहता है कि उनको अक्रमारूढ़ युगपज्ज्ञान होता है—

'सर्वज्ञातृत्वं सर्वात्मनां गुणानां शास्त्रोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानामक्रमोपारूढ विवेकजं ज्ञानमित्यर्थः।'

—योगभाष्य ३।४१॥

२. क्षणस्तु वस्तुपतितः क्रमावलम्बी। क्रमश्च क्षणानन्तर्यात्मा। तं कालविदः काल इत्याचक्षते योगिनः॥

—योगभाष्य ३।१७॥

३. गौरिति शब्दः, गौरित्यर्थः, गौरिति ज्ञानम्॥

—योगभाष्य ३।१७॥

४. चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥

—मनु० १२।९७॥

है। आकृतियों में भेद होते हुए भी उत्पत्तिप्रकार में कोई भेद नहीं होता। मनुष्य जहां-जहां होगा, वहाँ-वहां इसका प्रकाश अवश्य होगा। चाहे किसी प्रकार भी हो।

यह है वैदिकधर्मियों की धारणा वेद के सम्बन्ध में, जो परम्परा द्वारा प्राप्त हो रही है, जिसे समस्त ऋषि-मुनियों की धारणा होने से वर्तमान युग के महापुरुष परमयोगी महर्षि दयानन्द ने स्वीकार किया और अपने ग्रन्थों में जिसका प्रतिपादन किया, तथा उसी धारणा को लेकर वेद का भाष्य किया।

[वेदवाणी, वर्ष ३, अङ्क १]

ऋषियों ने सीधा सरल वेदार्थ या वेदभाष्य क्यों नहीं किया ?

यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि ऋषि लोगों ने वेदमन्त्रों का सीधा सरल अर्थ वा दूसरे शब्दों में वेदभाष्य क्यों न कर दिया, जिससे प्रत्येक जिज्ञासु को वेदार्थ का यथार्थ बोध हो जाता और, किसी प्रकार की कोई बाधा उपस्थित न होती।

हमारा इसमें यह कहना है कि ऋषि लोग वेदभाष्य कर सकते थे और एक से एक उत्कृष्ट भाष्य करते, पर उन्हें तो वेदभाष्य करना अभीष्ट ही न था। इसका मुख्य कारण यह है कि वेद 'सर्वज्ञानमयो हि सः' सम्पूर्ण ज्ञान का भण्डार है, वेद में सब सत्य विद्यायें हैं, यह ऋषि लोगों की निश्चित धारणा थी। किसी भी व्यक्ति को सम्पूर्ण विद्याओं का ज्ञान नहीं हो सकता। हां ज्ञान वा विद्या के अधिक से अधिक विभागों का विशेषज्ञ एक ऋषि वा आचार्य हो सकता है। हमारी इस बात का प्रमाण इसी से मिल जाता है कि यास्क-पाणिनि-पतञ्जलि-व्यास-जैमिनि आदि ऋषियों ने विद्या के एक-एक विभाग को लेकर साक्षात् ज्ञान द्वारा संसार का उपदेश किया। एक ही ऋषि ने सब विद्याओं का पूर्ण ज्ञाता होने का दावा नहीं किया। जब एक व्यक्ति चाहे वह ऋषि हो या मुनि, आचार्य हो या बड़े से बड़ा विद्वान्, सब विषयों का ज्ञाता कदापि नहीं हो सकता, तो भला वह वेद का सम्पूर्ण अर्थ कैसे कर सकता है। इसीलिये ऋषि-मुनि वेदों के भाष्य नहीं कर गये, क्योंकि वे समझते थे कि वेद के ज्ञान की इयत्ता नहीं हो सकती। यद्यपि वेद की इयत्ता (चार विभागों में) नियत है, पर उसके अर्थ की इयत्ता का अवधारण नहीं हो सकता। जैसे ईश्वरीय पदार्थ वायु-जल-अग्नि-विद्युत् आदि को मनुष्य के मस्तिष्क ने बहुत कुछ वश में किया है और उनसे अपनी इच्छानुसार काम ले रहा है। पर ये पदार्थ सम्पूर्णतया मानव-मस्तिष्क में कभी नहीं आ सकते, क्योंकि ये ईश्वरीय हैं। जब भौतिक पदार्थों का यह हाल है तो भला ईश्वरीय ज्ञान का तो कहना

ही क्या, वह वश में कैसे आ सकता है ? जैसे हमारा शरीर परिमित है, इयत्तावाला है, पर उसके अङ्ग, मस्तिष्क में आनेवाले विचार वा ज्ञान की इयत्ता का निर्धारण नहीं हो सकता।

यास्क के निरुक्त में 'वा' शब्द इसी बात का द्योतक है। यास्क निर्वचन करते समय जो 'वा' शब्द का प्रयोग प्रायः करता है, उसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि यास्क को अपने ही कथन में सन्देह हो रहा है। निर्वचनविद्या का यह विज्ञान सहज में प्रत्येक की समझ में नहीं आ सकता। यहां हम एक दृष्टान्त द्वार इस बात को स्पष्ट करने का यत्न करते हैं—

मीमांसा भाष्य अ० ३ पाद के सप्तम बलाबलाधिकरण में—**'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते। अत्र चिन्त्यते किमिन्द्रस्य वोपस्थानं कर्त्तव्यमित्यनियम उत गार्हपत्यस्यैव। ··· यस्तु गार्हपत्यश्रवणादेवार्थः प्रतीयेत स लिंगेन बलीयसा परित्यक्तो भवति। नासावुपस्थानेन सम्बध्यते। तदा हीन्द्रं गार्हपत्यशब्दोऽभिवदेदग्निसमीपं वा।'**

—मी० शा० भा० पृ० ८२३, ८२८ पूना सं०

यहां पर सिद्धान्त में उपर्युक्त वाक्य से गार्हपत्य अग्नि का ही उपस्थान होता है। वहां—

कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे (ऋ० ८।५१।७)।

इस ऋचा का देवता इन्द्र है। ऐसी अवस्था में इन्द्र का अर्थ 'गार्हपत्याग्नि' हो, तभी तो विनियोजक वाक्य का अभीष्टार्थ सिद्ध हो सकता है, तभी गार्हपत्याग्नि का उपस्थान होना सम्भव है। अब इन्द्र से गार्हपत्याग्नि का अर्थ विना यौगिकवाद के कैसे लिया जा सकता है, क्योंकि यहां सत्यवसरे प्रसिद्धार्थ 'इन्द्र' का त्याग और प्रकरणानुगुण होने से अग्नि अर्थ का ग्रहण विना यौगिकवाद के होगा ही कैसे ?

तात्पर्य यह है कि मीमांसकों का सिद्धान्त है कि—**'गुणाद्वाप्यभिधानं स्यात् सम्बन्धस्य शास्त्रहेतुत्वात्'** (मी० ३।२।४)। गुणसंयोग से भी शब्द अर्थाभिधायक होता है, यह सर्वसाधारण नियम इस जैमिनीय सूत्र में बतलाया है। वह गुणसंयोग ऐश्वर्य को लेकर जिस प्रकार 'इदि' धातु से सम्पन्न हो रहा है, उसी प्रकार दीप्तिरूप गुण को लेकर 'इन्धी' धातु से सम्पन्न होता है।

इसी कारण से 'गुणवादस्तु' (मीमां० १।२।४७) इत्यादि स्थलों में भी गुण को लेकर शब्दार्थ का निश्चय होता है, ऐसा मीमांसाशास्त्र का सिद्धान्त है।

अब यहां पाठक थोड़ा ध्यान से विचार करें कि जब हम यास्क के निर्वचनों को देखते हैं तो आपाततः एक साधारण व्यक्ति को वे व्यर्थ से प्रतीत होने लगते हैं या उसके मन पर यह प्रभाव पड़ता है कि यास्क को स्वयं सन्देह रहा कि कौन सी धातु से निर्वचन करूं। हमारा यही उदाहरण अर्थात् 'इन्द्र' शब्द इसका पूरा समाधान कर देता है।

देखिये यास्क ने—निरु० १०।८ में—**'इन्धे भूतानीति वा।'**

ऐसी व्युत्पत्ति दर्शाई है। यही निर्वचन ब्राह्मणग्रन्थों (शतपथ ब्रा० (१४।६।११।२) में लिखा है—**'त वा एतमिन्ध सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणेव।'** इसी प्रकार दशपादी उणादिवृत्ति ८।४६ में भी इन्ध धातु से व्युत्पत्ति दर्शाई है—

'इन्धेर्दकारोऽन्त्यस्य निपात्यते। इन्धते इध्यते वा तेजोभिरिति इन्द्रः।' (पृ० ३१६ सरस्वती भवन संस्करण)॥

इससे यास्क के निर्वचनविज्ञान का वास्तविक स्वरूप समझ में आ जाता है। यास्क इस विद्या के साक्षात्कर्त्ता थे, इसी से उन्होंने वेदार्थ को बांधा नहीं, क्योंकि 'अनन्ता वै वेदाः' का वास्तविक अर्थ यही है कि वेदार्थ बांधा नहीं जा सकता। यह है कारण जो ब्राह्मणकार, वेदांग उपांगों के बनानेवाले साक्षात्धर्मा ऋषियों ने वेदभाष्यों का निर्माण न किया। ये कर नहीं सकते थे, यह बात नहीं थी, अपितु पूर्णतया हो ही नहीं सकता, यह उनकी धारणा थी।

इसी बात को लेकर तो वेङ्कटमाधव ऋग्भाष्यानुक्रमणी (पृ० ७६-७७) में कहता है—

संहितायास्तुरीयांशं विजानन्त्यधुनातनाः।
तस्मान्नाश्रुतैर्मन्दैः कार्यो वेदार्थनिर्णयः॥
शाकल्यः पाणिनिर्यास्क इत्यृगर्थपरास्त्रयः।
यथाशक्त्यनुधावन्ति न सर्वं कथयन्त्यमी॥ पृ० ७४।

अर्थात् आजकल के विद्वान् संहिता का चतुर्थांश जानते हैं, इसलिये अल्पश्रुतों को वेदार्थ का निर्णय नहीं करना चाहिये। शाकल्य पाणिनि

और यास्क ये ऋग्वेद के अर्थों के ज्ञाता हैं, परन्तु ये भी यथाशक्ति अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, सब नहीं कहते।

ऋषि दयानन्द के भाष्य में ही आपको यह विशेषता मिलेगी कि उन्होंने वेद के अर्थ को संकुचित नहीं किया, अपितु आप्त ऋषि-मुनियों की शैली के अनुसार व्यापक अर्थों का निर्देश अपने संस्कृतपदार्थ में किया है। अन्य सभी भाष्य इससे शून्य हैं। इसीलिये हम उसे नैरुक्त-प्रक्रिया का वेदभाष्य कहते हैं। उसमें कहीं-कहीं यास्कमुनि के दर्शाये पथ पर चल कर निरुक्त से भी अधिक निर्वचन किये हैं। यह इस भाष्य की अपूर्वता है, जिसे हर कोई नहीं समझ सकता।

[वेदवाणी, वर्ष ३, अङ्क २]

वैदिक छन्दोवाद

छन्दों की आवश्यकता

वेदार्थविषय में वाक्यार्थबोध के लिये छन्दोज्ञान की भी आवश्यकता है। इसीलिये कात्यायन ने ऋक्सर्वानुक्रमणी में लिखा है—

'मन्त्राणामार्षेयच्छन्दोदैवतविद् याजनाध्यापनाभ्यां श्रेयोऽधिगच्छतीति।' (परि० १।४)। छन्दों के ज्ञान से वेदार्थज्ञान में प्रौढ़ता आती है क्योंकि वाक्यार्थबोध में इससे पर्याप्त सहायता मिलती है।

छन्दों का लक्षण

ऋक्सर्वानुक्रमणी [२।६] में—'यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः', तथा अथर्वबृहत्सर्वानुक्रमणी [१।१] में—'छन्दोऽक्षरसंख्याव्यवच्छेदकमुच्यते' अर्थात् अक्षरों के परिमाण का नाम छन्द है। जिस शब्द को सुनते ही मन्त्रगत अक्षरों की संख्या का परिज्ञान हो जावे, वह छन्द कहाता है।

छन्दों के भेद

वेद में प्रयुक्त होनेवाले छन्दों के मुख्यतया चार भेद हैं—

(१) प्रथम सप्तक—प्रायः सभी ग्रन्थकारों ने गायत्री-उष्णिक्-अनुष्टुप्-बृहती-पंक्ति-त्रिष्टुप्-जगती—इन सात छन्दों के सप्तक [समूह] को छन्दों का मुख्य भेद माना है। इनके लक्षण तथा विस्तार यथाशास्त्र देखने चाहिये। इनमें सामान्य रूप से गायत्री २४, उष्णिक् २८, अनुष्टुप् ३२, बृहती ३६, पंक्ति ४०, त्रिष्टुप् ४४, और जगती ४८ अक्षर का होता है।

(२) द्वितीय सप्तक—अतिजगती ५२, शक्वरी ५६, अतिशक्वरी ६०, अष्टि ६४, अत्यष्टि ६८, धृति ७२, और अतिधृति ७६ अक्षरों का होता है। देखो पिङ्गलसूत्र अ० ४, ५-७; ऋक्प्रातिशाख्य १६, ८१-८५; निदानसूत्र १, ५ पृ० ८; ऋक्सर्वानुक्रमणी परिभाषाप्रकरण ३, २; बृहत्सर्वानु० १३, ३ पृ० १३३; उपनिदानसूत्र पृ० ५; वेङ्कटमाधव छन्दोऽनुक्रमणी पृ० ४१; वेदार्थदीपिका पृ० ७६।

(३) तृतीय सप्तक—कृति ८०, प्रकृति ८४, आकृति ८८, विकृति ९२, संकृति ९६, अभिकृति १००, उत्कृति १०४। देखो पिङ्गलसूत्र अ० ४, १-५; निदानसूत्र १, ५ पृ० ८; उपनिदानसूत्र पृ० ५, ६ तथा १, ऋक्प्रातिशाख्य १६, ८८; बृहत्सर्वानु० पृ० १३२, १२३, वेङ्कटमाधव छन्दोऽनुक्रमणी पृ० ४२; षड्गुरुशिष्य वेदार्थदीपिका पृ० ७६, ७७।

(४) मा ४, प्रमा ८, प्रतिमा १२, उपमा १६, समा २०। देखो ऋक्प्राति० १७, १९; वेङ्कटमाधव छन्दोऽनुक्रमणी पृ० ४२।

ऋक्प्रातिशाख्यकार ने दो अक्षरों की न्यूनता में इन्हीं मादि को क्रमशः हर्षीका, सर्षीका, मर्षीका, सर्वमात्रा, विराट्कामा (ऋक्प्राति० १७, २०; निदानसूत्र पृ० ५, ९) संज्ञाओं से व्यवहृत किया है।

उपनिदानसूत्र पृ० ६ में 'पञ्चादौ चोक्तात्युक्तमध्ये प्रतिष्ठा सुप्रतिष्ठेत्यनिर्दिष्टानि' इन मादि के उक्तादि नाम दर्शाये हैं। ये ही उक्तादि नाम जानाश्रयीछन्दोविचितिकार ने भी माने हैं। षड्गुरुशिष्य ने वेदार्थदीपिका पृ० ७६, ७७ में इन उक्तादि छन्दों के उदाहरण दिखाये हैं। 'उक्तादिपञ्चकं कैश्चिद् गायत्रीत्येव कथ्यते' कहकर इनको गायत्री का भेद माना है। वेङ्कटमाधव ने अपनी छन्दोऽनुक्रमणी में लिखा है—

प्रातिशाख्ये निदाने च मा प्रमा प्रतिमेति च।
नानाविधानि छन्दांसि लक्षितानि च लक्षणैः॥

ऋक्सर्वानुक्रमणी तथा अथर्वबृहत्सर्वानुक्रमणीकार ने इन मादि का उल्लेख नहीं किया। ऋक्सर्वानुक्रमणी की टीका वेदार्थदीपिका (पृ० ७६, ७७) में इनका निरूपण मिलता है।

ये चार प्रकार (यदि हर्षिकादि को भिन्न मानें तो पांच प्रकार) के छन्द हैं, जिनके द्वारा समस्त वैदिक छन्दों का निरूपण किया गया है।

छन्दोनिर्णय के दो प्रधान प्रकार

पूर्वोक्त चार प्रकार के छन्दों में प्रायः सर्वत्र गायत्र्यादि की ही प्रधानता सर्वसम्मत है। इन गायत्र्यादि छन्दों के निर्णय के दो प्रधान प्रकार हैं। प्रथम अक्षरगणना—जिसमें केवल अक्षरों की गिनती करके ही छन्द का निश्चय किया जाता है। ये प्रति छन्द दैवी, आसुरी, प्राजापत्या, आर्ची, याजुषी, साम्नी, आर्षी और ब्राह्मी भेद से अनेक प्रकार के हैं। द्वितीय—जिसमें अक्षरगणना के साथ-साथ पादव्यवस्था का भी ध्यान रक्खा जाता है। दोनों ही प्रकार शास्त्रसम्मत हैं। यह

इस प्रकरण का निष्कर्ष है। कई लोगों का मत है कि केवल यजुर्मन्त्रों में ही अक्षरगणना से छन्दोनिर्णय होता है, ऋङ्मन्त्रों में पादव्यवस्था से ही छन्दों का निश्चय करना चाहिये। उनका यह कथन अत्यन्त भ्रम पूर्ण है। इसकी विवेचना हम आगे करेंगे।

गायत्र्यादि छन्दों के अवान्तर भेद

पूर्वोक्त छन्दों के अवान्तर अनेक सूक्ष्म भेद प्रभेद हैं, जिनका विस्तृत ज्ञान यथाशास्त्र ही हो सकता है। यह बात भी ध्यान रखने की है, कि छन्दःशास्त्र के जितने ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उन सब में परस्पर बहुत से सूक्ष्म भेद हैं। अतः जो व्यक्ति केवल एक ग्रन्थ के आधार पर ही सम्पूर्ण वैदिकवाङ्मय के छन्दों की विवेचना करने का दुःसाहस करेगा, वह अवश्य ही धोखा खायगा।

अति-जगत्यादि छन्दों की पादव्यवस्था में मतभेद

कृत्यादि तृतीय सप्तक में किसी आचार्य ने पादव्यवस्था नहीं मानी। वेदार्थदीपिका (पृ० ७७ पर) में षड्गुरुशिष्य ने कृत्यादि में दो तीन स्थलों में पादव्यवस्था दर्शाई है। अतिजगत्यादि द्वितीय सप्तक में पाद-व्यवस्था के विषय में मतभेद है। ऋक्सर्वानुक्रमणी की टीका करते हुये षड्गुरुशिष्य ने लिखा है—'उत्तरसप्तवर्गेऽतिजगत्याद्यतिधृत्यन्तेऽक्षरसंख्यैव, न पादविशेषात् संज्ञाविशेषाः। पादाश्चानुक्रमण्यन्तरसिद्धा उच्यन्ते' (पृ० ७५)। अर्थात् 'ऋक्सर्वानुक्रमणीकार ने अतिजगत्यादि में पादव्यवस्था नहीं मानी, पुनरपि मैं अन्य सर्वानुक्रमणियों के मत से पादव्यवस्था दर्शाता हूं।' इस प्रकार कृत्यादि सप्तक में पादव्यवस्था का अभाव, और अतिजगत्यादि में उभयथा है। कृत्यादि सप्तक ऋक्सर्वानुक्रमणी को छोड़ कर सबने माना है। यह यहां का सार है।

ऋङ्मन्त्रों के छन्दों के दो प्रधान भेद

छन्दोनिर्णय के दो प्रधान प्रकार हम ऊपर दर्शा चुके अर्थात् एक वे छन्द हैं, जिनमें केवल अक्षरगणना के आधार पर निर्णय होता है। दूसरे वे हैं, जो अक्षरगणना के साथ-साथ पादव्यवस्था के नियम से सिद्ध होते हैं।

याजुषमन्त्रों के छन्द अक्षरगणना से ही सिद्ध होते हैं। यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है, इसमें किसी को भी विप्रतिपत्ति नहीं। पर ऋङ्मन्त्रों में

दोनों प्रकार के छन्द माने जाते हैं। ऋक्सर्वानुक्रमणीकार आदि प्रायः पादव्यवस्थित छन्दों का ही उल्लेख करते हैं (कहीं-कहीं अक्षरगणना से भी छन्द माने हैं, उन्हें हम आगे दर्शायेंगे) और जहां पाद में अक्षर की न्यूनता होती है, वहां व्यूह करके (सन्धिच्छेद द्वारा पृथक् स्वतन्त्र अक्षर मानकर) अक्षरों की पूर्ति करते हैं। यह गणना क्यों की जाती है, इसका विवेचन आगे किया जायगा, पर अन्य कई एक प्राचीन आचार्य केवल अक्षरगणना से भी ऋङ्मन्त्रों के छन्द लिखते हैं। इस प्रकार ऋङ्मन्त्रों में दोनों प्रक्रियाओं का आश्रयण करने पर सहस्रों मन्त्रों के छन्दों में भेद हो जाता है। इस व्यवस्था को न समझ कई लोगों को भ्रान्ति हो जाना स्वाभाविक है। भ्रान्ति अज्ञान वा अल्पज्ञता की बोधक होती है। जब तक वह दूर न हो जावे, भ्रान्ति बनी ही रहेगी।

अतः अब इस छन्दोवाद के विषय में अत्यन्त प्रबल कहे जानेवाले पूर्वपक्ष का उल्लेख करते हैं, जिससे विज्ञ पाठकों को इस विषय के निर्णय तक पहुंचने में सुगमता होगी।

क्या स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में छन्दों की सात हजार अशुद्धियां हैं?

आचार्य दयानन्द ने अपने ऋग्वेदभाष्य में इन उपर्युक्त दोनों प्रक्रियाओं में से प्रायः अक्षरगणनावाली प्रक्रिया के अनुसार छन्द लिखे हैं। पर आजकल के कुछ अल्पश्रुत लोग (जो इस शास्त्रीय प्रक्रिया से अनभिज्ञ हैं) स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में अक्षरगणना की प्रक्रियानुसार लिखे हुए छन्दों को सर्वथा अशुद्ध मानते हैं। इनमें से एक महानुभाव स्वामी दयानन्द के ऋग्वेदभाष्य में लिखे हुए छन्दों में सात हजार अशुद्धियां दर्शाते हुये लिखते हैं—

अथ पूर्वपक्ष

(क) 'दूसरी और प्रधान अड़चन यह है कि अक्षरसंख्या से छन्दोनिर्णय जो करते हैं, वह पादव्यवस्था जिन मन्त्रों में नहीं होती, उनका ही किया जाता है। जहां पादबद्ध रचना होती है, उन मन्त्रों की व्यवस्था स्वतन्त्र है। 'पादः' इस अधिकार सूत्र से पूर्व ही 'आर्ची' 'दैवी' आदि भेद छन्दःशास्त्र में कहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ये पादव्यवस्था न होने की अवस्था के छन्द हैं। अर्थात् जहां पादव्यवस्था नहीं है, उन यजुर्वेद-मन्त्रों के लिए वह नियम है।' [आगे के अङ्क उपलब्ध नहीं, विवरण भूमिका में देखें] [वेदवाणी, वर्ष ३, अङ्क ३]

माननीय टण्डन जी की विजय?

लोग कहेंगे यह क्या, संसार जानता है कि माननीय टंडन जी हार गए, विजय माननीय नेहरू जी की हुई; फिर टंडन जी की विजय कैसी ? सो सुनिये ! अन्याय के आगे सिर न झुकाकर श्री टंडन जी ने महान् आदर्श रखा है। अतः विजय उनकी ही है। इतिहास ही बतावेगा कि भारत की एक महान् आत्मा ने समय पर देश को एक चेतावनी दी थी, उस पर ध्यान न देने से भारत को कितनी हानि उठानी पड़ी और किन-किन विषमताओं का उसे सामना करना पड़ा।

इस घटना को भारत में लोकतन्त्र के अन्त का प्रारम्भ कहना अनुचित न होगा। ऐसी प्रवृत्ति से भारत में लोकतन्त्र बन सकेगा, इसमें हमें सन्देह है।

यदि यह सिद्धान्त बनाना है कि केन्द्रीय सरकार की कैबिनेट जो कुछ भी काला सफेद करे, उसमें किसी को बोलने वा ननुनच करने का अधिकार नहीं है, नहीं-नहीं, कैबिनेट के मन्त्रियों को भी बिना चूं चरां के किसी भी एक व्यक्ति के आगे हां ही करनी पड़ेगी व पड़ती है, तब तो लोकतन्त्र के इस ढोंग को जितनी शीघ्र हो सके, समाप्त कर देना ही उचित है। यदि लोकतन्त्र का सिद्धान्त ही मान्य है, तब तो किसी विषय में पहले कैबिनेट के मंत्रियों की स्वीकृति व बहुमति लेना अनिवार्य है। इतना ही नहीं, कैबिनेट के सदस्यों (मन्त्रिमंडल) द्वारा स्वीकृत होने पर भी वह विचार विधानसभा के सदस्यों द्वारा स्वीकृत होना अनिवार्य है। सदस्यों की योग्यता का कोई न कोई मापदंड हमें निर्धारित करना होगा।

सदस्यों को आत्मिक बल से काम लेना चाहिए—अन्याय्य बात पर कभी सम्मति न देना चाहिए, चाहे उसी समय सदस्यता से त्यागपत्र ही क्यों न देना पड़े। ऐसा प्रतिबन्ध लगानेवाली किसी पार्टी व समूह में, चाहे वह कांग्रेस की हो व किसी की, कदापि सम्मिलित न होना चाहिए, जो अन्याय्य बात पर भी सम्मति देने को बाध्य करे। एक आदमी जो कह दे, उसके पीछे सब मन्त्री व विधानसभा के सदस्यों को

आंख मूंदकर विवशतः हाथ उठाना ही पड़े; हम समझते हैं, स्वतंत्र भारत में यह एक नई गुलामी का प्रारम्भ करना है, जिससे नाश के सिवाय कुछ न होगा। हां, कांग्रेस पार्टी कांग्रेस के मूलभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध कोई बात हो, तब तो वह कह सकती है—'या तो कांग्रेस से त्यागपत्र दो अथवा कांग्रेस के सिद्धान्त के अनुकूल वोट दो।'

यदि प्रधान-मंत्रियों पर किसी का कोई अधिकार नहीं, एक व्यक्ति जो कहे, वही मानना होगा, यदि इसी का नाम लोकतन्त्र है तो ऐसे लोकतन्त्र को दूर से ही नमस्कार है।

यदि ऐसा ही है तो क्यों न भारत में किसी एक को राजा मानकर सब व्यवस्था चलाई जावे। एकतन्त्रवाद वा एकाधिनायकवाद का फिर खण्डन क्यों किया जाता है? मुख्य प्रश्न यह है कि कैबिनेट के अधीन प्रधानमन्त्री है या प्रधानमन्त्री के अधीन कैबिनेट। युद्धकालीन या ऐसी ही किसी घोर संकट की स्थिति में मन्त्रिमण्डल प्रधानमन्त्री को आपत्काल समझकर अपने सब अधिकार सौंप दे, अर्थात् सब मन्त्री अपनी-अपनी सम्मति स्वतन्त्रता से देंगे और जैसा युद्धकालीन स्थिति में प्रधानमन्त्री निश्चय करे कि क्या करना है क्या नहीं, यह बात तो समझ में आ जाती है। पर सर्वकाल में प्रधानमन्त्री पर किसी का अधिकार ही न हो, यह समझ में नहीं आ सकता। प्रधानमन्त्री को ही चाहिये कि वह अपनी इच्छा से अपने ऊपर किसी व किन्हीं योग्य-त्यागी-तपस्वी-निष्पक्ष व्यक्तियों का शासन स्वीकार करे। तभी देश का कल्याण होगा, यह ध्रुव सत्य है।

'कहीं पीछे प्रधानमन्त्री को ही पश्चात्ताप न करना पड़े ?'

हमें भय है कि माननीय नेहरूजी (जिन्हें हम भारत का अनमोल रत्न समझते हैं) ही पीछे पछताने न लगें, क्योंकि अब तो नेहरूजी प्रधान कांग्रेस व प्रधानमंत्री बन गए, वे सदा प्रधानमंत्री रहेंगे, यह कोई नहीं कह सकता, ऐसी अवस्था में श्री नेहरूजी किसी के पीछे चलने को तैयार होंगे? हम यह पूछते हैं। ऐसा मार्ग बनावें जिससे वे स्वयं भी आगे चल सकें, दूसरों को ही रास्ता बताने से काम न चल सकेगा। किन्हीं के सौभाग्य वा दुर्भाग्य से यदि श्री श्यामाप्रसाद मुखर्जी, श्री आचार्य नरेन्द्रदेवजी प्रधानमन्त्री बन गए वा कोई दूसरा तो क्या इनके पीछे नेहरूजी चल सकेंगे? यदि कहा जावे कि ये भिन्न पार्टियां हैं तो

हम पूछते हैं टंडनजी के पीछे तो आप चले नहीं, कांग्रेस के पार्टी के हो किसी अन्य सदस्य के प्रधानमन्त्री चुने जाने पर क्या आप अपने प्रति उसका यही व्यवहार स्वीकार कर सकेंगे, जो आपने टंडन जी के साथ किया है ?

बुराई में से भलाई

इस सारे काण्ड का दूसरा भी पहलू हो सकता है; यदि श्री नेहरूजी काग्रेस से बाहर गए हुए सभी महानुभावों—श्री किदवई, कृपलानी, आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाशनारायण, श्यामाप्रसादमुखर्जी तथा द्वारिका प्रसाद मिश्रजी आदि सब को कांग्रेसें में पुनः ले आवेंगे और पं० द्वारिका प्रसाद मिश्र को भी कांग्रेस वर्किङ्ग कमेटी में अवश्य रखेंगे, तब भी देश समझेगा कि नेहरूजी ने बहुत ठीक किया और इसमें देश का बहुत कुछ कल्याण होना संभव है। और वह स्थायी तभी होगा, जब प्रधानमन्त्री किसी भी पार्टी के न होकर, सबके साथ एक जैसा व्यवहार रक्खेंगे, और सबकी हार्दिक भावनाओं का मान रखते हुए सब से परामर्श लेकर चलेंगे। अपना निजी फैसला किसी पर नहीं ठोसें। यह होता दीखता नहीं। अब तो भारत में हमारी दृष्टि से यह होना चाहिए कि प्रधान-मन्त्री किसी भी पार्टी का न हो, मन्त्रिमण्डल में सब पार्टियों के लोग हों। हमने यह सब 'भारत में लोकतन्त्रवाद की दुहाई दी जाती है' इन विचारों को दृष्टि में रखकर लिखा है। कौन सा वाद अच्छा है, भारत के लिए हितकारी है; यह एक अलग विवेचनीय विषय है, जिस पर विस्तृत विचार हम फिर कभी लिखेंगे।

वर्त्तमान परिस्थिति के लिए वेद क्या कहता है, सो देखिए—

ब्राह्मण की वाणी को राजा (राज्य संचालक) कभी न रोके

राज्य सरकार अर्थात् हमारे नेताओं का (दूसरे शब्दों में प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारों का) परम कर्त्तव्य है कि वे ब्राह्मण (जन्म से नहीं कर्म से) अर्थात् सच्चरित्र-पवित्र, अनुभवी, विद्वानों (जो राज्य के वेतन-भोगी न हों) की वाणी को कदापि न रोके। उस को बन्द करने की चेष्टा न करे। इसी भावना का प्रतिपादन वेद में इस प्रकार मिलता है:—

अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः ।
स ब्राह्मणस्य गामद्याद् अद्य जीवानि मा श्वः ॥

—अथर्व ५।१८।२॥

अर्थात् जो अजितेन्द्रिय-पापी-आत्मपराजित (आत्मा से हारा हुआ) राजा (राज्य-संचालक) होता है, वही ब्राह्मण की गो (वाणी है) को खा जाता है (रोकता है), यद्यपि वह आज जीवित दृष्टिगोचर होता है पर वह कल (उस पद पर) नहीं रहेगा।

भारतीय-वैदिक-आर्य-संस्कृति का यह (ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मविद की वाणी) एक अमोघ शस्त्र है, जिस से बड़े-बड़े राज्य और राष्ट्रों का भाग्य परिवर्तित हो जाता है।

हमारे देश में इस समय ऐसे निरपेक्ष सत्यनिष्ठ अहिंसाविश्वासी विश्व कल्याण की भावनावाले परमोदार महान् आत्माओं की आवश्यकता है, जो देश के नेताओं को परमहित-निष्पक्षपात-निर्भीकतापूर्वक-सत्य और न्याय के आधार पर समय-समय पर चेतावनी देते रहें और देश को भी पता रहे कि हमारे नेता सर्वथा निरंकुश नहीं हो सकते। ऐसे महान् पुरुषों की देश को इस समय अत्यन्त आवश्यकता है।

हम समझते हैं इस समय भारत में श्री टण्डनजी ऐसी आत्माओं के प्रमुख प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं; इसी कारण हमें भय है कि कहीं देश पर घोर संकट न आ जावे। हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि वह इस स्वतन्त्र भारत की रक्षा करे और हमारे देश के नेताओं को सुबुद्धि प्रदान करे। वे अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य को सोच सकें।

[वेदवाणी, वर्ष ३, अङ्क १२]

हा श्री० पं० महेशप्रसाद जी !!!

अत्यन्त दुःख से लिखना पड़ता है कि आर्यसमाज के उच्चकोटि के विद्वान् ऋषि दयानन्द और वैदिक धर्म के परम निष्ठावान्, कर्मवीर, सच्चे साधु, निर्वैर, सहृदय, सादगी की मूर्त्ति श्री पं० महेशप्रसादजी ता० २६ अगस्त १९५१ इस संसार से चल बसे। आपने लाहौर ओरियण्टल कालेज में अरबी फारसी का अध्ययन किया था। आप मुसाफिर विद्यालय आगरा में भी अध्ययन करते रहे। ऋषि दयानन्द की जीवन सम्बन्धी घटनाओं का आपको गहरा ज्ञान था। इस विषय में उन्होंने लिखने का भी बहुत कुछ यत्न किया। आप वेदवाणी के प्रथम अवैतनिक सम्पादक थे। इसके सञ्चालन में आपका मुख्य हाथ था।

इन पंक्तियों का लेखक जब कभी भी उनसे स्वयं मिला, वा उनके पत्र भेजने पर मिला, वे सदा ही ऋषि दयानन्द सम्बन्धी लेखादि छपने वा इस विषय में साहित्य तैयार करने तथा प्रकाशित करने कराने की योजना पर ही विचार-विनिमय करते थे। उनकी इस अपूर्व लग्न का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता था। विशेषकर पिछले लगभग दो वर्ष के रुग्ण-काल में भी वे सतत इसी विषय पर बात करते रहे। आर्यसमाज के इतिहास में उनका नाम सदा उज्ज्वल रहेगा।

उनकी आत्मिक शक्ति बहुत प्रबल थी, इसीलिये वे इतने दिन तक न केवल जीवित ही रहे अपितु बराबर अन्तिम समय तक कार्य करते रहे, अन्यथा उनका शरीर तो पर्याप्त समय से उन्हें उत्तर दे चुका था। दैवेच्छा !!! प्रभु उनके परिवार तथा सम्बन्धियों को शान्ति प्रदान करें !

आर्य्यसमाज में सच्चे सेवक और गहरी लग्न रखनेवाले निष्काम कार्यकर्ता पहिले ही कम हैं, जो हैं सो चलते जा रहे हैं, आगे तैय्यार होते दृष्टिगोचर नहीं होते, यही बहुत चिन्ता का विषय है। आर्यप्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश वा आर्य सार्वदेशिक सभा से मैं प्रार्थना करूंगा कि वह उनके द्वारा संगृहीत सामग्री की अवश्य रक्षा करे। उसमें अद्भुत सामग्री मिलेगी। उसे नष्ट न होने दे, नहीं तो पीछे पश्चात्ताप ही करना

पड़ेगा। जैसे ऋषि दयानन्द के शिष्य पं० श्यामजीकृष्ण वर्मा की सामग्री नष्ट हो गई, उसका अब हमें पश्चात्ताप हो रहा है। इसी प्रकार कहीं यह भी नष्ट न हो जावे। चौक तथा कटरा आर्यसमाज प्रयाग को व्यय कर के भी इस सामग्री को बचा लेना चाहिये। दो तीन हजार रुपया अधिक नहीं है। उनकी पुत्रियों के विवाहादि में ही काम आवेगा।

यह सामग्री सार्वजनिक है, व्यक्तिगत हाथों में जानी ठीक नहीं। आशा है हमारा यह निवेदन व्यर्थ नहीं जायगा। स्वर्गीय पं० जी का जीवनसम्बन्धी कुछ परिचय हम इसी अङ्क में अन्यत्र दे रहे हैं।

[वेदवाणी, वर्ष ३, अङ्क १२]

आर्यसम्मेलन मेरठ

सार्वदेशिक आर्य महासम्मेलन का सातवां अधिवेशन २७ अक्टूबर से १० नवम्बर १९५१ तक ऋषि निर्वाण के अवसर पर मेरठ नगर में हो रहा है। इस अवसर पर वेदसम्मेलन-शिक्षासम्मेलन-संस्कृतिसिद्धान्त-सम्मेलन-महिलासम्मेलन-गोसम्मेलन और शुद्धिसम्मेलन आदि हो रहे हैं।

कौन आर्य होगा जो इन सम्मेलनों की आवश्यकता को स्वीकार न करेगा। महात्मा बुद्ध के निर्वाणपद प्राप्त होने के पश्चात् भिन्न-भिन्न बिहारों में समय-समय पर बड़ी-बड़ी परिषदें होती थीं, जिन में बौद्ध-धर्म के सभी उच्चकोटि के विद्वान् मिलकर प्रचारमार्ग में, भिन्न-भिन्न समय पर आनेवाली बाधाओं-विषमताओं पर गम्भीरतापूर्वक बहुत-बहुत काल तक विद्वानों के विचार विनिमय द्वारा भावी धारणाओं को निर्धारित करते थे। भूतकाल के कार्य और उसकी सफलता असफलताओं पर विचार करते हुए भविष्य की योजनायें बनाते थे। बौद्धकाल की इन परिषदों का रूप सर्वथा प्रदर्शनरहित, अत्यन्त गम्भीर और सात्त्विक वातावरण को लिये होता था।

आर्यसमाज में भी कुछ वर्षों से उपर्युक्त बौद्धकालीन परिषदों का कुछ थोड़ा सा अनुकरण करने का यत्न आरम्भ हुआ है, अर्थात् भिन्न-भिन्न समयों पर भिन्न-भिन्न सम्मेलनों की योजना की जा रही हैं। "गुणाय वा दोषाय वा" इन से क्या परिणाम हुआ, इसका निर्णय करना आर्यजनता पर ही निर्भर है, जनता ही बता सकती है कि इन से उसको कुछ लाभ हुआ, वा नहीं, अथवा कहां तक हुआ जनता ही इसकी कसौटी है।

'भूत से भविष्यत् बनता है' अर्थात् जो व्यक्ति वा समाज अपने भूत से भविष्य का निर्माण नहीं करता, वह कभी फलीभूत वा समुन्नत नहीं हो सकता। इस के लिये यह परमावश्यक है कि अब तक के हुये आर्य-सम्मेलनों वा इसी प्रकार के अन्य समारोहों पर हमें गम्भीर दृष्टि से विचार करना होगा कि उन में हमें अर्थात् आर्यसमाज को क्या प्राप्त

हुआ ? किन-किन निर्णयों पर हम अब तक पहुंच चुके हैं, अब आगे कौन से विषय इस समय निर्णेतव्य हैं। हमें यह भी सोचना होगा कि उन निर्णयों पर हमारा (आर्य) समाज कहां तक अग्रसर हुआ है, यदि नहीं हुआ तो इसमें दोष कहां पर है। दोष साध्य है या असाध्य, दूर हो सकता है, या नहीं। यदि हो सकता है, तो पहिले उसे दूर किया जावे। एक रोगी जिसका निदान बार-बार होता रहे और पथ्य भी निर्धारित होता रहे और वह पथ्य चल ही न पावे, तो ऐसे निदान से रोगी को क्या लाभ हो सकता है, यह विचारने का विषय है।

हमारा तो विचार है, ऐसे सम्मेलन प्रतिवर्ष और आवश्यकता पड़ने पर बीच-बीच में भी हों। पर यदि ये सम्मेलन केवल एक मेला का रूप ही धारण कर रह जाने हों, तब तो इन से क्या लाभ हो सकता है। कुम्भी-अर्धकुम्भी-सूर्यग्रहण-सोमवती अमावस पर भारत के सभी प्रान्तों के आर्य (हिन्दू) लाखों की संख्या में एकत्रित होते हैं, जैसे उन मेलों का कुछ मूल्य नहीं, ऐसे हमारे इन सम्मेलनों का कुछ मूल्य न होगा, यदि हमने इन अवसरों से लाभ न उठाया।

कार्यकर्त्ताओं के घोरपरिश्रम, विपुलधन का व्यय, पर्याप्त समय का लगाना, आर्यजनता के धन का व्यय—इन सब का परिणाम अवश्य निकलना चाहिये, तभी सार्थकता है। इस विषय में भी हमें दूसरों के दोषदर्शन को छोड़कर स्वयं सोचना होगा कि हमने इसके लिये क्या किया ? क्या हमने मनसा-वाचा-कर्मणा सहयोग दिया ? क्या हमने तन-मन-धन में से किसी का भी त्याग इस महान् यज्ञ के लिये किया ? यदि हमने इसमें कुछ नहीं किया, तब हमें यह अधिकार ही नहीं रह जाता कि हम आलोचना करें कि यह नहीं हुआ, वह नहीं हुआ, ऐसा होना चाहिये था, वैसा होना चाहिये था।

प्रत्येक वैदिकधर्मी का कर्त्तव्य है कि वह अपने (आर्य) समाज के गौरव वा कीर्त्ति में अपना गौरव वा कीर्त्ति, और समाज की हानि वा अपकीर्त्ति में अपनी हानि वा अपकीर्त्ति समझे, तभी समाज का संगठन सुदृढ़ हो सकता है, तभी समाज आगे बढ़ सकता है। यद्यपि आर्यसमाज के प्रायः सभी प्रमुख कार्यकर्त्ता, विद्वान्, संन्यासी तथा नेता इस अवसर पर अपने-अपने विचार उपस्थित करेंगे, और उन पर विचार भी होगा, तथापि आर्यसमाज वैदिक धर्म के एक साधारण सेवक के नाते कुछ

परमावश्यक विचार हम भी आर्य बन्धुओं, नेता तथा विद्वानों की सेवा में विचारार्थ उपस्थित करते हैं—

(१) दृढ़ संगठन

सबसे प्रथम हमें यह सोचना होगा कि हमारा संगठन कहां तक ढीला है, और क्यों ढीला है? इसका कोई उपाय भी है या नहीं। यदि यह रोग असाध्य हो चुका है, तो हमें आगे से सम्मेलन सर्वथा बन्द कर देने चाहियें, इनका नाम भी न लेना चाहिये। संगठन ठीक है, यह तभी समझा जायगा, जब आर्यसमाजें अपनी सभाओं वा प्रधान आर्यसार्वदेशिक सभा से भेजी गई विज्ञप्तियों पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर उन का तत्काल उत्तर दें, और उन पर आचरण करें। हमारी शिरोमणि आर्यसार्वदेशिक सभा जो भी विज्ञप्ति वा आज्ञा निकाले, सब प्रान्तों की प्रतिनिधि सभायें तत्काल उस पर अपनी स्वीकृति की मोहर लगावें और सब समाजों को भेजें। वह प्रस्ताव वा विज्ञप्ति साधारण अवस्था में एक सप्ताह में, असाधारण अवस्था में ३ दिन में सारे भारत की आर्यसमाजों तक अवश्य पहुंच जावें और वह तत्काल प्रस्ताव पास कर, जहां अभीष्ट हो, ३ दिन में भेज दें वा उस पर आचरण करें, और उसकी सूचना प्रत्येक आर्यसमाज से अपनी-अपनी आर्य प्रतिनिधि सभा तथा आर्यसार्वदेशिक सभा में पहुंच जावे।

इसका प्रारम्भ जड़मूल से होगा तभी काम चलेगा, अर्थात् प्रत्येक आर्यसमाज का प्रत्येक सभासद् प्रातःकाल एक घण्टा आर्यसमाज मन्दिर में अवश्य आवे। व्यायाम, सत्सङ्ग आदि का कार्यक्रम अवश्य रहे। जो नहीं आवे, वह सहायक सभासद् रहें। बूढ़े बूढ़ों से, युवक युवकों से परस्पर सुःख-दुःख की बात, तथा समाजसम्बन्धी कार्यों का विभाजन तथा व्यवस्था करें। प्रतिनिधि सभाओं में जानेवाले योग्य प्रतिनिधियों का व्यय आर्यसमाजें उठावें। जब अनिवार्य आवश्यकता हो, तत्काल सब आर्यप्रतिनिधि सभा वा आर्य सार्वदेशिक सभा में पहुंच जावें। चन्दा मासिक वा वार्षिक एक नियत तिथि से पहिले सब अपने आप आकर देवें। चन्दा मांगने कोई नहीं जावे। यदि हम इतना भी नहीं कर सकते, तो समझ लेना चाहिये कि कागज की नौका कब तक तैरेगी? हमारा सभी कहना सुनना व्यर्थ है।

(२) नेताओं की नहीं, नेता की आवश्यकता

मेरे एक सुयोग्य भाई ने लिखा था कि आर्यसमाज में "नेताओं" की आवश्यकता है। उन्होंने कई दृष्टियों को लक्ष्य में रख कर लिखा, पर वास्तविक बात तो यह है कि आर्यसमाज में "नेता" की आवश्यकता है, "नेताओं" की नहीं। जिस गृह वा परिवार में सभी नेता=चौधरी होंगे, वह गृह वा परिवार कदापि नष्ट हुये विना नहीं रह सकता।

"सर्वे यत्र नेतारः सर्वे पण्डितमानिनः।"

इस का सुधार हमें जड़ मूल से करना होगा। आर्यसमाज का प्रधान सर्वसम्मति से निर्वाचित करना चाहिये। वह मन्त्री को चुने। अन्तरङ्ग सभा उसकी अनुमति से चुनी जावे। ५ वर्ष के लिये यह प्रयोग करके देखा जावे। यदि सब समाजों के प्रधान अपने-अपने हां के सब आर्य-सभासदों के प्रेम तथा सम्मान के पात्र होंगे, तो सभी काम उत्तम रीति से चलेंगे। सब जिलों (उप प्रान्तों) की समाजों के प्रधान एक संगठन में रहें। पीछे प्रान्तीय आर्यप्रतिनिधि सभाओं में ये प्रधान और समाजों के मन्त्री मुख्यतया रहें। वे भी सर्वसम्मति से प्रधान का निर्वाचन करें। इस प्रकार जहां प्रधान तत् तत् समाज के संचालक होंगे, वहां उन्हें भी जिला उप प्रतिनिधि के संचालक, वा सर्वसम्मति से निर्वाचित प्रधान की व्यवस्था में चलना होगा। जो स्वयं किसी की व्यवस्था वा संचालन में नहीं चल सकता, वह किसी दूसरे की व्यवस्था वा सञ्चालन में चला भी नहीं सकता। अन्त में इन सब प्रधानों के प्रान्तीय प्रधान की व्यवस्था में चलने पर कितना महान् लाभ हो सकता है। अन्त में सब प्रान्तों के सर्वसम्मति से स्वीकृत प्रधानों द्वारा आर्यसार्वदेशिक के प्रधान को सर्व-सम्मति से अपना नेता चुन लेने पर सब कार्य अत्यन्त सुन्दर और शान्तिपूर्वक होगा।

यदि इसमें वैधानिक कठिनाई हो कि प्रतिनिधि तो सब समाजों में समूहों से आवेंगे, सो आवें, जब सर्वसम्मति से प्रधान का निर्वाचन हो जायेगा, तब कुछ भी बाधा नहीं रह जायगी। यदि आर्यप्रतिनिधि सभा में तत् तत् समाजों के प्रतिनिधि अधिक संख्या में हों, तो ठीक है। इनमें भी जब प्रान्तीय सभा का प्रधान सर्वसम्मति से चुना जायगा, और उन की अनुमति से मन्त्री की नियुक्ति होगी, तब प्रत्येक समाज में आने वाले प्रतिनिधियों के परस्पर विचारों का समन्वय होना

स्वाभाविक है। विरोध की बहुत कम सम्भावना रहेगी। यदि ५ वर्ष के लिये इसमें भी ऐसा कर लिया जावे कि प्रतिनिधियों में प्रधान और मन्त्री ही रहें, तब भी कोई हानि नहीं। इस अवस्था से हमारा संगठन एक परिशुद्ध संगठन का रूप धारण कर सकता है।

कहना यह है 'नेताओं' की आवश्यकता नहीं, आर्य समाज को इस समय 'नेता' की आवश्यकता है।

हमें आशा है कि आर्यसमाज के विद्वान्-नेता-कार्यकर्त्ता महानुभाव हमारी इस योजना पर गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगे। वर्त्तमान ढर्रे से तो काम चलता नहीं, यह बात प्रायः सभी अनुभव करते हैं।

यह बात आर्यसमाज में होने योग्य सुधारों का मूलभूत (मेरुदण्ड स्थानीय) सुधार है।

(३) वोटशुद्धि

आर्यसमाज अब तक तो दूसरों की शुद्धि करता रहा है, अब उसे अपनी शुद्धि करनी होगी। ५ वर्ष के लिये बहुसम्मति को छोड़कर सर्व-सम्मति से सब कार्य हो। बात यह है प्रायः सर्वत्र देखा जाता है, कि दुर्भाग्यवश सारी शक्ति वोटिङ्ग (निर्वचन) में ही समाप्त हो जाती है, निर्वाचन हो जाने के पश्चात् शक्ति तो समाप्त हो चुकी होती है, यदि कहीं कुछ बची भी रह जाती है, तो वह उन पदों की रक्षामात्र तक ही सीमित रह जाती है। बीच में ही न गड़बड़ा जाये, इसी चिन्ता में वर्ष बीत जाता है और अगला चुनाव सिर पर आ जाता है। वर्ष भर में यों ही जो कुछ थोड़ा बहुत काम हो जाता है; उसी पर सन्तोष करना पड़ता है। यही कारण है कि कुछ अवांछनीय में जिन्हें सत्र झूठ वा उचित वा अनुचित साधन वर्तलेने में कुछ भी संकोच, लज्जा वा भय नहीं, ऐसे व्यक्तियों की चढ़ मची रहती है। वे जो चाहते हैं सो होता है, भले आदमी किनारे हो जाते हैं, अपना अपमान कौन करावे। यह अवस्था समाजों तक ही हो, सो बात नहीं, हमारी सभाओं में भी प्रायः दलबदलियां चलती हैं, इस हमाम में सभी नंगे हैं, कौन किसको क्या कहे। म्युनिस्पल कमेटियों के चुनाव में और आर्यसमाज के चुनाव में हमें तो कुछ अन्तर दीखता नहीं। हमारी दृष्टि में वर्त्तमान परिस्थिति में इसका सर्वोत्तम उपाय यही है कि ५ वर्ष के लिये बहु सम्मति को छोड़-कर सर्वसम्मति से सब कार्य किया जावे। यदि इसमें बाधा पड़े, अर्थात्

सर्वसम्मति न बन पावे, तो सर्वसम्मति से स्वीकृत प्रधान की व्यवस्था मानी जावे। झूठा कनबैसिङ्ग (प्रोपेगैण्डा) करनेवाले को पृथक् कर दिया जावे। इस विषय में और सोचा जा सकता है।

(४) त्यागी कार्यकर्त्ता

कोई समुदाय वा समाज २४ घण्टे समय देनेवाले कार्यकर्त्ताओं के बिना समुन्नत नहीं हो सकता। बौद्ध धर्म के विस्तार का मुख्य कारण यही था। सर्वस्व त्यागनेवाले बौद्ध भिक्षुओं द्वारा बौद्धधर्म के प्रति संसार एकदम आकृष्ट हुआ था। आर्यसमाज के प्रारम्भिक काल में त्यागी, दिन रात वैदिकधर्म की लग्नवाले कार्यकर्त्ताओं ने ही आर्यसमाज को चार चांद लगाये। उन्होंने ही आर्यसमाज की जड़ें सुदृढ़ कीं। जब हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ वा अन्य संस्थाओं में सैकड़ों की संख्या में त्यागी नवयुवक, अपने भविष्य के सब सुखों को लात मारकर, वर्षों से अपना पूरा समय प्रचार कार्य में लगा रहे हैं, वर्ष में दो-दो वा चार-चार मास का समय लगानेवालों की तो कोई गणना ही नहीं हो सकती, तो क्या कारण है जो आर्यसमाज के क्षेत्र में त्यागी कार्यकर्त्ता न निकलें। आर्यसमाज में त्यागी कार्यकर्त्ता नहीं हैं, हम इस को मानने को तय्यार नहीं। सौ समाजें सौ व्यक्तियों का भोजन वस्त्र का सब भार पांच वर्ष के लिये अपने ऊपर ले लें और हृदय से स्वागत कर उनका मान करें, मन्त्री प्रधान उनके आधीन हों, वे मन्त्री प्रधानों के आधीन नहीं, हां आचार और रुपये पैसे की व्यवस्था का अधिकार समाजों वा सभाओं को रहे। प्रत्येक समाज अपने-अपने ग्राम वा नगर में ऐसे त्यागी कार्यकर्त्ताओं का हृदय से स्वागत करें, यदि हम संन्यासी महात्माओं को विशेष रूप में अतिथि सेवा द्वारा निश्चिन्त कर दें तो आर्यसमाज का प्रचार कार्य कहां से कहां पहुंच सकता है। यह एक व्यावहारिक योजना है, यही एक मार्ग आर्यसमाज के प्रचार को व्यापक बनाने का है, केवल वैतनिक कार्यकर्त्ताओं से काम नहीं चल सकता।

यदि वैतनिक कार्यकर्त्ताओं की कठिनाइयों को दूर किया जावे, तब भी बहुत कुछ लाभ हो सकता है। पर प्रचार कार्य वैतनिक गृहस्थ कार्यकर्त्ताओं के कदापि अनुकूल नहीं पड़ सकता। वे एक ही स्थान पर रह कर पुरोहित का कार्य करें और आस-पास ५-१० मील में प्रचार करते रहें, यह तो हो सकता है। केवल रुपया कमाने के लिये वा केवल

जीविकार्थं उपदेशक वा भजनीक का काम करनेवाले व्यक्तियों को इस कार्य के लिये कदापि न स्वयं लगना चाहिये, न लगाना ही चाहिये। जीविका की दृष्टि से किया हुआ यह कार्य कदापि सफल नहीं हो सकता। जिनके हृदय में वैदिकधर्म प्रचार की गहरी भावना हो, उनको परिवार के भार से मुक्त कर इस कार्य में लगाया जावे, उनके पुत्र-पुत्रियों की पूरी शिक्षा का सब भार आर्यसमाज पर होना चाहिये, तभी वे निश्चिन्त होकर वैदिक धर्म का प्रचार कर सकेंगे, ऐसी अवस्था में जीविका के लिये कुछ लेकर कार्य करनेवाले बहुत कार्यकर्त्ता मिल सकेंगे। वेतन शब्द का प्रयोग उपदेशक के लिये कदापि नहीं होना चाहिये। ऐसे सदाचारी विद्वान् उपदेशक की आज्ञा में मन्त्री वा प्रधान चलें, उपदेशकों पर इनका शासन कदापि न रहना चाहिये। ये बातें मौलिक सुधार की हैं।

(५) अन्य संस्था और आर्यसमाज

अब टालमटोल से काम न चलेगा। हमें स्पष्ट घोषणा करनी होगी कि एक आर्यसमाजी यदि कांग्रेस-हिन्दू महासभा राष्ट्रिय स्वयंसेवक संघ वा जन-संघ में जाता है, तो उसे उन संस्थाओं की कौन-कौन सी बात कदापि न माननी चाहिये। जैसे कांग्रेस में रहकर वह अपनी संस्कृति-वेद शास्त्रों के अपमान वा आर्यसमाज के किन्हीं सिद्धान्तों के विरुद्ध अनिवार्यतः कांग्रेस के विरुद्ध वोट नहीं दे सकता, ऐसी अवस्था में उसे कांग्रेस तत्काल छोड़ देनी चाहिये। यही अवस्था उपर्युक्त सब संस्थाओं के विषय में भी है। अवसरवादियों से अब काम न चलेगा। जब चाहें कांग्रेसी बन जावें, जब चाहे हिन्दूसभाई वा संघी। क्या सोशलिस्ट आर्यसमाजी रह सकता है। यदि वह रह सकता है तो कम्युनिस्ट क्यों नहीं रह सकता, इस बात का निश्चित उत्तर भी हमें आवेश में नहीं, सोच-समझकर ही शान्तिपूर्वक देना होगा। आर्यसमाज का भूत साक्षी है कि इसका आरम्भ ही बलिदान से हुआ। इसके बलिदान की संख्या और महत्त्व महान् हैं। इसमें प्राण देनेवालों का एक भारी इतिहास है। दूसरा बलिदान जो आर्यसमाज ने दिया कि ब्रिटिश सरकार का कोपभाजन बना, विद्रोहियों की सूची में प्रत्येक आर्यसमाजी का नाम रहा, आर्यसमाज के हां से पास बी० ए० एम० ए० बागी समझ कर सरकारी नौकरियों में नहीं लिये गये। इस पर भी बृटिश सरकार से डी० वी०

कालेज ने aid (सहायता) की भिक्षा नहीं मांगी। गुरुकुल कांगड़ी-वृन्दावन आदि के स्नातकों को कोई पूछनेवाला नहीं था। स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा हंसराज, आचार्य रामदेवजी, स्वामी आत्मानन्दजी, महाशय कृष्ण, महात्मा आनन्द सरस्वतीजी, बख्शी टेकचन्द जी, पं० बुद्धदेवजी विद्यालङ्कार, पं० भगवद्दत्तजी, राजगुरु धुरेन्द्र शास्त्री, बाबू मदनमोहन सेठ, श्री घनश्याम सिंह गुप्त आदि आर्यसमाज के योग्य कार्यकर्त्ता और देश के गम्भीर विचारक, न तो कांग्रेस में ही गये, न असैम्बलियों में। जा सकते थे, पर नहीं गये। आर्यसमाज का यह त्याग वैदिकसिद्धान्तों में उसकी श्रद्धा और आस्था का परिचायक है, जिसके कारण यह समाज या इस समाज के कार्यकर्त्ता सांसारिक ख्याति वा आर्थिक लाभ को सदा ठुकराते रहे, वा उस ओर चले ही नहीं। आर्य-संस्कृति के लिये यह त्याग थोड़ा नहीं कहा जा सकता।

अतः अब आर्यसमाज को स्पष्ट मत प्रकट करना चाहिये कि कांग्रेस में जाकर उसके दोषों (भारतीय संस्कृति के विपरीत भावना) को दूर करना चाहिये, अथवा कांग्रेस से सर्वथा बाहिर ही रहना चाहिये। यह बात इस समय आवश्यक विचारणीय हो गई है।

इस बात को लटकाये रखना ही ठीक नहीं है।

इस विषय में यह बात ध्यान में रखनी होगी कि भारत का भविष्य चाहे कैसा भी हो। कांग्रेस-हिन्दू सभा-संघी-सोशलिस्ट या कम्युनिस्ट कोई भी (भाग्यवश या अभाग्यवश) बहुमत में होकर भारत का शासन चलावे, आर्यसमाज को इन सभी अवस्थाओं में इन सबकी बुराईयों से (विश्वशान्ति की भावना से) देश की रक्षा करनी होगी।

आर्यसमाज संन्यासीवत् चले ? वा ब्राह्मण क्षत्रियवत् ? यह गम्भीर समस्या इस समय जैसी आर्यसमाज के सामने है, पहिले कभी न थी। स्वतन्त्र भारत में इस विषय में अपनी एक निश्चित धारणा बनानी होगी।

उपर्युक्त सस्थाओं में से कोई भी आर्यसमाज को पनपने देना नहीं चाहता। जिस आर्यसमाज के कन्धों पर चढ़कर ये संस्थायें दूर की वस्तु देख पाती हैं, उसी आर्यसमाज को यह पीछे धक्का देना चाहती हैं, वा धत्ता बताती हैं। वास्तव में तो आर्यसमाज 'आर्यराज्य' की भावना से अनुप्राणित है, यह सुराज्य चाहता है, और स्वराज्य चाहता है, भारतीयता शून्य स्वराज्य नहीं चाहता।

(६) आर्यसमाज राजनीति में भाग ले या नहीं ?

इस विषय में जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, आर्यसमाज को एक निश्चित और स्पष्ट नीति की घोषणा करनी चाहिये। यह आर्यसमाज की शक्ति और संगठन पर निर्भर है। यदि आर्यसमाज का संगठन दृढ़ हो तब तो कोई आर्यसमाजी सीधा आर्यसमाज की ओर से खड़ा हो। यदि ऐसा नहीं हो सकता, तब असैम्बली के लिये कांग्रेस-हिन्दू सभा-जनसंघ आदि से खड़ा हो, वह शपथ ले कि वह आर्यसमाज के सिद्धान्तों वा भावना के विरुद्ध कभी वोट नहीं देगा। ऐसी अवस्था में तत्काल त्याग-पत्र दे देगा। जो ऐसी शपथ ले उसी को वोट दिया जावे, क्योंकि यदि आर्यसमाज की इतनी शक्ति नहीं, तब तो उसे किसी न किसी वर्ग के साथ मिलना ही पड़ेगा।

हमारी यह दृढ़ सम्मति है कि आर्यसमाजी व्यक्ति चुनाव में अवश्य खड़े हों, चाहे वे कहीं से भी हों। हों अवश्य। सामूहिक रूप से हों या व्यक्तिगत रूप में। यह विषय इस समय प्रजातन्त्र राज्य हो जाने से बहुत ही गम्भीर बन गया है। आर्यसमाज को भी इस विषय में अत्यन्त गम्भीरता से ही काम लेना होगा।

यहां पर यह भी ध्यान रखने की बात है कि आर्यसमाज के सामने ऐसी भी स्थिति आ सकती है, जब उसको साम्प्रदायिक घोषित कर बृटिश राज्य से भी कहीं अधिक, उसके कार्य में बाधा उपस्थित की जा सकती है। यह सब साम्प्रदायिकता के नाम पर हो सकता है। क्योंकि आर्यसमाज से इन सबका अधिकरण तो मिलता नहीं, शक्तिशाली समाज इसे सब समझते हैं। सभी इससे अपना-अपना स्वार्थ तो सिद्ध करना चाहते हैं, पर बात इसकी मानना नहीं चाहते। विचित्र समस्या है, जिसे आर्यसमाज ने हल करना है।

(७) आर्यसंस्कृति वा भारतीयसंस्कृति की रक्षा

आर्यसंस्कृति वा भारतीयसंस्कृति को समूल नष्ट कर, दो पृथक्-पृथक् संस्कृतियों को सदा के लिये बनाये रखने की नीति की विजय भारत-विभाजन हो जाने पर भी सामने आ रही है। जिनके हृदय में भारतीय संस्कृति के प्रति यत्किञ्चित् भी प्रेम वा सद्भावना नहीं, उन की ही प्रधानता राज्य में हो जाने से देश की कायापलट होकर कम्यु-

निज्म वा सोशलिज्म के लिये भूमि तय्यार की जा रही है। जब भारतीय संस्कृति से प्रेम रखनेवाले सच्चे कांग्रेसियों को भी साम्प्रदायिक कह कर हटाया जा सकता है, तो आर्यसमाज को जब चाहें साम्प्रदायिक कह कर हटाया जा सकता है, इसकी प्रत्येक क्रिया वा चेष्टा को बन्द किया जा सकता है। अमुक नहीं मानता या अमुक त्यागपत्र दे देगा, यही शस्त्र सब जगह चल सकता है। आर्यसमाज को इससे पूर्ण सावधान रहने की आवश्यता है। ऐसा भी समय आ सकता है, जब वर्त्तमान कांग्रेस गवर्नमैण्ट आर्यसमाज के प्रचार को ही साम्प्रदायिक कह कर रोक दे। यहां तक हो सकता है कि जो सुविधायें अङ्ग्रेजी राज्य में आर्यसमाज को प्राप्त थीं, इतनी भी सुविधायें इस कांग्रेस के राज्य में न रहें। अतः भारतीय संस्कृति की रक्षा की भावना को आर्यसमाज को सदा अपने समक्ष रखना होगा। जो भी इसके विपरीत हो, आर्यसमाज उसे कदापि वोट न दे।

(८) हिन्दू कोडबिल और आर्यसमाज

हिन्दू कोडबिल पर आर्यसमाज ने कोई स्पष्ट घोषणा नहीं की। अब तो यह विचारार्थ उपस्थित भी हो रहा है। मेरे विचार में इस विषय में अवश्य ही निश्चित घोषणा करनी चाहिये। आर्यसमाज को इस कोडबिल की एक-एक धारा को लेकर एक-एक पर अपनी धारणा घोषित करनी चाहिये थी, अब भी करनी चाहिये। जितना अंश ग्राह्य हो, उस पर ग्राह्यता की मोहर लगावें। यदि उसमें कुछ और परिवर्तन वा परिवर्धन की आवश्यकता हो, तो भी एक वार इस विषय में निश्चितरूप निर्धारित कर उसकी घोषणा करनी उचित है, घसड़-पसड़ ठीक नहीं।

(९) भ्रष्टाचार और आर्यसमाज

भ्रष्टाचार देश में इतना व्यापक हो रहा है कि आज तक के इतिहास में कभी नहीं रहा। इतना ही नहीं, किसी भी देश में रहा हो, इसका प्रमाण भी नहीं मिलता। घोर नैतिक पतन का यह द्योतक है, इसके विरुद्ध घोर संग्राम करने के लिये आर्यसमाज को कटिवद्ध होना चाहिये। इसका प्रारम्भ यहीं से हो कि जो भी इसका दोषी हो, वह आर्यसमाज से पृथक् हो जावे वा आर्यसमाज की सभासदी से पृथक् कर दिया जावे।

यह स्पष्ट घोषणा कर देनी चाहिये, निर्णय आर्यसमाज की न्यायसभा द्वारा हो। यदि एक आर्यपुरुष न तो घूस ले न ब्लैक करे तो समझना चाहिये कि आर्यसमाज सफल है। सदाचार का यह बड़ा भारी मापदण्ड है। यदि यह कार्य आर्यसमाज द्वारा होगा, आर्यसमाज महान् गौरव को प्राप्त हो सकता है। यह अत्यन्त ही त्याग का काम है, पर असम्भव है, सो बात नहीं।

(१०) पञ्चमकालम और आर्यसमाज

देश की वर्तमान परिस्थिति में दो भिन्न-भिन्न संस्कृतियां (जो वास्तव में एक ही भारतीय संस्कृति के दो विकृत अङ्ग हैं और ब्रिटिश राज्य की उपज हैं), जैसा कि सम्प्रति प्रतीत होता है, अभी पर्याप्त काल तक चलेंगीं, ऐसी अवस्था में प्रत्येक आर्यसमाज तथा आर्यपुरुष का कर्तव्य है कि वह अपने नगर, ग्राम, व्यवसाय वा विभाग में भारत के शत्रुओं, मुंह में राम बगल में छुरी, भारत को अपना न समझनेवालों, वा रेलों आदि की गड़बड़ी पैदा कर अपनी पार्टी का आतङ्क जमानेवालों का पूरा-पूरा पता अवश्य रखें। और अपनी समाजों में ऐसे व्यक्तियों की प्रत्येक चेष्टा वा कार्यवाहियों का पूरा विवरण रहे, जो विश्वस्त सूत्र से विश्वस्त राजपुरुषों (गवर्नमेण्ट आफीसर वा मिनिस्टर) तक बराबर पहुंचाना परमावश्यक है। यह काम विना किसी लोभ, राग-द्वेष वा साम्प्रदायिक भावना से सर्वथा रहित, केवल पुण्यभूमि भारत की सेवा की भावना से ही हो। इसमें असत्यता या पक्षपात का लेश भी न हो। यह कार्य अत्यन्त गम्भीरता से करने का है।

(११) विशाल भारत की योजना

विशाल भारत की योजना में आर्यसमाज अपने कर्तव्य का निर्धारण करे। इसे विछुड़े भाइयों को मिलाने वा धर्म का द्वार सब के लिये खुले रखने की भावना—(जबरस्ती नहीं, अपितु अति प्रेम से) असाम्प्रदायिक दृष्टि से सफल बनाने का पूरा प्रयत्न करना होगा। यह कार्य बहुत ही ऊंचे आदर्श पर करना चाहिये।

(१२) पौराणिक, ईसाई, मुसलमान आदि मतों के विषय में शास्त्रार्थ खण्डन प्रचार की एक धारणा (भारत स्वतन्त्र हो जाने से बदली हुई परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर) बनानी होगी।

(१३) जो कार्य हिन्दू जनता, पौराणिक भाई वा अन्य हिन्दू भी कर सकते हैं, जैसे अकाल, बाढ़, भूकम्प, पीड़ितों की सेवा, विधवा-विवाह, हिन्दी का प्रचार, अछूतोद्धार आदि, इनमें आर्यसमाज अब अपना समय न लगाकर अन्य आवश्यक कार्यों को करे। इस पर भी आर्यसमाज को इस समय विचार करना चाहिये।

समस्त भारतवर्ष में आर्यसमाज की एक नीति होनी चाहिये। विशेष परिस्थिति में विशेष का निश्चय भी पूर्व निर्धारित रहना चाहिये।

(१४) सिख और आर्यसमाज

पञ्जाब में सिखों को समीप लाने की कोई गम्भीर और गहरी योजना आर्यसमाज को बनानी चाहिये। संस्कृत विशेषकर गीता, उपनिषद्, वेद से यह समुदाय सदा अछूता रहा, इसका अब हमें कोई न कोई उपाय अवश्य ही करना होगा। इस विषय में गम्भीरता-प्रेमपूर्वक व्यवहार-सद्भावना की परमावश्यकता है। गुरुमुखी में भी एक साप्ताहिक निकाला जावे, कुछ पुस्तकें भी गुरुमुखी में छापी जावें, जिनमें गुरुओं की भारतीय-संस्कृति तथा शास्त्रों में धारणाविषयक लेख हों। ऐसी पुस्तकें भेंट में भी दी जावें।

(१५) सिनेमा-रेडियो आदि का प्रयोग

आर्यसमाज जहां जनता में शुद्ध विचार और धर्म भावना का प्रचार करता है, वहां यह भी अब सोचना होगा कि प्रचार के साथ-साथ, नहीं नहीं कहीं अधिक मात्रा में, विपरीत विचारों का घोर प्रचार प्रतिदिन हर समय और सर्वत्र शहरों और नगरों में बराबर बढ़ता जा रहा है। इसके रोकने के लिये भी हमें कुछ न कुछ अब सोचना ही पड़ेगा। अब तो पानी सिर से ऊपर फिर रहा है।

आर्यसमाज को यह निर्धारित करना चाहिये कि पुत्र पुत्रियों के सामने रेडियो के गन्दे गाने परिवारों में कभी नहीं सुनाये जाने चाहिये, गन्दे गाने तो पास पड़ोस के बच्चों की दृष्टि से भी नहीं गाये जाने चाहिये।

सिनेमाओं में विवाहित स्त्री पुरुष को छोड़कर घर का कोई पुत्र वा पुत्री नहीं जावे। इसकी शपथ यज्ञ करके सब परिवारों में करनी

चाहिये। गन्दे चित्र वा उपन्यासों को बच्चे-बच्चियां पढ़ने न पावें। परिवारों में रखना ही नहीं चाहिये। गन्दे तवे नहीं लगाने चाहिये।

आर्यसमाज ही वर्त्तमान में इस गन्दे प्रचार को रोक सकता है, यदि हृदय से यत्न करे। यदि यह असम्भव है तो आर्यसमाज का प्रचार भी नहीं हो सकता। गुरुकुलों में भी रेडियो; भला कुछ ठिकाना है। यह अनर्थ नहीं तो क्या है? आर्ट के नाम पर किये गए इस अनर्थकारी प्रचार को रोकना होगा।

साथ ही स्त्री जाति में जहां परदा नहीं चाहिये, वहां बेपरदगी अर्थात् फैशन का प्रदर्शन भी हमारी माता बहिनें न करें, इस पर भी आर्यसमाज को एक व्यवस्था देनी चाहिये। आर्यसमाजों की मुख्य सभा की ओर से आज्ञायें भेजी जानी चाहिये। इस विषय पर भी गम्भीर विचार की आवश्यकता है।

इत्यादि विषयों पर इस आर्यमहासम्मेलन में धारणा निश्चित की जावें, तो बहुत लाभ हो सकता है। ये हमने आर्यसम्मेलन सम्बन्धी अपने विचार लिखे। अब हम अन्य सम्मेलनों के विषय में भी विचार उपस्थित करते हैं।

अन्य सम्मेलन

शिक्षा-सम्मेलन

शिक्षा के विषय में आर्यसमाज के सामने अत्यन्त गम्भीर प्रश्न उपस्थित है। शिक्षा ही जातियों व देशों के भविष्य का निर्माण करती है। जैसी शिक्षा होगी वैसा ही देश बनेगा, यह निश्चित है। विदेशी अर्थात् ब्रिटिश गवर्नमेण्ट द्वारा भारतीयता के नाश के उद्देश्य से प्रचारित की हुई लगभग डेढ़ सौ व दो सौ वर्ष की शिक्षा का ही फल है कि देश में एक बड़ा भारी वर्ग भारतीयसंस्कृति, सभ्यता और साहित्य का शत्रु (विघातक) उत्पन्न हो गया है, जो भारतीय होते हुए भी अभारतीय है। इस बात को प्रत्येक आर्य पुरुष अनुभव कर रहा है, भले ही वह स्वयं उस विदेशी शिक्षा-दीक्षा की ही उपज व उसका ही अपने जीवनभर प्रचार करता रहा हो। भारतीयसंस्कृति के नाश की इस अवस्था को वह भी अवश्य ही अनुभव करता है।

यह ठीक है कि हमें इस बात का गौरव है कि हमारे दो महान् नेताओं (श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज व महात्मा हंसराज जी) ने

ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की नींव को हिलाने के उद्देश्य से गुरुकुल कांगड़ी तथा डी० ए० वी० कालेज की स्थापना की। हमें इस बात का भी गौरव है कि हमारी इन दोनों संस्थाओं में पढ़े हुए छात्रों को अंग्रेजी सरकार ने बहुत समय तक विद्रोहियों की ही सूची में रखा। कांगड़ी गुरुकुल में अंग्रेज दर्शक छिप-छिपकर रात्रि को उठ-उठ कर देखते थे कि यहां क्या हो रहा है। इसका कारण यह था कि वे गुरुकुल को भारतविद्रोह का केन्द्र समझते थे। हिन्दी के प्रचार में संयुक्त प्रान्त में चाहे इतना न हो, पर पंजाब में तो सारा श्रेय आर्यसमाज की संस्थाओं को ही है। भावी इतिहास आर्यसमाज के इस महान् गौरवपूर्ण कार्य को भुला नहीं सकेगा।

गुरुकुल कांगड़ी, वृन्दावन तथा महाविद्यालय ज्वालापुर आदि का यह महान् कार्य (राज्य की यत्किञ्चित् सहायता के विना और यूनिवर्सिटियों से सर्वथा पृथक् रह कर, इतना महान् शिक्षा केन्द्र बन जाना) आर्यसमाज के महान् गौरव का ही परिचायक हो सकता है। मैं तो गुरुकुल कांगड़ी, गुरुकुल वृन्दावन तथा महाविद्यालय ज्वालापुर तथा कन्या महाविद्यालय जालन्धर, कन्या गुरुकुल देहरादून तथा कन्या गुरुकुल हाथरस आदि के उन स्नातक तथा स्नातिकाओं के, अपितु उनके माता-पिताओं के, अपूर्व त्याग को भारत के लिए एक अपूर्व देन समझता हूं। जिन्होंने अपने पुत्र-पुत्रियों के भविष्य की कुछ भी चिन्ता न करते हुए, उन्हें अपनी प्रिय वैदिक संस्कृति सभ्यता और साहित्य की भेंट चढ़ा दिया। चाहे उसका वह रूप न बन पाया हो, जिसके उद्देश्य से यह पवित्र कार्य आरंभ किया गया था, परन्तु आर्यसमाज ने इस विषय में महान् कार्य किया, यह प्रत्येक भारतवासी को मानना पड़ेगा। आर्यसमाज के कार्य का यह प्रकाशमय पक्ष है। वर्तमान भारत के निर्माण में आर्यसमाज का विशेष भाग है, यह सभी को स्वीकार करना होगा।

यह सब होते हुए भी चित्र का दूसरा पट भी हमें देखना होगा। यदि बारात (वर यात्रा) तो बड़ी लम्बी-चौड़ी हो, पर उसमें से दूल्हा (वर) ही लुप्त हो तो उस बारात का क्या मूल्य रह जाता है, यह सहज ही समझा जा सकता है। सिवाय कुछ मनुष्यों के समूह (झुण्ड) के वह क्या कहलायगा। इसी प्रकार सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रंथों में ऋषि दयानन्द प्रदर्शित आर्षपाठविधि का आर्यसमाज की मुख्य संस्थाओं गुरुकुल आदि में लोप होना कहां तक उचित व श्रेयस्कर हो सकता है। स्कूल,

कालेज, चाहे वे पुत्रों के हों चाहे पुत्रियों के, इस दृष्टि से वे तो किसी गिनती में ही आने योग्य नहीं।

वेद, वेदांग-उपांग आदि आर्ष ग्रंथों से क्या हमारी संस्थायें दूर नहीं हैं ? नाममात्र कुछ पुस्तकें रखकर क्या जनता को धोखा नहीं दिया जा रहा है ? मैं तो कहता हूं आर्यसमाज के दुर्भाग्य का वह प्रथम दिन था, जब ऋषि के निर्वाण के पश्चात् केसरगंज अजमेर में दयानन्द आश्रम की स्थापना हुई और उसमें दयानन्द कालेज की स्थापना का निश्चय किया गया। क्या 'दयानन्द एंग्लो वैदिक' नाम ही दयानन्द का अपमान नहीं ? दयानन्द और एंग्लो का क्या सम्बन्ध ? काशी के बड़े-बड़े विद्वानों का कहना है कि आर्यसमाज ने भी स्वामी दयानन्द के नाम पर सबसे अधिक कालेज स्कूल ही तो खोले।

क्या ऋषि की पाठविधि पौराणिक चलावेंगे, ईसाई या मुसलमान ? यदि आर्यसमाज इसे ठीक नहीं समझता, तो क्यों नहीं इसकी सीधी घोषणा कर देता ? आर्यजनता को तथ्य का बोध तो हो जावे। दयानन्द की पाठविधि का नाम लेकर पढ़ाते हैं सिद्धान्तकौमुदी, गन्दे काव्य और अंग्रेजी। भला यह कहां की सत्यता है ? आर्यसमाज की गाढ़े पसीने की कमाई को क्या ऋषि दयानन्द की भावना के विपरीत नहीं लगाया जा रहा है।

फिर क्या हो ?

क्या ये सब संस्थाएं बन्द कर दी जायें ? नहीं, कदापि नहीं। इनमें सुधार होना चाहिये। वह क्या ? सो देखिये—

(१) ऋषि दयानन्द की पाठविधि को मुख्यता देकर आर्यसमाज या तो गुरुकुल काङ्गड़ी और वृन्दावन में ऋषि दयानन्द प्रदर्शित पाठविधि को तत्काल आरंभ कर दे और घोषणा कर दे कि हमारी इन संस्थाओं में यही पाठविधि चलेगी। यदि इन संस्थाओं का मोह नहीं छूट सकता हो, तो एक पृथक् संस्था आर्षपाठविधि की चलाई जावे। जिसमें दान द्वारा प्राप्त सब धन उसी में व्यय किया जावे। बी० ए० एम० ए० की डिग्रियों के लोभ में ग्रसित अपने घर से मंगाकर ही व्यय करें। उन पर दान के धन में से एक पैसा भी खर्च नहीं होना चाहिए।

(२) ऐसी अवस्था में हमारे वर्त्तमान गुरुकुल, स्कूल और कालेजों

का स्थान ले लेवें अर्थात् इनमें नियमानुसार शुल्क और पूरा व्यय लिया जाये और छात्र-छात्राओं को पूरी सुविधाएं दी जायें। राज्य की सहायता से शेष पूर्त्ति की जाये। इनमें भी ऋषि दयानन्द प्रदर्शित आर्षपाठ-विधि की प्रधानता रहे अर्थात् कम से कम दस वर्ष तक शिक्षा आर्षपाठ-विधि से हो। आगे जिस विषय में छात्र के जाने की इच्छा हो, जावे। इस प्रकार आर्यसमाज भारत सरकार के सामने सर्वसाधारण की शिक्षा का आदर्श रख सकता है। हमारे यहां के शिक्षित छात्र आचार, रहन-सहन तथा योग्यता में दूसरे कालेजों से अधिक अच्छे होंगे, तो देश हमारे इस क्रम को ही अङ्गीकार करेगा।

(३) अब रहे वर्त्तमान कालेज और स्कूल, देखिए—यू० पी० सरकार ने काशी की प्रथमा को आठवीं श्रेणी के बराबर मान लिया है, पूर्वमध्यमा को मैट्रिक के बराबर, उत्तरमध्यमा को एफ ए० (इण्टर मीजिएट) के बराबर, शास्त्री को बी. ए. के बराबर और आचार्य को एम० ए० के बराबर। यही बात अन्य प्रान्तों में भी थोड़े से प्रयत्न से ही स्वीकार कराई जा सकती है। इसमें दस-बीस हजार रुपए की बिल्डिंग बनाने व पचास हजार व एक लाख रुपए जमानत (सिक्युरिटी) पहले ही जमा कराने का प्रश्न भी नहीं है। यदि वर्तमान इन सब मिडिल स्कूलों, हाई स्कूलों और कालेजों में संस्कृत को मुख्यता दे दी जावे, अर्थात् आठवीं श्रेणीवालों को काशी का पाठचक्रम मुख्यता से पढ़ाया जावे और मैट्रिक तथा एफ. ए. को संस्कृतमध्यमा का पाठचक्रम मुख्यतः पढ़ाया जावे, तो प्रथमा और मध्यमा में साथ-साथ में साहित्य हिन्दी, इतिहास, भूगोल, सामान्य व प्रकृति विज्ञान-अर्थशास्त्र-गणित, इंग्लिश, धर्म और नैतिकता आदि विषयों का पाठचक्रम भी है, जो १९५० से रख दिया गया है, सो क्यों न अब उन मिडिल स्कूल, हाई स्कूल तथा कालेजों को केवल अंग्रेजी आदि की शिक्षा के केन्द्र न बनाकर, उनमें संस्कृत की प्रधानता कर दी जावे? दूसरे शब्दों में एकदम सारा चक्र ही बदल दिया जावे, अर्थात् इन वर्त्तमान स्कूल और कालेजों का ढंग ही बदल दिया जावे। साथ-साथ संस्कृत अत्यन्त सुगम और सुबोध बनाने का उपक्रम भी अत्यन्त परिश्रम और उत्साह से करना होगा, जिस से समस्त भारत के बालक और बालिकाओं के मुख से संस्कृत की धारा बहने लगे और संस्कृत सर्वसाधारण की भाषा बन जाये (जो कुछ भी कठिन नहीं है), हमें उस समय तक परिश्रम करना पड़ेगा। भारत तभी

स्वतन्त्र भारत कहा जायगा और अङ्गरेजों के चले जाने पर उनकी छोड़ी अङ्गरेजियत, जो भारत में अपना पैर अभी तक जमाये हुये है, उसके पैर उखाड़ने का यही एक उत्तम उपाय है।

संचालकों के विचार से तो काशी के पाठ्यक्रम में यथेष्ट संशोधन हो जावे, तो गुरुकुल इसी पाठ्यक्रम को अङ्गीकार कर सकते हैं। क्योंकि उनका तो क्रम इस समय ऐसा चल ही रहा है। केवल Residential System (छात्रावास निवास) का भेद ही वर्त्तमान स्कूल और कालेजों से रहेगा। जो इस समय भी लगभग इतना ही है।

यदि ऐसा न हो !

यदि उपर्युक्त रीति से यह सब नहीं हो सकता हो तो आर्यसमाज में इस समय शिक्षा के विषय में चार प्रकार की विचारधारायें चल रही हैं, अथवा चार प्रकार की संस्थायें कार्य कर रही हैं—

(१) ऋषि दयानन्द प्रदर्शित आर्षपाठविधि की संस्थायें।

(२) गुरुकुल कांगड़ी और वृन्दावन तथा तत् समान संस्थायें।

(३) महाविद्यालय ज्वालापुर तथा तत् समान अन्य संस्थायें।

(४) डी० ए० वी० कालेज-डी० ए० वी० हाई स्कूल तथा रत्न-भूषण प्रभाकर-साहित्यरत्न आदि की परीक्षायें दिलानेवाली संस्थायें। पुत्र वा पुत्रियों की ये संस्थायें इन्हीं वर्गों के अन्तर्गत आ जाती हैं। अब इनमें—

(१) ऋषिदयानन्द प्रदर्शित आर्ष पाठविधि की संस्थाओं में ही आर्य जनता का दान लगना चाहिये। आर्य सार्वदेशिक सभा तथा आर्य प्रति-निधि सभाओं की ओर से एक-एक प्रान्त में ऋषि दयानन्द प्रदर्शित आर्ष पाठविधि की एक-एक संस्था अवश्य होनी चाहिये। जिन में आर्य समाज वा वैदिकधर्म की सेवा की भावना को लेकर आनेवाले छात्रों को ही प्रविष्ट किया जावे या उन माता-पिता के पुत्रों को ही लिया जावे, जो आर्यसमाज की सेवा में ही अपने पुत्रों को अर्पण कर दें। उनकी सब व्यवस्था ये संस्थायें ही करें। इनमें भी एक संस्था मुख्य रहे। छोटी वा प्रांतीय संस्थायें अपने हां जहां तक आर्षपाठविधि का प्रबन्ध कर सकें, करें, इसके पश्चात् केन्द्रीय मुख्य संस्था में छात्र आर्षपाठविधि का अध्ययन पूर्ण कर सकें।

(२) गुरुकुल कांगड़ी और वृन्दावन एक हो जावें, अर्थात् कुछ विभाग वृन्दावन में रहें, कुछ कांगड़ी में। दोनों का सम्बन्ध आर्य सार्वदेशिक सभा से रहे। प्रमाणपत्र उक्त सभा की ओर से अपने-अपने आचार्यों द्वारा दिये जावें। शेष इस ढङ्ग से चलनेवाले सब गुरुकुल इन के साथ सम्बद्ध रहें। दोनों का अध्यापकों का व्यय बहुत कम हो सकता है। यदि दो विश्वविद्यालय सरकार द्वारा मान लिये जावें, तब भी ठीक है, व्यय अधिक होगा।

दोनों में सरकार की ओर से पूरी सहायता ली जावे। जो कमी रहे, वह सरकार की ओर से पूरी होनी चाहिये। जनता का धन इसमें कुछ नहीं लगाना चाहिये। जितनी आय हो, उतना ही व्यय रखा जावे। ये सब सशुल्क रहेंगे। जितना व्यय हो, माता-पिता देंगे। जैसा हमने ऊपर कहा, ये (Residential) छात्रावास रूप में होंगे। छात्र पढ़ेंगे और वहीं रहेंगे भी। इन में आर्षपाठविधि का अधिक से अधिक प्रवेश किया जावे, जहां तक सम्भव हो। ऋषिदयानन्दकृत वेदभाष्य इनमें अनिवार्यतया पढ़ाया जावे। अन्य आर्ष ग्रन्थ भी यथासम्भव अवश्य पढ़ाये जावें।

यदि गुरुकुल वृन्दावन और गुरुकुल कांगड़ी अपने हां गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज बनारस की परीक्षाएं (यथेष्ट संशोधन होने के पश्चात्) चलावें, तो वह भी चलाई जा सकती हैं। उसमें अपने विषय और जोड़े जा सकते हैं। यदि काशी का पाठ्यक्रम ग्राह्य न बन सके, तो अपना एक पृथक् पाठ्यक्रम बनालें और महाविद्यालय ज्वालापुर को भी साथ-साथ इसमें लेलें। यदि ऐसा हो जावे तब तो ये तीनों एक कोटि में आ सकते हैं। अर्थात् ये तीनों या तो अनुकूल होने पर काशी का पाठ्यक्रम अपना लें, अथवा तीनों ही मिलकर एक नया पाठ्यक्रम अपनालें। ये तीनों ही आर्य सार्वदेशिक सभा के सञ्चालन में हों। दूसरे शब्दों में यदि काशी का पाठ्यक्रम ठीक न बैठे, तो आर्य सार्वदेशिक सभा ही 'दयानन्द विश्वविद्यालय' के नाम से नये विश्वविद्यालय की स्थापना करे, जिसमें आर्षपाठविधि के विद्यालयों का पाठ्यक्रम भी स्वीकृत रहे। ऋषि दयानन्द कृत ग्रन्थ सभी संस्थाओं में (चाहे वे पुत्रियों की हों या पुत्रों की) अनिवार्यतया पढ़ाये जावें। मैं समझता हूं आर्यसमाज की शिक्षा-समस्या का यह एक बहुत अच्छा हल हो सकता है।

पृथक् विश्वविद्यालय की स्थापना तभी की जावे, जब भारतसरकार हमारी संस्थाओं के छात्रों को अन्य यूनिवर्सिटियों के बराबर मान्यता दे, हमारी संस्थाओं गुरुकुल आदि को हमारी पाठविधि वा नियम व्यवस्था मानकर सरकार सहायता दे, तभी हमें सहायता लेनी चाहिये। प्रान्तीय सरकारों वा भारत सरकार के पाठ्यक्रम वा नियमों को मान कर आर्यसमाज की कोई संस्था, चाहे वह पुत्रों की हो या पुत्रियों की, सरकार से कदापि सहायता न ले।

(३) **महाविद्यालय ज्वालापुर**—हमारी तो यह दृढ़ सम्मति है कि यदि स्वर्गीय महात्यागी स्वामी दर्शनानन्द जी महाराज की पुण्य स्मृति वा भावना को ध्यान में रखा जावे (जो रखना परम कर्तव्य है), तो महाविद्यालय ज्वालापुर को ऋषि दयानन्द प्रदर्शित आर्षपाठविधि की एक प्रमुख संस्था (उसके वर्तमान सञ्चालकों द्वारा) बना देना चाहिये। उस का सञ्चालन (बाह्य) आर्य सार्वदेशिक सभा का हो, आचार्य को उसके आन्तरिक सञ्चालन का पूरा अधिकार रहे।

यदि यह नहीं हो सकता तो महाविद्यालय ज्वालापुर वृन्दावन और कांगड़ी के साथ एक ही मार्ग पकड़े, क्योंकि जब गवर्नमेण्ट संस्कृतकालेज बनारस की परीक्षाएं दिलानेवाली हरिद्वार और कनखल में अनेक संस्थाएं हैं ही, तब इसकी पृथक् आवश्यकता क्या रह जाती है। आर्ष पाठविधि का मार्ग इस संस्था को पकड़ना ही इस के सारे भूतकाल तथा इसके उज्ज्वल भविष्य के लिये परमावश्यक है, यही हमारा विचार है। यह संस्था यदि वेद-वेदाङ्ग-उपाङ्ग आदि सभी विषयों के व्यापक ज्ञान द्वारा (जो आर्षपाठविधि से हो सकता है) विद्वान् बनाने का मार्ग अपना ले और साथ-साथ जीवनसम्बन्धी अन्य आवश्यक विषयों को भी कराने का ढङ्ग ग्रहण करे, तो इसके द्वारा आर्यसमाज तथा देश का महान् कल्याण हो सकता है।

(४) **अब रही कालेज और स्कूलों की बात**—वर्तमान पाठ्यक्रम को लेकर तो इन के चलाने की आर्यसमाज को कुछ भी आवश्यकता नहीं। या तो जैसा ऊपर कहा, दयानन्द विश्वविद्यालय इन कालेज और स्कूलों का पाठ्यक्रम ही अपने ढङ्ग से (यूनिवर्सिटी से सर्वथा स्वतन्त्र) बनावे, अर्थात् आर्यसमाज की दृष्टि से बनावे। या हमारे कालेज और स्कूलों के हमारे पाठ्यक्रम (जो आर्य सार्वदेशिक सभा द्वारा निर्धारित

हो) को यूनिवर्सिटियां वा प्रान्तीय सरकार वा भारत सरकार स्वीकार कर लें, तभी यूनिवर्सिटियों के साथ हमारी संस्थायें सम्बद्ध हों। यदि काशी की प्रथमा-मध्यमा-शास्त्री का संशोधित पाठ्यक्रम ये स्कूल और कालेज अपना लें, तव तो कहना ही क्या। नहीं तो फिर इन में संस्कृत तथा आर्षग्रन्थों की प्रधानता तो अवश्य रखी जावे। जब ये स्कूल और कालेज आर्यसार्वदेशिक सभा के आधीन होंगे, तो देश की शिक्षासंस्थाओं का एक बड़ा भाग संगठित हो जायगा। इधर गुरुकुल संगठन में हो जायेंगे। आर्षपाठविधि की संस्थायें संगठित हो जायेंगी। तब भारत सरकार को आर्यसमाज के संगठन के सामने झुकना पड़ेगा। शिक्षासम्बन्धी जो राजकीय सहायता शिक्षा संस्थाओं वा प्रान्तीय वा केन्द्रीय सरकार की ओर से दी जाती है, उससे आर्यसमाज की संस्थाओं को कुछ न मिले, यह कदापि न हो सकेगा अथवा अधिकारी इस में मनमानी करें, यह नहीं हो सकेगा। दृढ़ संगठन हो, तभी यह हो सकता है।

पाठ्यक्रम हमारा हो और सहायता हमें सबके बराबर मिले, यह हमारा मूल मन्त्र होना चाहिए। यदि हमारी संस्थाओं पर बेगम सीता और मौलाना व्यास पढ़ाना ठौंसा जावे, तो हमें सरकार की इस प्रकार की कोई भी अनुचित बात कदापि नहीं माननी चाहिए। हमारी जो संस्था इस सिद्धान्त से विचलित हो जावे, उसके प्रति हमें घृणा के प्रस्ताव पास कर उसे अपने संगठन से पृथक् कर देना चाहिए। पुत्रियों की संस्थाओं के विषय में यह बात और भी परमावश्यक है। हमारी संस्थाओं में आर्य सार्वदेशिक सभा द्वारा स्वीकृत पाठ्यपुस्तकें स्वयं तय्यार कराकर नियत की जानी चाहिए। डी० ए० वी० कालेज मैनेजिङ्ग कमेटी आदि सब आर्य सार्वदेशिक सभा की तत् तत् संस्था की प्रबन्धसमितियां रहें। प्रबन्ध का सब अधिकार उन्हें रहे, नीति आर्य सार्वदेशिक सभा की चले। जब भारत की सभी रियासतें सैकड़ों की संख्या में विलीन होकर एक में आ सकती हैं और रक्षा यातायात और विदेशनीति केन्द्र की सब ने मान ली, शेष बातों में वे स्वतन्त्र हैं, तो आर्यसमाज की मुट्ठी भर संस्थायें क्या एक संगठन में नहीं आ सकतीं। देशी राज्यों के सिद्धान्त पर हमारा भी एक केन्द्रीय संगठन अवश्य हो सकता है। ऐसी अवस्था में ५ वर्ष सर्वसम्मति से सब कार्य का ढंग बनाना होगा, सफलता तभी होगी।

भविष्य का महान् गम्भीर विचारणीय विषय

यहां यह भी निर्देश कर देना अनुचित न होगा कि देश में भिन्न-भिन्न विचारधाराओं को देखते हुए हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह सैक्यूलर सरकार भविष्य में साम्प्रदायिकता का नाम लेकर सभी प्रकार की धार्मिक शिक्षाओं को बन्द करने का कानून बनायेगी। अर्थात् सभी धार्मिक संस्थाओं को कानून द्वारा बन्द करके स्वयं कोई पाठचक्रम बनायेगी, जिस में या तो धार्मिकता का लेश भी नहीं होगा, यदि होगा तो ऊटपटांग ही होगा। इसी चक्र में आर्यसमाज की सार्वभौमिक-सार्वजनिक भावना, धार्मिक शिक्षा आदि को भी साम्प्रदायिकता का नाम देकर बन्द करने की चेष्टा की जायगी। वह समय आर्यसमाज की परीक्षा का होगा। ऐसी अवस्था में आर्यसमाज को स्पष्ट घोषणा करनी चाहिये कि वैदिक धर्म वा आर्य धर्म में कोई ऐसी बात नहीं, जो किसी को स्वीकार न हो। जो बातें सब को सर्वदा मान्य हैं, वही धर्म है। इसी प्रकार आर्यसमाज की धार्मिक शिक्षा का स्वरूप भी यही है, यह हमें दर्शाना होगा। सर्वतन्त्र सिद्धान्तों को ही आर्यसमाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द ने धर्म माना है। हमें अपना यह सार्वभौमिक स्वरूप वा पक्ष सत्यतापूर्वक सब के सामने रखना होगा।

काशी में एक महाविद्यालय की आवश्यकता

आर्षग्रन्थों के प्रचार वा गम्भीर पाण्डित्य की दृष्टि से आर्यसमाज को काशी में एक महान् विद्यालय की स्थापना करनी परमावश्यक है। ऐसा करने से आर्यसमाज समस्त भारत में प्राचीन वैदिक साहित्य सभ्यता और संस्कृति का प्रचार बहुत ही व्यापक रूप में कर सकेगा। जिस से वर्त्तमान विकृत भारत उसी प्राचीन-विशुद्ध-उदारता पूर्ण, सङ्कीर्णता रहित संस्कृति का अनुगामी होगा, जैसा कि ऋषियों के काल में था। भारत की कायापलट करना हो, तो पहिले काशी की काया पलट करना अनिवार्य है। यवनकाल में सेनाओं वा आक्रमणों द्वारा भारत की कायापलट नहीं हुई, पर बृटिश राज्य ने शिक्षाक्रम बदलकर भारत की कायापलट कर दी, तभी अंगरेज़ चले जाने पर भी अंगरेजियत भारत में अपनी जड़ बहुत दूर तक दृढ़ किये है। निश्चय ही इस का उपाय आर्षपाठविधि का विस्तार और प्रचार है। जो काशी की कायापलट होने पर बहुत शीघ्र हो सकता है। काशी में प्राचीन शिक्षा-

प्रणाली का क्षेत्र बहुत ही उत्तम स्थिति में विद्यमान है, उसका प्रवाह शुद्ध प्राचीन की ओर करने से यह कार्य बहुत उत्तम रीति से हो सकता है। आर्षपाठ-विधि का जितना अधिक प्रचार होगा, उतना ही अधिक भारत का उत्थान होगा।

आर्यसमाज को यह बात गम्भीरता से सोचनी होगी। इस महा विद्यालय को आगे चलकर अन्तर्राष्ट्रीय (International) रूप देना होगा। सार्वजनिक और सार्वभौमिक बनाना होगा। जैन-बौद्ध आदि साहित्य के अध्ययन का भी इसमें पूरा प्रबन्ध रखना होगा। तभी चीन-जापान तथा आस्ट्रेलिया तक के एशिया के सब द्वीपों में पुनः भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विस्तार हो सकता है, जो करना भारत का परम कर्त्तव्य है। समस्त भूमण्डल से लोग शान्ति की प्राप्ति तथा संस्कृत साहित्य के अध्ययनार्थं यहां आवें। इस समय जब कि उत्तरप्रदेश सरकार काशी में संस्कृत यूनिवर्सिटी का बिल उपस्थित कर रही है, काशी में ऐसे महाविद्यालय की स्थापना परमावश्यक हो जाती है। आर्यसमाज की विदेशों में प्रचार की योजना तभी फलीभूत हो सकती है। वेद वेदाङ्ग-शास्त्रों के प्रौढ़ विद्वान् ही विदेशों में जाकर अपने प्राचीन साहित्य-संस्कृति और सभ्यता का गौरव बिठा सकेंगे। हां! उन्हें अंगरेजी तथा फ्रेंच-जर्मन आदि भाषाओं का भी ज्ञान अवश्य रहना चाहिये, जो सहज में ही किया जा सकता है।

यदि आर्यसमाज के पास साधन हों तो विदेशों में विविध विद्याओं के अध्ययनार्थं योग्य छात्रों को छात्रवृत्तियां दी जावें। जिससे विज्ञानादि अनेक दिशाओं में प्रौढ़ता प्राप्त की जा सकती है। काशी में महाविद्यालय की स्थापना इन सबका उपक्रम बन सकता है।

संस्कृतविद्या का विस्तार

संस्कृत अध्ययन को इस समय अत्यन्त सुगम बनाकर भारतीय जनता में जो घृणा अनास्था तथा भय पिछले विदेशी पाठ्यक्रम वा उस के पढ़ाने के गन्दे ढंग के कारण, वर्त्तमान कालेज और स्कूलों में उत्पन्न हो चुका है वा इस पूर्वोक्त ढंग से पढ़े हुओं द्वारा पिछले ५०-१०० वर्ष में उत्पन्न कर दिया गया है, संस्कृत अध्ययन के प्रति उस घृणा-भयादि को दूर कर अब अतीव सरल ढंग से संस्कृत का विस्तार करने की योजना बनाना भी आर्यसमाज का कर्त्तव्य है। नियम बना दिया जावे, जो

हिन्दी नहीं जानता, वह आर्यसमाज का सभासद् नहीं हो सकता। जो संस्कृत नहीं जानता, वह आर्यसमाज का अधिकारी नहीं रह सकता। मुसलमान-ईसाई भाई और बहिनों को भी हमें कम से कम मनुस्मृति और गीता तो पढ़ा ही देना चाहिये। हरिजनों को हमें आचार्य और शास्त्री बनाना है। सिखों में भी हमें संस्कृत का पठन-पाठन आरम्भ करना होगा। यह तभी हो सकता है, जब आर्यसमाज का कम से कम प्रत्येक सभासद् नहीं, तो प्रत्येक अधिकारी संस्कृत पढ़ा हो और रामायण वा गीता मनुस्मृति पढ़ा सकता हो।

शिक्षाविषय में एक नीति

शिक्षा विषय में आर्यसमाज की एक नीति हो और वह आर्य सार्वदेशिक सभा द्वारा निर्धारित हो। शिक्षा का एक संगठन हो। आर्यसमाज में शिक्षा विषय में चार प्रकार की विचारधाराओं वा चारों प्रकार की संस्थाओं का सर्वसम्मत वा सर्वानुकूल समन्वय ढंग से बन सकता है। आर्यसमाज के नेता इस पर गम्भीरता निष्पक्षपात होकर योग्य विद्वानों के परामर्श से इस ओर पग उठावें। इसमें प्रान्तीयभावना का लेश भी न आना चाहिये। शिक्षा विषय में शिक्षाविशेषज्ञ विद्वानों की समिति द्वारा ही संचालन होना चाचिये। हिन्दी वा संस्कृत से कोरे अधिकारियों द्वारा यह कार्य कदापि नहीं चल सकता। पढ़ाने के कार्य में यथासम्भव वानप्रस्थी ही रहें।

जनता का सहयोग

जिनको परमात्मा ने धन दिया है, वैदिकधर्म के प्रचार की भावना हृदय में दी है और जो चाहते हैं कि हमारा धन किसी सत्कार्य में लगे, जिनको विश्वास है कि आर्यसमाज धन के विषय में पूरी देखभाल, सत्यता पूर्वक व्यवहार और उत्तम प्रबन्ध द्वारा सब कार्यों को चलाता है और चला सकता है, इससे बढ़कर दिये धन का ईमानदारी से उपयोग अन्य संस्था कोई नहीं कर सकती। उन्हें अपना सौभाग्य समझ कर अपना धन स्वयं आर्यसजाज के अपर्ण करना चाहिये, जिससे भारत तथा संसार का महान् कल्याण हो।

त्यागी महानुभाव योग्यता सम्पादन कर अपना जीवन लगा देने का संकल्प करें। आर्यसमाज ऐसे निरीह-निरभिमानी-त्यागी कार्यकर्त्ताओं

को पाकर अपने को धन्य समझें और यह समझें कि यदि कार्यकर्त्ता सच्चे होंगे तो धन की कमी कदापि नहीं रह सकती ।

प्रभु का आश्रय लेकर इस विकृत मस्तिष्क भारत के मस्तिष्क को विशुद्ध शिक्षा द्वारा ही ठीक किया जा सकेगा ।

प्रभु कृपा करें, सब सुमति को धारण करें !!!

संस्कृति सिद्धान्त सम्मेलन

आर्य संस्कृति का स्वरूप आर्यसमाज क्या समझता है, सो निर्धारित कर देना चाहिये । आर्य सिद्धान्तों पर प्रौढ़ ग्रन्थ तय्यार कराये जावें, जो पूर्वोक्त विद्वानों द्वारा तय्यार हों ? जो ऊंचे स्तर के हों । एक-एक सिद्धान्त की विशद विवेचना हो । आर्यसमाज पर की गई सब शङ्काओं का संग्रह करके उनका एक प्रामाणिक विस्तृत उत्तर लिखा जाये । ऐसी योग्यता वा रुचि रखनेवाले विद्वानों का सहयोग प्राप्त किया जावे । वह उत्तर आर्य सार्वदेशिक सभा की ओर से छपे । इन पुस्तकों को आर्य समाज की संस्थाओं में अनिवार्य रूप में पढ़ाया जावे, ऋषिदयानन्द कृत ग्रन्थ हमारी सब संस्थाओं में (चाहे वे पुत्रों की हों या पुत्रियों की) अनिवार्य रूप में पढ़ाये जायें ।

वर्त्तमान समय में चले साम्यवाद वा अन्य वादों के सम्बन्ध में भी ग्रन्थ लिखवाये जायें ।

महिलासम्मेलन

(१) आर्यसमाज महिलाओं की शिक्षा का क्रम निर्धारित करे, वह (जैसा कि वर्तमान में है) सरकारी स्कूलों में आधार पर न होना चाहिये, आर्यसमाज की दृष्टि से जैसा आवश्यक हो, भारतीय संस्कृति-सभ्यता और साहित्य की प्रधानता की दृष्टि से निर्धारित होना आवश्यक है । ऋषिदयानन्द कृत ग्रन्थ तथा अन्य ऋषिग्रन्थ अनिवार्य हों । संस्कृत का अध्ययन प्रत्येक पुत्री के लिये अनिवार्य हो ।

स्कूलों कालेजों की पढ़ाई महिलाओं के लिये कहां तक हितकर है, इस पर आर्यसमाज को खुली घोषणा करनी चाहिये ।

(२) रेडियो-सिनेमा-फैशन-सम्बन्धी एक सर्वसम्मत सिद्धान्त महिलाओं को स्वयं निर्धारित करना चाहिये । यदि देवियां इस विषय में अग्रसर हो जायें, तो महान् कल्याण हो सकता है ।

(३) जहां 'अष्टवर्षा भवेद् गौरी, नव वर्षाऽतिरोहिणी' सैकड़ों वर्षों से चलता रहा, जिस को दूर करने में आर्यसमाज ने घोर परिश्रम किया। वहां अब इस बात की आवश्यकता हो गई है कि 'वृद्धकुमारियों' की बढ़ती को अब रोका जावे अर्थात् महिलायें ऐसा नियम बनावें कि कन्या का विवाह १६ से १८ तक अवश्य कर दिया जावे। इससे आगे नहीं जाने देना चाहिये।

(४) अध्यापन कार्य विधवा, अविवाहित वा अल्प-सन्तति देवियां ही करें, सब नहीं वानप्रस्थ हों तो सर्वोत्तम।

(५) हिन्दू कोडबिल पर अपना विचार निःसंकोच स्पष्ट देवें।

(६) वेदशास्त्रवित् विदुषियां कैसे बनें, इस पर विचार करना चाहिये।

शुद्धि-सम्मेलन

शुद्धि के विषय में पहिला पग यह है कि आर्यसमाज का प्रत्येक अधिकारी वर्त्तमान जात-पात तोड़कर ही अपने पुत्र-पुत्री का विवाह करे। आर्यसमाजी जब तक माहेश्वरी माहेश्वरियों में, कपूर कपूरों में, भल्ले भल्लों में, कायस्थ कायस्थों में, सेठ खन्नों में, शुक्ल शुक्लों में, ठाकुर ठाकुरों में, जब तक जात-पात का यह पचड़ा लगा रहेगा, आर्यसमाज को शुद्धि का नाम भूलकर भी न लेना चाहिये। पहिले अपनी शुद्धि करनी चाहिये। संसार को धोखा देने से कुछ लाभ न होगा। भारत विभाजन के पश्चात् शुद्धि का विषय और भी गम्भीरता से भारत के समक्ष उपस्थित हो गया है।

वर्षभर में कितने विवाह जात-पात तोड़ कर हुये, यह सूचना आर्य-सार्वदेशिक सभा में रहनी चाहिये। आर्यसमाज की इस निर्बलता के कारण ही 'शुद्धि सभा' के साथ 'हिन्दू' पद जोड़ना पड़ा, और भिन्न मार्ग का अवलम्बन करना पड़ा।

(२) हिन्दू बिरादरियों को तय्यार करने से शुद्धि का काम ठीक चलता है। इस विषय में विशेष यत्न की आवश्यकता है, जिससे सैकड़ों वर्षों से बिछुड़े भाई पुनः मिल जायें। यह कार्य सर्वथा असाम्प्रदायिक दृष्टि से होना चाहिये, साम्प्रदायिकता की इसमें गन्ध भी न आनी चाहिये। इसमें धर्म परिवर्त्तन का प्रश्न ही नहीं उठता, जो चौहान या

बड़गूजर अपनी बिरादरी से दो चार सौ वर्ष से पृथक् हो चुका है, वह उसी चौहान या बड़गूजर विरादरी में मिलना चाहता है, आर्यसमाज में उसकी लड़की तो ले भी लें, देने को तो कोई तय्यार नहीं होता। अनपढ़ को दें भी कैसे, यह सब कठिनाई शुद्धि कार्य की हैं, जिन्हें दूर करना होगा।

एक भारी कठिनाई यह भी है, कि एक ही दानी के धन से चलाई जानेवाली संस्थाओं की आपस में झूठी होड़ (Competition) चल पड़ता है और कार्यकर्त्ता झूठी डायरी या झूठा मार्गव्यय विवरण देने वाले अधिक मात्रा में मिलते हैं वा सच्चों की पूछ कम होती है। ये सब कठिनाइयां इस कार्य की दूर करनी होंगी, तब यह कार्य पनप सकता है। सच्चे कार्यकर्त्ता हों, जिस दिन कुछ कार्य न हो, लिख दें कि कुछ नहीं हुआ—उन्हें झूठी डायरी भरने को विवश न किया जावे। उनका सत्य व्यवहार ही उनके लिये मान्य का स्थान हो। तब १० सच्चे कार्यकर्त्ता भी मैदान में आवें, तो महान् कार्य हो सकता है। सच्चे कार्यकर्त्ताओं की कमी है, रुपये की नहीं, यह ध्रुव सत्य है। दुर्भाग्य की ही बात है, जो शुद्धि कार्य में हमें हिन्दू (आर्य) बिरादरियों का मुंह देखना पड़ रहा है।

शुद्धि के इस कार्य में आर्यसमाज को निराश होकर न बैठ जाना चाहिये। आर्य प्रतिनिधि सभाओं तथा आर्य सार्वदेशिक सभा को भी दो चार योग्य कार्यकर्त्ता इस काम में स्थायी लगाने चाहियें और इस विषय की एक स्थायी समिति बना देनी चाहिये।

यह काम अभी बहुत कुछ करना शेष है। आर्यसमाज उदासीन हो कर न बैठ जावे। यही कहना है। इस विषय में लोग बातें बहुत करते हैं। काम कुछ नहीं करना चाहते, यह अत्यन्त ही हानि और दुःख की बात है।

सच्चे हृदय से बिरादरी में मिलाना चाहिये, ऊपरी मन से नहीं इस बात का पूरा ध्यान रखना होगा। नहीं तो बहुत हानि हो जाने की सम्भावना है। शुद्ध हुए ग्रामों का समय-समय पर निरीक्षण तथा उनमें बच्चे बच्चियों की पाठशालाओं का अच्छे ढंग से संचालन, यह इस कार्य के मेरुदण्ड हैं। शुद्ध हुये लोगों के बच्चे बच्चियों को आर्यसमाज की संस्थाओं में निःशुल्क लेकर इन्हें विद्वान् बनाकर इनसे हमें अपनी योग्य

पुत्रियों के विवाह करने होंगे, तभी इस कार्य की जड़ें पाताल तक पहुंच सकती हैं। नहीं तो रेत की भित्ति पर खड़ी यह शुद्धि की दीवार ठहरेगी नहीं। सब प्रयास व्यर्थ होगा। मथुरा जिले में हिन्दू बिरादरी ने कुछ संख्या में अपनी पुत्रियां भी शुद्ध हुये परिवारों में दी हैं। उन की पुत्रियां तो हिन्दू बिरादरी में बहुत बड़ी संख्या में २५ वर्ष से बराबर आ रही हैं। शुद्धि कार्य का प्राण यही बात है।

गो-सम्मेलन

इस विषय में हम अधिक न कह कर इस समय इतना ही कहना चाहते हैं कि गोवध भारतवर्ष में पूर्णतया बन्द हो, इस में पूरा उद्योग करना प्रत्येक भारतवासी का परम कर्तव्य है।

(२) वनस्पति को घी का नाम देना ही पाप है। इसका खाना भी पाप। यदि आर्यसमाज घोर आन्दोलन द्वारा भारत से इस 'वनस्पति' का सर्वथा नाश करा सके, तो हम समझते हैं, यह भारत, भारतीय संस्कृति, सभ्यता की परम सेवा होगी। इस वनस्पति के रहते हमारा भारत कभी नहीं पनप सकेगा। सन्तति सदा के लिये हीनवीर्य वा हीन-बल हो जायगी। इसलिये इसका विरोध करना आर्यसमाज का परम कर्त्तव्य है। इस घी से हवन करना तो घोरतम पाप है।

प्रत्येक गृहस्थ को विवाह के समय 'गौ' दी जाने की प्रथा वा शास्त्र-व्यवस्था को चालू कराना भी आर्यसमाज का परम कर्त्तव्य कहा जायगा। कर्त्तव्य उसी का होता है या कहा जाता है, जो अनुभव करे, इसलिये आर्यसमाज के लिये ये परम कर्त्तव्य कहा जाता है।

हमने भिन्न-भिन्न होनेवाले सम्मेलनों में विचारार्थ कुछ भावनायें आर्यजनता के सामने रख दी हैं। केवल इसलिये कि इनको यदि विचार कोटि में रखकर विचार किया जावेगा, तो निश्चय ही बहुत कुछ लाभ हो सकता है। इनमें कोई बात अग्राह्य हो, तो वह छोड़ी जा सकती है।

हम सबका कर्त्तव्य है कि हम अपने समाज को समुन्नत बनाने में स्वयं विचार करें, और विचारों के आदान-प्रदान द्वारा समाज का लाभ हो। इन्हीं विचारों भावनाओं से प्रेरित होकर यह सब लिखा है। आर्य बन्धु इनसे लाभ उठा सकते हैं।

'धियो यो नः प्रचोदयात्' प्रभु हमारी बुद्धियों को सुमार्ग में प्रेरित करें!!!

[वेदवाणी, वर्ष ४, अङ्क १]

आर्य महासम्मेलन का सिंहावलोकन

आशा से अधिक सफल

२७ अक्टूबर से १ नवम्बर तक मेरठ में आर्य सार्वदेशिक सभा की ओर से दीपावली के अवसर पर श्री माननीय पं० विनायकरावजी विद्यालङ्कार कृषिमन्त्री हैदराबाद के सभापतित्व में सप्तम आर्यमहासम्मेलन बड़े समारोह से हुआ, जिसमें समस्त भारत के प्रायः सभी प्रान्तों और विदेशों से प्रतिनिधि, आर्य पुरुष और आर्या महिलाएं बड़ी संख्या में पहुंचे ।

आर्य बन्धुओं का अति दूर प्रदेशों से मार्गव्यय आदि में विपुल व्यय तथा ८, १० दिन का समय लगाकर आना गहरी श्रद्धा का द्योतक है । अनेकविध कष्ट और प्रतिकूलताओं का सहर्ष सहन करना, अपने घर से भी अधिक व्यस्तता (सुनने वा सुनाने में—निश्चय करने या कराने में) कम से कम १५, २० घण्टे निरन्तर प्रतिदिन लगे रहना आदि आर्य बन्धुओं के अपूर्व त्याग और गहरी धर्म भावना के परिचायक कहे जा सकते हैं, जिसका पर्याप्त अंश आर्यसमाज से पहिले का भी कहा जा सकता है । शेष गम्भीरता और विचारशीलता का अंश आर्यसमाज के सम्पर्क में आने पर ही हुआ मानना होगा । कुम्भादि समारोहों पर पहुंचने की परम्परा प्राप्त भावनाएं भी इसमें सहायक कही जा सकती हैं ।

आर्य जनता आशा से अधिक पहुंची । स्वागत, शयन, शौच, स्नान, जल, यातायात, डाक, रक्षा, आतिथ्य प्रकाश आदि का प्रबन्ध भी प्रायः आशा से अधिक संतोषजनक था । अपने-अपने यहां व्यवस्था में चलने तथा चलाने में अभ्यस्त आर्य नर नारी अपने-अपने स्थान पर स्वयं सब व्यवस्था कर और करा रहे थे । जो आर्य जनता के सुघरी वा शिक्षित होने के प्रमाण थे । कुम्भादि की अपेक्षा आर्यों के सम्मेलनों की यह विशेषता प्रत्येक भारतवासी के लिए अनुकरणीय कही जा सकती है ।

मेरठ के सभी आर्य कार्यकर्ताओं(जिन में कुछ तो जनता के सामने थे, कुछ छिपे गम्भीर विचारक अनुभवी व्यवस्थापक भी थे, जिनकी गम्भीरता और दूरदर्शिता ने ही इतनी सफलता दी है। इन छिपे कर्मठ विचारकों में बा० मोतीलालजी तथा बा० रत्नलालजी आदि कहे जा सकते हैं) के अपूर्व त्याग और घोर परिश्रम—आर्यवीर दल के सेनापति तपस्वी श्री ओम्प्रकाशजी त्यागी के अनुशासन में चलनेवाले आर्यवीरों तथा अन्य संस्थाओं के स्वयं सेवकों द्वारा निरन्तर तत्परता, कष्ट, सहन, रात्रि जागरण, तथा भिन्न-भिन्न सम्मेलनों वा परिषदों के संयोजक, माननीय सभापतियों, संचालकों, सभासदों द्वारा अपने-अपने विभाग की कार्यपूर्ति तथा व्यवस्था में तत्पर रहना, पूज्य संन्यासी, वानप्रस्थ, गुरुकुल, विद्यालय, उपदेशक, विद्वान्-प्रतिनिधि सभायें, 'उपप्रतिनिधि सभायें, आर्यकुमार सभा, शुद्धि सभा, आर्यमहिलायें, पाठशाला, स्कूल, कालेज आदि संस्थाओं, आर्यसमाजों, आर्य स्त्रीसमाजों तथा आर्य पत्रों के सम्पादकों आदि सब के हार्दिक सम्मिलित सहयोग, सद्भावना और ऋषि दयानन्द तथा वैदिक धर्म में सच्ची और गहरी भावना और सहयोग इस आर्यसम्मेलन को सफल बनाने में निःसंशय कारण कहे जायेंगे।

जहां तक आर्य जनता का सम्बन्ध है, उसने अपने-अपने प्रान्त के नेताओं वा आर्य सार्वदेशिक सभा के प्रधानों की आज्ञाओं तथा प्रेरणा का पालन तथा उसका क्रियात्मक रूप, धन की विपुल सहायता तथा सम्मेलन के अवसर पर इतनी बड़ी संख्या में पहुंचकर दिया।

पर्याप्त गरमी के समय में भी जो प्रबन्धकों की भूल थी, निरन्तर ८-९ घण्टे तक नगर-कीर्तन में जाना और उसमें अनुशासन, सहयोग भजनादि बोलते हुए विशेषकर बच्चियों और देवियों द्वारा भूखे-प्यासे निरन्तर चलना वैदिक धर्म की उच्च भावना के ही द्योतक कहे जायेंगे। ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे किसी के घर में विवाह हो, और सभी लगे हों कि यह लाओ वह लाओ, यह करो वह करो, यह काम रह गया, भोजन पहुंचाओ, वस्त्र पहुंचाओ आदि की ध्वनियों से गुञ्जित हो उठता है, लगभग ऐसा ही हाल बहुत बड़ी स्थिति में हमारे सम्मेलन का भी हो रहा था, जो स्वाभाविक ही था।

इसमें मुझे तो एक दुबले-पतले-लम्बे व्यक्ति पर दया आ रही थी, जो कभी तो मञ्च का सञ्चालन करता—सारे कार्यक्रम की व्यवस्था करता—सब विभागों के कार्यों का निरीक्षण तथा सञ्चालन करता—

कहीं बिल देता—कहीं हिसाब चुकाता—कभी छोलदारी गड़वाता—तो कभी भोजन की थाली भिजवाता—कभी दूध की व्यवस्था करता—कभी आनेवाले नेताओं, विद्वानों, संन्यासियों अथा अभ्यागतों के स्वागत आतिथ्य आदि में रत रहता, इनको देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि पता नहीं यह सब इन (स्वागतसमिति के प्रधानमन्त्री) के किन कर्मों का फल है, जो खाने का अवकाश नहीं; जैसे ऋषि दयानन्द वा वैदिक धर्म का भक्त होने का इन्हें यह दण्ड ही मिल रहा हो। हमारी दृष्टि में मेरठ तथा वाहर के प्रायः सभी कार्यकर्ता हमें तो इसी कोटि के प्रतीत हो रहे थे। इन सब की कार्य-व्यस्तता का क्या कहना।

आर्यसमाज के नेता राजगुरु पं० धुरेन्द्रजी शास्त्री का टैण्ट (शिविर) आर्यसमाज के सभी अनुभवी तथा गम्भीर विचारकों का केन्द्र बना हुआ था। इन का भी वैसा ही हाल था। मुझे तो सन्देह है कि राजगुरुजी की कपड़े सुखानेवाली सूत की रस्सी इन दिनों में साबुन से धुली वा नहीं। यह व्यस्तता स्वयं स्वीकृत तथा कर्त्तव्य पालन की उत्कृष्ट भावना से अनुस्यूत सुखप्रद थी। इतने बड़े प्रवन्ध में साधारण त्रुटियां तो क्षन्तव्य ही होती हैं। ये सब वातें हाथी के किसी अङ्ग पर हाथ लगे अनुभव से उत्पन्न एकाङ्गी ज्ञान के समान अनुभव ही समझना चाहिये। इस प्रकार का सर्वाङ्गीण ज्ञान तो भिन्न-भिन्न अनुभवकर्ताओं की पृथक्-पृथक् अनुभूतियों के आधार पर ही यथावत् हो सकता है॥ अस्तु॥

जहां तक समारोह-प्रबन्ध-मेरठ के कार्यकर्त्ताओं के घोर प्रवन्ध-कष्ट सहन की भावना-सब प्रान्तों से आई आर्यजनता-सभा-समाजों के सहयोग का सम्वन्ध है, मेरठ का यह आर्य महासम्मेलन, जहां तक हमारा ज्ञान वा हमारी भावना है, आशा से अधिक सफल हुआ और यही भावना हमें सम्मेलन के समय तथा उसके पश्चात् भी प्रायः मिलनेवाले वा लिखनेवाले महानुभावों द्वारा ज्ञात हुई। अन्यथा सम्मेलन से पूर्व कई सज्जन तो निराशपूर्ण भाव प्रकट कर रहे थे।

स्वागतसमिति-स्वागताध्यक्षा श्रीमती शकुन्तलादेवीजी गोयल, स्वागतमन्त्री श्री कालीचरणजी, श्री वा० मोतीलालजी वकील, बा० रत्नलालजी जज, श्री० बा० रामचन्द्रजी मित्तल, बा० जयदेवसिंहजी एडवोकेट, श्री पं० शिवदयालुजी, श्री विद्यासागरजी भोजनमन्त्री, श्री विश्वम्भरसहायजी प्रेमी प्रचारमन्त्री, श्री पं० द्विजेन्द्रनाथजी शास्त्री,

श्री ला० हरशरणदासजी, श्री आत्माशरणजी, श्री मुसद्दीलालजी, श्री रघुनन्दनस्वरूपजी, श्री शान्तिप्रकाशजी, श्री नन्दरामजी आदि के घोर परिश्रम और अनुकरणीय तथा प्रशंसनीय उत्साह का फल था, जो चिर स्मरणीय रहेगा और जिसके लिये आर्य जनता इन सब की आभारी है।

श्री राजगुरु पं० धुरेन्द्रजी शास्त्री की निरन्तर यात्राओं और सहयोगियों के सहयोग के द्वारा इतनी मात्रा में धन एकत्रित हुआ, जिसकी बहुत कम आशा वा सम्भावना थी। अपना सब समय, शक्ति और बुद्धि आर्यसमाज के लिए अर्पण करनेवाले ऐसे त्यागी के त्याग और तपस्या से आर्यसमाज का कोई महान् गम्भीर स्थायी कार्य सम्पन्न होना चाहिये, इस का अपव्यय न होना चाहिये।

कोरा वा झूठा प्रोपैगण्डा गर्हित है, पर उचित रीति का प्रचार आवश्यक है। अतः समारोह की दृष्टि से एक भारी कमी का निर्देश कर देना भी अनुचित न होगा कि एक तो ऐसे महासम्मेलनों की तिथियां कभी बदलनी नहीं चाहियें। दूसरे मेरठसम्मेलन सम्बन्धी सूचनाएं समाचारपत्रों में जितनी तत्परता से चाहिये थीं, नहीं भेजी गईं वा छापने वालों ने नहीं छापीं, प्रैसट्रस्ट आफ इण्डिया, तथा यूनाईटेड ट्रस्ट आदि तथा प्रताप-मिलाप-वीरअर्जुन आदि के साथ पूर्ण सम्बन्ध रहना चाहिए था। हमें अपना प्रकाशन विभाग प्रभावशाली और इस विषय में निपुण नियत करना चाहिये। यह कमी मेरठ सम्मेलन से पहिले और पीछे रही, यही कहना पड़ता है। आगे इस का ध्यान रक्खा जावे।

इस प्रकार समारोह-प्रबन्ध आर्यपुरुषों के उत्साह की दृष्टि से यह सम्मेलन आशा से अधिक सफल हुआ। आर्यसमाज के लिए पूर्व सम्मेलनों में तथा इस समय स्वीकृत किये गए प्रस्तावों को क्रियात्मक तथा व्यावहारिक रूप देने की तथा संगठन की कमी, आर्यजनता के जीवन सम्बन्धी प्रगति में ह्रास को रोकने आदि विषयों में कोई ठोस योजना वा आर्यजनता को कोई विशेष प्रेरणा देने की दृष्टि से यह सम्मेलन असफल ही कहा जायगा। इस विषय में हम अपने विचार उपस्थित करेंगे—

सम्मेलन में किये गये निश्चय वा स्वीकृत प्रस्तावों पर एक दृष्टि

अब हमें इस विषय पर भी विचार करना चाहिये कि इतना कष्ट सहन करने तथा विपुल धन व्यय करने पर भी हमें क्या प्राप्त हुआ।

यदि अधिक नहीं तो ५० पचास सहस्र यात्री सम्मेलन में आये होंगे, ऐसा मान लिया जाये और प्रत्येक का माध्यमिक व्यय ३०) रु० किराया रेल तांगा आदि का और २०) रु० इतने दिनों के भोजन का आंका जावे और प्रतिदिन कम से कम १२ घण्टे का समय केवल सम्मेलन के निमित्त समझ लिया जावे तो २५०००००) पच्चीस लाख रुपया और ६०००००) छः लाख घण्टे का समय इस कार्य में लगा समझना चाहिये।

इतने व्यय पर हमें आर्य महासम्मेलन में १५ प्रस्ताव मिले अर्थात् आर्यजनता को १५ निश्चय दिये गये। इनमें अधिक प्रस्तावों में तो भारत सरकार से प्रार्थना और अनुरोध ही भरा है। अधिक से अधिक मूल्यवान् वा आवश्यक निश्चय यह कहा जा सकता है जो राजनीति के विषय में किया गया, जो निम्न प्रकार है—

'(५) यह सम्मेलन निश्चय करता है कि आर्यसमाज बहैसियत आर्यसमाज प्रचलित राजनीति तथा चुनाव में भाग न ले।

(६) आर्य संस्कृति की विचारधाराओं से प्रभावित पृथक् राजनैतिक संगठन स्थापित कर उसे सक्रिय रूप देने के लिए निम्नलिखित सज्जनों की एक समिति बनाई जाती है।' (आगे १५ महानुभावों के नाम हैं)

इन सज्जनों की इस समिति का अन्तिम परिणाम क्या होगा, इसके लिए संप्रति इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि इस समिति का कोई संयोजक नियत नहीं किया गया और न ही समय की कोई अवधि नियत की गई है। राजनीति के विषय में विशेष रुचि वा चिन्ता करनेवाले गम्भीर विचारक विद्वान् स्वयं अपने उत्साह-विशेष प्रयत्न वा योग्यता से इस प्रस्ताव को सिरे चढ़ा लें तो दूसरी बात है, नहीं तो यह बेल मंढे चढ़ती नहीं दीखती। हम तो इसे टालना मात्र समझ रहे हैं। हमारे विचार में तो राजनीति के विषय में चिरकाल से आर्यसमाज के नेता वा अधिकारियों ने सरल आर्यजनता को अपनी कूटनीति (वा उसे जो कुछ नाम दिया जावे) वा प्रभाव से फुसलाकर या परचाकर उसकी (जनता की) प्रबल इच्छा से विपरीत (जिसका स्पष्टरूप मेरठ में सामने आ गया) पिछले ५०-६० वर्षों की भांति अब भी राजनीति से दूर रखने की ही चेष्टा की है, क्योंकि व्यक्तिगत राजनीति में भाग लेने

का कोई ढंग न तो बना न अभी भी बनने की आशा प्रतीत होती है। इस प्रस्ताव का अंतिम रूप क्या बनेगा, अभी तक नहीं कहा जा सकता।

हमें तो अभी तक यही पता नहीं लग सका कि किसी भी आर्य सम्मेलन के प्रस्तावों की स्थिति क्या है। अभी तक तो यही स्थिति रही है कि आर्य सार्वदेशिक सभा किसी भी आर्य सम्मेलन द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों को मानने के लिए बाधित नहीं, यही पता लगता है। तभी तो मेरठ सम्मेलन के प्रस्ताव सं ३ के अन्त में लिखा है—

'(३) महा सम्मेलन के खुले अधिवेशन में केवल वही विषय विचारार्थ आते हैं, जिन्हें एतदर्थ विषय निर्धारिणी सभा भेजती है। इस सभा के अधिकांश सदस्य सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के सदस्य होते हैं। इस प्रकार खुले अधिवेशन में स्वीकृत सब विषय सार्वदेशिक सभा से स्वीकृत तथा सब समाजों के प्रतिनिधियों द्वारा पुष्ट हो जाते हैं। अतः निश्चय किया जाता है कि इन सब विषयों को कार्यान्वित करना सार्वदेशिक सभा पर बाध्य होगा।'

अब भी सार्वदेशिक सभा न माने तो हठधर्मी है। इस बात को जानने के लिए कि आर्य सार्वदेशिक सभा द्वारा प्रकाशित जुलाई १९४९ के सभा के मासिक पत्र 'सार्वदेशिक' में हमें खोजने पर भी यह बात कहीं नहीं मिली कि कलकत्ता आर्य महासम्मेलन के प्रस्ताव आर्य सार्वदेशिक सभा ने स्वीकृत किये वा नहीं। उसमें इतना ही लिखा है कि आर्य महासम्मेलन कलकत्ता में निम्न प्रस्ताव स्वीकृत हुए। यही बात दिसम्बर १९५१ के 'सार्वदेशिक' में भी है। यह दूसरी बात है कि 'परमतमप्रतिषिद्धमनुमतं भवति' का सिद्धान्त लागू हो। यह बात स्पष्ट क्यों नहीं कर दी जाती।

कलकत्ता में राजनीतिविषयक प्रस्ताव

प्रसंगतः यहां राजनीति के विषय में सन् १९४८ के कलकत्ता आर्य महासम्मेलन के समय जो प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, उसका सिंहावलोकन कर लेना भी उचित होगा। वहां यह प्रस्ताव निम्न प्रकार स्वीकृत हुआ था कि—

"(घ)……… प्रत्येक नागरिक राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यों का पूर्ण रूप से पालन करे, इस कारण यह सम्मेलन भारत के प्रत्येक आर्य

नर-नारी को आदेश देता है कि अपने देश की राजनीति में पूर्णरूप से भाग ले, साथ ही यह बात उन्हें सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि वे व्यवहार में राजनैतिक वेदोक्त आदर्शों से अणुमात्र भी विचलित न हों।

(ङ) आर्यसंस्कृति तथा आर्यसभ्यता की दृष्टि से वर्तमान राजनीति को अधिक से अधिक प्रभावित करने के साधनों पर विचार करके तथा आर्यसमाज की राजनैतिक मांगों को अङ्कित करने के लिये निम्नलिखित सज्जनों की समिति बनाई जावे, जो तीन मास के अन्दर सार्वदेशिक सभा में अपनी रिपोर्ट उपस्थित कर दे।" (आगे १२ महानुभावों के नाम दिये हुए हैं) (देखो'सार्वदेशिक'फरवरी १६४६ पृष्ठ ५८०,५८१)।

आगे जुलाई १६४६ के अङ्क पृष्ठ २०१ में आर्यसम्मेलन के २० स्वीकृत प्रस्तावों को प्रकाशित करते हुए उपर्युक्त सारे प्रस्ताव लिखकर पूर्वोक्त प्रस्ताव भी छपा है, जिसके अन्त में १२ महानुभावों के नाम देकर अन्त में लिखा है—'इसकी पूर्ण रिपोर्ट अभी अप्राप्त है' अर्थात् १२ सज्जनों की समिति ने ३ मास क्या ७ मास में भी कुछ न किया।

सो यह तो 'खोदा पहाड़ और निकली चुहिया'। यह फिर भी अच्छा, पहाड़ खोदने पर चुहिया तो निकली; पर कलकत्ता आर्य महासम्मेलन में स्वीकृत निश्चय के फलस्वरूप तो चुहिया भी न निकल पाई। इस उपर्युक्त समिति में तो संयोजक की भी नियुक्ति की गई थी और तीन मास का समय भी निर्धारित कर दिया गया था। सो ७ मास पीछे सभा ने उन प्रस्तावों को छापा। उससे पूर्व वा पीछे आर्यमहासम्मेलन के सभापति को चिन्ता होनी चाहिये थी वा आर्य सार्वदेशिक सभा के अधिकारियों को होनी चाहिये थी कि इस विषय में क्या हुआ। पर होता कैसे ? अधिकारी तो यह चाहते ही नहीं कि इस दिशा में कुछ किया भी जावे। उनकी नीति तो यह रही कि न स्वयं करना न किसी को करने देना। अन्यथा उस प्रस्ताव को पुनः सभा में क्यों नहीं रक्खा गया। नहीं तो कलकत्ता आर्य महासम्मेलन के पश्चात् लगभग ३ वर्ष में भी हम वहीं के वहीं न खड़े रहते, जहां पर कि ५० वर्ष पूर्व से खड़े चले आ रहे हैं। अभी तक तो वहीं के वहीं हैं।

मेरठ के प्रस्ताव की गति

कलकत्ता सम्मेलन की राजनीतिसम्बन्धी समिति का क्या परिणाम

हुआ, यह पाठकों ने देखा। इसी अनुभव के आधार पर ही हमें मेरठ आर्य महासम्मेलन में राजनीति के विषय में बनाई गई १५ महानुभावों की पूर्वोक्त समिति के विषय में भी सन्देह है कि कुछ हो सकेगा ? कारण वही, आर्य सार्वदेशिक सभा के कुछ अधिकारियों की यह मनोवृत्ति बन चुकी है कि वे कांग्रेस मनोवृत्ति रखने के कारण यह नहीं चाहते कि आर्यसमाज में इस विषय में कुछ भी प्रगति हो, ऐसा जनता में समझा जा रहा है। दो मास से अधिक मेरठ में इस प्रस्ताव को स्वीकृत हुए हो चुके। जहां तक हमें ज्ञात हुआ है, इस विषय में कुछ भी नहीं हुआ। सम्भवत: सभा के वैधानिक विशेषज्ञ कोई न कोई वैधानिक अड़चन निकालकर ही १०-१२ मास तो यों ही बिता देंगे। इतने में अगले आर्य महासम्मेलन की तैयारी आरम्भ हो जायेगी। कोल्हू का बैल वहीं का वहीं बना रहा।

जिस किसी प्रस्ताव को कार्यरूप में न लाना हो वा उसमें देरी करनी हो, उसे उपसमिति के लिये सौंप दिया जाता है। यह भी आजकल की कूटनीति का एक अमोघ शस्त्र है।

सार्वदेशिक सभा से नम्र निवेदन

आर्यसमाज आर्यजनता तथा अपनी शिरोमणि आर्य सार्वदेशिक सभा के हित को ध्यान में रखते हुए हमारा यह दृढ़ मत तथा नम्र निवेदन है कि सार्वदेशिक सभा आर्य महासम्मेलन के प्रस्तावों को न मानने, आना-कानी करने या उन्हें टालमटोल में डालने की भूल नहीं करे। १५ सज्जनों की समिति को शीघ्र से शीघ्र बुलाकर इस विषय को पूर्ण विचार-विमर्श द्वारा कार्यान्वित करने की योजना बनावे वा इस समिति द्वारा बनवाये। नहीं तो आर्यजनता यही समझेगी कि मेरठ सम्मेलन में जो सब से अधिक विचार-विमर्श का विषय रहा, जिस में दो दिन का १७, १८ घण्टों का समय तो खुले अधिवेशन में लग गया, जो सार्वदेशिक सभा द्वारा स्वीकृत विषय निर्धारिणी में राजनैतिक विषय में जो निश्चय था, वह उसी रूप में खुले अधिवेशन में पास नहीं हो सका, अपितु समझौता रूप में दो प्रस्ताव पास हुए। यदि खुले अधिवेशन में जनमत द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया गया और जो समझौता रूप में उपस्थित प्रस्ताव संशोधित रूप में स्वीकार करने को बाधित होना पड़ा, यदि इस में भी टालमटोल या आना-कानी की गई,

तो यह जनता की घोर अवहेलना होगी, जिसे जनमत कभी सहन न करेगा। इस का आदर होना उचित ही है।

कलकत्ता आर्य महासम्मेलन के प्रस्ताव

हम तो कहते हैं कलकत्ता आर्य महासम्मेलन में लगभग २० प्रस्ताव स्वीकृत हुए थे, वे सब के सब गम्भीर विचार और ऊंची भावना से पूर्ण थे। वह समय (१९४९) भी विचार करने का सब को ठीक अर्थात् आवश्यक प्रतीत होता था। देश का विभाजन होने के पश्चात् आर्य समाज की शक्ति और सम्पत्ति का एक बड़ा भाग नष्ट हो चुका था। आर्यसमाज के सामने एक बहुत ही गम्भीर स्थिति उत्पन्न हो रही थी। आर्य सम्मेलन कलकत्ता ने ठीक समय पर और ठीक दिशा में आर्यसमाज का पथप्रदर्शन किया था। उसके प्रस्ताव आज भी मार्गप्रदर्शन की बोलती हुई तस्वीर (चित्र) कहे जा सकते हैं। उन्हें पढ़ने पर अब भी एक स्फूर्ति सी प्रतीत होने लगती है। मेरठ आर्य सम्मेलन के प्रस्तावों में, कुछ एक को छोड़कर, वह प्राण शक्ति वा ओज हमें तो प्रतीत नहीं हुआ, हां भारत सरकार से प्रार्थना तो अवश्य भरी पड़ी है।

अधिक नहीं तो हमारा दिया हुआ राजनीति विषय का कलकत्ता आर्य महासम्मेलन का ऊपरवाला प्रस्ताव ही ले लें। उस में लिखा है कि 'यह सम्मेलन भारत के प्रत्येक आर्य नर-नारी को आदेश देता है कि अपने देश की राजनीति में पूर्ण रूप से भाग ले, साथ ही यह बात भी उन्हें सदा ध्यान में रखनी चाहिये, कि वे व्यवहार में राजनैतिक वेदोक्त आदर्शों से अणुमात्र भी विचलित न हों।'

मेरठ सम्मेलन इसका कार्य रूप जनता के समक्ष रखता, तब तो ठीक था। आर्यजनता का पथप्रदर्शन होता। 'का वर्षा जब कृषि सुखाने' !!! समय पर काम न हुआ, तो उसका महत्त्व ही क्या रह जाता है।

आर्यसमाज किधर जावे

हम कहते हैं और नहीं तो मेरठ आर्य महासम्मेलन यही निश्चय कर देता कि कांग्रेस-हिन्दूसभा-जनसंघ-प्रजापार्टी-सोशलिस्ट आदि पार्टियों में कौन-कौन पार्टी वेदोक्त राजनीति के आदर्शों से विचलित है या विचलित

नहीं है वा कितनी विचलित है कितनी नहीं वा कितनी निकट है। यह विवेचना करने का काम मेरठ सम्मेलन का था या सार्वदेशिक सभा का था। जो करने का काम है, सो तो किया नहीं जाता, उस में टालमटोल की जाती है। जैसे पहले अंग्रेजी राज्य में कलक्टर-कमिश्नर-गवर्नर नाराज न हो जावें यह सोचा जाता था, आज भी देश स्वतन्त्र होने पर भी, यही सोचा जाता है कि अमुक कांग्रेसी प्रधानमन्त्री-मिनिस्टर वा नेता नाराज न हो जावे। सब के मूल में तो यह बात छिपी है। व्यक्तिगत लाभ भी इस में कुछ कारण कहे जा सकते हैं। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यसमाज अपने को इस समय भी 'किंकर्तव्य विमूढ़ सा' निपट चौराहे पर अनुभव कर रहा है, कि किधर जाऊं किधर नहीं!!!

ऐसी स्थिति में हमारी शिरोमणि सब आर्यों की प्रतिनिधि आर्य सार्वदेशिक सभा को उचित मार्गप्रदर्शन करना चाहिये। इन विषयों को यों ही लटकाए रखना उचित नहीं।

आर्यसमाजी कांग्रेस में रह सकता है या नहीं?

यहां यह भी सोचने की बात है कि उधर तो आर्य सम्मेलन या आर्य सार्वदेशिक सभा प्रत्येक आर्य नर-नारी को आदेश देता है कि वह राजनीति में पूर्णरूप से भाग ले, उधर इसकी कोई व्यवस्थान नहीं वनाई जाती। इसका परिणाम यही होगा कि संघ विचारवाले संघ में चले जावेंगे, हिन्दूसभा विचारवाले हिन्दूसभा में, कांग्रेस के विचारवाले कांग्रेस में, और गये सो गये, आर्यसमाज उनके लिये मुख्य नहीं रह जाता। उनके कांग्रेस में स्थानीय या प्रान्तीय नेतृत्व प्रतिष्ठा में कोई हानि न पड़े, तभी वह आर्यसमाज में रहेंगे वा रह रहे हैं। मुख्य प्रश्न तो यही है कि जहां आर्यसमाज और कांग्रेस में विरोध पड़े, वहां ये लोग आर्यसमाज में रहेंगे वा कांग्रेस में। तभी पता लगे कि आर्यसमाजी कौन हैं और कौन कांग्रेसी। यही वात राष्ट्रिय स्वयंसेवक संघ, हिन्दूसभा, जनसंघ, सोशलिस्ट पार्टी आदि के सम्बन्ध में भी है। इस परीक्षा में से निकले तो पता लगे कि सोना खरा है या खोटा। पता लगे आर्यसमाजी नकली है वा फसली, अवसरवादी है वा असली।

आर्य सार्वदेशिक सभा को वा आर्यसम्मेलन को यह निश्चय करना चाहिये था कि आर्यसमाज का इनके साथ कहां तक सहयोग हो सकता है। कौन सी स्थिति में आर्यसमाजी को कांग्रेस आदि सर्वथा छोड़ देने

चाहिए। आर्यसमाज का मञ्च एक चूं चूं का मुरब्बा बना हुआ है, जिसकी अपनी कोई नीति ही प्रतीत नहीं होती। अधिकारी प्रायः ये चाहते हैं कि कांग्रेस के विरुद्ध न कहा जावे, जनता में कांग्रेस के विरुद्ध व्यापक भावना उत्पन्न होने से वह उसके विरुद्ध सुनना चाहती है। जिस में कभी-कभी आर्यसमाज की मर्यादा से बाहर भी बोल दिया जाता है। नीति निर्धारित न होने के कारण यह अव्यवस्था चलनी ही हुई।

हम तो समझते हैं आर्यसमाज के मञ्च से कांग्रेस का प्रचार भी तो न होना चाहिए। यदि हो तो सब की अच्छी बातों का प्रचार हो। उसका भी मापदण्ड तो कोई हो। नहीं तो जो जिसको ठीक समझेगा, बोलेगा। या तो सीधा पास कर लो कि जो चाहे जिसमें रहे, आर्य-समाज का सभासद् हो सकता है। फिर ब्लैक मार्केट करनेवाला भी पूछेगा (पैसा मिलने के कारण उसको तो कोई माई का लाल भले ही मना कर सके) कि भला मैं क्यों सभासद् नहीं हो सकता। चोर के घर में चोरी करनेवाला ब्लैक मार्केट वा रिश्वत लेनेवालों पर तो हम भी वार करते हैं। उधर यह भी कहते जाना कि 'वेदोक्त राजनीति के आदर्शों से अणुमात्र भी विचलित न हों' 'प्रत्येक नर-नारी को राजनीति में पूर्ण भाग लेना ही चाहिए' और फिर अन्त में चौराहे पर ले जाकर छोड़ देना, यह कहां की बुद्धिमत्ता वा दूरदर्शिता है। सब का विवेचन करके स्पष्ट करना चाहिए कि इन उपर्युक्त सब संस्थाओं में आर्यसमाज की दृष्टि से इतना अंश ग्राह्य है, इतना नहीं।

कांग्रेस अनुशासन का नाम लेकर प्रत्येक कांग्रेसी को बाधित करती है कि कांग्रेस का कोई सदस्य विधानसभा वा लोकसभा में गोवध तथा वनस्पति का विरोध, हिन्दू कोडबिल का निषेध, अखण्ड भारत, गीता-प्रवचन के पक्ष में अपना मत नहीं दे सकता इत्यादि। ऐसी अवस्था में आर्यसमाजी कांग्रेस पार्टी में कैसे रह सकता है, यह महान् विचार का विषय है। क्या ये वेदोक्त राजनीति के अनुकूल है या प्रतिकूल? कुछ तो सोचें! सब को घपले में क्यों रखते हो।

आये दिन यही डींग मारी जाती है कि अमुक आर्यसमाजी मिनिस्टर बन गया, अमुक पद पर नियुक्त हो गया, आर्यसमाज का कितना गौरव बढ़ गया है! बार-बार ऐसे सज्जनों के मना करने पर भी इन्हें ही सम्मेलन आदि का सभापति बनाया जाता है। हम मानते हैं कि ये महा-

नुभाव हृदय से आर्य हैं, सच्चे हैं, योग्य भी हैं, प्रश्न तो यह है कि जब कांग्रेस की भारतीयताविरोधी, ऋषियों वा वैदिक आदर्शों से दूर ले जानेवाली गोवध तथा गीता वेद प्रवचनादि की समस्यायें सामने आती हैं, उधर कांग्रेस की आज्ञा होती है (नहीं साहब, एक व्यक्ति की आज्ञा होती है) तो क्या ये आर्यसमाजी समझे जानेवाले कांग्रेसी महानुभाव माननीय टण्डन जी के आदर्श के समान कह देंगे कि 'मैं ऐसी सरकार के साथ सहयोग नहीं कर सकता ?' वह आर्यसमाजी भाई की परीक्षा का समय होगा ? कोई माई का लाल ऐसा नहीं निकलेगा, हम यह भी नहीं कहते, पर प्रायः की गति वही होगी, जो श्री टण्डनजी के साथियों की हुई, जो समय आने पर कांग्रेस के वोट के लोभ से वशीभूत श्री टण्डनजी का साथ छोड़ जी जवाहरलाल जी की हां में हां मिला रहे हैं, कुछ भी दुःख वा लज्जा का अनुभव नहीं करते। यह देश के सामने है। आर्य-समाजी ऐसी अवस्था में कांग्रेस को छोड़ देगा वा नहीं, प्रश्न यह है।

सार्वदेशिक सभा वा आर्यसम्मेलन में यह भी निश्चय करना चाहिए था कि आर्यसमाज का सदस्य होता हुआ कांग्रेस का सदस्य रह सकता हैं या नहीं ? कांग्रेस वा कांग्रेस सरकार वेदोक्त राजनीति के आदर्शों के अनुकूल है या विपरीत ? जनता को कुछ तो बताओ। बतलाते क्यों नहीं ? जब मुसलमान (हृदय से पाकिस्तान की हर समय जय मनाने वाला, नहीं साहब कट्टर लीगी) कांग्रेस का सदस्य हो सकता है, उसे कांग्रेस का टिकट मिल सकता है। एक अकाली सिक्ख पन्थ का विश्वासी कांग्रेसी रह सकता है, उसे कांग्रेस का टिकट मिल सकता है, तो आर्यसमाजी कांग्रेसी रह सकता है या नहीं ? उसे आर्यसमाजी रहते हुए कांग्रेस का टिकट मिल सकता है या नहीं ?

क्या आर्यसमाजी कांग्रेस में घुसकर उसकी भारतीयता, धर्म तथा आप्तता विरोधी नीति को असफल बनावे या फिर किनारे बैठकर ही तमाशा देखा करें, वा धीरे-धीरे योग्य आर्यसमाजी कांग्रेस में जाकर "हर कि दर काने नमक रफ्त नमक शुद" काजर की कोठरी में लाख हू स्यानो जाय, एक रेख काजर की लाग ही तो जाय" नमक में नमक बनते और काजर से पूर्ण होते रहेंगे। आर्यसमाज अच्छे-अच्छे योग्य व्यक्ति बनाता रहे और जब समय आवे तो ये दूसरों की शोभा बढ़ाते रहें। यह सब अत्यन्त गम्भीर समस्याएं आर्यसमाज के सामने थीं और हैं। जिन्हें सम्मेलन को निश्चय करना चाहिए था और सार्वदेशिक सभा

को करना चाहिये। क्या ये बातें आर्यसमाज के जीवन-मरण के प्रश्न हैं या नहीं ? फिर इनमें चुप्पी क्यों साध ली जाती है।

कांग्रेस राज्य में गीता भी नहीं पढ़ाई जा सकती

महाराष्ट्र के येवल नगर में जनताविद्यालय में श्री काशीनाथ रघुनाथ वैशम्पायन काव्यपुराणतीर्थ स्वयं सेवक भावना से गीताश्रेणी चला रहे थे। सितम्बर १९५१ में श्री जावड़े नाम के सरकारी निरीक्षक ने विद्यालय का निरीक्षण किया और सम्मति लिखते हुए निम्नलिखित शब्दों में गीताश्रेणी बन्द करने की आज्ञा जारी की—

"As the new Indian constitution has wedded itself to a Secular State and as the school is a public institution, religion-instruction under a particular denomination like the 'Geeta Class' should be discontinued. If the management intend they have a general period for moral instruction. There is no provision for Geeta teaching in the present syllabus of Studies."

"क्योंकि भारतीय नये संविधान के अनुसार भारत को (सैक्यूलर स्टेट) धर्म निरपेक्ष राज्य घोषित किया गया है और यह विद्यालय सरकारी स्कूल है। इसलिए इस स्कूल में गीता क्लास जैसी साम्प्रदायिक क्लास जारी नहीं की जा सकती। नैतिक शिक्षण के लिये स्कूल के संचालक जनरल पीरियड (साधारण घण्टा) में इसका प्रबन्ध कर सकते हैं, परन्तु सरकार द्वारा स्वीकृत नई पाठविधि में गीता की पढ़ाई का प्रबंध नहीं किया जा सकता।"

गीता भारत के ही नहीं संसार के समस्त विद्वानों द्वारा नैतिक शिक्षण की अनुपम पुस्तक मानी जा चुकी है। महात्मा गान्धी गीता के शिक्षण पर विशेष बल देते थे। कांग्रेस के स्वतन्त्रता आन्दोलन में स्वयं सेवक गीता के पाठ को अपनी दिनचर्या का अङ्ग मानते थे। जिस समय गीता का निर्माण हुआ था, उस समय भारत में तो क्या संसार में कहीं सम्प्रदाय के नाम की गन्ध भी न थी। उस समय मानव समाज वैदिक संस्कृति और असाम्प्रदायिक मानव धर्म को मानता था। गीता केवल भारत की ही धर्म पुस्तक नहीं रही, योरुप अमेरिका आदि के अनेक देशों में इसका अध्ययन हो रहा है।

गीता के पीछे वेद-शास्त्रों की बारी

गीता के साथ फिर तो वेद भी साम्प्रदायिक हो जायगा। आर्यसमाज वेद का पढ़ना-पढ़ाना परमधर्म बताता रहेगा, और यह धर्मनिरपेक्ष (जिसे धर्म की आवश्यकता ही नहीं) राज्य इसे साम्प्रदायिक बना रहा है। सार्वभौमिक नियमों—सर्वतन्त्रसिद्धान्तों (जिनको सब कोई माने) के प्रतिपादक भारत की पवित्र ज्ञानसम्पत्ति वेदशास्त्र को हेय बना देने वाली सरकार या कांग्रेस भारत में दनदना रही है, यह भी समय का चक्र है। भारतीयता न जाने किस चिड़िया का नाम है, क्यों नहीं एक बार इसी बात का निश्चय देश के समस्त विद्वानों द्वारा शास्त्रार्थ या सम्मेलन द्वारा करा लिया जाता कि सार्वभौमिक नियम वा सिद्धान्त क्या हैं। वही धर्म है और भारत का भी धर्म वही है। सार्वभौमिक वा सार्वजनिक तो कहते उसी को हैं जिसे सब मानें। है यह मार्ग निरापद कि नहीं !! हम तो कहते हैं प्रजातन्त्र राज्य है न, देश की बहुसम्मति जो कहे सो ही मानो, यह भी तो नहीं, वहां भी प्रतिबन्ध क्यों लगाया जाता है, कि कांग्रेस के विरुद्ध मत नहीं दे सकते। यह प्रजातन्त्र के सिद्धान्त की हत्या है या नहीं ? दो चार या दस बीस मुख्य नेताओं को धर्म से विरोध है या वह इसकी आवश्यकता नहीं समझते, इसलिए सारे भारत को ही इस अमृत रूप (सार्वभौमिक) धर्म से वञ्चित रखा जावे, यह कहां का न्याय है।

वर्त्तमान कांग्रेस सरकार भी आर्यसमाज को पनपने न देगी

हमारा कहना यह है कि ऐसा ही हाल रहा तो वह समय भी आ सकता है वा आनेवाला है, जब आर्यसमाज की सब संस्थायें साम्प्रदायिक घोषित कर दी जावें (जैसा बृटिश गवर्नमैण्ट ने भी एक बार किया था) उनमें ताले डलवा दिए जावें, उन्हें सहायता देने की बात तो दूर रही। आर्यसमाज को वर्त्तमान सरकार को बाधित करना होगा कि हमारी संस्थाओं में शिक्षाक्रम हमारा रहेगा, उनको जनता से टैक्सों द्वारा प्राप्त धन से सहायता देनी होगी।

सरकारी पाठविधि को मानकर धर्मनिरपेक्ष राज्य की सहायता लेकर संस्थायें चलाने की नीति को यदि आर्यसमाज नहीं छोड़ेगा, तो जैसे अङ्गरेजी राज्य ने आर्यसमाज को पनपने नहीं दिया, यह कांग्रेस

राज्य भी उसी प्रकार आर्यसमाज को कभी पनपने नहीं देगा। यही यत्न करता रहेगा कि कहीं यह उठ न खड़ा हो। कुत्ते को टुकड़ा डालकर चुप कराने के समान नाममात्र की कुछ-कुछ सहायता देता भी रहा, जब मन में आया दस बीस हजार देकर चुप करा दिया, बहुत हुआ तो अपने लाभ की दृष्टि से किसी को मिनिस्टर बना दिया, किसी एक दो को किसी पद पर लगा दिया और उनको सम्मेलनों वा संस्थाओं के उत्सवादि में प्रधान बनाकर सारे आर्यसमाज पर छाया रहा तो क्या हुआ? यह तो कांग्रेस सरकार के लिए कोई घाटे का सौदा नहीं, पर वेदोक्त आदर्शों वा प्राचीन भारतीय साहित्य-संस्कृति की हत्या कदापि न होने दें, उस के विरुद्ध कांग्रेस वा कांग्रेस सरकार की बात कभी न मानें, यदि इसमें अनुशासन का नाम लेकर बाधित किया जावे, तो आर्यपुरुष के त्यागपत्र में २ मिनट न लगने चाहियें।

माननीय टण्डनजी का आदर्श इस विषय में अनुकरणीय है। यह बात अत्यन्त त्याग और निःस्पृहता की है। तभी आर्यसमाज का मुख उज्ज्वल रह सकता है। तभी आर्यसमाज भारत में विशुद्ध वैदिक राजनीति तथा विश्वशान्ति में पथप्रदर्शक होकर भारत तथा उसके द्वारा संसार का कल्याण कर सकता है। मानवजाति की हित दृष्टि से यह महान् कार्य है। हम चाहते हैं योग्य आर्यपुरुष इन पदों वा अधिकारों को प्राप्त करें और आर्यपुरुष बहुत बड़ी संख्या में इन पदों की योग्यता रखते हैं।

हम तो आर्य ही उसे कहते हैं जो किसी का पक्षपात न करे, किसी के साथ अन्याय न करे। पर हम यह नहीं चाहते कि आर्यपुरुषों द्वारा आर्यसमाज और उसकी संस्थाओं को काग्रेस वा कांग्रेस सरकार खरीद सके। क्या यह एक सच्चाई नहीं है कि पं० अयोध्याप्रसाद जैसा अरबी-फारसी-संस्कृत और अनेक भाषाओं का विद्वान् ईरान का राजदूत इसीलिये नहीं बनाया गया कि वह आर्यसमाजी हैं। हम कहते हैं कि पिछले ५०-६० वर्ष में कांग्रेस ने तकली और चरखा को छोड़कर शिक्षासम्बन्धी कोई बड़ी संस्था तो चलाई नहीं, जिसका कांग्रेसियों को अनुभव भी हो। साथ ही भारतीय संस्कृति साहित्य से सर्वथा शून्य (अरबी संस्कृति और अरबी साहित्य के ही विद्वान्) व्यक्ति को बिना जनता की स्वीकृति की भारत का शिक्षामन्त्री बना देना देश वा भारतीय जनता के साथ घोर

अन्याय है या नहीं। उन्हें और ऊंचा पद दिया जा सकता है, पर वह इस पद के लिये सर्वथा अनुपयुक्त हैं।

भारत का शिक्षामन्त्री प्राचीन भारत की आर्य भावनाओं से अनुस्यूत-वेदशास्त्रों का मर्मज्ञ-प्राचीन संस्कृति, साहित्य राजनीति तथा इतिहास का परम विद्वान् ही होना उचित है या नहीं? ऐसा व्यक्ति ही भारत की आत्मा को पहिचान सकता है, दूसरा कदापि नहीं। हमारा पूर्ण विश्वास है कि आर्यसमाज शिक्षा विषय में भारत का पूर्ण नेतृत्व कर सकता है। इसके लिये उसे कटिबद्ध हो जाना चाहिये। अब हिम्मत हारकर बैठ रहने से काम न चलेगा।

वर्त्तमान सरकार आर्यसमाज की बात क्यों नहीं सुनती

कांग्रेस के प्रायः सभी अधिकारी जेलों का अनुभव रखते हैं, उन्हें विश्वास है कि जब तक कोई व्यक्ति वा समुदाय जेल नहीं जाता, तब तक उसका कहना प्रचार करना आदि गहरी भावना वा इच्छा को प्रकट नहीं करता, हां ऐसा हो जावे तो अच्छा है, यहीं तक सीमित रहता है। क्या कहें यदि मेरठ में आर्यसमाज पर आनेवाली भावी आपत्तियों से लोहा लेने के लिये आर्यसमाज का संगठन ही दृढ़ बन गया होता, यह स्थिति उत्पन्न हो गई होती कि आर्य महासम्मेलन मेरठ के पश्चात् सार्वदेशिक सभा की घोषणा हुई नहीं कि दयानन्दरूपी हनुमान् की यह सेना पिल पड़ती और दूसरों को भी पता लग जाता कि प्राचीन भारतीय संस्कृति साहित्य और सभ्यता का रक्षक आर्यसमाज अब खड़ा हो गया है, इसका विरोध करना साधारण बात न होगी। तब भी बड़ा काम होता।

कांग्रेस सरकार के वर्तमान मुख्य अधिकारियों को पता है कि उनके पीछे-पीछे फिरनेवाले कुछ आर्यसमाजी कांग्रेसी हैं, इनके द्वारा आर्यसमाज कांग्रेस का परिशिष्ट (?) बनाया जा सकता है। जब कभी कोई उत्तेजना उत्पन्न हो जाती है, उसे शान्त करने वा टाल देने में ये लोग सिद्धहस्त हैं। इसलिये ये अधिकारी निश्चिन्त हैं। नहीं तो आर्यसमाज को इन्हें बता देना चाहिये था कि जहां वह विदेशी राज्य का सदा विरोध करता रहा, उसे राजविद्रोही माना जाता रहा। प्रत्येक आर्यसमाजी ने इसके लिये घोर यातनायें भोगीं। आर्यसमाज की संस्थाओं में पढ़े हुओं को जान बूझकर सरकारी पदों पर नहीं लिया जाता रहा।

अब भी आर्यसमाज घोषणा कर दे कि पूर्व की भांति अब भी वह सब कष्टों को सहन करता रहेगा, पर विदेशीय सभ्यता-विदेशीय साहित्य संस्कृति वा भावनाओं को भारत में पनपने न देगा, इसी के लिये इसका जन्म संसार में हुआ है।

हम नहीं समझते आर्यसमाज अपनी भारत सरकार से प्रार्थना करते रहने की नीति को कब छोड़ेगा। इसके छोड़ने के लिये तप-त्याग-सत्य व्यवहार-स्वार्थभावना से दूर-मानव हितभावना और कर्त्तव्य परायणता के आचरण आदि ही यथावत् साधन हो सकते हैं। यह सब कहने की बात नहीं करने की है। यदि प्रार्थना ही करते जाना है, तो 'आर्यसमाज' के स्थान में इसका नाम 'प्रार्थनासमाज' रख लेना ही अधिक सार्थक होगा। प्रार्थना होनी चाहिये, पर यदि प्रार्थना के पीछे जन बल न हो तो, वह प्रार्थना न तो कभी सुनी जाती है, न ही उसका कोई फल होता है। यह ठीक है कि हमें उचित मर्यादा के अन्दर ही रहना चाहिये, जिस का निर्देश हमारी सार्वदेशिक सभा द्वारा होना चाहिये।

आर्यसमाज और मुसलमान

इस विषय में आर्यसमाज-आर्य सार्वदेशिक सभा-आर्य महासम्मेलनों द्वारा हमें खुली और सच्चे हृदय से घोषणा कर देनी चाहिये कि ईसाई-मुसलमान आदि सब हमारे भाई हैं। उनकी माता बहिन बेटी हमारी माता बहिन बेटी के समान हैं और हम उनकी सदा रक्षा करेंगे। हम उनके किसी भी धार्मिक कार्य में बाधा न डालेंगे। उनको जो हानि वा पीड़ा पहुंचायेगा हम उनका विरोध और प्रतिरोध करेंगे। जबरदस्ती वा बलात्कार से हम किसी को आर्य (हिन्दू) नहीं बनाते न बनावेंगे। हां प्रेमपूर्वक विचार विनिमय द्वारा हम उन्हें वेदशास्त्रों, भारतीय संस्कृति साहित्य का महत्त्व दर्शाते रहेंगे। भारतीय संस्कृति में तो वह और हम प्रायः समान ही हैं। उन्हें अपने मत वा धर्मपुस्तक की अच्छाइयों को देश में दर्शाने का पूरा अधिकार है। हम प्रेमपूर्वक शिष्टतापूर्वक वादों द्वारा परस्पर निर्णय करते रहेंगे। हम पाकिस्तान में हिन्दुओं को वही अधिकार दिलाने में सतत प्रयत्न करते रहेंगे, जो भारत में मुसलमानों को प्राप्त हैं। यदि पाकिस्तान न माने तब अपने को भारतीय समझने के नाते हमारे मुसलमान भाइयों का भी यह परम कर्त्तव्य होगा कि वह इस विषय में सत्यतापूर्वक पाकिस्तान का विरोध करने के लिये हमारा

नेतृत्व करें वा हमें करने दें और उसमें पूर्ण सहयोग दें। यही बात अन्य इस्लामी देशों के सम्बन्ध में भी होनी चाहिये।

इस विषय में आर्यसमाज को अपनी नीति स्पष्ट घोषित करनी चाहिये। यह बात हमने इसलिये लिखी है कि इस विषय में आर्यसमाज के सम्बन्ध में बहुत सी मिथ्या तथा भ्रान्त बातें फैलाई जाती हैं, और आर्यसमाजी बन्धुओं को भी अपनी शिरोमणि सभा द्वारा इस विषय का स्पष्ट ज्ञान हो जावे, सबकी भ्रान्ति परस्पर दूर हो जावे।

वर्त्तमान निर्वाचन और आर्यसमाज

भारत के वर्त्तमान चुनाव में आर्यसमाज क्या करे। आर्यसमाज आर्यसमाज के रूप में वर्त्तमान राजनीति में भाग न ले, पर भारत की इस राजनीति को विशुद्ध भारतीय राजनीति बनाने अथवा वेदोक्त आदर्शों से अणुमात्र भी विचलित न होने देने के लिए हमारे मेरठ सम्मेलन ने क्या सुझाव दिया वा जनता का पथप्रदर्शन किया। इतना तो निश्चित कर देते कि अमुक बातें जिसमें हों, उसी को वोट दिया जावे। पता नहीं इस बात को भी क्यों टाल दिया गया। क्या आर्यसमाज की दृष्टि से यह बात आवश्यक न थी। वर्त्तमान निर्वाचन, नहीं-नहीं आगे के लिए भी पार्लियामेंट असेम्बली-म्युनिसिपैलिटी तथा बोर्ड आदि में भी सदा ऐसे ही गुणोंवाले व्यक्तियों को भेजा जावे, जो—

१. आस्तिक-अर्थात् ईश्वर वेद आप्तप्रमाण के विश्वासी हों।

२. सार्वभौमिक (जिसका कोई विरोधी न हो) धर्म के माननेवाले हों।

३. गुण कर्म स्वभावानुसार वर्णव्यवस्था तथा संस्कृत वेदशास्त्रों की शिक्षा में अनिवार्यता को स्वीकार करनेवाले हों।

४. गोवध-वनस्पति (घी) तेल तथा वर्त्तमान हिन्दूकोडबिल विरोधी (स्त्रियों के लिये उचित अधिकारों की रक्षा के पक्षपाती) तथा विधान के नियमों तथा शासन की योग्यता रखते हों।

५. प्राचीन भारतीय साहित्य तथा इतिहास के विषय में विदेशी वा अभारतीय गर्हित दृष्टिकोण के परम विरोधी हों।

इनको ही वोट दिया जावे।

विदेशी बृटेन अमैरिकादि के स्कालरों ने षड्यन्त्र कर रखा है, उस में

कुछ अङ्गरेजी पढ़े लिखे भारतीय स्कालर भी हैं, जो वेद को ईसा से २००० वा १५०० वर्ष पूर्व का मानते हैं। उपनिषदों को ईसा से ५०० से ८०० वर्ष पूर्व का, चरक को ईसा से १०० वर्ष पूर्व, धर्मसूत्रों को ईसा से २०० वर्ष पूर्व वा २०० वर्ष पश्चात् का मानते हैं। और यह घोषणा हमारी भारत सरकार तथा शिक्षामन्त्री मौलाना आजाद द्वारा देहली में "नैशनल इन्स्टीच्यूट आफ साइन्स इन इण्डिया" नामक सभा में की गई है (देखो टाइम्स आफ इण्डिया दैनिक ८ नवम्बर १९५०)।

ऐसे व्यक्ति न केवल अभारतीय हैं अपितु निन्दनीय भी हैं। ऐसे व्यक्तियों को कभी भारत के शिक्षामन्त्री या अन्य मन्त्री जैसे पवित्रपद को कलङ्कित न करने देना चाहिये। यह तभी हो सकता है जब ऐसे व्यक्तियों को पार्लियामैन्ट तथा असैम्बलियों के लिए वोट न दिये जावें।

आर्यसमाज इन बातों की घोषणा करे। उपर्युक्त पांचों बातों को हृदय से माननेवाला ही जनता के वोट का अधिकारी है। मुसलमान और ईसाइयों में भी उसी को वोट दिया जावे जो सिद्धान्ततः इन बातों को ठीक मानता हो और जो इन को अधिक से अधिक देशवासियों के लिए चालू करने को तत्पर हो। वेद में किसी भी जाति वा देशवासी के विरुद्ध कोई बात नहीं है। संक्षेपतः सदाचारी-आस्तिक-भारतीयता में श्रद्धा रखनेवाला, देश सेवक-नियम विधानादि का ज्ञाता—शासन की योग्यता रखनेवाले को ही सामान्यतया सब देशवासियों का वोट मिलना चाहिये। उपर्युक्त ५ बातें इसी की व्याख्या हैं।

इन पांचों विषयों में लिखित प्रतिज्ञा ली जावे कि यदि मैं इन बातों के विरुद्ध पार्लियामेण्ट वा असैम्बली में वोट दूं तो मेरा लिखित त्यागपत्र पांच सज्जनों के पास मेरे हस्ताक्षरसहित रहेगा, वह उक्त समय में लोक सभा की सदस्यता से मेरा त्यागपत्र माना जावे।

आर्यसमाज घोषणा कर दे कि कांग्रेस के नाम पर वोट किसी को न दिया जावे। आर्यसमाजी न मिलने पर कांग्रेस, जनसंघ, हिन्दू महासभा, रामराज्य परिषद्, सोशलिस्ट, प्रजापार्टी आदि का जो सदस्य इन पूर्वोक्त पांचों प्रतिबन्धों को स्वीकार करता हो, उसे ही जनता विशेषकर आर्यसमाजी बन्धु वोट दें।

हमने उपर्युक्त पांच बातें निदर्शनमात्र लिखी हैं, इनमें विचार कर यथोचित संशोधन भी किया जा सकता है।

आर्यसमाज में बहुनायकत्व

आर्यसमाज की ओर से ये सब निश्चय वा घोषणायें भारत के भावी कल्याण की दृष्टि से करने योग्य पवित्र कार्य हैं। यह तभी हो सकता है यदि आर्यसमाज का दृढ़ सङ्गठन हो। आर्यसमाज की शक्ति केन्द्रित हो, सञ्चालन एक स्थान से हो। यह इस योजना का परमावश्यक मूल सूत्र है। ये सब बातें सार्वदेशिक सभा कुछ दिनों में ही निर्धारित कर सकती है। यदि देश की स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए किसी निश्चित धारणा पर पहुंच कर आर्य जनता का पथप्रदर्शन करना हो।

ऐसा न होने से भिन्न-भिन्न दिशा से भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न ध्वनियां निकल रही हैं। एक ही समाज में अनेक नेता हैं, प्रान्तीय सभाओं का सर्वसम्मत नेता कोई नहीं। सार्वदेशिक सभा के निर्वाचित प्रधान को भी क्रियात्मक रूप में नेता नहीं माना जा रहा। आर्यसमाज क्या है, नेतासमाज है। सब जगह सभी नेता, कोई किसी की बात मानने को तय्यार नहीं। ये अच्छे लक्षण नहीं हैं। ये नाश के ही द्योतक हुआ करते हैं—

'अनायका विनश्यन्ति नश्यन्ति बहुनायकाः'

जहां कोई नायक न हो, वह कुल, परिवार, समाज नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। जहां बहुत नायक हों, वह भी नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। आर्यसमाज में बहुत नायक हैं। जो स्वयं किसी के पीछे न चल सकता हो, वह दूसरों को पीछे चला भी नहीं सकता। इस का प्रारम्भ नीचे से हो। आर्यसमाज में एक नायक नेता प्रधान सर्वसम्मत हो। उन नायकों का पुनः प्रान्तीय नायक हो, प्रान्तीय नायकों का एक सार्वदेशिक नायक हो। इसके विना सब क्रियाएं विफल रहेंगीं। सो आर्यसमाज का यह बहुनायकत्व इसे ले ही न बैठे, यही भय हो रहा है।

यहां तक हमने मुख्यतया राजनीतिविषयक प्रस्ताव के सम्बन्ध में विचार किया। अब हम सम्मेलन के अन्य प्रस्तावों पर विचार करते हैं।

आर्य महासम्मेलन के अन्य प्रस्ताव

आर्य महासम्मेलन मेरठ में यद्यपि १५ प्रस्ताव स्वीकृत हुए, जो कई

पत्रों में छप चुके हैं। अन्य अवान्तर १५ सम्मेलनों में भी लगभग १०० प्रस्ताव तो स्वीकृत हुए ही होंगे। सो पूर्ववत् इन सब के विषय में भी हमारा यही निवेदन है कि यदि पूर्व की भांति इस वार भी प्रस्तावों पर कार्य कुछ नहीं करना है, हमने प्रस्ताव पास करके ही बैठ जाना है, तब तो कलकत्ता और मेरठ में स्वीकृत प्रस्तावों की विपुल सामग्री हमारे सामने है, यदि ऐसा नहीं तो हमें उन्हें कार्यान्वित करने की कोई क्रियात्मक योजनाएं वनाकर कार्य करना चाहिये। यदि यह गाड़ी यों ही चलनी है, जैसी कि चलती चली आ रही है, तो मेरठ के स्वीकृत प्रस्ताव भी 'आर्यमित्र' 'सार्वदेशिक' आदि आर्यपत्रों में छप ही गये हैं, चलो वर्ष दो वर्ष के लिये छुट्टी हुई। जब फिर नया सम्मेलन होगा, उसी समय फिर नये प्रस्ताव वन जायेंगे। प्रस्ताव घड़नेवाले वीरों की आर्यसमाज में खूब भरमार है, जहां और जब चाहें मिल जायेंगे।

पूर्व निर्धारित नीति पर ही सम्मेलनों की सफलता

सव से मुख्य कमी इस बात की है कि नीति या उद्देश्य निश्चित किये विना ही सम्मेलन आदि समारोह आरम्भ किये जाते हैं, अथवा बहुत तुच्छ (छोटे वा घटिया) उद्देश्यों को लेकर आरम्भ किये जाते हैं। इसीलिये अन्त में जव सफलता का विवेचन करने बैठते हैं, तब कुछ पल्ले पड़ा दिखाई नहीं देता। महासम्मेलन, वेदसम्मेलन, शिक्षासम्मेलन, राजनीतिसम्मेलन आदि कोई भी सम्मेलन करने से पहिले हमारे सामने कोई लक्ष्य नहीं होता। इतना ही होता है कि चलो एक वड़ा उत्सव तो हो ही जायगा, और नहीं तो मेल-मिलाप तो हो जायगा। इसलिये प्रस्ताव पास कर लेने, और बोलनेवाले वक्ताओं को अधिक संख्या में अपनी-अपनी (वोलने की) खुजली मिटा लेने का एक साधन या अवसर मिल जाता है। पीछे न तू कहे न मैं कहूं, तू अपने घर मैं अपने घर, पल्ला झाड़ सब अपने-अपने घर पहुंच जाते हैं। घर पहुंचते-पहुंचते ही सब गर्मी (प्रेरणा) लुप्त हो जाती है, वह होती ही क्षणिक है।

इस प्रकार आर्यसमाज १०० वर्षों में भी आगे नहीं वढ़ सकेगा। इस की बात न कोई सुनेगा, न मानेगा। इसके प्रस्ताव अरण्यरोदन के सिवाय कुछ न होंगे। इसलिये आर्यसमाज के कई दूरदर्शी गम्भीर विचारक मेरठ-सम्मेलन के पश्चात् कहने लगे हैं—

महासम्मेलन गम्भीर विचारकों की दृष्टि में

(१) आर्यप्रतिनिधिसभा पञ्जाब के भूतपूर्वमन्त्री सभा के साप्ताहिक पत्र "आर्य" के सम्पादक श्री० पण्डित भीमसेन जी विद्यालङ्कार लिखते हैं—

"इस समारोह का आर्यसमाज के सार्वजनिक स्वरूप पर क्या प्रभाव पड़ा ? आर्यसमाज के शिक्षणालयों...... ...को एक सूत्र में ग्रथित करने के लिये क्या कोई योजना बनाई गई ? कोई नहीं। आर्यसमाज और राजनीति के सम्बन्ध में जो दो प्रस्ताव स्वीकार किये गये, क्या उनकी कोई व्यावहारिक क्रियात्मक उपयोगिता भी है। पिछले अनुभव के आधार पर इसका उत्तर भी नकारात्मक हैं। इस पर तो आर्यसमाज के प्रारम्भकाल से ही अमल किया जा रहा है। हमें आशा थी कि कोई ऐसी योजना भी उपस्थित की जायगी, जिससे स्वीकृत प्रस्तावों पर अमल किया जायगा—ऐसी योजना भी कोई उपस्थित नहीं की गई। समारोह, बाह्याडम्बर की दृष्टि से यह सम्मेलन सफल रहा, परन्तु आर्यसमाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने की दृष्टि से असफल रहा।"

—'आर्य' १८ नवम्बर, १९५१

(२) "किसी ठोस काम की दृष्टि से तो सम्मेलन को सफल कहना उचित न होगा, अच्छा होता इस सम्मेलन में भिन्न-भिन्न कार्यों के सम्बन्ध में कोई ठोस योजना बनाई जाती, ताकि इसको क्रियात्मक रूप देने के लिये आर्यसमाज जुट जाता, इस बात में भी आर्यसम्मेलन की सफलता का रहस्य कहा जाता।" (सम्पादकीय, आर्य प्रादेशिक सभा के साप्ताहिक 'आर्यगजट' २५ नवम्बर १९५१)।

(३) "यह बात असन्दिग्ध है कि मेरठ-सम्मेलन अपने पीछे कोई विशेष प्रेरणा नहीं छोड़ गया और यह भी असन्दिग्ध है कि इस समय आर्यसमाज के लिए एक प्रेरणा की अत्यन्त आवश्यता है।" (श्री० पं० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति भूतपूर्व प्रधान आर्यसार्वदेशिक सभा, आर्य-मित्र ६ दिसम्बर १९५१)।

(४) "साधारण उत्सवों और असाधारण सम्मेलनों में सर्वत्र नीति का अभाव है। प्रबन्ध के विचार से मेरठ का गत महासम्मेलन आदर्श था, ऐसा कहना बहुत अत्युक्ति न होगी।

गत मेरठ महासम्मेलन को हम एक प्रकार से वक्तृता-प्रदर्शिनी कह

सकते हैं··· विचारों की अनिश्चितता और नीति का सर्वथा अभाव।" (श्री० पं० गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय, भूतपूर्व मन्त्री सार्वदेशिक सभा, 'आर्यमित्र' २२ नवम्बर १९५१)।

(५) "इस प्रकार किसी ठोस काम की दृष्टि से तो सम्मेलन को सफल कहना उचित न होगा, हां एक महामेला और आर्यों के उत्साह प्रदर्शन की दृष्टि से सम्मेलन सब प्रकार से सफल हुआ॥" (श्री पं० सूर्यदेवजी एम० ए० सम्पादक 'आर्य मार्त्तण्ड' अजमेर)।

ये सब विचार वा उद्धरण सामान्य व्यक्तियों के नहीं हैं, अपितु उन के हैं, जो स्वयं महासम्मेलनों के संचालक रहे हैं और भिन्न-भिन्न आर्य प्रतिनिधि सभाओं के जिम्मेवार अधिकारी हैं। उपर्युक्त विचारों की पुष्टि इन उद्धरणों में कहे विचारों से प्रायः हो रही है।

आर्य महासम्मेलनों का भावी स्वरूप

यह सब लिखने का हमारा तात्पर्य इतना है कि विना नीति वा उद्देश्य निश्चित किये इस प्रकार महासम्मेलन वा समारोह करने का कोई लाभ नहीं। पहिले यह निश्चय होना चाहिये कि हमने सम्मेलन किस-किस विषय में विचार करने के लिये करना है। उनमें कौन-कौन से विषय अनिवार्य तथा मुख्य हैं, और कौन-कौन से अवान्तर या प्रासङ्गिक। उनकी सूचना सब आर्यसमाजों को देनी चाहिये। वे सब अपने-अपने हां उन सब बातों का निर्णय करके आर्यप्रतिनिधि सभा में भेजें, वे सार्वदेशिक सभा में भेजें। जितने विषयों पर सर्वसम्मति हो जावे, वे स्वीकृत, और शेष विषय विचार के लिए महासम्मेलन में रखे जावें।

कहां तक गिनायें अनेक समस्याएं हैं, जिन पर स्वतन्त्र भारत की नवीन परिस्थित में तत्काल ध्यान देने और देश को आर्यसमाज द्वारा पथप्रदर्शन की आवश्यकता है, जिस पर कि हम "वेदवाणी" के नवम्बर मास के आर्य महासम्मेलनाङ्क में अपने सम्पादकीय लेख में विस्तृत विचार उपस्थित कर चुके हैं। हमें तो उनमें से प्रायः बहुत से विषयों में शीघ्र ही आर्यसमाज द्वारा पथप्रदर्शन किए जाने की परमावश्यकता प्रतीत होती है। गम्भीरता से विशेष योग्य व्यक्तियों द्वारा आवश्यक विचारों पर विचार करने की प्रथा हमें डालनी होगी, तभी आर्यसमाज का अभीष्ट सिद्ध हो सकता है।

आर्य सार्वदेशिक सभा तथा आर्य महासम्मेलन का सम्बन्ध

हम समझते हैं कि समस्त आर्यों की शिरोमणि आर्य सार्वदेशिक सभा ने आर्य महासम्मेलन की, जिसका मेरठ में सातवां सम्मेलन था, नवीन रचना करके अच्छा किया या बुरा, यह तो भविष्य ही बतलाएगा। इस समय तो ऐसा प्रतीत होता है, जैसा कि मेरठ महासम्मेलन के तीसरे प्रस्ताव के अन्त के शब्दों से ध्वनित हो रहा है कि आर्यसार्वदेशिक सभा आर्य महासम्मेलन के प्रस्तावों को मानना नहीं चाहती। या उसके प्रस्तावों को एक परामर्शदातृसभा (Advisery Committee) के प्रस्ताव समझकर फाइल कर लेना मात्र चाहती है, उस को आवश्यकता पड़े, तो उनको निकाल कर देख भी लेगी। वह देखने वा कम से कम मानने के लिए वाध्य नहीं हो सकती। ऐसे वहुत आर्य पुरुषों के मन पर आभास पड़ता है। सार्वदेशिक सभा का कर्त्तव्य है कि वह इस विषय में जो वास्तविक स्थिति हो, उसे स्पष्ट कर दे। जिससे व्यर्थ में भ्रांति उत्पन्न होते रहने की संभावना ही न रहे। आर्यजनता की ओर से तो स्पष्ट घोषणा हो गई कि—

'महासम्मेलन के खुले अधिवेशन में केवल वही विषय विचारार्थ आते हैं, जिन्हें एतदर्थ विषयनिर्धारिणी सभा भेजती है। इस सभा के अधिकांश सदस्य सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के सदस्य होते हैं। इस प्रकार खुले अधिवेशन में स्वीकृत सब विषय सार्वदेशिक सभा के तथा सब आर्यसमाजों के प्रतिनिधियों द्वारा पुष्ट हो जाते हैं, अतः निश्चय किया जाता है कि उन सब विषयों को कार्यान्वित करना सार्वदेशिक सभा पर बाध्य होगा' (मेरठ आर्य महासम्मेलन का प्रस्ताव सं० ३)।

हम कहते हैं इस प्रस्ताव की आवश्यकता ही क्यों पड़ी। यह प्रस्ताव आना ही नहीं चाहिये था। पहले आर्य महासम्मेलनों के प्रस्तावों को स्वीकृत करने में क्या सार्वदेशिक सभा ने आना-कानी की वा मना किया, जो इस प्रस्ताव की आवश्यकता पड़ी। यह वात स्पष्ट अवश्य होनी चाहिए।

आर्य महासम्मेलन तथा अङ्गरेजी राज्य द्वारा स्थापित कांग्रेस में विचित्र समता

आर्यजनता की इस घोषणा वा निश्चय को आर्य सार्वदेशिक सभा

वैधानिक दृष्टि से रद्द नहीं कर सकती। अब तो गले पड़ा ढोल बजाना ही पड़ेगा। यह हम इसलिये कह रहे हैं कि इन आर्य महासम्मेलनों की स्थिति सर्वथा वैसी हो गई है जैसी कि अंगरेजी राज्य में कांग्रेस की। अंगरेजी गवर्नमैण्ट ने अपने सिर पर की वला टालने के लिये कांग्रेस की स्थापना की थी कि चलो वर्ष भर में ये लोग इकट्ठे होकर अपने हृदय के (उद्गार) निकाल लिया करेंगे, गवर्नमैण्ट इनके द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों में से जिस किसी के जितने अंश को मानना चाहती थी मान लेती थी, इसीलिये कांग्रेस पहिले-पहिले एक 'प्रार्थना सभा' सी बन रही, जो प्रतिवर्ष वड़े दिनों में इकट्ठी होकर बृटिश सरकार से प्रार्थना मात्र करती थी, इतना ही उसका काम वा अधिकार था। पीछे उसी कांग्रेस ने अङ्गरेजी सरकार को धत्ता बता दिया। 'भारत छोड़ो' की ध्वनि पहिले पहल तो धीमी सी उठी। अन्त में वह ऐसा रूप धारण कर गई, कि 'अङ्गरेज भारत छोड़ गये' जिसका किसी को अन्त तक विश्वास नहीं होता था। पर हमने देखा कि अङ्गरेज चले गये।

कहीं यही दृष्टान्त सार्वदेशिक सभा पर तो घटता नहीं दीखता ? सार्वदेशिक सभा ने तो अपनी सुगमता के लिये "आर्य महासम्मेलन" का रूप दिया, पर अब तो यह समस्या खड़ी हो गई है कि सार्वदेशिक सभा को आर्यमहासम्मेलन की आज्ञा वा प्रस्तावों का पालन करना होगा। ये रद्दी की टोकरी में नहीं फेंके जा सकते। वैधानिक रीति से तो पहिले से ही यह बात सिद्ध थी। पर अधिकारी इसे वर्षों से टालते रहे, ऐसा प्रतीत होता है। अब जब आर्य जनता ने मेरठ में तीसरे प्रस्ताव द्वारा इस विषय की स्पष्ट घोषणा कर दी है, तब तो बात ही सब साफ हो गई है। अब तो इसे हर अवस्था में सार्वदेशिक सभा को सहर्ष मान ही लेना चाहिये। इसी में इसका तथा आर्यसमाज वा आर्यजनता का गौरव है। यही हमारा नम्र निवेदन है।

आर्य सार्वदेशिक सभा तथा आर्यमहासम्मेलन के पारस्परिक सम्बन्ध में कोई विषमता नहीं आनी चाहिये। यदि ऐसा नहीं हुआ तो एक भारी विषम समस्या खड़ी होगी। यदि आर्यसार्वदेशिकसभा आर्यमहासम्मेलन में जनमत द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव को कार्यरूप देने में आनाकानी करती है, तो जनता भी ऐसी सार्वदेशिक सभा को मानेगी या नहीं, इसको भविष्य ही वतलायेगा। इसलिये हम आशा करते हैं कि इस विषय में बहुत ही गम्भीरता और सत्यता-सहृदयता से काम लिया जावेगा।

आर्य महासम्मेलन का स्थायी रूप

अब तो सार्वदेशिक सभा को आर्यों के इस महासम्मेलन को कांग्रेस जैसा रूप दे देना चाहिये। और कांग्रेस की भांति प्रतिवर्ष नहीं तो दो वर्ष में भिन्न-भिन्न नगरों में इस आर्य महासम्मेलन के अधिवेशन होने चाहिये। हम तो समझते हैं गुरुकुलों के उत्सवों के अतिरिक्त प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभाओं के वार्षिक चुनाव अधिवेशनों को भी प्रान्तीय कांग्रेस अधिवेशनों की भांति प्रान्तीय प्रचारादि के विषय में गम्भीर समस्यायें सोचने के लिये प्रान्तीय आर्य महासम्मेलनों का रूप देना चाहिये, वे केवल वार्षिक निर्वाचन तक ही न सीमित रहें। पर ये सब काम पूर्व निर्धारित नीति अर्थात् इनमें किन-किन विषयों पर विचार करना है, यह सब पहिले ही निर्धारित करके होने चाहिये। आर्यसमाजों में उन विषयों पर विचार करने के लिये कम से कम ४ मास पहिले भेजना चाहिये। वहां से जो विचार आवें, उन्हें प्रान्तीय आर्यसम्मेलनों में विचार कर निर्धारित किया जावे। संस्थाओं सम्बन्धी अलग विभाग बन जाना चाहिये। तभी आर्यसमाजों का संगठन सुदृढ़ बन सकता है। नहीं तो ये संस्थाएं आर्यसमाज की सारी शक्ति खींच लेती हैं। संगठन वा प्रचार का कार्य ढीला रह जाता है।

इन प्रान्तीय सम्मेलनों के प्रेषित विषय आर्यमहासम्मेलन में विचारे जा सकेंगे। आर्यसमाज को शक्ति वा संगठन की एकसूत्रता से महान् लाभ होगा।

हम तो समझते हैं आर्य सार्वदेशिक सभा प्रान्तीय सभाओं से अपने आपको आर्थिक वा प्रचार की दृष्टि से जो कुछ-कुछ हीन-असमर्थ सी अनुभव करती रही है, यह बात आर्य महासम्मेलनों द्वारा ही दूर हो सकती है। तभी सब की दृष्टि में ये महासम्मेलन सङ्कीर्ण न रहकर सार्वजनिक बन सकेंगे, जिसकी कि इस समय देश को परमावश्यकता है। स्वयं आर्यों को पता लगेगा कि हमारी क्या आवाज है। उसके लिये सर्वत्र एक दिशा में सब प्रयत्नशील रहेंगे। भारतीय जनता को आर्य-समाज से मार्गप्रदर्शन वा गहरी प्रेरणा मिलेगी, जिसकी आशा आर्य-समाज से की जा रही है। भारत सरकार वा उसके अधिकारी तभी आर्यसमाज की आवाज को सुनेंगे वा उन्हें सुनना पड़ेगा। तभी आर्य-

समाज वेदोक्त राजनीति का स्वरूप भारतीय जनता वा संसार के सामने रख सकेगा।

बहुत कम आर्यसमाजियों को इस बात का पता है कि देश, विशेषकर भारतीय संस्कृति की प्रेमी जनता बड़ी उत्सुकता और गम्भीरता से आर्यसमाज के मुख की ओर देख रहा है कि यह क्या पथप्रदर्शन करता है। काशी के बड़ेबड़े विद्वान् और देशभक्त नेता इसकी ओर देख रहे हैं, जैसे प्रकाशस्तम्भ (Search Light) दूर तक प्रकाश पहुंचाता है। यदि आर्यसमाज सजग हो जावे तो इस समय तो भारत को बहुत कुछ दे सकता है, जिसकी इस समय परमावश्यकता है। इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर हमने अवकाश न होते हुए भी वेदभाष्य जैसे आवश्यक कार्य को भी कुछ पीछे करके आर्यजनता के समक्ष अपने विचार नम्रतापूर्वक रखने का यत्न किया है। आर्यपुरुष इस पर गम्भीरता से विचार करें तो हम अपना यह तुच्छ प्रयास सफल समझेंगे।

आगे हम अन्य सम्मेलनों में क्या हुआ तथा क्या होना चाहिये, इस विषय में यथासम्भव अपने विचार उपस्थित करना तो चाहते हैं, देखें कहां तक कर पाते हैं।

[वेदवाणी, वर्ष ४, अङ्क ३]

अज्ञानी भारत !

सुख शान्ति का पाठ ऋषि दयानन्द से पढ़ !!!

तत्त्वज्ञान या यथार्थज्ञान से ही संसार में सुख शान्ति प्राप्त होती है। अविद्या अज्ञान ही सब दुःखों का मूल है। अज्ञान वा मिथ्या ज्ञान से राग-द्वेषादि दोषों की उत्पत्ति होती हैं। राग-द्वेष से धर्माधर्म भले-बुरे में मनुष्य की प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति से ही जन्म अर्थात् विशिष्ट शरीर-सम्बन्ध होता है। यह शरीर-सम्बन्ध वा जन्म ही तो दुःख का कारण बनता है। आत्मा के विषय में यह समझने लग जाना कि आत्मा है ही नहीं, अथवा अनात्मा-अचेतन शरीरादि जड़ पदार्थों को ही आत्मा समझने लग जाना; दुःख के देनेवाले कर्मों को सुख के देनेवाले और सुख के देनेवाले कर्मों को दुःख के देनेवाले समझने लगना; अपवित्र शरीर आदि को पवित्र, अकर्तव्य को कर्तव्य, अनिन्दित को निन्दित समझने लगना इत्यादि ये सब अविद्या अज्ञान ही के चमत्कार तो हैं।

कर्मवाद वा कर्मफल में आस्था का न होना, राग-द्वेष ही विविध सृष्टि के मूलाधार हैं वा नहीं इत्यादि भ्रम वा संशय अज्ञानी मूढ़ व्यक्ति के हृदय में उत्पन्न होते रहते हैं, जो काम-क्रोध-लोभ-मोह-अहङ्कार का रूप धारण कर लेते हैं, जिनकी आगे अनन्त शाखाएं फूटती हैं।

इसके विपरीत जब तत्त्वज्ञान-यथार्थज्ञान अर्थात् ठीक ज्ञान हो जाता है, तब मनुष्य को समझ में आ जाता है कि शरीर का अधिष्ठाता एक चेतन है। मरे व्यक्ति का शव (लाश) जड़ मट्टी होता है। शरीर अनित्य है, सदा नहीं रहता। आत्मा नित्य है, तभी तो पूर्व जन्म के संस्कारों को लेकर आता है। जब तत्त्वज्ञान हो जाता है अर्थात् अज्ञान दूर हो जाता है, तब पूर्व कहे सब संशय दूर होने लगते हैं। तत्त्वज्ञान तभी होगा, जब उसका मार्ग पकड़ा जावे।

क्या यह सब अज्ञान भारत में है या नहीं ? इतनी मात्रा में मिलेगा कि जिसकी कोई सीमा नहीं। शिक्षित वा पठित समझेजानेवाले समुदाय में ही देखा जावे तो इस अज्ञान-अविद्या का भयङ्कर रूप दृष्टिगोचर होगा। सर्वत्र प्रायः नास्तिकता की ही प्रधानता मिलेगी ! आस्तिकता

जितनी कुछ कि वह है, वह भी मिथ्याविश्वासों वा शास्त्रों का यथार्थ ज्ञान न होने के कारण भ्रान्तिपूर्ण ही दिखाई देगी। साइन्स वा विज्ञान के पढ़ने वा पढ़ानेवाले बड़े-बड़े तर्क उठानेवाले व्यक्ति भी अन्ध परम्परा में निमग्न वा लीन दिखाई देंगे। शताब्दियों से सत्य वा यथार्थता से दूर रहने के कारण भटकना ही भटकना दृष्टिगोचर होता है। भारत का शिक्षित वर्ग अभी तक भी अधिकांश में मिथ्यारूढ़ियों वा मिथ्या विश्वासों के भंवर में पड़ा मिलता है।

यह तो हुई शिक्षित वर्ग की बात। अशिक्षित वर्ग का तो कहना ही क्या। गत चुनाव पोलिंग स्टेशनों पर परची डालनेवाली पेटियों के सामने माता-बहिनों को हाथ जोड़ खड़े होकर माथा टेकते हमने देखा। स्त्रियां ही नहीं, पुरुषों को भी उन पेटियों की पूजा करते देखा। गली में बैठे बैल (सांड़) पर परची डालकर अमृतसर की मारवाड़ी देवियों ने भारत का रिकार्ड मात कर दिया। मोतीझील में फाटक से भीतर घुसते ही संगमरमर के दो शेर सीढ़ियों पर चढ़ते हुए बड़े सुन्दर बने हुए हैं। आज ही प्रातः चन्द्रग्रहण पर गङ्गा स्नान से लौटती हुई कुछ देवियां पहले तो उस शेर के पास गयीं; देख दाख कर उसके मुंह में उसके दांतों को अपनी अंगुलियों से छूती रहीं। पीछे चलते समय उसको माथा टेक कर गयीं। वाह रे भारतवर्ष ! तेरा विज्ञान चिरकाल से यही रह गया है। ३५ करोड़ में से ३० करोड़ तो इस समय ऐसा ही होगा। मैं कहता हूं यदि किसी ने भी वोटों की पेटियों पर गौ और बछड़ा का सुन्दर चित्र बनाये होते तो देश की बड़ी-बड़ी तोपें (नेता) लुढ़क गई होतीं, बैलों की जोड़ी खड़ी की खड़ी रह जाती और गौ बछड़ा सब वोट ले जाते।

भारत तो शताब्दियों से जिधर जिसने लगा दिया, उधर ही लगा चला जा रहा है। अशिक्षित शिक्षितों की भेड़ें (साधन वा भोजन) होते हैं। वह न हों तो उनका काम कैसे चले। इसलिए वे नहीं चाहते कि ये शिक्षित बनें। विचित्र समस्या है। इसका हल हो तो कैसे हो !!

स्कूली शिक्षा ने जनता के हृदय से धर्म की भावना का और भी लोप कर दिया है। कुछ थोड़े से गिने-चुने व्यक्ति देश में रह गये हैं, जिनको धर्म के सच्चे स्वरूप अर्थात् उसकी सार्वभौमिकता का ज्ञान है और जो देश में सच्ची धर्म भावना का प्रसार करना चाहते हैं। जितना प्रसार वे बड़े यत्न से करते हैं, उसके कई गुणा विपरीत प्रचार बड़ी तीव्रता से

स्वयं होता जा रहा है। ऋषि दयानन्द या अन्य सुधारकों के धक्के से वेश्याओं का नाच-गाना, मद्य-मांस का सेवन, रिश्वत, बेईमानी आदि पापों के प्रति घृणा की भावना भारतीय जनता में उत्पन्न हो रही थी। गत कुछ वर्षों से इतना विपरीत चक्र चलता दिखाई दे रहा है, कि जिस की कोई सीमा नहीं रह गई। सिनेमा-थियेटर-रेडियो आदि इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। रेडियो की बीमारी हमारी धार्मिक संस्थाओं और धार्मिक परिवारों में भी घुस गई। समाचार तो भला थोड़ी देर के लिए सुनें तो सुनें, रात्रि-दिन रेडियो चलता है। नवयुवक-युवतियां और बच्चे तक गन्दे गाने सुनते नहीं अघाते। कला वा आर्ट के नाम पर बीभत्स गन्दे गाने पास रहनेवाले हर किसी को सुनने पड़ते हैं। एक परिवार में रेडियो चलता है तो १०-२० परिवार के बच्चे बच्चियां गली में कूदते और गन्दे गानों को अनुकरण से गाते देखे जाते हैं और कोई रोकता नहीं।

वोधरात्रि—पवित्र शिवरात्रि प्रतिवर्ष आती है और चली जाती है। प्रत्येक भारतवासी का यह सामान्य और प्रत्येक आर्य बन्धु का यह विशेष कर्त्तव्य है, वह सोचे कि भारतवर्ष का यह अज्ञान-अन्धकार कैसे दूर होगा? सर्वं प्रथम हमने अपने अज्ञान-अन्धकार को कहां तक दूर किया? अपना, अपने पुत्र-पुत्री परिवार का अज्ञान दूर किया? तभी हम अपने मित्र-सम्बन्धी-गली-मुहल्लों के अज्ञान अन्धकार को दूर कर सकेंगे। 'स्वयं नष्टः परान् नाशयति' जो स्वयं अज्ञान अन्धकार से परिपूर्ण है, भला वह दूसरों का अज्ञान अन्धकार कैसे दूर कर सकता है। घर में स्वयं रेडियो के गन्दे गाने सुननेवाला वा स्वयं सिनेमा में जाने वाला अपनी सन्तान को कैसे मना कर सकता है?

हमें यह समझ लेना चाहिये कि महापुरुष समय-समय पर जाति वा देशों के अन्धकार को दूर करके चले जाते हैं। ऋषि दयानन्द भी भारत वा संसार के अन्धकार को देर करने का यत्न करते हुए चलें गये और सौभाग्यवश अपनी अमर कृतियों (सत्यार्थ-प्रकाशादि ग्रन्थ) द्वारा उक्त अन्धकार सहस्रों वर्षों तक दूर करते रहने के साधन हमारे हाथ में देकर गये। अब हमें यह सोचना है, कि हमने उनसे कहां तक लाभ उठाया। महापुरुषों की कृतियां ही उनके सच्चे स्मारक वा प्रतिदिन दर्शन कराने वाले होते हैं।

हमारी यह दृढ़ धारणा है कि ऋषि दयानन्द द्वारा प्रदर्शित वैदिक

मार्ग ही भारत का कल्याण कर सकता है। भिन्न-भिन्न मत मतान्तर वा पार्टियों का परस्पर समन्वय वा लोप ऋषि के दर्शाये मार्ग से ही हो सकता है। एक ईश्वर-वेद और वेदप्रतिपादित (वैदिक) अर्थात् सार्वभौमिक धर्म ही मानव समाज की शांति का साधन वा सर्व रोगापहारी औषध है। भारत के वर्तमान घोर नैतिक पतन अर्थात् चोर बाजारी रिश्वत-बेईमानी खाद्य वस्तुओं में सर्वत्र मिलावट परस्पर अविश्वास भिन्न-भिन्न मति अज्ञान अविद्या अन्धकार का नाश ऋषि दयानन्द प्रदर्शित वैदिकमार्ग के अवलम्बन से ही हो सकता है। 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।' ३५ करोड़ में से लगभग ३२-३३ करोड़ अज्ञानी भारतीयों द्वारा मत (वोट) प्राप्त कर भारत का शासकवर्ग भारत का संकट दूर नहीं कर सकेगा।

३५ ज्ञानियों द्वारा निर्वाचित वा नियुक्त भी यदि मिलकर एक मन वा एक पथगामी होकर चलावेंगे तो भारत संसार में चमक उठेगा।

'दयानन्द ऐसे ज्ञानियों में उच्चतम ज्ञानी थे।'

भारत को इस बात के समझने और समझाने की आवश्यकता है।

आर्यसमाज खड़ा हो जावे। सत्य पर आरूढ़ निष्काम भाव से निर्भय होकर स्वार्थत्याग की भावना से ऋषि दयानन्द के दर्शाये पथ पर स्वयं चलकर दिखा दे, मुख से कुछ न कहे, तो भारत का महाकल्याण हो सकता है। हम क्या करते हैं, संसार यही देखता है, हम क्या कहते हैं, इसकी अब संसार को इतनी आवश्यकता नहीं रह गई है।

हमारा दृढ़ विश्वास है कि वैदिक आर्ष ज्ञान (ऋषियों द्वारा दिय) ही भारत के समस्त रोगों की अचूक औषध है। आर्यसमाज ने अभी तक उस आर्ष ज्ञान का मार्ग ठीक-ठीक पकड़ा नहीं है। अनार्षता को भी साथ-साथ लिए चला जा रहा है। अमृत के साथ विष भी तो अपना प्रभाव रखता ही है। आर्यपुरुष भ्रान्ति में यह सोचने लगता है कि कोई बात नहीं, अमृत हमारे पास है, विष क्या करेगा। वास्तविक स्थिति यह है कि अमृत बहुत थोड़ी मात्रा में हमारे पास होता है, उधर विष बहुत अधिक मात्रा में होता है, जिसे हम देखते नहीं, या वह हमारी कमी से हमें दिखाई नहीं देता। इसी से कुछ बनता नहीं। आधी छटांक घी का हवन, सो भी सप्ताह में एक वार, भला मुहल्ले व गली की गन्दगी-

दुर्गन्ध का नाश कहांतक कर सकता है। इसीलिये कहा—अविद्या अज्ञान सब पाप-दोषों वा दुःखों का मूल है। संसार अज्ञान की ही तो सृष्टि है।

इस समय जब कि हमारा देश स्वतन्त्र हो चुका है, इसकी रक्षा तथा समृद्धि के लिये हमें अपने प्राचीन ऋषि-मुनियों के ज्ञान-शिक्षा-अनुभवों से लाभ उठाना चाहिये। तभी हमारा देश सफल हो सकेगा। जो सज्जन विदेशी सभ्यता शिक्षा में पले हैं या जिनको उसका ही सदा दर्शन हुआ है, उन्हें तो हमारा यह कथन कि वैदिक वा आर्ष ज्ञान से ही हमारा भारत समृद्ध वा समुन्नत हो सकता है, प्रमत्त प्रलाप के समान ही प्रतीत होगा, पर प्राचीन संस्कृति-सभ्यता-साहित्य में आस्था रखनेवाले सज्जनों को मानना ही होगा कि शास्त्र (शासन-निर्देश) की आवश्यकता अनिवार्य है। अशान्तमन, अस्थिरमति शास्त्रनिर्माण नहीं कर सकते। सब शुद्ध वा संयतमना नहीं हो सकते। संयतमना महापुरुष ही संसार के कर्णधार और समाज के नेता वा जीवनयात्रा के परिचायक होते हैं। अपनी शास्त्ररूपी कृतियों द्वारा ये संसार में चिरञ्जीवी रहा करते हैं। दयानन्द इसी कोटि के महान् आत्मा थे। भारत ! दयानन्द से यह पाठ पढ़; तभी तुम्हारा कल्याण होगा। क्षुब्ध भारतवासी ! एक वार इस महापुरुष की कृति को पढ़ तो सही, फिर देख तुम्हें जीवन की प्रत्येक समस्या का हल इस महापुरुष की कृति से मिलता है या नहीं !!

अरे दुःख वा अशान्ति से सन्तप्तहृदय भारतवासी ! वैदिक (वेदरूपी) सूर्य बहुत देर से चढ़ चुका हुआ है, अब तो आंखें खोल। सहस्रों वर्षों की निद्रा को त्याग ! अज्ञान को त्याग ! तभी छुटकारा होगा ! शिवरात्रि यही सन्देश हमें देकर जा रही है !!!

सब को सुमति दो भगवान् !!!

[वेदवाणी, वर्ष ४, अङ्क ५]

वेदवाणी का सप्तम वर्ष

सृष्टि के आदि में परम कारुणिक प्रभु ने जहां मानव के लिए, नहीं-नहीं सब जीवों के कल्याणार्थ वा कर्मफलभोगार्थ विविध पदार्थों की रचना की, वहां उसे सब जीवों को इन पदार्थों से उपयोग लेने के लिए ज्ञान भी देना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य था, सो उसने वह ज्ञान दिया, उसी को हम वेद कहते हैं। जीवसम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की पूर्त्ति इस ज्ञान से होनी चाहिए। इसलिए 'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति' 'सब ज्ञान की उत्पत्ति वेद से है' ऐसा समस्त ऋषियों का कहना है।

जो सृष्टि का कर्त्ता, निर्माता, नियन्ता, संहर्त्ता भगवान् को नहीं मानते और यह सृष्टि ऐसी की ऐसी अनन्तकाल से चली आ रही है, वा आगे चलती रहेगी, न इसका आदि है न अन्त, और पञ्चभूत स्वयं ही उत्पन्न होते और लीन होते रहते हैं, ऐसा मानते हैं और यह भी मानते हैं कि ज्ञान का भी क्रमशः विकास होता है, ऐसे विकासवादी न तो प्रभु की सत्ता में विश्वास करते हैं और न ही उसके सृष्टिकर्तृत्व या संहर्तृत्व में। ऐसे व्यक्ति वेद को ईश्वर की वाणी न मानकर एक पुराना लेख (डौकुमेण्ट) मानते हैं। वहुत से तो इसे बेहूदा गली सड़ी बातों से पूर्ण मानते हैं। वे समझते हैं संसार वहुत आगे निकल गया। इन पुरानी असम्बद्ध बातों में व्यर्थ समय क्यों खोया जावे। यह विदेशीय राज्य और विदेशी संस्कृति-सभ्यता के प्रति आकर्षण वा आस्था तथा अपने साहित्य को छोड़ देने का परिणाम ही कहा जा सकता है। हम ऐसे व्यक्तियों को वैदिक या भारतीय संस्कृति से भ्रान्त वा दूर ही समझते हैं। हां कुछ एक ऐसे महानुभाव भी हैं, जिन्हें भारतीयता से तो प्रेम है, पर स्वयं भारतीयता से, विदेशी शिक्षा-दीक्षा के कारण बहुत दूर हो चुके हैं, ऐसे महानुभाव वेद को संसार की लायब्रेरी में सबसे पुरानी पुस्तक मानकर उसके प्रति अपनी श्रद्धा वा आस्था प्रकट करते हैं। पर विकासवाद के सिद्धान्त में उनका विश्वास होने के कारण वे समझते यही हैं कि संसार ज्ञान में बहुत आगे बढ़ गया है। भारतीय समाज वेद को ही पकड़कर बैठा रहे, सो ठीक नहीं।

हमारा कहना यह है कि इस सब विचारधारा के मूल में ईश्वरा-

विश्वास तथा विकासवाद सिद्धान्त ही कारण है। विचारशील पाठक जितनी गहराई से इस बात को विचारेंगे, हमारी यह बात उन्हें उतनी ही अधिक समझ में आने लगेगी।

निस्सन्देह यह बात कि 'सर्वज्ञानमयो हि सः' 'वेद समस्त विद्याओं का भण्डार है' ऋषियों-मुनियों तथा आप्तप्रमाण से तो सिद्ध है, अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध है और हो सकती है। प्रत्यक्ष-प्रमाण से अभी यह पूर्णतः सिद्ध है, सो नहीं कहा जा सकता, हां, ऐसा हृदय से माननेवालों की संख्या भारत में इस समय अल्प है यह बात माननी होगी। यह बहुत भारी समस्या है, जिसका हल भारत को करना है और का तो न इसमें सम्बन्ध है, न रुचि ही। सो इसीलिये प्रत्येक भारतीय को वेद का अनुशीलन करने की आवश्यकता है और इस की कोई न कोई योजना बनना या बनाना परमावश्यक प्रतीत होता है।

जब हम भारत के प्राचीन (एक सहस्र वर्ष पूर्व) काल पर दृष्टि डालते हैं तो हमें वह समय बड़ा सुखमय, शान्त और आध्यात्मिक-आर्थिक-शारीरिक वा भौतिक दृष्टियों से सभी प्रकार समुन्नत दिखाई देता है। जहां चोरी-झूठ अनाचारादि दोष प्रजा में नहीं थे, वहां खान-पानादि की भी कुछ कमी न थी। यम-नियमों के पालन में प्रजा और अधिकारी वर्ग निष्ठापूर्वक तत्पर रहते थे। कोई बेकार न था। ऐसे स्वर्णमय समय का स्मरण करके किस भारतीय का सिर गर्व से ऊंचा नहीं हो जाता। दूसरी ओर वर्तमान परिस्थिति एक दम विपरीत देखकर किस भारतीय आत्मा में चोट न लगती होगी। जहां अब जनता में, भारत स्वतन्त्र हो जाने पर भी शान्ति-सन्तोष-निर्भयता का नाम नहीं, जिसके पास है और जिसके पास नहीं है, दोनों ही अशान्त और असन्तुष्ट और चिन्ताग्रस्त वायु में निमग्न हैं। जिसके पास है उसकी गृधा (लालसा) इतनी बढ़ी हुई है कि चाहे प्रति वर्ष कितना भी लाभ हो जावे, वह शान्त होने में नहीं आती। परिवार के निर्वाह से बहुत कुछ बचे रहने पर भी पचास वाला सौ और सौ वाला पांच सौ, पांच सौ वाला हजार, हजार वाला दस हजार और वह लाख, लखपति, करोड़-पति, अरबपति इसी प्रकार आगे लालसा-तृष्णा यहां तक बढ़ी है और बढ़ रही है कि बिना कुछ किये ही सट्टा-जुआ वा जनता के आचार को सर्वथा नाश करनेवाले सिनेमा आदि गन्दे कार्यों द्वारा पाप की कमाई में

भी संसार वा भारत पूरी तेजी से अग्रसर होता दृष्टिगोचर हो रहा है। बाहरी प्रदर्शन-सफेद वस्त्र सूट-बूट वा चमकीले वस्त्रों द्वारा (प्रभाव) डालने की प्रवृत्ति दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है।

कहां तो प्रातः काल उठते ही शौच स्नानादि से निवृत्त होकर प्रभु-भक्ति, आत्मचिन्तन में चारों आश्रम और सभी वर्ण तत्पर देखे जाते थे, जो नहीं करता था, वह जाति देश का दण्ड-भागी समझा जाता था। कहां आजकल जो ऐसा करे, वह हास्यास्पद वा आक्षेपपात्र हो रहा है। कितना अन्तर है। इतना ही नहीं, आप बम्बई, कलकत्ता, देहली आदि बड़े-बड़े शहरों में देखें, हर एक व्यक्ति वसों में, तागों में, ट्रामों, साईकिलों वा कारों में एकदम अशान्त इधर से उधर हर समय भागता हुआ ही दिखाई देगा। पढ़नेवाले बच्चे-बच्चियों की भी दौड़ ही प्रधान बन गई है, पढ़ाई कितनी होती है, सो भगवान् ही जाने। धर्म नहीं, कर्म नहीं, आत्मा की शान्ति, परिवार में परस्पर सद्भावना का वा पुत्र-पुत्रियों की पढ़ाई वा उनके रहन-सहन वा सङ्गति-व्यवहारादि की देखभाल के लिये समय ही नहीं, मशीन की तरह एक भाग-दौड़ ही दिखाई देती है, जो यौवन में तो कुछ निभ भी जाती है, शरीर निर्बल होने पर यह अत्यन्त असह्य हो उठती है।

इस प्रकार वहुधन्धी यह संसार कहां पहुंच रहा है, गहरी दृष्टि से देखनेवाले सज्जन ही पूरी स्थिति का अनुभव कर सकते हैं। विदेशीय सभ्यता की चकाचौंध ने हम भारतीयों को एकदम कर्तव्यहीन तथा स्वार्थान्ध कर रखा है। भारतीय संस्कृति, सभ्यता और साहित्य से एक दम दूर कर दिया है। रोग इतना बढ़ गया है कि रोगी को यह भी अनुभव नहीं होता कि मैं रोगी हूं। वह समझता है कि मुझे रोगी समझने वाले ही रोगी हैं, वे प्रगतिविरोधी हैं, मैं ही प्रगतिशील हूं, यह अवस्था देश, जाति वा संस्कृति की दृष्टि से अतीव घातक है।

ऋषियों की मानव को देन

जहां हम देखते हैं कि जितने डाक्टर-वैद्य वा हकीम बढ़ते जाते हैं, रोग व रोगियों की संख्या भी उतनी ही तीव्रता से बढ़ती जा रही है। हर एक डाक्टर-वैद्य-हकीम ने बड़ी-बड़ी दुकानें खोल रखी हैं वा खोलना चाहते हैं। रोगियों से अधिक से अधिक फीस या दवाइयों के नाम से मूल्य वसूल कर लेना चाहते हैं। रोगी कितने दिनों में ठीक हो, इसकी

उन्हें कुछ भी चिन्ता नहीं। शारीरिक रोगों की रोक-थाम के लिये बड़ी-बड़ी योजनायें बनती वा बनाई जा रही हैं। पर यह भी किसी ने कभी सोचा कि मानसिक वा आत्मिक रोगों को दूर करने की योजना भी बनाई जावे !!! इनके अचूक नुस्खे ऋषियों के ग्रन्थों में पदे-पदे दिये गये हैं, जिनका कोई मूल्य भी देना नहीं पड़ता, विना फीस के ये नुस्खे अनुभूत नुस्खे हैं। ऐसे ही संगृहीत कर दिये गये हैं, सो बात नहीं, सब के सब अनुभूत होने पर ही लिखे गये हैं। मानव के लिये ऋषियों की यह अपूर्व देन है। अभागा मानव यदि इनसे लाभान्वित नहीं होता या नहीं हो पा रहा, इसमें सबकी अपनी ही अयोग्यता, अश्रद्धा वा अज्ञान कारण है और कुछ नहीं। ऋषियों के इस अपूर्व ज्ञान का स्रोत वा उद्गम स्थान ऋषियों के अपने शब्दों में 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' वेद है। वेद का प्रत्येक मन्त्र जीवन की किसी न किसी समस्या को हल करता है, खोजनेवाला और समझनेवाला चाहिये।

वेदवाणी और वेद तथा वैदिक संस्कृति का सम्बन्ध

विना मूल्य वा विना फीस के वेद के इन नुस्खों को संसार के सामने विशेषकर भारतीय जनता के सामने उपस्थित करने के लिये ही 'वेदवाणी' का आरम्भ इसके सञ्चालकों ने किया है। गत अनेक शताब्दियों से वैदिक संस्कृति की इस वैदिक धारा के वन्द हो जाने या अति क्षीणावस्था में हो जाने के कारण इसका यथार्थ स्वरूप इस समय भारतीय जनता के समक्ष आ नहीं रहा, इस कारण जनता इन वैदिक नुस्खों से वञ्चित हो रही है। इसकी पूर्ति के लिये वेदज्ञान को लक्ष्य बनाकर 'वेदवाणी' रूपी वैदिक धारा चल रही है। वेद की वाणी वेदमन्त्रों का आश्रय लेकर चलने के उद्देश्य से ही इसका नाम वेदवाणी रखा गया। यथासम्भव वेदमन्त्रों का आश्रय लेकर ही यह मासिक पत्रिका चलाई जा रही है, वा चलाने का यत्न किया जा रहा है। हम चाहते हैं कि इस उद्देश्य को लेकर देश में अनेक पत्र और पत्रिकायें प्रकाशित हों।

वैदिक संस्कृति की मुख्य देन यम-नियम

यदि हमसे कोई पूछे कि वैदिक संस्कृति वा भारतीय संस्कृति की भारत को वा संसार को सबसे मुख्य देन क्या है, तो हम कहेंगे यम-नियम, दूसरे शब्दों में यम-नियम सार्वभौम या सार्वजनिक धर्म के मूल हैं।

यम—

(१) अहिंसा=मन वचन कर्म से किसी को भी दुःख न पहुंचाना।

(२) सत्य= ,, ,, ,, से सत्य का व्यवहार करना।

(३) अस्तेय= ,, ,, ,, से चोरी का त्याग, पराई वस्तु को बिना आज्ञा न लेना।

(४) ब्रह्मचर्य= ,, ,, ,, से इन्द्रियों पर पूर्ण विजय प्राप्त करना।

(५) अपरिग्रह= ,, ,, ,, से आवश्यकतायें कम से कम रखना, प्राप्त होते हुए भी लोलुप न होना। इन पांच बातों के साथ आत्मा और मन का सीधा सम्बन्ध है। इन में प्रवञ्चना नहीं हो सकती। यदि प्रवञ्चना होगी तो इनका स्वरूप तत्क्षण विकृत हो जावेगा। वे यम नहीं कहलायेंगे।

नियम—

(६) शौच=शरीर मन आत्मा की शुद्धि वा पवित्रता।

(७) सन्तोष=पुरुषार्थ के अनन्तर प्रभु पर छोड़ देना, शान्ति का यह परम शस्त्र है।

(८) तप=धर्म कर्तव्य (इन यम-नियमों) के पालन में चाहे कितना ही कष्ट हो, हानि हो, अपने कर्तव्य पर दृढ़ रहना, पथविचलित न होना।

(९) स्वाध्याय=वेद वा ऋषियों-मुनियों की कृतियों का अध्ययन वा ज्ञान उपलब्धि वा ज्ञानवृद्धि।

(१०) ईश्वर-प्रणिधान=ईश्वर-भक्ति वा आत्मचिन्तन।

ये बातें ऐसी हैं जिनका संसार में कोइ विरोधी नहीं, इनको सब कोई मानता है, इस विषय में किसी का कोई मतभेद नहीं। ईश्वर न मानने वाले भी कोई न कोई 'शक्ति' तो मानते हैं, हम उसी परम शक्ति को 'ईश्वर' कहते हैं। ये यम और नियम वेद की, वैदिक संस्कृति वा भारतीय संस्कृति की संसार को एक अद्भुत देन है। मानवता के मूलभूत सिद्धान्त यही हैं, इन्हीं सिद्धान्तों वा नियमों पर आश्रित मानवता संसार में पनप सकती है। इनका परिपालन न करने से ही व्यक्ति-व्यक्ति और समाज-समाज वा राष्ट्र-राष्ट्र में विषमता उत्पन्न हुई, यह संसार का इतिहास बताता है।

भूत में विषमतायें उत्पन्न हुईं, यहीं तक नहीं, आगे भी विषमतायें उत्पन्न होती रहेंगी यह निश्चित है। इसमें सन्देह का स्थान नहीं।

परिवारों में यदि परस्पर विषमता (जिससे वर्तमान में पारिवारिक जीवन को प्रायः दुःख वा विनाशपूर्ण बना रखा है) है तो इन नियमों पर न चलने से ही है। विषमता कहीं भी हो, चाहे व्यक्ति में हो या समाज में, उसका मूलाधार यम नियमों का परित्याग ही निकलेगा, चाहे वह कितनी ही गहराई में पहुंचने पर मिल सके।

यम नियमों के पालन की सफलता ही मानव जीवन की सफलता है। वेद ही इस विषय में सबसे अधिक और प्रत्येक मन्त्र द्वारा प्रतिपादन करता है।

वेद का प्रत्येक मन्त्र इन यम नियमों में से किसी न किसी का निरूपण अवश्य करेगा चाहे, वह निरूपण कितना ही गम्भीर व सूक्ष्म रीति से कहा गया हो।

ऐसे वेद के अनुशीलन की इच्छा किस मानव को न होगी। मानव कृत निर्देश वा भावनायें उसके अल्पज्ञ होने से अल्पतापूर्ण ही मिलेंगी। पूर्णात्मा प्रभुकृत निर्देश वा भावनायें, उस अपने आप में पूर्ण होने से सदैव पूर्ण रहा करती हैं। इसलिये वेद का अनुशीलन परमावश्यक वा अनिवार्य है। यह बात सहज में समझ में आ जाती है।

सच्ची आध्यात्मिकता यही है कि यम नियमों के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान तथा पालन हो, इसीलिये १० यम नियम योग के पहिले दो अङ्ग हैं। इनके बिना योग कुछ नहीं, बिना प्राण के शरीर है। यम नियमों के सच्चे स्वरूप का निरूपण सब से बढ़ कर वेद करता है। हम ही कहते हों, सो नहीं, प्रत्येक ऋषि-मुनि इनका प्रतिपादन करता है। ऐसी दशा में सच्ची आध्यात्मिकता की प्राप्ति के लिये भी हमें वेद का अनुशीलन करना होगा।

भारतीय संस्कृति-सभ्यता-साहित्य में इसीलिये वेद का स्थान सर्वोपरि माना गया है।

'वेदवाणी' मासिक पत्रिका का आरम्भ इन्हीं दृष्टियों को लेकर हुआ कि संसार विशेषकर भारतीय जनता में वेद के इन आध्यात्मिक-जीवनाधार-जीवनोपयोगी नुस्खों को जनता तक पहुंचाया जावे, जिससे उसे वेद का सच्चा स्वरूप और उसके ग्राह्य विषयों का ज्ञान हो और

उसके द्वारा सुख और शान्ति की प्राप्ति हो। आध्यात्मिक रोगों (कमियों) को दूर करने का मार्ग मिले। वेद का स्वाध्याय करने की रुचि ही नहीं, अपितु स्वयं पिपासा लगने लगे और उस में आगे-आगे दिन प्रतिदिन उत्साह बढ़ता जावे। भारतीय प्राचीन वैदिक संस्कृति का सच्चा स्वरूप सामने आवे और आगे संस्कृत साहित्य के अनुशीलन में रुचि बढ़कर आर्ष साहित्य (ऋषियों के बनाये दर्शन-उपनिषदादि) तथा वेद में योग्यता बढ़े, जिससे देश में प्रतिदिन फैलता हुआ भ्रष्टाचार और अनैतिकता दूर हो।

वेदवाणी यह उद्देश्य लेकर चल रही है। कठिनाई यह है कि जनता अपने भारतीय शुद्ध आर्ष साहित्य वा वेद से इतनी दूर जा चुकी है कि उसे यह साहित्य विचित्र सा प्रतीत होता है। इसमें वह थोड़ा सा भी कष्ट उठाने को तैयार नहीं। यह नहीं सोचते कि अन्त को इस वैदिक साहित्य वा आर्ष साहित्य को पढ़ा जायगा तभी तो इसकी कठिनाई भी धीरे-धीरे दूर होगी। जब पढ़ेंगे ही नहीं, तो अपने आप समझ में आने से रहा।

देश स्वतन्त्र हो जाने पर भी विदेशीय दासता में सैकड़ों वर्षों तक रहने के कारण भारतीयों की गतिविधि विदेशीय सभ्यता और साहित्य में ही अधिक है, अपनी भारतीय संस्कृति सभ्यता साहित्य में नहीं, तो ऐसा होना एक भारतीय के लिये भारी कलङ्क की बात है। इसे प्रत्येक सहृदय भारतीय मानेगा।

गन्दी, विषमताओं को उत्तेजित वा प्रेरित करनेवाली, मिथ्या मन-घड़न्त कहानियां पढ़ने से कहीं भारतीय साहित्य-दर्शन-उपनिषद्-वेदादि का ज्ञान कभी हो सकता है? चना बोने से गेहूं कैसे मिल सकता है? विष बोने से अमृत कैसे मिलेगा? इसलिये हम जनता से अनुरोध करेंगे कि उन्हें नित्यप्रति जहां उत्तम दैनिक पत्र पढ़ने चाहिये, वहां उत्तम—जीवन को ऊंचा उठानेवाले—आध्यात्मिक प्रेरणायें देते रहनेवाले मासिक पत्र भी बराबर पढ़ने चाहिये। आपका जहाँ भी सम्बन्ध हो, ऐसे समाजों, वाचनालयों-पुस्तकालयों में 'वेदवाणी' और इसी प्रकार की अन्य धार्मिक वा सामाजिक, ज्ञानवर्धक पत्रिकाओं को अवश्य मंगवाना चाहिये। कन्या पाठशालाओं, कन्याविद्यालयों, मिडिलस्कूल, हाईस्कूल वा कालेजों वा गुरुकुलों वा विद्यालयों में इन पत्रिकाओं द्वारा आध्यात्मिक ज्ञान तथा

अन्य वैदिक तथा आर्ष शास्त्र खोज (रिसर्च) सम्बन्धी जानकारी के लिये ऐसी पत्र-पत्रिकायें अवश्य मंगानी चाहिये। वेदवाणी इसमें बहुत कुछ सहायक हो सकती है।

जहां आध्यात्मिक पिपासा को दूर करने के लिये 'वेदवाणी' अपने आरम्भ काल से ही यत्नशील है, वहां रिसर्च (खोज) सम्बन्धी सामग्री से भी बहुत कुछ जानकारी जनता को दे रही है। विशेषकर पाश्चात्य सभ्यता, साहित्य में विश्वास रखनेवाले, विद्वान् समझेजानेवाले प्रोफेसर वा प्रिंसिपलों वा रिसर्च स्कालरों द्वारा अपनी भारतीय संस्कृति-सभ्यता साहित्य का ज्ञान न होने वा विदेशीय प्रभाव से सञ्चालित संस्थाओं वा अनार्ष पाठविधि से पढ़े होने के कारण जनता में उनके द्वारा फैलाई गई मिथ्या धारणाओं से जनता में जो भ्रान्ति फैलती रहती है, वेदवाणी समय-समय पर ऐसी भ्रान्तियां दूर करने के उद्देश्य से योग्य विद्वानों के खोजपूर्ण और निःस्वार्थभाव से लिखे लेख प्रकाशित करती रहती है। जिससे पाठक अत्यन्त लाभान्वित होते हैं। सो इस दृष्टि से भी वेदवाणी का संरक्षण करना आर्यसमाज तथा प्राचीन संस्कृति-सभ्यता-साहित्य में प्रेम रखनेवाले प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य है, जिसके निम्नाङ्कित प्रकार हो सकते हैं—

वेदवाणी की सहायता कैसे कर सकते हैं

१—नगर वा ग्राम की प्रत्येक संस्था, चाहे वह पुत्रों की हो या पुत्रियों की, में आप वेदवाणी तथा अन्य धार्मिक सामाजिक पत्रिका अवश्य मंगावें।

२—नगर में, अनेक ग्राम में एक वाचनालय हो, उसमें आप ऐसी मासिक पत्रिका अवश्य मंगावें।

३—नगर वा ग्राम के समर्थ व्यक्तियों को प्रेरणा करें कि वे ऐसे पत्र वा पत्रिकाओं को मंगावें तथा ऐसे सज्जन असमर्थ छात्र वा छात्राओं की संस्थाओं को अपने पास से वार्षिक शुल्क देकर धार्मिक पत्र-पत्रिकायें मंगा देने की व्यवस्था करें।

४—अपने परिवार में, अपने पुत्र-पुत्रियों, बहिनों, भाइयों, माता-पिता, बन्धुओं को सात्त्विक विचार देने के लिये वेदवाणी या इसी प्रकार की पत्रिकायें मंगाकर पढ़ने को देवें।

५—ग्राम, मुहल्ले अड़ोस पड़ोस को भी ऐसी पत्रिका मंगाकर पढ़ने को देवें, जिससे आस-पास का वातावरण शुद्ध पवित्र बन सके। सामूहिक सत्सङ्ग प्रार्थना उपासनादि की व्यवस्था भी करें।

इस प्रकार की योजनाओं से अशिक्षित वर्ग में भी शिक्षा में रुचि और उत्साह पैदा होता है। स्कूल और कालेजों में छात्रों में अनुशासन का अभाव, उद्दण्डता की प्रवृत्तियों और परिश्रम न करके अनुचित उपायों द्वारा परीक्षा पास करने की दुष्ट प्रवृत्तियों को दूर करने में सहायता व प्रेरणा मिल सकती है।

[वेदवाणी, वर्ष ७, अङ्क १२]

पाश्चात्य-मत-परीक्षणाङ्क का उपक्रम

अजमेर से देहली लौटने पर गत ६ अप्रैल १९५५ को मैं युधिष्ठिर मीमांसक के साथ श्री पं० भगवद्दत्त जी वैदिक स्कालर के घर पर (ईस्ट पटेलनगर में) था। कई आवश्यक परामर्शों के पश्चात् वेदवाणी के विशेषाङ्क के विषय में विचार हुआ। पं० जी के प्रस्ताव और प्रेरणा से निश्चय हुआ कि अब की बार 'पाश्चात्य मत परीक्षणाङ्क' प्रकाशित किया जावे और उस विशेषाङ्क के सम्पादक श्री पं० भगवद्दत्त जी हों। मैंने कहा कि अङ्गरेजी में मेरा अधिक अभ्यास नहीं, अतः मैं उनके निरूपित सभी सिद्धान्तों को यथावत् जानता नहीं। पण्डित जी ने कहा कि मैं स्वयं तथा अपने मित्रों से लेख मंगवा लूंगा और यह भी निश्चय हुआ कि वह सब लेखों को देखेंगे, जिसमें प्रकृत विषय में उक्त मतों में किसी मत का निराकरण न होगा, वह लेख नहीं छापा जायगा। मैं तो इस निश्चय से अतीव प्रसन्न और सन्तुष्ट हो गया कि मुझे अपने लेख लिखने के अतिरिक्त कुछ नहीं करना होगा।

मेरी दृष्टि में समस्त भारत में इस समय पाश्चात्य स्कालरों तथा उनके मतों का गहरा और यथार्थ अध्ययन करनेवाला विकासवाद और भाषाविज्ञान (विज्ञान नहीं मत) के मर्म स्थलों को समझनेवाला—कपोलकल्पना से नहीं, गम्भीर अध्ययन के फलस्वरूप सप्रमाण और सोपपत्तिक भयङ्कर प्रतिवाद करनेवाला—नहीं-नहीं पाश्चात्य स्कालरों के मिथ्या वैदुष्य का भण्डाफोड़ करनेवाला, प्राचीन संस्कृति, साहित्य, सभ्यता में पूर्णनिष्ठावान्, कोरी गप्पों से नहीं, एक-एक शब्द सप्रमाण, सहेतुक लिखनेवाला यदि कोई इस समय है, तो हमारी दृष्टि में वह पं० भगवद्दत्तजी रिसर्च स्कालर ही हैं। जितनी अग्नि इनके अन्दर धधकती हर समय दिखाई देती है, उतनी मुझे तो अन्य किसी में दीखी नहीं। कई विषयों में उन से मतभेद होने पर भी उनका गम्भीर ज्ञान अत्यन्त उपादेय है, ऐसा मेरा विचार है। इतिहास के विषय में प्राचीन दृष्टि को

समझने और उसको सप्रमाण-सहेतुक उपस्थित करनेवाला दूसरा व्यक्ति भारत में नहीं। दुर्भाग्य की बात है कि ऐसा उद्भट त्यागी और तपस्वी विद्वान् भारत के शिक्षामन्त्री पद पर नहीं, किसी यूनिवर्सिटी का चांसलर नहीं, विदेशों में भारतीय शिक्षा का दूत वा प्रतिनिधि भी नहीं। नहीं-नहीं रिसर्च विषय का अध्यक्ष भी नहीं। यह सब पाश्चात्य स्कालरों के प्रति पं० जी की अनास्था के कारण है और कुछ नहीं। रिसर्च का यह मर्मज्ञ पाजामा पहिने जब इधर-उधर जीविका के लिये यत्न करता दिखाई देता है उस समय एक गम्भीर दर्शक के हृदय पर आघात पहुंचाता है कि यह देश के कितने दुर्भाग्य की बात है। हमारे ये शब्द अतिशयोक्ति न समझे जावें, हमारे हृदय से यह शब्द निकल रहे हैं। वर्तमान में अङ्गरेजी संस्कृत जाननेवाले स्कालरों व ऐतिहासिकों का बहुत भारी दल का यह यत्न दिखाई देता है कि कहीं पं० भगवद्दत्त स्कालरों में सबसे आगे न पहुंच जायें। इनके भारतवर्ष के इतिहास में अत्यन्त उद्भट और सप्रमाण युक्तियों का खंडन कोई स्कालर इस समय तक तो कर नहीं सकता, आगे करे तो देखेंगे। हमारा यह पाश्चात्य-मत-परीक्षणाङ्क इसी मस्तिष्क की सूझ है। जिसमें हमारी पूरी सहमति है।

ऐसे उद्भट विद्वान् द्वारा पाश्चात्य-मत-परीक्षणाङ्क निकलेगा, इसमें मुझे स्वभावत: अतीव प्रसन्नता हुई। पर मानव और भूल का सदा सम्वन्ध है (पं० जी के साथ कुछ मार्जन कभी एक चौथाई—कभी तीन चौथाई रखना पड़ता है। एक बार १५ मन के स्थान में ३॥। मन ही गेहूं मिला था)। पण्डित जी स्वीकार करके भी न तो लेखकों को लेख भेजने को लिख सके न ही जितने लेख कहे थे उतने लेख ही भेज सके या भिजवा सके। हां अपने तीन लेख अवश्य भेजे, जो अत्यन्त ही मूल्यवान् हैं, इस अङ्क के प्राण हैं। हमने पण्डित जी के कहने पर ही नवम्बर के स्थान में दिसम्बर के प्रारम्भ में विशेषांक प्रकाशित करने की बात मान ली, पर फिर भी पण्डित ज़ी अपनी अनेक कठिनाइयों के कारण इस अङ्क का सम्पादकत्व न कर सके, जिसका हमें बड़ा खेद है। दिसम्बर के लिये भी १ अक्तूबर तक सब लेख पहुंचने चाहियें थे। पर मेरे पास तो मुख्य लेख ७ नवम्बर तक पहुंचे, जब कि २० नवम्बर को सब लेख छप कर समाप्त हो जाने चाहियें थे।

पंडित जी के आदेशानुसार मुझे ही सम्पादकत्व का कार्य करना

पड़ा। प्रकृत विषय पर लेखों को प्राथम्य देना आवश्यक था। इस कारण तथा प्रेस में लेख भेजे जाने पर २० फार्म का मैटर पूरा हो जाने से जिस क्रम से लेख रखे गये थे, उसी क्रम से बहुत से लेख स्थान न रहने से बच गये। जो अब हम वेदवाणी के अगले अङ्क या अङ्कों में प्रकाशित कर सकेंगे। इस विवशता के लिये हम अपने माननीय विद्वान् लेखकों से हार्दिक क्षमा चाहते हैं। उनमें कई एक महानुभाव तो ऐसे भी हैं जिनसे हमने बार-बार पत्र द्वारा तथा मिल कर भी बड़ी कठिनाई से उनके लेख प्राप्त किये थे। अतिविलम्ब से लेख पहुंचने में यही हानि होती है। ऐसा भी होता है, पीछे आनेवाले प्रौढ़ लेख छूट जाते हैं और सामान्य योग्यता के लेख छापने पड़ते हैं। जिन-जिन महानुभावों के लेख हमें प्राप्त हुये, उन सबका हम हृदय से धन्यवाद करते हैं। हमारी कठिनाई वा विवशता को देखते हुये उक्त महानुभाव हमें क्षमा करेंगे। हम उन छूट गये सब लेखों को अवश्य छापेंगे, चाहे सब एक साथ न भी छप सकें।

भारतीय स्कालरों से सहयोग नहीं मिला

एक दो महानुभावों को छोड़कर हमें अङ्गरेजी-संस्कृत के विद्वान् स्कालरों से बहुत ही कम सहयोग मिला। हमें उनसे बहुत आशा थी कि वे हमें इस विषय में पर्याप्त सामग्री देंगे। पर इन महानुभावों ने प्रायः लेख भेजने की कृपा नहीं की, यद्यपि इन्हें बार-बार पत्र द्वारा निवेदन किया गया। ऐसा भी अनुमान है कि उन पाश्चात्य स्कालरों के सम्बन्ध में जिनसे इन महानुभावों ने बड़ी-बड़ी समझी जानेवाली डिगरियां लेकर बड़े-बड़े पद प्राप्त किये और जिनके सहारे इन्हें बड़े-बड़े वेतन मिल रहे हैं, उनके प्रति लिखें तो कैसे लिखें। हृदय में संकोच तो होता ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्त्तमान पीढ़ी पाश्चात्यों की इस मस्तिष्क दासता से मुक्त न हो सकेगी। अगली पीढ़ी, यदि कोई ढङ्ग बनाया गया, तो भले ही इस दासता से मुक्त हो सके।

इन भारतीय स्कालरों में अनेक महानुभाव ईश्वर-वेद-भारतीय संस्कृति सभ्यता और साहित्य में निष्ठावान् हैं। पाश्चात्यों के संसर्ग वा उसी वातावरण में रहने के कारण उनके हृदयों में अनेक शङ्कायें अन्तस्तल में विद्यमान हैं। इनके विषय में सम्मान और आदरपूर्वक कए ऐसी योजना बनना आवश्यक है, जिसमें ऐसे महानुभावों की शङ्काओं पर

उदारता और परम सहिष्णुता से विचार किया जावे जैसे भाषा की उत्पत्ति वा विकासवाद पर गम्भीर विचार होकर निर्णय हो। ऐसा करने से इन विद्वानों द्वारा भारत का महान् लाभ हो सकता है। हमारा तो यह कहना है कि संस्कृत या हिन्दी के विषय में अब पाश्चात्य देश के विद्वान् भारत के इन्हीं विद्वानों से अध्ययन करने तथा उपाधियां (डिगरियां) लेने के लिये क्यों न आवें। इतना घोर परिश्रम और अध्ययन हम भारतीयों का होना चाहिये। हस्तलेखों से कैसे काम लिया जावे, यह ज्ञान तो अब पर्याप्त मात्रा में हमें पाश्चात्यों से मिल चुका। अब इसमें कुछ बचा नहीं। आवश्यकता होगी तो हम लेने को भी तय्यार हैं। औरियण्टल कान्फ्रेंस का ढङ्ग अब बदलना होगा। वही अब अंग्रेजों के समय की लकीर पीटना बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती।"

पाश्चात्यों के प्रति कृतज्ञता

जहां तक पाश्चात्य स्कालरों के प्रति भारतीयों की कृतज्ञता का प्रश्न है। हम हृदय से इसके समर्थक हैं। हम तो कहते हैं कि कृतघ्नता संसार में सबसे बड़ा पाप है। चाहे विदेशियों ने भाषाविज्ञान की धुन में वा भारतीय संस्कृति को न पनपने देने की भावना से अथवा ईसाइयत के प्रचार की दृष्टि से ही संस्कृत साहित्य का अनुशीलन किया हो, पुनरपि जो लाभ वा ज्ञान हमें उनसे प्राप्त हुआ है, उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना हमारा परम कर्त्तव्य है। उनके घोर परिश्रम, त्याग, तपस्या, आर्थिक व्यय, समय का लगाना, यह सब भी विदेशी भाषा होते हुए— ये सब कम महत्त्व के गुण नहीं हैं।

जर्मन विद्वान् जिमिरमैन महोदय से लाहौर में नवम्बर सन् १९२८ में मैं मिला। मैं संस्कृत में बोलता रहा, वह अंग्रेजी में बोलते रहे, दोनों एक दूसरे की बात समझ रहे थे। इससे कितनी प्रसन्नता होती है। परन्तु साथ ही हम भारतीयों को पाश्चात्यों की मस्तिष्कदासता (दिमागी गुलामी) को भी अब छोड़ना ही होगा। अंग्रेजी राज्य में हम पराधीन थे, उस समय की दासता स्वीकार करना क्षन्तव्य भी हो सकता है। पर इस समय तो किसी प्रकार भी क्षन्तव्य नहीं हो सकता। हमें उन के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए भी उनके पांचों अग्राह्य वा मिथ्या सिद्धान्तों को तो छोड़ना ही होगा। हां जो उनके सिद्धान्तों को हृदय से सत्य मानते हैं, वे मानते रहें। पर ऐसे महानुभावों की भारतीय प्राचीन

दृष्टिकोण रखनेवालों की बात भी प्रेमपूर्वक सुननी होगी। यह निश्चय है कि शीघ्र नहीं तो कुछ वर्षों में इन पाश्चात्य स्कालरों के पोच वा मिथ्या सिद्धान्तों का प्रतिवाद अब भारत में होकर रहेगा क्योंकि भारत की सच्ची स्वतन्त्रता इसके बिना अधूरी रहेगी।

पाश्चात्यमत परीक्षणांक की आवश्यकता

पाश्चात्य-मत-परीक्षणाङ्क की आवश्यकता क्यों पड़ी, इस आकांक्षा की निवृत्ति के लिए हम इतना ही कहते हैं कि अंगरेजी राज्य में भारतीय इतिहास को जानबूझ कर विकृत किया गया। इस विषय में हम यही कहना चाहते हैं कि आरम्भ में जर्मन विद्वानों की संस्कृत साहित्य में भक्ति बढ़ी।

विण्टरनिट्ज के शब्दों में 'जब भारतीय वाङ्मय पश्चिम से सर्व प्रथम विदित हुआ तो लोगों की रुचि भारत से आनेवाले साहित्यिक ग्रन्थ को अतिप्राचीन युग का मानने की थी। वे भारत पर इस प्रकार दृष्टि डाला करते थे, मानों वे मनुष्यमात्र की अथवा न्यून से न्यून मानव सभ्यता की दोला के समान है।' (देखो भारतवर्ष का इतिहास पृ० ३५)।

भारतीय इतिहास की विकृति के पांच कारण हैं—

(१) यहूदी और ईसाई पक्षपात।

(२) मिथ्या भाषाविज्ञान।

(३) डार्विन का विकासवाद।

(४) ब्रिटिश शासन का कल्पित ध्येय।

(५) प्राचीन भारतीय विषयों पर लिखनेवाले पाश्चात्यों का मोह।

इन पांचों विषयों पर वेदवाणी तीसरा वर्ष अंक ४ से ७ तक इन चार अंकों में श्री पं० भगवद्दत्त जी रिसर्च स्कालर के लेख फरवरी सन् १९५१ ई० में छप चुके हैं। वास्तव में वे लेख इस पाश्चात्यमत परीक्षणाङ्क में छपने योग्य थे। मैं तो यहां तक कहता हूं कि वे चारों लेख इतने सप्रमाण—सहेतुक—और स्पष्ट हैं कि उन्हें इस विशेषाङ्क में मैं पुनः प्रकाशित कर देता और इस अंक में अन्य लेख कोई भी न होता तो भी पाश्चात्यमत-परीक्षणाङ्क पूर्ण ही समझा जाता, कोई कमी इसमें न

रह जाती। पाठक इन आवश्यक लेखों को वेदवाणी के उक्त अंकों में या भारतवर्ष का बृहद् इतिहास (पं० भगवद्दत्त जी कृत) पृ० ३४ से ६८ तक प्रकृत विषय के लिए अवश्य देखें, यह अत्यन्त ही उपयोगी प्रकरण है।

हर एक भारतीय को इन्हें बहुत ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये। जो विद्वान् इन लेखों के उत्तर में भी लिखना चाहें, वे 'वेदवाणी' में लेख भेजें, हम सहर्ष प्रकाशित करेंगे।

पाश्चात्य स्कालरों ने हमारे साहित्य तथा भारतीय इतिहास को विकृत कर दिया है। स्वार्थवश वा जान कर भी—और बेजानकर भी। इसका परिमार्जन करना अब अनिवार्य हो गया है, कि "पाश्चात्य स्कालरों ने हमारे साहित्य को विकृत किया है" यह घोषणा अब भारत में सहेतुक और सप्रमाण (विना पक्षपात के) बड़ी तीव्रता से उठनी चाहिये। इसी विचार से वेदवाणी का यह विशेषाङ्क 'पाश्चात्य-मत परीक्षणाङ्क' के नाम से प्रकाशित किया गया है। पं० भगवद्दत्त जी स्वयं इस अंक का सम्पादकत्व करते तो इस अंक में चार-चान्द लग जाते। अस्तु।

मैंने अपनी बुद्धि वा शक्ति के अनुसार लेखों का निर्वाचन प्रकाशनादि किया है। वेदवाणी का प्रथम प्रयास होने के कारण यद्यपि हमने जो सम्भाव्य लेखों की सूची मई ५५ के अङ्क में प्रकाशित की थी, उसके अनुसार पं० जी के लेखों को छोड़कर कम ही लेख प्राप्त हुये हैं। पुनरपि हमारे विद्वानों ने महान् प्रयास किया है। इसके लिए हम उन सब के कृतज्ञ हैं।

आशा करते हैं कि सम्भवतः कई वर्षों में हम बचे हुये उन सभी विषयों पर योग्य विद्वानों द्वारा तथा स्वयं भी लेख उपस्थित करते रहेंगे।

विद्वानों से हमारा नम्र अनुरोध है कि वे सूची के उन लेखों को लेकर अवश्य लेख भेजने की कृपा करते रहें। यह एक व्यक्ति के करने का काम नहीं है, अपितु योग्य और प्राचीन भारतीय संस्कृति साहित्य सभ्यता में मनसा-वाचा कर्मणा आस्था रखनेवाले अनेक विद्वानों का काम है।

अपने पाठकों से निवेदन

अन्त में हम अपने कृपालु पाठकों से भी दो शब्द निवेदन करना चाहते हैं। 'वेदवाणी' एक अलूनी शिलावाले मार्ग पर चल रही है। प्राचीन वैदिक-आर्य संस्कृति-साहित्य और सभ्यता के ऋषिदयानन्द तथा वैदिक धर्म की भावनाओं से ओत प्रोत विचार सब संसार और भारतियों तक पहुंचे, इसके लिए वेदवाणी तथा इस विशेशाङ्क का प्रचार योग्य विद्वानों, शिक्षा संस्थाओं, विश्वविद्यालयों, कालेजों, स्कूलों तथा पुस्तकालयों तक पहुंचाने का प्रयत्न कर १०-१० या २०-२० प्रतियां मंगा कर योग्य हाथों तक पहुंचावें। यह भी वैदिक धर्म की सच्ची सेवा है।

आर्य पुरुषों तथा आर्यसमाजों का इस ओर विशेष ध्यान देना कर्त्तव्य है। यह भी प्रचार का एक भारी साधन है।

[वेदवाणी, वर्ष ८, अङ्क १२]

काश्मीर-समस्या की आड़ में अमेरिका और ब्रिटेन का भारत के विरुद्ध षड्यन्त्र

सन् १९४७ में भारत का विभाजन हुआ। भारतीय नेताओं ने अंग्रेजों द्वारा सम्पूर्ण भारत को दो भागों में विभक्त हो जाने पर हिंदू भारत और मुसलिम भारत (पाकिस्तान) बना कर परस्पर लड़मर कर विवश होकर पुनः अङ्गरेजों को बुलाने के षड्यन्त्र को विफल करने के उद्देश्य से भारत और पाकिस्तान का विभाजन न चाहते हुये भी स्वीकार कर लिया। ब्रिटेन ने सभी देशी रियासतों पर पूरा अधिकार किया हुआ था। १९४७ के ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के नये कानून के अनुसार देशी रियासतों पर भारत का स्वतः अधिकार प्राप्त था। पुनरपि ब्रिटेन कूटनीतिज्ञों ने इन रियासतों को स्वतन्त्र सा करना चाहा। पर स्वर्गीय सरदार पटेल की दूरदर्शिता से लगभग सब रियासतों ने भारत का अंग बनना स्वीकार कर लिया।

काश्मीर के महाराज हरिसिंह ने किन्हीं अदूरदर्शिताओं के कारण जम्मू और काश्मीर को पहिले भारत और पाकिस्तान से अलग रखा। पाकिस्तान ने काश्मीर को बल-प्रयोग द्वारा अपने में मिलाने के लिये प्रयास करना आरम्भ किया। जिसका पहिला कदम यह था कि रावलपिण्डी के रास्ते आनेवाले खाद्य, तेल, पैट्रोल, नमकादि अत्यावश्यक सभी पदार्थों का कश्मीर में आना बन्द कर दिया गया, जिनसे काश्मीर विवश होकर पाकिस्तान की आधीनता स्वीकार कर ले। राजा हरिसिंह को पूरा अधिकार था कि चाहे जिससे मिले वह भारत में मिला। आगे चलकर पाकिस्तान की सहायता अनुमति से कबाइलियों द्वारा ५०० मील तक आक्रमण में पाक सेना और उनके अफसरों ने भाग ही नहीं लिया, अपितु पूरे शस्त्रास्त्रों से हमला किया। इतने में राजा हरिसिंह ने

२३ अक्तूबर १९४७ को भारत सरकार से सहायता मांगी। भारतीय वायुयानों द्वारा सेना और अफसर भेजे गये। सब सामान भेजा गया। यह भारत का काश्मीर पर आक्रमण न था, अपितु काश्मीर के राजा द्वारा काश्मीरियों को बचाने की मांग थी। बारामूला तक काश्मीरी मुसलमानों की मारकाट तथा बहु-बेटियों पर अत्याचार आक्रमण तथा बस्तियों को जलाना पाकिस्तान का अपने (इस समय भाई कहे जाने वाले) भाइयों पर प्यार या सहानुभूति कदापि नहीं कही जा सकती। इसका परिणाम यह हुआ कि राजा ही नहीं काश्मीर की सारी जनता पाकिस्तान के विरुद्ध हो गई और उसने राजा द्वारा काश्मीर के भारत में विलय को स्वीकार किया और अत्याचारी पाकिस्तान के विरुद्ध घृणा प्रकट की।

इधर भारत पाकिस्तान पर आक्रमण नहीं करना चाहता था, अपितु काश्मीरियों को उनके बुलाने पर बचाना चाहता था। भारत ने सुरक्षा-परिषद् में अपना केस रखा और उक्त परिषद् से मांग की कि पाकिस्तान की आक्रामक सेना को काश्मीर से बाहर किया जावे। यह एक प्रकार से परिषद् का भारत द्वारा मान किया गया, क्योंकि भारत युद्ध नहीं चाहता था। नहीं तो भारत लियाकत-नेहरू समझौते के समय पाकिस्तानी सेना को नष्ट करके यदि चाहता तो पाकिस्तान का बहुत-सा भाग अपने अधिकार में कर सकता था। ५-७ दिन का समय इस बात के लिए पर्याप्त था। भारतीय सेना उस समय अत्यन्त प्रबल थी। नेहरू के आदेश से भारतीय सेना एकदम स्तब्ध रह गई, जो बराबर पाकिस्तानियों को अपनी सीमा से बाहिर खदेड़ती जा रही थी। भारत के वीर सैनिकों के मन पर एक भारी धक्का लगा। फिर भी शान्तिप्रिय भारत ने पाकिस्तान के बने रहने के भाव से समझौता कर लिया।

सुरक्षा-परिषद् द्वारा नियुक्त निर्णायकों ने भी पाकिस्तान को आक्रामक घोषित किया, पुनरपि परिषद् के अनेक सदस्य देशों अमेरिका, ब्रिटेन आदि ने अपने स्वार्थवश इस विषय को बीच में लटकाये रखा और उलटा पाकिस्तान को प्रोत्साहन देते रहे। जिससे वे देश पाकिस्तान में अपने हवाई अड्डे वा अधिकार किसी न किसी रूप में बनाये रहें। यहां तक कि रूस के विरुद्ध पाकिस्तान को सैनिक सहायता के नाम से विपुल राशि धन और अस्त्र-शस्त्र दिये। जिससे पाकिस्तान की स्वतन्त्र

सत्ता वास्तविक रूप में समाप्त हो गई। अब वह अमेरिका तथा ब्रिटेन की कठपुतली सरकार बन रहा है, जिसमें कोई मन्त्रिमण्डल अधिक टिक नहीं पाता है। और पाकिस्तानी जनता को अपने नेताओं में किसी पर भी विश्वास नहीं रह गया। सारे पाकिस्तान में एक गहरी अशान्ति फैल गई है। जिसका परिणाम पूर्वी पाकिस्तान के अलग होने तक हो सकता है। इस सबको बचाने के लिए तथा जनता को बहकाने के लिये पाकिस्तान के विदेश-मन्त्री फीरोजखां नून ने यह प्रश्न सुरक्षा-परिषद् में बड़े बल से उठाया है, बड़ा लम्बा चौड़ा भाषण भारत के विरुद्ध दिया। जिसका उत्तर विस्तारपूर्वक भारतीय प्रतिनिधि कृष्णमैनन ने बड़ी ही योग्यता से दिया है। आश्चर्य तो यह है कि इनका उत्तर सुनने से पूर्व ही पांच राष्ट्रों द्वारा भारत के विरुद्ध उपस्थित प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया गया।

स्थिति यह है कि भारत और श्री नेहरू की विश्व में साख और व्यापक प्रशंसा देखकर पाकिस्तान बौखला उठा है और उसको यह असह्य हो रहा है। अमेरिका और ब्रिटेन इस अवसर से लाभ उठाना चाहते हैं। ब्रिटेन तो मिस्र के मामले में भारत से मन में एकदम क्रुद्ध है, ऊपर से कह सकता नहीं। उधर अमेरिका अपने राष्ट्रपति द्वारा नेहरू को रिझाना चाहता है, उधर सुरक्षा परिषद् से अमेरिकन प्रतिनिधि भारत से अपना बदला चुकाना चाहता है, अमेरिका की यह दोगली नीति है। भारत को सुरक्षा-परिषद् का ही परित्याग कर देना चाहिये क्योंकि उसने ९ वर्ष से यह भी स्वीकृत नहीं किया कि पाकिस्तान एक आक्रामक है। काश्मीर संविधान के निर्णय में सुरक्षापरिषद् को कुछ भी हस्ताक्षेप करने का अधिकार नहीं है। पाकिस्तान हमला करे तो भारत को उसका मुंहतोड़ जवाब देना चाहिये। प्रत्येक भारतीय को इसमें पूरा सहयोग देना परम कर्त्तव्य है।

[वेदवाणी, वर्ष ९, अङ्क ४]

भारत के शत्रु इङ्गलैण्ड और अमेरिका नंगे हो गये

भारत ने स्वतन्त्र होने के पश्चात् बहुत ही संयम से इङ्गलैण्ड के साथ अपने सम्बन्ध कटु नहीं होने दिये, अपितु इसके स्थान में अत्यन्त उदारता और प्रेमपूर्वक भारत ने ब्रिटिश कामनवैल्थ को कामनवैल्थ के रूप में स्वीकार कर उसका सदस्य बने रहना स्वीकार किया। भारतीय जनता को इस पर आश्चर्य और खेद भी हुआ। पर हमारे नेताओं ने महात्मा जी के मार्ग पर चलते हुये कटुता को नहीं आने दिया। स्वेज के विषय में भारत ने सत्यता का पक्ष लिया और स्पष्टतया उसकी घोषणा की। जिसके फलस्वरूप इङ्गलैण्ड की साख विश्व में घटी। भीतर-भीतर तो इङ्गलैण्ड भारत से प्रसन्न नहीं था। उसका प्रेम ऊपर का और अपने स्वार्थवश था, भारत के लाभ के लिये नहीं। सो स्वेज के विषय में इङ्गलैण्ड भारत पर दांत पीस कर रह गया। पर उसने अपने औरस-पुत्र पाकिस्तान को उभार कर सारी योजना बना कर भारत से बदला लेने का पूरा षड्यन्त्र रचा। जो स्पष्ट ही भारत के प्रति शत्रुता है।

विचित्र बात है जो किसी की समझ में नहीं आ सकती कि काश्मीर भारत में सम्मिलित हो चुका, उस पर आक्रमण करनेवाला पाकिस्तान एक बार दोषी माना जाकर भी पीछे भारत को ही दोषी बनाया जा रहा है। राष्ट्रसंघ में भारत के विरुद्ध अपने पिट्ठू देशों द्वारा इङ्गलैण्ड अपनी नीच भावना का परिचय देरहा है। भारत और उसके प्रधान-मन्त्री की सारे विश्व में प्रतिष्ठा उसे असह्य हो रही है तथा भारत की द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना से भी भारत के शत्रुओं के हृदय में एक गहरी वेदना उत्पन्न हो रही है। ये सब बातें मिल कर हमारे शत्रुओं की निद्रा हराम हो रही है। इङ्गलैण्ड तो यह समझता था कि मैंने स्वतंत्रता विवश होकर दी है और ऐसा लड्डू दिया है जो खावे सो पछतावे और जो न खावे सो भी पछतावे। पर हमारे नेताओं—विशेषकर

स्वर्गीय बल्लभभाई पटेल ने भारत का इतिहास ही बदल दिया। अब भारत इङ्गलैण्ड से यत् किञ्चित् भी दबे नहीं।

भारत अपने मस्तिष्क को स्थिर रखे और गम्भीरता से ही निपटे। इस पर भी यदि ब्रिटेन पाकिस्तान से भारत पर आक्रमण कराता है तो उसको डट कर उत्तर दिया जावे।

अब रही अमेरिका की वात—सो अमेरिका भारत को पाकिस्तान की तरह अपना गुलाम बनाकर अड्डे बना कर ही सहायता देना चाहता है। स्पष्ट मना कर देनेपर भी अमेरिका ऐसे जाल रचता है और रचवाता है, कि भारत अमेरिका के सामने घुटने टेक दे और रूस का नाम भी न ले। भारतीय जनता इसके लिये तैयार नहीं है। भारत तो सबके साथ मित्रता चाहता है। काश्मीर पर अपनी प्रभुसत्ता को किसी प्रकार भी त्यागने वा ढीला करने को तैयार नहीं। सैनिक सहायता की आड़ में अमेरिका ने पाकिस्तान को (चाहे गुलाम रखकर ही) शस्त्रास्त्र से लैस कर दिया है कि वह बड़े राष्ट्रों का प्रतिरोध (मुकाबला) करने को तैयार हो रहा है। भारत को जाल के नीचे डाले हुये ये चावल खाने की लालसा छोड़कर अपने बल पर आगे बढ़ना है। सैनिक सहायता में निश्चय ही गुलाम बनाये रखने की कूटनीति है, भारत इसको समझता है। १० वर्ष देश में शान्ति रहे तो भारत कहीं का कहीं पहुंचे।

यद्यपि अभी भी बहुत सी कठिनाइयां देश के सामने उपस्थित हैं। अपना राज्य चाहे कैसा भी है, विदेशी जूए से सर्वथा उत्तम है। इस भावना को लेकर हमें भारत के उत्थान में जुट जाना है। काश्मीर की सफलता ही भारत की सफलता है। काश्मीर को हम किसी अवस्था में नहीं छोड़ सकते। इसके लिये हमें चाहे कितना भी कष्ट उठाना पड़े। हमारे नेताओं की यह धारणा अत्यन्त प्रशंसनीय और जनता द्वारा पूर्णतया समर्थनीय है और इसके लिये हर प्रकार का त्याग करने को उद्यत रहना परमावश्यक है। हमें बलवान् बनना है। संसार बलवान् के आगे झुकता है निर्बल को कोई पूछता नहीं।

भारत को कामनवैल्थ और राष्ट्रसंघ दोनों से हट जाना चाहिये, फिर उनके किसी प्रस्ताव के लिये हम नैतिक रूप से भी बाधित नहीं हो सकेंगे।

[वेदवाणी, वर्ष ६, अङ्क ५]

न्याय की नीति ही सच्ची नीति

पञ्जाब में सिखों की पञ्जाबी सूबे की मांग पर घोर आन्दोलन हुआ। सन् ५६ के फरवरी मास के अमृतसर कांग्रेस अधिवेशन पर सिखों ने मास्टर तारासिंह के नेतृत्व में बहुत भारी जुलूस निकाला। जिसमें 'पञ्जाबी सूबा लेकर रहेंगे' और अन्य अनेक कांग्रेस विरोधी नारे लगाये। उसके विरोध में हिन्दू जनता का भी भारी जुलूस निकला। मास्टर तारासिंह जिन्ना की नीति पर चलकर सिक्खों के लिए विशेष अधिकार चाहते हैं, नहीं तो सिखों के लिए अलग प्रान्त की धमकी देते हैं। हमें तो इस बात का दुःख है कि कांग्रेस ने भारी भूल की। पञ्जाब की हिन्दू जनता के साथ विश्वासघात किया, जो महात्मा गांधी की आत्मा के विरुद्ध भारत का विभाजन स्वीकार किया। वास्तव में कांग्रेस नेता जेलों की कठिनाइयों और अंग्रेजी सरकार के दमन से घबरा उठे थे। थोड़ा और कष्ट सह लेते तो पाकिस्तान न बनता। निस्सन्देह अंग्रेजों की चाल सफल हुई।

मास्टर तारासिंह वा कुछ सिखों की मांगें निस्सन्देह भारत की और भी विभाजन की नींव हैं। इस प्रकार तो कल को हरिजन वा जाटराज्य चौहानराज्य की मांगे देश के सामने खड़ी हो जावेंगी। नई साम्प्रदायिक मांगें सिर उठायेंगी। देश की एकता को, जो बड़ी कठिनाई से प्राप्त हो पाई है, भारी धक्का लगेगा।

यदि मास्टर तारासिंह या उसके विचार के सिक्खों (क्योंकि बहुत से सिक्ख भाई देश का बटवारा नहीं चाहते, कांग्रेस के साथ हैं) के आगे कांग्रेस ने हथियार डालने की नीति का अवलम्बन किया तो निश्चय ही एक नया स्तान (सिक्खिस्तान) बनेगा। ये अनुचित मांगें किसी भी हालत में स्वीकार न होंगी, यह बात इन सिक्खों को स्पष्ट विदित हो जानी चाहिये। एक बार तो यहां तक भी स्थिति आ सकती है कि मास्टर तारासिंह ग्रुप पाकिस्तान के साथ भी मिल जावे। तब भी कांग्रेस इस बबंडर को पूरी शक्ति से दमन कर दे। तभी भारत का भविष्य उज्वल हो सकेगा। सिक्ख भाइयों को अपनी संख्या से कहीं अधिक स्थान असेम्बलियों में दे दिये गये (यद्यपि यह घोर अन्याय है) पुनरपि

हम इसमें विशेष हानि नहीं समझते। प्रश्न है मनोवृत्ति का। विशेष पक्षपात की बात चाहे वह कभी हो, किसी स्तर पर हो, देश के लिये परम घातक है। प्रेमपूर्वक न्यायानुसार यथायोग्य की नीति ही सच्ची और स्थायी नीति है।

मास्टर तारासिंह वा उनके विचारवाले सिक्खों की कोई अनुचित मांग किसी भी अवस्था में न मानी जावे। सब के साथ न्याययुक्त व्यवहार होने से ही देश पनप सकेगा, यह हमारा दृढ़ मत है। यह कड़वा घूट कांग्रेस सरकार को कभी न कभी पीना ही पड़ेगा। कुनैन पर मीठा लगाने की कांग्रेस की नीति फेल हो चुकी है, जिसका ही परिणाम पाकिस्तान है। हमें भूत से भविष्यत् बनाना चाहिये।

आर्यसमाज का हिन्दी सत्याग्रह

आर्यसमाज कोई काम बिना सोचे समझे नहीं करता। पहिले शान्तिपूर्वक समस्या का हल करने में पूरा प्रयत्न किये बिना कोई निश्चय नहीं करता। आर्यसमाज के नेता-विद्वान्-तपस्वी शान्तस्वभाव श्री स्वामी आत्मानन्द जी सरस्वती जैसे नेता जिस आन्दोलन का नेतृत्व करेंगे, वह निश्चय ही सद्भावनापूर्ण होगा। इसमें सरकार या सिखों के प्रति कोई दुर्भावना या घृणा की भावना हो ही नहीं सकती, यह हमें पूरी आशा है।

आर्यसमाज या हिन्दू रक्षा समिति पंजाब की सात मांगे हैं, जो अन्यत्र विविध समाचार में छपी हैं। पाठक देखें इनमें सब की सब मांगे बहुत ही उचित और न्यायपूर्ण हैं। सोचने की बात है कि उत्तर प्रदेश के ५२ जिलों में लगभग १५ भाषायें ऐसी हैं, जो प्रान्तीय भाषायें कहलाई जा सकती हैं।

यदि आप सहारनपुर में—तुम कहां रहो ? (तुम कहाँ रहते हो), इब क्या करना है (अब क्या करना है), इमरित धारा लाओ। तम का कहो ते (तुम क्या कहते थे), मेरठ में 'ओ पिण्डित' बुलन्दशहर में 'लाला क्या खहियो'—बच्चा तुम क्या खाओगे ? मथुरा में वृज भाषा—काली कमरिया वारे महम्मद आके प्राण बचा जइयो। सातों के जुड़े आरियां इन से पीछा छुड़ा जइयो, गुलशन तेरो लुटो जातअ, इस को आके बचा जइयो। मुसलमान कहता है—हे मुहम्मद सातों जाति के आर्य जुट गये हैं। तेरा गुलशन लुट रहा है इस को बचाइये। अलीगढ़

एटा इटावा मैनपुरी में—उद्द के खेत में वद्द चरव हैं कोई मद्द हो तो मार दियो—उर्द के खेत में बैल चर रहे हैं, कोई मरद हो तो मार देना। कानपुर रायबरेली सुलतानपुर प्रतापगढ़ में—इकैती का जात रहन, उकैती का ग्रावत रहन, इधर से जा रहे थे, उधर से आ रहे थे। काशी जौनपुर गाजीपुर में—ग्रोहर गैली हम हू खइली=वहां भी गये, हमने भी खाया। देवरिया गोरखपुर में,—रौग्रां नीक बा न ? रौरां का कहत बानी—क्या आप ठीक हैं न ? ग्रापने क्या कहा । ये सब भाषायें पृथक्-पृथक् हैं या नहीं ? ५२ जिलों की ५२ भाषा चल रही हैं। यदि ग्रब इस बात को रक्खा जावे ग्रर्थात् पंजाब के समान किया जावे तब तो उत्तरप्रदेश में १५ भाषायें प्रान्तीय भाषायें मानी जानी चाहिये। पर यहां तो एक हिन्दी ही प्रान्तीय भाषा है। बोलियां १५ पृथक्-पृथक् हैं। पंजाब में भी एक राष्ट्र भाषा हिन्दी है ही। बोलियां पंजाब में भी जिले-जिले में भिन्न होती हैं।

यह हाल पंजाब की भाषाग्रों का है। कांगड़ा में मुसलमान बोलता है कुधर गच्छना=किसका जाना, विलासपुर में—कुथू या कुथांह जाना, तू कहां जाता है ? ऐसा वोलते हैं। वही मुलतान में किधरे 'वहना पयां'। ग्रमृतसर जालन्धर में कित्थे जानां ए। भला बताइये। इनमें प्रान्तीय भाषा कांगड़ा की वोली मानी जावेगी या अम्बाला-रोहतक-ग्रमृतसर-जालन्धर की। पंजाबी बोली ठीक है। पर लिखने-पढ़ने की भाषा पंजाबी कभी नहीं रही। शेष रही गुरुमुखी की वात ! इस जैसी ग्रस्वाभाविक मनघड़न्त ग्रौर वेहूदा उच्चारणवाली लिपि कोई नहीं। देखिये—ऊड़ा=ग्र, ऐड़ा=ए, ईड़ी=ई। देखिये ग्र को यदि ऊड़ा कहा जावे तो, ग्रा को क्या कहा जावेगा। यदि इ को ईड़ी कहा जावे तो ई को क्या कहा जावेगा। गुरुमुखी का वनानेवाला भी नहीं वता सकता, पढ़ानेवाला तो कहां से वतावेगा। कक्का, खख्खा, गग्गा, घघ्घा, ङङ्ङा=क-ख-ग-घ-ङ का कितना भ्रष्ट उच्चारण है। पढ़नेवाला आयु भर भ्रान्त रहता है।

विचारने की वात है कि हिन्दू जाति रक्षक प्रातःस्मरणीय गुरु महाराजों ने संस्कृत का भारी सत्कार किया, ग्रपनी वाणी में संस्कृत से ही सब शब्द लिये ग्रौर जैसे लण्डों की भाषा वहियों में चालू हुई। ऐसे गुरुमुखी की लिपि भी मुसलमान शत्रुग्रों से बचने के लिये एक सांकेतिक गुप्त लिपि बनाई गई थी, जो उस समय की स्थिति के सर्वथा अनुकूल

थी। पर यह कहां की बुद्धिमत्ता है कि ऐसी अनर्गल-अवैज्ञानिक-अपूर्ण उच्चारण में महा भद्दी अशुद्ध लिपि को व्यर्थ में पंजाब के सब हिन्दुओं के सिर पर थोपा जावे, यह कहां की बुद्धिमत्ता या न्याय की बात है। हां ! जो चाहें (चाहना ही चाहिये) वह इसका परिज्ञान करते रहें। जबरदस्ती न हो। रही पंजाबी बोली की बात। वह बोलने की भाषा है रहेगी। उसकी रक्षा हो। क्यों न उसे जो चाहे हिन्दी में लिखे, जो चाहे गुरुमुखी में लिखें। पंजाब के हिन्दू के बड़े भारी बहुमत को अल्पमत में बदल दिया जावे, यह कहां की बुद्धिमत्ता वा न्याय है। आर्यसमाज की यह मांग कि किसी पर कोई जबरदस्ती न होनी चाहिये, यह बात सर्वांश में ठीक है। पंजाब के भावी बच्चे हिन्दी द्वारा अपने ज्ञान की वृद्धि कर सकते हैं। उर्दू की लानत समाप्त होनी चाहिये। अंगरेजी का मोह नष्ट होना चाहिये। सिख भाई गुरुमुखी का व्यवहार रखें, हमें कोई आपत्ति नहीं। राष्ट्र भाषा के नाते हिन्दी इस समय सर्वोच्च है। आगे तो अब संस्कृत की वारी है। आर्यसमाज ने हिन्दी के लिये जो त्याग और तपस्या की—कांग्रेस को इसे मानकर यह श्रेय आर्यसमाज को देना चाहिये। न देना घोर कृतघ्नता है।

मैट्रिक में जैसे संस्कृत अनिवार्य एक परचा है, ऐसे ही एक परचा गुरुमुखी का भी साधारण सा रह सकता है. जो ऐच्छिक रहे तो भी काम चल सकता है। जिसको सरकारी नौकरी करनी होगी, वह अपने आप गुरुमुखी को लेगा, तभी उसको नौकरी मिलेगी। पंजाब में मैट्रिक पास गुरुमुखी भी पढ़ सकता हो, इतना पर्याप्त है।

अतः आर्यसमाज की सातों मांगें बहुत उचित और न्यायपूर्ण हैं। सरकार को चाहिये कि वह आर्यसमाज जैसे विचारशील समुदाय की अवहेलना न करे। नहीं तो पंजाब का वातावरण शान्त न होगा।

सब बोलियों की यदि रक्षा करनी है तो सब जिले, अपने को अलग-अलग समझते रहेंगे। क्यों न पहिले सबकी एक भाषा हिन्दी, पीछे संस्कृत न बना दी जावे।

आगे चलकर हिन्दी वा संस्कृत को अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बनाया जावे।

भ्रष्टाचार कैसे दूर हो, एक नया सुझाव

यह ठीक है कि देश अभी भारी कठिनाई में से निकल रहा है।

हमारी सरकार ने १०० में से २० अङ्क ही प्राप्त किये हैं। २० प्रतिशत ही यह अपनी योजनाओं में सफल हुई है। पिछली पंचवर्षीय योजना कहां तक सफल हुई, इसकी निष्पक्षपात और सच्ची विवेचना होनी चाहिये। जनता ने कांग्रेस को ही एक बार और मान्यता देकर उसकी भावी पंचवर्षीय योजना पर स्वीकृत की मोहर लगा दी है। इसलिये हमारा तो इस समय यह विचार है कि इस आगामी पंचवर्षीय योजना को सफल बनाने में जनता को जी जान से जुट जाना चाहिये। ताकि हमारा देश आगे बढ़ सके।

इस विचार को देखते हुये तो हम अन्नादि खाद्य पदार्थों पर कर को छोड़ कर शेष करों को ५ वर्ष के लिये न चाहते हुये भी आपत्काल समझकर अनुमोदन करते हैं। पर सबसे भारी प्रश्न तो यह है कि जनता की गाढ़े पसीने की कमाई का एक भारी भाग ठेकेदारों वा इंजनियरों आदि की जेबों में जाता है। इसका उपाय हुये बिना हमारी कोई योजना सफल नहीं हो सकती। हमारा तो कहना है कि ठीक प्रमाणित हो जाने पर ऐसों के हाथ-पैर काट देने चाहिये। चाहे कोई अफसर हो, जनता का आदमी हो, एम० एल० ए० हो, एस० पी० हो या राज्य का मंत्री हो या केन्द्र का मन्त्री हो। तभी भ्रष्टाचार दूर हो सकता है।

इस विषय में विनोबाजी—टण्डनजी—स्वामी आत्मानन्द—राजगोपालाचार्य—सावरकरजी—मेहरचन्द महाजन आदि देशरत्नों से इस विषय में परामर्श बराबर लिया जावे। आगामी ५ वर्षीय योजना के मुख्य निरीक्षक (कैबीनेट से भी ऊपर) इसको बना दिया जावे। यह अनुभव भी ५ वर्षीय योजना की तरह करके देखा जावे। इससे जनता में अभूतपूर्व साहस और विश्वास बढ़ सकता है।

[वेदवाणी, वर्ष ६, अङ्क ८]

वेद का सामयिक आदेश

[चीनी दस्युओं ने भारत पर सहसा आक्रमण करके भारतीय जनता को गम्भीर चुनौती दी है। भारत ने भी, शान्तिपूर्वक समस्या को हल होते न देखकर, प्राचीन परम्परा के अनुकूल चीनियों की चुनौती को स्वीकार कर लिया। ऐसे अवसर पर प्रभु की पवित्र वाणी वेद के आदेश माननीय हैं। एतद्विषयक कुछ वेदमन्त्र व्याख्यासहित नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं।]

अयुयुत्सन्ननवद्यस्य सेनामयातयन्त क्षितयो नवग्वाः।
वृषायुधो न वध्रयो निरष्टाः प्रवद्भिरिन्द्राच्चितयन्त आयन् ॥

ऋ० १।३३।६॥

अर्थः—हे (नवग्वाः) नवीन-नवीन शिक्षा वा विद्या के प्राप्त करने और कराने (वृषायुधः) अति प्रबल शत्रु के साथ युद्ध करने (चितयन्तः) युद्ध विद्या से युक्त (क्षितयः) मनुष्य लोगों! आप जिस (अनवद्यस्य) उत्तम गुणों से प्रशंसनीय सेनाध्यक्ष की (सेनाम्) सेना को (अयातयन्त) उत्तम शिक्षा से यत्नवाली करके शत्रुओं के साथ (अयुयुत्सन्) युद्ध की इच्छा करते हो, जिस (इन्द्रात्) सेनाध्यक्ष से (वध्रयः) निर्बल नंपुसकों के (न) समान शत्रु लोग (निरष्टाः) दूर-दूर भागते हुए (प्रवद्भिः) पलायन योग्य मार्गों से (आयन्) भाग जावें, उस पुरुष को सेनापति स्वीकार कीजिये।

(—ऋषिदयानन्द)

पराह यत्स्थिरं हथ नरो वर्तयथा गुरु।
वि याथन वनिनः पृथिव्या व्याशाः पर्वतानाम् ॥

ऋ० १।३९।३॥

अर्थः—हे (नरः) नेता लोगों! तुम जैसे (वनिनः) सम्यग् विभाग और सेवन करनेवाली किरणों से सम्बन्ध रखनेवाले वायु (पर्वतानाम्) पहाड़ और मेघों और (पृथिव्याः) भूमि वा अन्तरिक्ष की (व्याशाः) चारों दिशाओं में व्यासवत् व्याप्त होकर (स्थिरम्) दृढ़ और (गुरु) बड़े-बड़े पदार्थों को नष्ट कर इधर-उधर ले जाते हैं, वैसे स्थिर और महान् बल को सम्पादन करके शत्रुओं को (परा हथ) अच्छे प्रकार से नष्ट करो और (ह) निश्चय से इन शत्रुओं को (विवर्तयथ) तोड़-फोड़

उलट-पलट कर भगा दो तथा विजय के लिये वायु के समान शत्रुओं की सेना और नगरों को (वियाथन) अनेक प्रकार व्याप्त करो।

(—ऋषि दयानन्द)

त्वं तस्य द्वयाविनोऽघशंसस्य कस्यचित्।
पदाभि तिष्ठ तपुषिम्॥ —ऋ० १।४२।४॥

अर्थः—हे सेनाध्यक्ष ! (त्वम्) आप (तस्य) उस (द्वयाविनः) प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष औरों के पदार्थों को हरनेवाले (कस्यचित्) किसी (अघशंसस्य) चोरों की (तपुषिम्) सेना को (पदा) बल से (अभितिष्ठ) वशीभूत कीजिये। (—ऋषि दयानन्द)

अभीदमेकमेको अस्मि निष्षाडभी द्वा किमु त्रयः करन्ति।
खले न पर्षान् प्रतिहन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः॥
—ऋ० १०।४८।७॥

अर्थः—(निष्षाड् एकः इदम् एकम् अभि अस्मि) सर्वथा समर्थ मैं एक शत्रु के लिये अकेला ही पर्याप्त हूं। यदि ये लोग (अभि द्वा) दो-दो भी सामने आयें, तो भी मैं अकेला ही इनको परास्त कर सकता हूं। यदि ये (त्रयः) तीन-तीन भी एक साथ युद्धार्थ आजायें, तो भी (किम् उ करन्ति) मेरा क्या बिगाड़ सकते हैं। ये (अनिन्द्राः) ऐश्वर्यविहीन, दरिद्र (शत्रवः) शत्रु लोग (किं मा निन्दन्ति) क्यों दिन-रात मेरी निन्दा पर तुले हुए हैं, क्यों मेरे ऊपर झूठे आक्षेप करते हैं। इनको पता होना चाहिये कि मैं इन (भूरि) विशालसेनावाले शत्रुओं को उसी प्रकार (प्रतिहन्मि) मसल डालूंगा, (न) जिस प्रकार (खले पर्षान्) कृषक खलिहान में पड़े हुए अन्न को मसल डालता है।

तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत संनह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम्।
इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वितिष्ठध्वम्॥
—अ० ११।९।२६॥

अर्थः—(देवजनाः मित्राः) विजय के अभिलाषी साथियो ! (यूयम्) आप लोग (तेषां सर्वेषाम् ईशानाः) उन सब को शासित कर सकते हैं। अतः (उत्तिष्ठत) उठो, सचेत हो जाओ और (सन्नह्यत) युद्ध के लिये तैयार हो जाओ। (इमं संग्रामं संजित्य) इस संग्राम को भलीभांति जीतकर (यथालोकम्) यथास्थान, अपने उचित स्थान पर (वितिष्ठध्वम्) स्थित रहो, लौट जाओ। [वेदवाणी, वर्ष १५, अङ्क २]

—:०:—
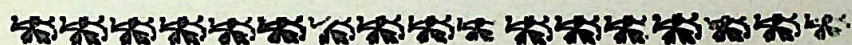
अन्यत्र प्रकाशित लेख-निबन्ध
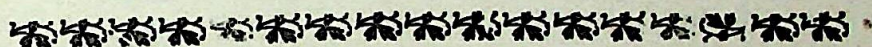
वेदार्थ-पुनरुद्धारक ऋषि दयानन्द

वेद आर्यजाति की परम पवित्र सम्पत्ति है, उसके आधार पर ही ऋषि-मुनियों ने अपनी कृतियों द्वारा सामान्यतः संसार में विशेषतया भारतभूमि में आर्य संस्कृति की आधारशिला स्थापित की, जो संस्कृति अद्यावधि भी उन प्राचीन परम्पराओं को किसी न किसी रूप में सुरक्षित किये हुए है। इस संस्कृति का आदि स्रोत तो वेद ही है, जो प्रभु की वाणी है, जिसे आदिसृष्टि में परमपिता परमात्मा ने जीवों के कल्याणार्थ अनेकविध जीवनसामग्री की भांति ऋषियों के हृदय में प्रकाशित किया, जिसके विषय में महर्षि मनु से लेकर कपिल-कणाद-तथा जैमिनि पर्यन्त महर्षियों की साक्षी स्पष्ट विदित है। पुराकाल में ऋषि महर्षि अपने शिष्यों को प्रवचन द्वारा वेदार्थ का बोधन करा देते थे। किसी वेदांग या उपांग की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। प्राणिमात्र के हित-चिन्तक इन महर्षियों ने सुहृद् होकर उस प्रवचन को ग्रन्थ रूप में संकलित कर दिया, जिससे वेदार्थ संसार से लुप्त न होने पावे। यही ग्रन्थ निरुक्तादि वेदाङ्ग-उपाङ्गों के नाम से प्रसिद्ध हुये। यही बात निरुक्त के प्रथमाध्याय के अन्त में यास्क मुनि ने दर्शायी है। यास्क के काल तक यह वेदार्थ प्रवचन परम्परा द्वारा चलता रहा, पृथक् कोई वेद का भाष्य या व्याख्यान बना हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता, क्योंकि इस प्रकार रचना करने की आवश्यकता ही नहीं थी। ब्राह्मण ग्रन्थ मुख्यतया विनियोजक ही हैं, प्रसंगतः व्याख्यान भी करते हैं। व्याख्यान करना उनका मुख्य लक्ष्य नहीं।

वेदार्थ अन्धकार में

यास्क से पीछे बीसवीं शताब्दी पर्यन्त वेदार्थ अन्धकार में रहा, इसमें अत्युक्ति नहीं। समय-समय पर कभी-कभी प्रकाश की झलक दिखाई देती रही, पर वह भी बहुत धीमी। ऐसे-ऐसे योग्य आचार्यों के वेदार्थ को लुप्त करने का यत्न किया गया। लुप्त परम्पराओं (Traditions) के प्रकाश में आने पर ऐसा विवश कहना पड़ता है। वेद शास्त्रों के नाम पर क्या-क्या अनर्थ हुये, यह उस काल के भाष्यकारों के भाष्यों से जाना जा सकता है। महीधर के गन्दे अर्थ इसका प्रमाण हैं।

'निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते ।'

की लोकोक्ति के अनुसार सायणाचार्य की तूती सब ओर बजने लगी। यह अवस्था कई सौ वर्ष तक रही। अङ्ग्रेजी राज्य के भारत में आने पर जब विदेशी लोगों ने भारतीयों को अपनी सभ्यता से उदासीन बनाने के अभिप्राय से भारत की उत्तम-उत्तम कृतियों को भी दूषित रूप में, जानकर या न जानकर संसार के सम्मुख रखना आरम्भ किया, तब उनको अपने उद्देश्य की पूर्ति में सायणाचार्य ही सबसे अधिक सहायक प्रतीत हुए। इसलिये उन्होंने वेद को सायण द्वारा प्रदर्शित स्वरूप में ही संसार के सामने उपस्थित किया।

वहीं से सायणाचार्य के वेदार्थ की झूठी धाक जमनी आरम्भ हुई। यदि विदेशी स्कालर सायण को इतना सिर पर न उठाते तो इनका भाष्य भी अन्यों की भांति ही रहता, सर्वसाधारण की दृष्टि में इतना आगे नहीं आता। दूसरे यह भी कारण हुआ कि सायण से प्राचीन वेद-भाष्यकारों का नाम तक नहीं रहने दिया गया। सायण ने अपने वेद-भाष्य में अपने से प्राचीन अनेक वेदभाष्यकारों का नाम तक नहीं लिया (एकाध को छोड़कर), यद्यपि यास्क के पश्चात् वेदार्थ की प्रक्रिया बहुत कुछ शिथिल हो चुकी थी, परन्तु फिर भी वेदार्थ की परम्परा (traditions) अपने वास्तविक स्वरूप में नहीं तो कुछ विकृत रूप में तो आ ही रही थी। उस रही सही वेदार्थ परम्परा को नष्ट करने का श्रेय सायणाचार्य को ही है। शताब्दियों पर्यन्त जनता वेदार्थप्रक्रिया से गुमराह रही। यहीं तक नहीं अपितु बीसवीं शताब्दी में ऋषि दयानन्द जैसे महापुरुष के वेदार्थप्रक्रिया का प्रकाश कर देने पर भी उनका नाम ले-लेकर बड़ी-बड़ी संस्थाओं के सञ्चालकों, बड़ी-बड़ी समाजों के मुख्याधिकारियों तक की बुद्धि में अनार्ष शैली तथा अनार्ष साहित्य के निरन्तर अनुशीलन करते-कराते रहने के कारण दयानन्द की दिव्य ज्योति का दर्शन न कर सकी। करती भी कैसे। अनार्ष शैली से आर्ष ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है। ऐसे लोगों ने कहना तथा लिखना आरम्भ कर दिया—

(१) 'सायण का भाष्य जैसा सुसङ्गत सुसम्बद्ध प्रतीत होता है, वैसा दूसरा नहीं', 'स्वामी जी के भाष्य में विसङ्गतता स्पष्ट प्रतीत होती है। स्वामी जी के भाष्य की धाक नहीं बैठती'।

(२) यह एक सचाई है कि स्वामी जी कृत वेदभाष्य का क्रम सर्वसाधारण की समझ में नहीं आता। यह एक दूसरी सचाई है कि जिन विद्वानों ने इसे देखा है, उनके अन्दर इसके सम्बन्ध में उचित श्रद्धा पैदा नहीं हो सकी। यह ध्वनि अनेक रूपों में आर्य जनता के सामने आती रही और इस समय भी कहीं-कहीं से आया करती है। यह हैं आर्य कहलानेवाले कुछ एक विद्वानों के उद्‌गार, जो आर्यसमाज या उसकी संस्थाओं के मुकुटमणि बने हुए हैं। यह भोली आर्य जनता ऐसे लोगों के कदमों पर पुनः-पुनः गिड़-गिड़ा कर गिरती हुई दिखाई देती है, जिस का परिणाम अत्यन्त हानिकर हुआ और होता रहेगा। प्रामाणिक वेदभाष्य ऐसे कृपालुओं की सहायता से ही तो बन रहा है !!! सायण की इस धाक ने आर्य कहलानेवाले विद्वानों की बुद्धियों को कहां तक दूषित कर दिया, यही दर्शाना हमें यहां अभिप्रेत है।

सायणाचार्य को वेदार्थ समझ में भी नहीं आया। अब हमें इस बात का सप्रमाण विवेचन करना उचित होगा कि श्री सायणाचार्य को वेदार्थ कहां तक समझ में आया।

सायणाचार्य के पक्षपाती विद्वानों ने दयानन्द-भाष्य पर जो-जो आपत्तियां कीं, उनमें सबसे बड़ी आपत्ति यह थी कि—

"खैर और जो कुछ हो सो हो पर 'अग्निमीडे पुरोहितम् ....' आदि वेदमन्त्रों में अग्नि का अर्थ परमात्मा नहीं हो सकता।"

भ्रान्तिनिवारण पुस्तक के ९ पृष्ठ पर कलकत्ता ओरियन्टल विभाग के प्रिंसिपल श्री पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न का उठाया हुआ पूर्वपक्ष देख सकते हैं। हेतु वह क्या देते हैं—'क्योंकि अग्नि शब्द से लोक में चूल्हे की आग ही ली जाती है, अतः ईश्वर अर्थ नहीं लिया जा सकता, इसमें साक्षी सायणाचार्य की है' इत्यादि।

जब स्वामी दयानन्द ने वेदभाष्य का प्रकाशन किया, सारे भारतवर्ष में एक कोलाहल सा मच गया। स्वामी जी ने आरम्भ से ही अपने वेदभाष्य में वेदमन्त्रों के अर्थ आध्यात्मिक-आधिभौतिक-आधिदैविक प्रक्रियाओं को लेकर किये। सायणाचार्य इन प्रक्रियाओं के विषय में मौन हैं। जहां देखो वहीं यजमान और यज्ञाग्नि की ही भरमार है। भूमिका में भी जो थोड़ा सा लिखा, वह भी अस्पष्ट है। उसका कारण भी उससे

पूर्ववर्ती भाष्यों का उपस्थित होना ही कहा जा सकता है, जिनका कि सायणाचार्य ने नाम तक नहीं लिया।

आचार्य दयानन्द के तीन प्रकार के अर्थ दिखाने पर अनार्ष साहित्य सेवी मस्तिष्क उन पर उपहास (मखौल) करने लगे। पूर्ववर्त्ती विद्वानों विशेषकर सायण से विपरीत होने की दुहाई देकर दयानन्द-भाष्य को सर्वथा हेय तथा कपोलकल्पित बताया और कहने लगे कि स्वामीदयानन्द सब अर्थ उलटा करते हैं।

स्वामी दयानन्द ने स्पष्ट घोषणा की कि मैं तो लगभग तीन सहस्र ग्रन्थों को प्रामाणिक मानता हूं। मेरा भाष्य प्राचीन ऋषि-मुनियों के आधार पर है। मैं आप लोगों के उलटे किये हुए अर्थ को उलटा अवश्य करता हूं।

सायण से प्राचीन लगभग सौ वेदभाष्यकार

अब से कुछ वर्ष पूर्व तक एतद्देशीय तथा विदेशी विद्वानों के सामने एक सायण-भाष्य ही उपस्थित रहा, परन्तु अब अनेक विद्वानों की निरन्तर खोज से (इसका सबसे अधिक श्रेय आर्यसमाज के रत्न अद्वितीय रिसर्च स्कालर श्री पं० भगवद्दत्त जी लाहौर को है) सायण से प्राचीन लगभग १०० सौ वेदभाष्यों का पता लग रहा है, जिनमें लगभग २० वेदभाष्य मिल भी रहे हैं।

उपर्युक्त आध्यात्मिकादि प्रक्रियाओं को लेकर अनेक आचार्यों ने वेद की व्याख्यायें कीं। आचार्य स्कन्दस्वामी इनमें सर्वप्रथम हैं। नारायण और उद्गीथ भी उनके सहकारी थे, जिनमें नारायण का वेदभाष्य तो अभी तक नहीं मिला। स्कन्द और उद्गीथ दोनों का मिलता है। यह तीनों विद्वान् सायण से लगभग ८००-९०० वर्ष पूर्व हुए। इस सम्बन्ध में उद्धरण आगे देखें।

आचार्य आत्मानन्द ने अस्यवामीय सूक्त का कितना सुन्दर आध्यात्मिक अर्थ किया है। वेङ्कटमाधव ने कितने उज्ज्वल विचार आध्यात्मिक सुधा के रूप में तथा वेदार्थ करनेवालों की कैसी योग्यता का सम्पादन करना चाहिये—इत्यादि मौलिक बातों पर प्रकाश डालने का

यत्न किया है। हरि स्वामी के शतपथब्राह्मण-भाष्य में, भट्टभास्कर के तैत्तिरीय-संहिता-ब्राह्मण-आरण्यकों में, भरत स्वामी के सामवेद-भाष्य में प्राचीन वेदार्थ-पद्धति का उज्ज्वल स्वरूप अनेक स्थलों में भासित हो रहा है।

आज से कुछ वर्ष पूर्व तक दुर्गाचार्य की निरुक्त-टीका वेदार्थ का प्रकाश इतना स्पष्ट रीति से करती दिखाई नहीं देती थी, पर अब इस उपर्युक्त प्राचीन सामग्री के प्रकाश में देखने से अब दुर्ग का वह स्वरूप नहीं रहा, अपितु वह भी उपर्युक्त आचार्यों की भांति अपने काल तक वेदार्थ की उन प्राचीन परम्पराओं से बहुत कुछ परिचित प्रतीत होते हैं।

कहां तो वेदमन्त्रों में आये 'अग्नि' शब्द का परमात्मा अर्थ हो ही नहीं सकता, यह विद्वान् कहलानेवालों की धारणा थी, कहां अब सायण से ९०० वर्ष पूर्व प्राचीन वेदभाष्यकार आचार्य स्कन्द स्वामी—

यास्क के मत में प्रत्येक मन्त्र का तीन प्रकार का अर्थ

बताते हैं, जैसा कि ऋषि दयानन्द ने अपनी वेदभाष्य-भूमिका में स्थापना की तथा वेदमन्त्रों का अर्थ करते हुए पदे-पदे दर्शाया। आचार्य स्कन्द स्वामी लिखते हैं कि निरुक्तकार यास्क मुनि के मत में वेद के प्रत्येक मन्त्र का अर्थ आध्यात्मिक नैरुक्त—याज्ञिक शुद्धयाज्ञिकादि प्रक्रियाओं के अनुसार होता है। तद्यथा—

"सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः ? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्।"

—निरुक्त स्कन्दस्वामिभाष्य भा० ३ पृ० ३५

अर्थात् सब दृष्टियों (प्रक्रियाओं) में सब मन्त्रों का अर्थ करना चाहिये। क्योंकि स्वयमेव वेदभाष्यकार यास्क मुनि ने 'वेद के सब मन्त्रों का अर्थ तीन प्रकार का होता है' यह दर्शाने के लिये 'अर्थं वाचः पुष्प-फलमाह' इत्यादि (निरु० अ० १) प्रकरण में यज्ञादिकों को पुष्प-फल रूप से वर्णन किया है।

इस विषय के और भी बहुत से प्रमाण सायण से प्राचीन तथा अर्वा-

चीन भाष्यकारों के ग्रन्थों से दिये जा सकते हैं,परन्तु इस प्रकार के लेखों द्वारा अधिक नहीं लिखा जा सकता।

क्या आचार्य स्कन्द स्वामी के उपर्युक्त लेख को पढ़कर कोई विद्वान् कह सकता है कि सायणाचार्य को वेदार्थ का स्वरूप समझ में भी आया हो ? यदि आया तो इन वादों और प्रक्रियाओं को लक्ष्य में रखकर उन्होंने वेदमन्त्रों का अर्थ क्यों नहीं किया ? है इसका कुछ भी उत्तर ?

सब मन्त्रों का अर्थ आध्यात्मिकादि सभी प्रक्रियायों में होना चाहिए, इस युग में क्या यह ऋषि दयानन्द के मस्तिष्क की उपज नहीं ? क्या यह स्पष्ट नहीं कि सायण से सैकड़ों वर्ष पहले वेदार्थ की यह प्रक्रिया विद्यमान थी, जिसकी सायण ने जान कर या न जान कर उपेक्षा की। अपने से पूर्ववर्ती भाष्यकारों आचार्य स्कन्द स्वामी-भरत स्वामी-आत्मानन्द भट्टभास्करादि अनेक आचार्यों का नाम तक नहीं लिया। क्या इससे वेदार्थ के विषय में उन की अज्ञता स्पष्ट नहीं ? क्या एतद्देशीय तथा विदेशीय स्कालरों या विद्वानों का सायण के पीछे चलना 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' नहीं कहा जा सकता ? इस में पक्षपात रहित विद्वान् ही साक्षी हैं।

वेदार्थोद्धारक ऋषि दयानन्द

ऐसी अवस्था में आचार्य दयानन्द को वेदार्थोद्धारक कहना कदापि अयथार्थ नहीं कहा जा सकता। वेदार्थ करनेवालों में किन-किन योग्यताओं तथा गुणों का समावेश होना परमावश्यक है, इस विषय में हम आचार्य स्कन्द स्वामी के शब्दों में ही लिख कर आगे दुर्गाचार्य का एक स्थल सहृदय पाठकों की सेवा में उपस्थित करेंगे। स्कन्द कहते हैं कि मन्त्रों में आध्यात्मिक ज्योतिः का प्रकाश किन को हो सकता है।

'तत्राध्यात्मविदस्तावत् सन्मात्रनिबद्धबुद्धयः शिथिलीभूतकर्मग्रहग्रन्थयो भिन्नविषयभवसंक्रमस्थानवैराग्याभ्यासवशात् समासादितस्थिरसमाधयो निरस्तसमस्ताधयो निरस्तबाह्यविषयैषणा निरुद्धान्तःकरणवृत्तयो निष्कम्पदीपकल्पाः क्षेत्रज्ञज्ञानमननाः ···।'

अर्थः—वेदमन्त्रों द्वारा परमात्मा का ज्ञान उन्हीं को हो सकता है—जिन की बुद्धियां सत्य के ग्रहण करने में तत्पर हों, जिन की कर्मग्रह

ग्रन्थियां शिथिल हो चुकी हों, अभ्यास और वैराग्य से जिन की सांसारिक विषय वासनाओं की धारा नष्ट हो चुकी हों और जो स्थिर समाधि को प्राप्त हो चुके हों; सम्पूर्ण क्लेशों से रहित हों, बाह्य विषयों की वासना जिनकी नष्ट हो चुकी हो, अन्तःकरणवृत्तियां जिनकी नष्ट हो चुकी हों। इत्यादि।

सज्जनवृन्द ! यह सब विशेषण किस सुन्दरता से महापुरुष दयानन्द में घटित होते हैं, निष्पक्ष विद्वान् स्वयं सोच सकते हैं।

वेदार्थ का अपूर्व अश्वारोही दयानन्द

वेदार्थ की प्रक्रिया के विषय में एक बहुत उत्तम बात दुर्गाचार्य ने लिखी है—

'तत्रैवं सति प्रतिविनियोगमस्यान्येनार्थेन भवितव्यम्। त एते वक्तुरभिप्रायवशादन्यत्वमपि भजन्ते मन्त्राः। न ह्येतेष्वर्थस्येयत्तावधारणमस्ति। महारथा ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च। यथाश्वारोहवैशिष्ट्यादश्वः साधुः साधुतरश्च वहति, एवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् प्रवहन्ति।

तत्रैवं सति लक्षणोद्देशमात्रमेवैतस्मिञ्छास्त्रनिर्वचनमेकैकस्य क्रियते। क्वचिच्चाध्यात्मिकाधियज्ञे प्रदर्शनार्थम्।'

'तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन्—आधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः। नात्रापराधोऽस्ति।'

(२) 'ईदृशेषु शब्दार्थन्यायसङ्कटेषु मन्त्रार्थघटनेषु दुरवबोधेषु मतिमतां मतयो न प्रतिहन्यन्ते, वयन्त्वत्रैतावदत्रावबुध्यामहे।'

—पृ० ६२४

अर्थः—ऐसी अवस्था में विनियोग के भेद से इस का भिन्न-भिन्न अर्थ होगा। सो यह वेदमंत्र वक्ता के अभिप्राय भेद से भिन्नार्थ को भी प्राप्त हो जाते हैं। (इसमें घबराने की कोई बात नहीं है)

इन मन्त्रों का बस इतना ही अर्थ है, इसकी कैद नहीं लगाई जा सकती। यह मन्त्र महान् अर्थवाले हैं। अत्यन्त ही दुष्परिज्ञान (बड़े ही परिश्रम-विद्या-योगादि की शक्ति से जाने जा सकते हैं)। जैसे अश्वारोही (घुड़ सवार)के भेद से घोड़ा अच्छा, बहुत अच्छा, बहुत ही अच्छा चलने

लगता है। इसी प्रकार वक्ता जितना अधिक योग्य और तपस्वी होगा, उस के दर्शाये वेदार्थ से भी उतने ही अधिक साधु और साधुतर अर्थों का प्रकाश होगा। आज कल के वेदभाष्यकार कहलानेवाले महानुभाव इस से बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं।

सायण का अश्वारोहण (सवारी करना) स्कन्द स्वामी आदि की अपेक्षा कितना भिन्न था, यह हम संक्षेपतः दर्शा चुके हैं। स्कन्द ने (यद्यपि वह भी प्रवाह से बच नहीं सके तथापि) अपने समय तक की परम्पराओं (Traditions) को किसी अंश तक सुरक्षित रखा। सायण की दृष्टि वहां तक नहीं जा सकी। इसके परिणामस्वरूप वेदार्थ का परिमाण (Standard) हीन (Low) होता चला गया। उसकी रही-सही आभा (आब) तदनुवर्ती एतद्देशीय तथा विदेशीय विद्वान् स्कालर कहलानेवालों ने नष्ट कर दी। कारण वही—'निरस्तसमस्ताधयो… … …' इत्यादि गुणों का अभाव। उपर्युक्त गुणों से युक्त होने का सौभाग्य इस युग में दयानन्द को ही प्राप्त हो सका। यह बात हमारे उपर्युक्त लेख से विदित है।

सामान्यतया लोकानुसार तो यही है कि कोई 'क्या कहता है' इसका ही विचार किया जाता है, न कि 'कौन कहता है'। परन्तु वास्तविक बात यह है कि 'कौन कहता है' और 'क्या कहता है' इन दोनों बातों के ही देखने की परमावश्यता है।

देश-नेत्री श्रीमती सरोजनी नायडू के खद्दर के वस्त्र धारण करने पर 'तुम बहुत सुन्दर प्रतीत हो रही हो' महात्मा गांधी के यह शब्द पापी से पापी के मन में भी पवित्रता का सञ्चार करते हैं। कोई भी इन शब्दों में स्वप्न में भी दुर्भावना का विचार नहीं कर सकता। परन्तु यदि यही शब्द एक वामी या हीनचरित्र व्यक्ति किसी परस्त्री, माता, देवी के प्रति प्रयुक्त करता है तो संसार में कोई भी इनसे पवित्र भावना की कल्पना नहीं कर सकता।

पवित्रात्मा दयानन्द के शब्दों में चाहे वह व्याख्यानरूप हों या सामान्य पुस्तकरूप या वेदमन्त्रों का भाष्य—यह पवित्र आभा सर्वत्र दृष्टिगोचर होगी। यह उनकी भिन्न-भिन्न कृति से ज्ञात हो रहा है। इस आभा को पचासों मिल कर भी कैसे प्रकाशित कर सकते हैं। जिनकी

इन्द्रियां वश में नहीं, किसी भी संसारी प्रवाह में लोकैषणा के वशीभूत पदे-पदे गिरावट में फंसते रहते हैं, धन के वशीभूत अपनी अन्तरात्मा को बेच तक देने में सङ्कोच नहीं करते, स्वयं वेद पर विश्वास नहीं, ऋषि-मुनियों का मार्ग उनको निस्सार प्रतीत होता है, पर यह सब कहने को तैयार नहीं, पूछने पर हाथ भी जोड़ दें, हम तो सब मानते हैं; ऐसे सैकड़ों आत्मघ्न विद्वान् एकत्रित कर देने पर भी वेदार्थ का गौरव संसार में बैठेगा, यह स्वप्न से अधिक नहीं कहा जा सकता। वोटिङ्ग से कहीं वेदभाष्य हुआ करते हैं। अतः पहले अपने विद्वानों की व्यवस्था ठीक करो। वेदार्थ की मौलिक बातों (Fundamental Principles) पर पूर्ण विचार करने के लिये कम से कम सप्ताह दो सप्ताह विचार करने की योजना करो तभी कुछ व्यवस्था बन सकेगी।

जिस याज्ञिक प्रक्रिया को लेकर सायणाचार्य ने इतना कुछ लिखा, उसका भी स्वरूप उन्होंने कहां तक समझा, यह बात भी अभी साध्य कोटि में ही समझनी चाहिये। सम्प्रति इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि याज्ञिक प्रक्रिया में भी सायण ने भारी भूलें की हैं; जो कभी अवसर आने पर ही दर्शाई जा सकेंगी।

भूल कर जाना बड़ी बात नहीं। मनुष्य संसार में भूलनहार ही तो है परन्तु सायण के भाष्य की झूठी दुहाई देकर दयानन्द की दिव्य ज्योतिः को मेघाच्छादित करने का व्यर्थ प्रयत्न आर्यसमाजी नाम धारी विद्वान् कहलानेवालों द्वारा भी कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होता है। अतः हमें विवशतः ऐसा कहना पड़ता है। गुणग्राही होना तो प्रत्येक के लिये उचित है। परन्तु यह भी तो न हो कि गुण ग्रहण के बहाने लोगों को कुमार्ग पर डाला जावे।

आर्य बन्धुओं! दयानन्द का अध्ययन शुद्ध मस्तिष्क से करो। उस महापुरुष के दर्शाये मार्ग का अनुशीलन करो। वेद या दयानन्द के नाम पर संसार को धोखा मत दो। वेदप्रचार के नाम पर मिथ्या प्रचार मत करो। अधिकारों के लिये कनवैसिङ्ग (पार्टियां बनाना और झूठा आन्दोलन करना) रूपी पिशाचिनी के उपासक मत बनो। आचारनिष्ठ विद्वान् ब्राह्मणों (गुण कर्म से न कि जन्म से) का आश्रय लो, जो केवल तुम्हारी हां में हां मिलानेवाले न हों, अपितु तुमको समय पड़ने पर हित

की दृष्टि से कान पकड़ कर भी सीधे रास्ते ला सकें। गुलाम उपदेशक ब्राह्मण जाति की दासता को तीन काल में दूर नहीं कर सकते।

देखो कि वैदिकता के नाम पर अवैदिकता का ही विस्तार और प्रचार न कर बैठना। जब ऐसी व्यवस्था हम लोग कर पायेंगे तभी दिव्यज्योतिः दयानन्द का सच्चा दर्शन हमें प्राप्त होगा।

संसार की भावी उथल-पुथल में आर्यसमाज या आर्य भाई अपने शुद्ध आचार-व्यवहार—वेद का स्वाध्याय-आर्यपन का अनुशीलन-दृढ़ संकल्प परिवारों में विषय वासनाओं के राज्य को नष्ट कर शुद्ध आर्य जीवन द्वारा संसार का नहीं तो भारत का ही भविष्य निर्माण कर सकते हैं। ऐसी आशापूर्ण दृष्टि आर्यसमाज की ओर लग रही है। देखें इसमें आर्यसमाज कहां तक उत्तीर्ण होता है।

[साप्ताहिक 'दिवाकर' सं० १९९२, कार्तिक, भाग १, अङ्क २८, २९]

॥ समाप्त ॥

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा

प्रकाशित वा प्रसारित प्रामाणिक ग्रन्थ

१. **ऋग्वेदभाष्य** (संस्कृत हिन्दी; ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सहित)—प्रतिभाग सहस्राधिक टिप्पणियां, १०-११ प्रकार के परिशिष्ट व सूचियां। प्रथम भाग ५०-००, द्वितीय भाग ४०-००, तृतीय भाग ५०-००।

२. **यजुर्वेदभाष्य-विवरण**—ऋषिदयानन्दकृत भाष्य पर पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासुकृत विवरण। प्रथम भाग १४०-००, द्वितीय भाग ६०-००।

३. **तैत्तिरीय-संहिता**—मूलमात्र, मन्त्रसूचीसहिता। ६०-००

४. **तैत्तिरीय-संहिता-पदपाठः**—५० वर्ष से दुर्लभ ग्रन्थ का पुनः प्रकाशन, बढ़िया सुन्दर जिल्द। १२५-००

५. **अथर्ववेद-भाष्य**—श्री पं० विश्वनाथजी वेदोपाध्याय कृत। १-३ काण्ड ५०-००, ४-५ काण्ड ५०-००, ६ काण्ड ४०-००, ७-८ काण्ड ४०-००, ९-१० काण्ड ४०-००, ११-१३ काण्ड ३५-००, १४-१७ काण्ड ३०-००, १८-१९ काण्ड २५-००, बीसवां काण्ड २५-००।

६. **ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका**—पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित एवं शतशः टिप्पणियों से युक्त। साधारण जिल्द ३५-००, पूरे कपड़े की ४०-००।

७. **ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका-परिशिष्ट**—भूमिका पर किये गये आक्षेपों के ग्रन्थकार द्वारा दिये उत्तर। ५-००

८. **माध्यन्दिन (यजुर्वेद) पदपाठ**—शुद्ध संस्करण। ६०-००

९. **गोपथ-ब्राह्मण (मूल)**—सम्पादक श्री डा० विजयपालजी विद्यावारिधि। अब तक प्रकाशित सभी संस्करणों से अधिक शुद्ध और सुन्दर संस्करण। ६०-००

१०. **महाभाष्य-हिन्दी-व्याख्या** (भाग २) का नया संस्करण। ५०-००

११. **कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी**—(ऋग्वेदीया)—षड्गुरुशिष्य विरचित संस्कृतटीका सहित। टीका का पूरा पाठ प्रथम वार छापा गया है। विस्तृत भूमिका और अनेक परिशिष्टों से युक्त। १२५-००

१२. **ऋग्वेदानुक्रमणी**—वेङ्कटमाधवकृत। इस में स्वर छन्द आदि ८ वैदिक विषयों पर गम्भीर विचार किया गया है। व्याख्या—श्री डा० विजयपालजी विद्यावारिधि। उत्तम ५०-००, साधारण ४०-००

१३. वैदिक-साहित्य-सौदामिनी—स्व० श्री पं० वागीश्वर वेदालङ्कार। काव्यप्रकाश साहित्यदर्पण आदि के समान वैदिक साहित्य पर शास्त्रीय विवेचनात्मक ग्रन्थ। ६०-००

१४. ऋग्वेद की ऋक्संख्या—युधिष्ठिर मीमांसक। ५-००

१५. वेद-श्रुति-आम्नाय-संज्ञा-मीमांसा—(संस्कृत-हिन्दी) ,, ३-००

१६. वैदिक-छन्दोमीमांसा—यु० मी०। नया संस्करण ३०-००

१७. वैदिक-स्वर-मीमांसा—यु० मी०। नया संस्करण ३५-००

१८. वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वराङ्कन प्रकार—यु० मी० ८-००

१९. वेदों का महत्त्व तथा उनके प्रचार के उपाय, वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा—(संस्कृत-हिन्दी) यु०मी० १५-००

२०. देवापि और शन्तनु के आख्यान का वास्तविक स्वरूप—ले० श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु। ३-००

२१. वेद और निरुक्त—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु। ३-००

२२. निरुक्तकार और वेद में इतिहास—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु। ३-००

२३. त्वाष्ट्री सरण्यू की वैदिक कथा का वास्तविक स्वरुप—लेखक—श्री पं धर्मदेवजी निरुक्ताचार्य। ३-००

२४. वैदिक जीवन—श्री विश्वनाथ जी विद्यामार्तण्ड द्वारा अथर्ववेद के आधार पर वैदिक-जीवन के सम्बन्ध में लिखा गया अत्यन्त उपयोगी स्वाध्याययोग्य ग्रन्थ। अजिल्द १५-००, सजिल्द २०-००।

२५. वैदिक-गृहस्थाश्रम—श्री पं० विश्वनाथ जी विद्यामार्तण्ड द्वारा अथर्ववेद के आधार पर लिखित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। सजिल्द ४०-००

२६. शिवशङ्करीय-लघुग्रन्थपञ्चक—इसमें श्री पं० शिवशङ्कर जी काव्यतीर्थ लिखित वेदविषयक चतुर्दश-भुवन, वसिष्ठ-नन्दिनी, वैदिक-विज्ञान, वैदिक-सिद्धान्त और ईश्वरीय पुस्तक कौन? नाम के पांच विशिष्ट निबन्ध हैं। अप्राप्य

२७. यजुर्वेद का स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ समीक्षा—ले०—पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय। बढ़िया जिल्द २५-००, साधारण जिल्द २०-००

२८. **शतपथब्राह्मणस्थ अग्निचयन समीक्षा**—लेखक पं० विश्वनाथजी वेदोपाध्याय। ४५-००

२९. **ऋग्वेद-परिचय**—श्री पं विश्वनाथजी विद्यामार्तण्ड। ऋग्वेद का परिचयात्मक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। अजिल्द २०-००, सजिल्द २५-००।

३०. **वैदिक-पीयूष-धारा**—लेखक - श्री देवेन्द्र कुमार जी कपूर। चुने हुये ५० मन्त्रों की प्रतिमन्त्र पदार्थपूर्वक विस्तृत व्याख्या, अन्त में भावपूर्ण गीतों से युक्त। उत्तम जिल्द १५-००, साधारण १०-००।

३१. **क्या वेद में आर्यों और आदिवासियों के युद्धों का वर्णन है?**—लेखक—श्री वैद्य रामगोपाल जी शास्त्री। १२-००

३२. **उरु ज्योति**—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित वेदविषयक स्वाध्याययोग्य निबन्धों का संग्रह। सुन्दर छपाई। सजिल्द। १८-००

३३. **वेदों की प्रामाणिकता**—डा० श्रीनिवास शास्त्री— ४-००

३५. **बौधायन-श्रौत-सूत्रम्**—(दर्शपूर्णमास प्रकरण)—भवस्वामी तथा सायणकृत भाष्य सहित (संस्कृत)। ५०-००

३६. **बौधायन-श्रौत-सूत्रम्** (आधान-प्रकरण)—सुबोधिनी वृत्ति सहित (संस्कृत)। ५०-००

३७. **दर्शपूर्णमास-पद्धति**—पं० भीमसेन कृत भाषार्थ सहित। ३०-००

३८. **कात्यायन-गृह्यसूत्रम्** (मूलमात्र)—अनेक हस्तलेखों के आधार पर हमने इसे प्रथम बार छापा है। २५-००

३९. **श्रौतयज्ञमीमांसा**—(संस्कृत और हिन्दी)—श्रौतयज्ञों की कल्पना का आधार, उनका विकास, परिवर्तन, पशुयज्ञ आदि अनेक विषयों की सप्रमाण मीमांसा। ३०-००

४०. **श्रौतपदार्थ-निर्वचनम्**—(संस्कृत)— अग्न्याधान से अग्निष्टोम पर्यन्त आध्वर्यव पदार्थों का विवरणात्मक ग्रन्थ। सजिल्द ४०-००

४१. **श्रौत-यज्ञ-मीमांसा**—(संस्कृत-हिन्दी) लेखक—पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक। ३०-००

४२. **संस्कार-विधि**—शताब्दी संस्करण, ४६० पृष्ठ, सहस्राधिक टिप्पणियां, १२ परिशिष्ट। राजसंस्करण ५०-००, सस्तासंस्करण १०-०० अच्छा कागज सजिल्द १५-००

४३. वेदोक्त-संस्कार-प्रकाश—पं० बालाजी विट्ठल गांवस्कर द्वारा मूल मराठी में लिखे गये ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद, इसी का गुजराती अनुवाद संशोधित संस्कारविधि का आधार बना। २५-००

४४. अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय—इस ग्रन्थ में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, सुपर्णचितिसहित सोमयाग, चातुर्मास्य और वाजपेय आदि यागों का वर्णन है। दोनों भाग एकत्र। लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक, डा० विजयपाल। २०-००

४५. संस्कार-विधि-मण्डनम्—संस्कारविधि की व्याख्या। लेखक—वैद्य श्री रामगोपाल जी शास्त्री। अजिल्द १२-००, सजिल्द १६-००

४६. वैदिक-नित्यकर्म-विधि—सन्ध्यादि पांचों महायज्ञ तथा बृहद् हवन के मन्त्रों की पदार्थ तथा भावार्थ व्याख्या सहित। अजिल्द ८-००, सजिल्द १०-००

४७. वैदिक-नित्यकर्म-विधि—(मूलमात्र) सन्ध्या तथा स्वस्तिवाचन आदि विधि बृहद् हवन के मन्त्रों सहित। २-००

४८. पञ्चमहायज्ञविधि—ऋषि दयानन्द कृत संस्कृत और हिन्दी भाष्य सहित। शुद्ध संस्करण। ३-००

४९. वैदिक यज्ञों का स्वरूप—ले०—डा० कृष्णलाल। १०-००

५०. पञ्चमहायज्ञ-प्रदीप—श्री पं० मदनमोहन विद्यासागर कृत पांच महायज्ञों की व्याख्या। ५-००

५१. सन्ध्योपासन-अग्निहोत्र-विधि—अंग्रेजी-हिन्दी। डा० विजयपाल। १०-००

५२. वर्णोच्चारण-शिक्षा—ऋषि दयानन्द कृत हिन्दी व्याख्या। इस में प्रत्येक वर्ण के शुद्ध उच्चारण के लिए स्थान और प्रयत्नादि का विधान है। २-००

५३. शिक्षासूत्राणि—आपिशल-पाणिनीय-चान्द्रशिक्षा-सूत्र। ८-००

पुस्तक प्राप्ति स्थान—

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट

बहालगढ़, जिला सोनीपत (हरयाणा) १३१०२१

रामलाल कपूर एण्ड संस, २५९६, नई सड़क, दिल्ली।